प्रकाशक
लाला खज़ानचीराम जैन,
संयोजक तथा प्रबन्धक,
जैन शास्त्रमाला कार्यालय,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

मुद्रक
लाला खज़ानचीराम जैन
मैनेजर, मनोहर इलेक्ट्रिक प्रेस,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

कृतज्ञता—

* * *

जाते दिवं सविधवासिनि बुद्धिचन्द्रे
मच्छेमुषीविवृतितो विमुखीबभूव ।
अङ्गीकृतामररचत् पुनरस्ततन्द्रः
शिष्योऽपरो बुधवरो मम हेमचन्द्रः ॥१॥

* * *

येऽपीपठन् मुनिवराः प्रथिताऽऽगमं मां
येऽजीगमन् गुरुगिरा मतिमर्थगङ्गाम् ।
तन्वंस्तदत्र विवृतिं सुकृदंशभाग्भ्य-
स्तेभ्योऽर्पयामि विनयैः शतधन्यवादान् ॥२

* * *

कृतज्ञता ललामस्य
आत्मारामस्य मुनेः

शुभस्मृति

इस विस्तृत आगम के प्रकाशन के समय सहसा मुझे चार स्वर्गीय महान् आत्माओं की शुभस्मृति हो रही है। इन पुनीत आत्माओं के पवित्र नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—परम पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज, पूज्यवर्य श्री सोहनलाल जी महाराज, पूजनीय स्थविरपदविभूषित गणावच्छेदक श्री गणपतिराय जी महाराज, पण्डितवर्य मुनि श्री ज्ञानचन्द्र जी।

आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज में हृदय की सरलता और शुद्धता, वाणी की मितता और मधुरता, अध्ययन और अध्यापनादि में सतत संलग्नता, शान्ति, सहिष्णुता आदि सद्गुणों की विशेषता थी। यह महात्मा परम गम्भीर थे। इनमें आचार्य के सब विशेष गुण विद्यमान थे। इन्होंने आचार्य के कर्तव्य को बहुत अच्छी तरह से निभाया। इनके समय में श्रीसङ्घ में पूर्ण शान्ति और उत्तम व्यवस्था रही। जैनागमों की आरम्भिक शिक्षा मैंने इन्हीं से प्राप्त की थी। अतः इस प्रसिद्ध सूत्र के प्रकाशन के अवसर पर इन आचार्य-चरणों का पुण्य स्मरण करना नितान्त आवश्यक है।

आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज इनके उत्तराधिकारी थे। यह महात्मा परम तपस्वी और तेजस्वी थे। इनमें हृदय की दृढ़ता और आत्मबल की विशेषता थी। इन्होंने आत्मबल के द्वारा पंजाब देश में जैनधर्म का खूब प्रचार किया था। इनका आचार, तप और त्याग प्रशंसनीय है।

श्री स्वामी गणपतिराय जी महाराज की सेवा में मुझे अधिक से अधिक रहना पड़ा। मेरे अध्ययन और लेखनादि कार्य में इनकी सहायता सब से

अधिक रही। मेरे ऊपर इनकी सदैव कृपादृष्टि रही । यह महात्मा सौम्य मूर्ति थे। इनका हृदय गम्भीर और उच्च विचारों से परिपूर्ण था । इन्होंने अन्त तक मनसा, वाचा, कर्मणा संयम का निर्दोष एवं निरतिचार पालन किया। इनकी अन्तिम घड़ियों की शान्ति, समाधि और तेजस्विता का दृश्य अवर्णनीय है। मरणान्तिक वेदना की आकुलता की वजाए चेहरे पर अद्भुत मुसकराहट और अभूतपूर्व तेजस्विता दिखाई देती थी । इस शुभ अवसर पर ऐसी पुण्यात्मा की शुभ स्मृति का होना स्वाभाविक ही है।

पं० मुनि श्री ज्ञानचन्द्र जी अद्भुत प्रतिभावान् थे । इनकी स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक थी। केवल पांच वर्षों में ही इन्होंने व्याकरण, साहित्य और आगमों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इनका पाण्डित्य प्रगाढ था। यह मेरे परम सहायक और प्रिय शिष्य थे । इन्होंने स्वयं भी कतिपय पुस्तकों की रचना की और मुझे भी लेखन-कार्य के लिए प्रेरणा करते रहते थे। इस शास्त्र की विद्वन्मान्य और लोकोपयोगी टीका लिखने की इन्होंने मुझे विशेष रूप से प्रेरणा की थी। अतः इस सूत्र के प्रकाशन के समय इनकी प्रियस्मृति का होना अनिवार्य्य है।

आत्माराम उपाध्याय

उत्तराध्ययनसूत्रम्

विषय-सूची

द्वितीय अध्ययन

तृतीय अध्ययन

चतुर्थ अध्ययन

पञ्चम अध्ययन

षष्ठ अध्ययन

सप्तम अध्ययन

अष्टम अध्ययन

नवम अध्ययन

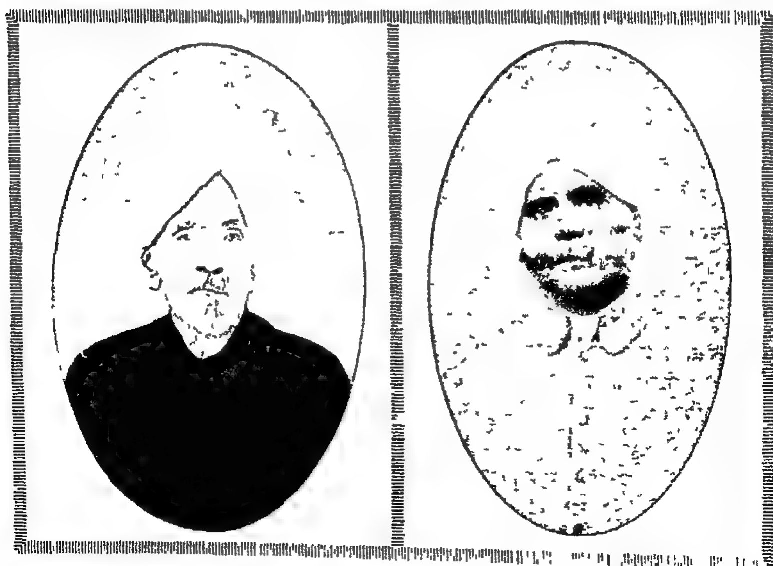
धन्यवाद

पाठक महोदय यह जानकर अत्यंत प्रसन्न होंगे कि जैनशास्त्रमाला का प्रकाशन कार्य उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा है। इस शास्त्रमाला में सब से पहले श्रीदशाश्रुतस्कन्धसूत्र और उसके अनन्तर श्रीअनुत्तरोपपातिकदशासूत्र छपा। अपार हर्ष का विषय है कि अब श्रीउत्तराध्ययनसूत्र का प्रथम भाग भी प्रकाशित होकर विक्रयार्थ प्रस्तुत हो गया है। इस शास्त्र का कलेवर भारी होने के कारण हम इसे तीन भागो में विभक्त कर रहे हैं। पहले भाग में केवल १२ ही अध्ययन आ सके हैं। द्वितीय भाग का प्रकाशन भी तेज़ी से चल रहा है, जो शीघ्र ही संभवत. जनवरी १९४० में पाठक महोदयों की सेवा में उपस्थित किया जायगा। इस शास्त्र के अनुवादक भी हमारे पूर्वपरिचित श्री श्री श्री १००८ श्रीजैन-धर्म दिवाकर, साहित्य-रत्न, जैनागम-रत्नाकर उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी महाराज ही हैं। इस बृहदाकार शास्त्र के अनुवाद करने में उन्हें कितना घोर परिश्रम करना पड़ा, इसका हमारे जैसे अल्पबुद्धि पाठकों के लिये अनुमान करना कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव है। अत. मैं केवल अपनी ओर से या इस शास्त्रमाला के संरक्षको की ओर से ही नहीं अपितु समस्त जैनजनता की ओर से उनके पादपद्मो में धन्यवाद अर्पण करता हूँ और शासन देव से साञ्जलि प्रार्थना करता हूँ कि आपकी आयु दीर्घ हो ताकि यह महान् और पवित्र कार्य निरन्तर चलता रहे और आपके जीवन-काल में ही इसकी पूर्त्ति हो।

अब मुझे उन बंधुओ का धन्यवाद करना है, जिन्होंने इस कार्य में पूर्ण सहयोग दिया है। श्रीदशाश्रुतस्कन्ध और श्रीअनुत्तरोपपातिकदशासूत्र के प्रकाशन के समय हमारे स्थायी संरक्षक केवल आठ ही थे किन्तु शास्त्रमाला के अपूर्व कार्य से संतुष्ट और उत्साहित होकर बढते बढते इनकी संख्या १७ हो गई है। प्रत्येक स्थायी संरक्षक ने ६०५) जैनशास्त्रमाला को दानरूपेण दिया है।

अब मैं पाठको के बोध के लिए उन सब महानुभावो का चित्रसहित परिचय देता हूँ ताकि हमारी समाज के अन्य दानवीर भी उनका अनुकरण करने के लिए प्रोत्साहित हों।

सब से पहले मैं वयोवृद्ध श्रीमान् लाला आशाराम जी जैन, अर्जीनवीस, बैंकर और मालिक



श्रीमान् लाला आशाराम जी | स्वर्गीय श्रीमान् बाबू परमानन्दजी


श्रीमान् लाला सोहनलाल जी

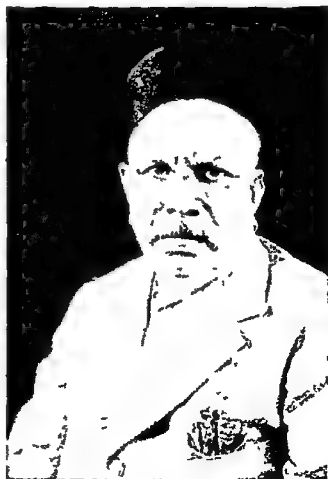
फर्म लाला आशाराम जगन्नाथ सराफ, कसूर का हृदय से धन्यवाद करता हूँ। आप बड़े ही धनाढ्य, धर्मप्रेमी और भगवद्भक्त हैं। अपने नगर में सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हैं।

इसके पश्चात् कसूरनिवासी धर्ममूर्ति स्वर्गीय श्रीमान् बाबू परमानन्द जी वकील की धर्मपत्नी श्रीमती दुर्गादेवी जी का धन्यवाद करना आवश्यक समझता हूँ, जिन्होंने अपने पूज्य पतिदेव की स्मृति में यह दान देने की कृपा की। स्वर्गीय बाबू जी पंजाब की जैनसमाज के एक मुख्य नेता, पंजाब जैनसभा के प्रसिद्ध कार्यकर्ता और बच्चे बच्चे के हितैषी थे। लाहौर के श्री अमर जैन होस्टल की स्थापना का श्रेय आप ही को प्राप्त है। राजदरबार में आपको यथेष्ट सम्मान प्राप्त था। वकीलों में आप चोटी के वकील थे। बड़े पवित्रात्मा और सच्चे समाज-हितचिन्तक थे।

लुधियाना में भी हमारे दो परम सहायक विद्यमान हैं। एक श्रीमान् लाला मोहनलाल जी मैनेजिङ्ग अध्यक्ष फर्म लाला मिट्ठीमल बाबूरामजी जैन बैंकर तथा क्लाथ मर्चेण्ट लुधियाना। आप बड़े उत्साही, धर्मप्रेमी और दानवीर हैं। आपके हाथों धर्मोन्नति के सैकड़ों काम चले और चल रहे हैं। आप जाति के अग्रवाल हैं और नगर में विशेष प्रतिष्ठा रखते हैं। देशहित आपमें कूट-कूटकर भरा हुआ है। समाज के बच्चे बच्चे से आपका विशेष प्रेम है।

दूसरे लाला सन्तलाल जी जैन, रईस, मालिक फर्म लाला मरहीमल सन्तलाल, लुधियाना। आप बड़े धर्मात्मा हैं। प्रकृति बड़ी सरल है। आप भी जाति के अग्रवाल हैं। साधु-महात्माओं की सगति में ही आपका अधिक समय व्यतीत होता है। सादगी इतनी बढ़ी चढ़ी है कि कहते नहीं बनता। धनिक होने पर भी मान नाम-मात्र को नहीं।

अब पाँचवे स्थान पर मैं अपने पूज्य चचा श्रीयुत लाला गोपीराम जी, मालिक फर्म कन्हैयालाल बृजलाल, फर्नीचर मर्चेण्ट व बैंकर,


श्रीमान् लाला सन्तलाल जी



श्रीमान् लाला गोपीराम जी

होशियारपुर का अतीव धन्यवाद करता हूँ। आपके पूज्य पिता का नाम लाला कन्हैयालाल जी था। आप मेरे पूज्य दादा स्वर्गीय लाला मेहरचन्द्र जी के भतीजे हैं। आप बालब्रह्मचारी हैं। बड़े ही उदार, होशियारपुर की जैनजनता के धनिक और प्रतिष्ठित सज्जनों में से एक हैं। धर्म की बड़ी लगन है। सेवाभाव इतना उच्च है कि निर्धन से निर्धन व्यक्ति के यहाँ भी कोई छोटे से छोटा काम हो तो भागकर जाते हैं।

इसके अनन्तर हमारे धन्यवाद के पात्र लाला रोचीशाह जी मालिक फर्म लाला कन्हैयाशाह रोचीशाह जी जैन, क्लाथ मर्चेण्ट, रावलपिण्डी, है। मै इनकी प्रशंसा में कहा तक लिखूं। आपकी शास्त्रश्रद्धा, साधु-महात्माओ के प्रति अनन्य भक्ति और ज्ञान-प्रचार के लिए उदारहृदयता देखकर मेरा हृदय गद्गद हो जाता है। आप बड़े धनिक और अपनी



श्रीमान् लाला रोचीशाह जी

बिरादरी मे मुख्य स्थान रखते है। बड़े उच्च विचारो के धनी है। सहानुभूति से ओत-प्रोत है।

गुरु महाराज की कृपा से हमें रावलपिण्डी में एक और भी सहायक मिले। आपका शुभ नाम लाला तेजेशाह जी था। आपको रावलपिण्डी जैनजाति में विशेष सम्मान प्राप्त था। आप वहा के प्रसिद्ध बैंकर थे। इसके अतिरिक्त आपकी सराफी और बजाजी की दुकाने भी चलती है। आप मुख्य व्यापारी थे। बड़े ही सुशील और कोमलप्रकृति थे। गम्भीर और विचारशील थे। परम उत्साही और शास्त्रप्रेमी थे। दान में बड़ी रुचि थी। आपका पुण्योदय देखिए, सन्तान भी बड़ी योग्य और पितृभक्त है। तीन वर्ष हुए, अकस्मात् ग्रीष्म ऋतु में आपका हृदय की गति रुक जाने से देहान्त हो गया। उपरिलिखित रावलपिण्डी-निवासी दोनो सज्जनो ने केवल इसी धर्मकार्य में ही अपने

हृदय की विशालता का परिचय नहीं दिया अपितु आपके यशस्वी हाथों से अनेक धर्मकार्य सम्पन्न हो चुके हैं।

स्यालकोट से हमें तीन स्थायी संरक्षक मिले। लाला मोतीशाह जी रईस मालिक फ़र्म लाला नत्थूशाह मोतीशाह बैंकर्स ने अपने पूज्य ज्येष्ठ भ्राता लाला नत्थूशाह जी की स्मृति में ६२५) दान दिये। आपके पूज्य पिता का नाम लाला जट्टूशाह था, जो अपनी वृद्धावस्था में अपने विस्तीर्ण कारोबार का सब भार लाला नत्थूशाह जी के अधीन करके वानप्रस्थ हो गये थे। आप बड़े ही योग्य, उदार और धर्मप्रेमी थे। धार्मिक कार्य में विशेष भाग लेते थे। स्थानीय जैन उपाश्रय आपके अनथक परिश्रम का फल है। स्यालकोट में १००८ स्वर्गीय श्री लालचन्द जी महाराज की डायमंड जुबिली के समय आपने दिन-रात लगकर सहस्रों अतिथियों की सेवा की। अन्त समय आपने बिरादरी के सब भाइयों को अपने निवास-स्थान पर



श्रीमान् लाला तेजेशाह जी

बुला-बुलाकर क्षमत क्षमापना की और ८०००) आठ हजार रुपये दान किये। आप में जातीयता कूट-कूटकर भरी हुई थी। अपने घर के ही नहीं, बल्कि बिरादरी के भी आप मुख्य आलम्बन थे। छोटे-बड़े सब आपकी अनुमति से चलते थे। कोई धार्मिक कार्य उपस्थित होता, तो आप सब से अगुआ होते थे। आप शहर के चोटी के रईसों में से थे।

उपर्युक्त लाला मोतीशाह जी रईस स्यालकोट की प्रेरणा से लाला जयदयाल शाह नाहर भी ६२५) देकर स्थायी संरक्षकों में प्रविष्ट हुए। आपके पूज्य पिता का नाम लाला शंकरदास था। आप दो भाई हैं। छोटे भाई का नाम लाला धर्मीचन्द जी है। आपकी पुरानी फर्म शंकरदास जयदयाल के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी फर्म का नाम नाहर एण्ड कम्पनी है। इस फर्म की शाखाएं सिंगापुर, पिनांग, कुआलालम्पुर और जावा में भी हैं। आप बड़े ही धर्मप्रेमी हैं। साधु-महात्माओं और दीन-दुखी



श्रीमान् लाला नत्थूशाह जी



श्रीमान् लाला जयदयाल शाह जी

भाइयों की सेवा में दत्तचित्त रहते हैं। अपनी शक्त्यनुसार आवश्यकता पड़ने पर तन, मन और धन से समाज की उन्नति के लिए विशेष सहायता देते हैं।

तीसरे स्थायी संरक्षक जो हमें स्यालकोट शहर में मिले, उनका शुभ नाम लाला चूनीशाह जी है। आप लाला हुक्मेशाह जी के सुपुत्र और फर्म लाला चूनीशाह पन्नालाल के अध्यक्ष हैं। आपकी आयु इस समय ७० वर्ष की है तदपि आपका स्वास्थ्य युवाओं से भी बढ़ा-चढ़ा है। आप बड़े ही उत्साही हैं। स्यालकोट शहर में आप चोटी के रईसों में हैं। प्रकृति बिलकुल सादा है। इतने धनाढ्य होने पर भी मान निकट में भी नहीं फटका। क्या छोटा क्या बड़ा, सब के हा निःस्वार्थ सेवा करते हैं। आपका कारोबार कई शहरों में फैला हुआ है। धार्मिक कार्यों में विशेष रुचि रखते हैं। स्वर्गीय श्री श्री श्री १००८ श्रीलालचन्द जी महाराज की अंतिम रुग्णावस्था में जब कि



श्रीमान् लाला चूनीशाह जी

नित्य हजारों भाई बाई बाहर से दर्शनार्थ आते थे, आपने अतुलनीय सेवा कर यश उपार्जन किया। दो मास तक बराबर सब दर्शनार्थी भाइयों के आहार और सेवा का प्रबन्ध आपके जिम्मे रहा। हज़ारों रुपये खर्च हो गये। यहां तक कि महाराज श्री के स्वर्गवास पर भी आये हुए सहस्रों अतिथियों के भोजन का प्रबन्ध भी आपने अपनी जेब से किया। आपकी उदारता, धर्मप्रेम और उत्साह का यह एक अनुपम उदाहरण है।

पहले हम लिख चुके हैं कि रावलपिण्डी से हमें दो स्थायी संरक्षक मिले। अब की बार लाला राधुशाह जी लिगा की स्मृति में हमें उनके सुपुत्रों ने ६२५) दिये। लाला राधुशाह जी रावलपिण्डी के एक उच्च खानदान के साथ सबन्ध रखते थे। आप लाला काकूशाह जी के सुपुत्र थे। स्वर्गीय लाला काकूशाह जी का नाम रावलपिंडी के प्रसिद्ध रईसों में विख्यात है। राधुशाह जी प्रकृति के बड़े भद्र थे। लक्षाधिपति होने पर भी सरलता अनुपमेय थी। दीन-दुःखियों की सेवा करना आपका परम अभीष्ट था। नित्य-नियम में बड़े पक्के थे और साधु-सन्तों की संगति में ही अपने समय का अधिक सदुपयोग किया करते थे। दान देने में भी



श्रीमान् लाला राधुशाह जी

कभी पीछे नहीं हटते थे । जिस समय रावलपिण्डी में जैन उपाश्रय बनाने की आयोजना होने लगी तो सब से पहले आपने ५०१) दान देकर बिरादरी के लोगों को उत्साहित किया। फलस्वरूप तत्क्षण हजारों रुपये इकट्ठे हो गये और यह काम भी आपके अनथक परिश्रम से पूरा हुआ । यही नहीं, आप अन्य धार्मिक संस्थाओं में भी यथाशक्ति दान दिया करते थे। आपका ५४ वर्ष की अवस्था में विक्रम संवत १९८८ में स्वर्गगमन हुआ ।

होशियारपुर में लाला गोपीराम जी हमारे संरक्षक बन चुके थे । वहां पर हमें और भी बहुत आशा थी। आशा सफल होते क्या देर लगती है। शास्त्रमाला के कार्य से प्रेरित होकर लाला हंसराज जी महमी भी हमारे संरक्षक बने । आप स्वर्गीय लाला नंदलाल जी के सुपुत्र हैं। आपकी फ़र्म का नाम लाला नंदलाल हंसराज पड़ता है। होशियारपुर में बैंकिंग का काम करते हैं । कलकत्ता में आपका आढ़त का कारोबार बड़ा विस्तीर्ण है । वहां पर फर्म का नाम लाला हंसराज शादीलाल पड़ता है । आपका जन्म वि० सं० १९४२ में हुआ था। परम पूज्य स्वर्गीय आचार्यवर स्वामी सोहनलाल जी महाराज के अनन्य भक्त रहे । धर्म की लगन है। हर एक धार्मिक कार्य में बड़े उत्साह से भाग लेते हैं और आवश्यकता पड़ने पर कभी भी पीछे नहीं हटते। साधु-सतों की सेवा में तत्पर रहते हैं। बिरादरी में आपको विशेष सम्मान प्राप्त है। छोटे बड़े सब आपको आदर की दृष्टि से देखते हैं।

पटियाला के लाला अच्छरूमल जी भी ६२५) देकर शास्त्रमाला के स्थायी संरक्षक बने । पटियाला की जैनजनता में आपका पद सर्वोच्च है। राजदरबार में आपको यथोचित सम्मान प्राप्त है। आपकी फर्म का नाम लाला चाननमल अच्छरूमल पड़ता है । आपका जन्म वि० सं० १९५२ में हुआ। जन्म से ही आप बड़े चतुर और होनहार हैं। आप बड़े शान्त, न्यायमूर्ति और धार्मिक हैं। ठेकेदारी के काम से आपने विशेष धनोपार्जन किया। लाखों रुपयों की



श्रीमान लाला हंसराज जी

सम्पत्ति बनाई। बाग, बगीचा, कोठी, दुकानें, मकान पूर्वकर्मों के संयोग से आपको सब प्राप्त है। आप सरकारी चौधरी ही नहीं, बल्कि म्युनिसिपल कमिश्नर और रियासत पटियाला के दरबारी भी हैं। पटियाला में जो साधु-संत जाते हैं, वे सब आपकी कोठियों में ही विश्राम करते हैं। आप अत्यन्त शरीफ और ऊँचे दर्जे के दानी हैं। इतनी सम्पत्ति होते हुए भी आपकी सरलता और धर्मप्रियता विशेष प्रशंसा के योग्य है। आजकल आपका मुख्य व्यापार बैंकिंग है।



श्रीमान लाला अच्छरूमल जी

लाहौर में लाला अमरनाथ जी भी ६२५) देकर स्थायी संरक्षक बने। आप लाला चंडशाह जी के सुपुत्र हैं और फर्म लाला गुलाबमल लद्दूमल के अध्यक्ष हैं। डब्बी बाजार में आपकी बहुत पुरानी दुकान है। अभी आप युवा ही हैं लेकिन नित्य नियम के बड़े पक्के हैं। तपस्या में विशेष रुचि है। बड़े पुराने और ऊँचे खानदान से सम्बन्ध रखते हैं। आप बड़े ही सीधे और बहुत ही सादा हैं। धार्मिक कामों में सब से आगे होकर भाग लेते हैं। दान में कभी पीछे नहीं हटे। यथाशक्ति उदारता से ही दान करते हैं। छोटे-मोटे कई धार्मिक कार्य आपने अपने व्यय से किये हैं। साधु महापुरुषों की सेवा में विशेष समय व्यतीत होता है।



श्रीमान् लाला अमरनाथ जी

देहली की बहन चन्द्रापति जी कब पीछे रहने वाली थी। वे भी ६२५) देकर स्थायी संरक्षिका बनीं। आप रोहतक-निवासी श्रीयुत लाला शेरसिंह जी की सुपुत्री हैं। आपका जन्म विक्रम सं० १९६५ और विवाहसंस्कार १९७६ में हुआ था परन्तु दुर्दैववशात् विवाहसंस्कार के बाद कुछ ही महीनों में इनके होनहार पतिदेव का स्वर्गवास हो गया। बहुत छोटी अवस्था में, वस्तुतः कुमारावस्था में ही, विधवा होने पर भी माता-पिता के सद्व्यवहार और साधु जनों के सत्संग से देवी चन्द्रापति जी की प्रतिदिन कल्याणकारी धर्म की ओर रुचि बढ़ने लगी और आज तक वह निरन्तर बढ़ती ही चली जा रही है। बहन चन्द्रापति जी निरन्तर मग्न



श्रीमती चन्द्रापति जी



श्रीमान् सेठ शिवप्रसाद जी

रहकर जहाँ अपने सतीत्व का संरक्षण कर रही हैं, वहाँ अपने द्रव्य को भी एकमात्र धार्मिक कार्यों में ही व्यय कर उसका सदुपयोग कर रही हैं। गोशाला, विद्याशाला, और धर्म पुस्तक प्रचारादि अनेक शुभ कार्यों में आज तक इन्होंने अनुमानत बीस हजार रुपये दान दिये है। बाई चन्द्रापति जी निस्सन्देह वर्त्तमान जैन बाल-विधवाओ में एक आदर्श देवी है।

अम्बाला के श्रीमान् सेठ शिवप्रसाद जी रईस आज़िम भी हमारे स्थायी सरक्षक बन धन्यवाद के पात्र बने। अपने नगर की जैन समाज में आप प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। फर्म का नाम श्रीचंद शिवप्रसाद पडता है। धंदा सराफी और बैंकिंग है। धर्मानुराग कूट-कूटकर भरा हुआ है। बडे ही सादे और समाज के बच्चे बच्चे के हितैषी है। सामाजिक सेवा के कामों में सब से आगे बढकर भाग लेते है। आपकी ओर से कई एक धार्मिक पुस्तकें छपकर विना मूल्य वितरण हो चुकी है। जिनेंद्र गुरुकुल पंचकूला के मुख्य कार्यकर्त्ताओं में है। यही नहीं बल्कि अन्य संस्थाओ को भी समय समय पर सहायता देते रहते हैं। बडे सतोषी और परोपकारी जीव है।



खजानचीराम जैन

सत्रहवें स्थान पर अब मेरा ही नाम आता है। अपने सबंध में किसी प्रकार का परिचय देना अनावश्यक समझकर चित्र तक ही सीमित रखता हूँ।

पूज्यपाद आचार्यवर्य्य श्री अमरसिंह जी महाराज की पट्टावली ॥



पंचनईय सव्वगुणालंकयस्स पुज्जसिरि अमरसिंहस्स सीसोमहाचाई वेरग्गमुद्दा रामबक्खस महामुणी तपट्टे विराइओ !

तपट्टे तेसिं लहुगुरु भाया संति मुद्दा गणिगुणालंकओ सत्थविसारओ पुज्जसिरि मोतीरामो भूओ।

तपट्टे संघहिएसी जोइसविण्णु मिच्छत्त निकंदणकत्ता पुज्जसिरि सोहणलालो होत्था।

तप्पट्टे जइण जाइए दसाए उद्धारए पंचालकेसरी इय उपाधिधारए पुज्जसिरि कासीरामो संप्पइ काले विरायए साहिच्चमंडलस्स ठावणा इमेसिं काले भूआ ! आसं करेमि एएसिं पहावओ सव्वकज्जं सफलं भविस्सइ।

विक्रम संवत् १९९६ भाद्रपद शुक्ला गुरुवारे।

गुर्वावली

नायसुओ वद्धमाणो नायसुओ महामुणी ।
लोगे तित्थयरो आसी अपच्छिमो सिवंकरो ॥१॥
सतित्थे ठविओ तेण पढमो अणुसासगो ।
सुहम्मो गणहरो नाम तेअंसी समणच्चिओ ॥२॥
तत्तो पवट्टिओ गच्छो सोहम्मो नाम विस्सुओ ।
परंपराए तत्थासी सूरी चामरसिंघओ ॥३॥
तस्स संतस्स दंतस्स मोतीरामाभिहो मुणी ।
होत्थ सीसो महापन्नो गणिपयविभूसिओ ॥४॥
तस्स पट्टे महाथेरो गणावच्छेअगो गुणी ।
गणपतिसंनिओ साहू सामण्ण गुणसोहिओ ॥५॥
तस्स सीसो गुरुभत्तो सो जयरामदासओ ।
गणावच्छेअगो अत्थि समो मुत्तोव्व सासणे ॥६॥
तस्स सीसो सच्चसंधो पवट्टगपयंकिओ ।
सालिग्गामो महाभिक्खू पावयणी धुरंधरो ॥७॥
तस्संतेवासिणा एसा अप्पारामेण भिक्खुणा ।
उवज्झाय पयंकेणं भासाटीका समत्थिआ ॥८॥
उत्तरज्झयणस्स टीकेयं लोकभासासुबद्धिआ ।
पढंताणं गुणंताणं वायंताणं पमोइणी ॥९॥

स्वाध्याय



आत्मा स्वाध्याय द्वारा आत्मविकास कर सकता है, परन्तु स्वाध्याय विधिपूर्वक होना चाहिए। यदि विधिशून्य स्वाध्याय किया जायगा, तो वह आत्मविकास करने में समर्थ नहीं हो सकेगा, क्योंकि विधिपूर्वक किया हुआ स्वाध्याय ही वास्तविक स्वाध्याय है।

स्वाध्याय का फल

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्वाध्याय करने से किस फल की प्राप्ति होती है। इसका उत्तर यही है कि—

"सज्झाएणं भंते! जीवे किं जणइ" "सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवइ" उत्तराध्ययन अ० २९ सू० १८

अर्थात् हे भगवन्! स्वाध्याय करने से किस फल की प्राप्ति होती है? भगवान् कहते हैं कि—हे शिष्य! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण हो जाते हैं। जब ज्ञानावरणीय कर्म ही क्षीण हो गये, तो आत्मविकास स्वयमेव हो जायगा, जिससे कि आत्मा अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो जाने के कारण सब दुःखों से छूट जायगा। क्योंकि—

"सज्झाएवा सव्वदुक्खविमोक्खणे" उत्त० अ० २६ गा० १०

अर्थात् स्वाध्याय सब दुःखों से विमुक्त करनें वाला है।

शारीरिक और मानसिक दुःखों का उद्भव अज्ञानता से ही होता है। जब अज्ञानता नष्ट हो गई, तब वे दुःख भी स्वयं नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि—

"दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो" उत्त० अ० ३२ का० ८

अर्थात् जिसको मोह नहीं होता, मानों उसने दुःखों का भी नाश कर दिया। अतः सब प्रकार के दुःखों से छूटने के लिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

स्वाध्याय किन किन ग्रन्थों का करना चाहिए ?

स्वाध्याय उन्हीं ग्रन्थों का करना चाहिए, जो सर्वज्ञप्रणीत, सत्य पदार्थों के प्रदर्शक, ऐहलौकिक और पारलौकिक शिक्षाओं से युक्त, उभयलोकों के हितोपदेष्टा और जिनके स्वाध्याय से तप, क्षमा और अहिंसा आदि तत्त्वों की प्राप्ति हो। तात्पर्य यह है कि जिनके स्वाध्याय से आत्मा ज्ञानी और चारित्रयुक्त एवं आदर्शरूप बन सके, वे ही आगम स्वाध्याय करने योग्य हैं। उन्हीं के स्वाध्याय से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सकता है। किंतु प्रत्येक मतावलम्बी अपने आगमों को सर्वज्ञप्रणीत मानता है; फिर इस बात का निर्णय कैसे हो कि अमुक आगम ही सर्वज्ञप्रणीत हैं, अन्य नहीं ? इसका उत्तर यही है कि आगमों की परीक्षा के लिए मध्यस्थ भाव से प्रमाण और नय के जानने की आवश्यकता है। जो आगम प्रमाण और नय से बाधित न हो सकें, वे ही प्रमाण कोटि में माने जा सकते हैं। जैसे कि—कुछ व्यक्तियों ने अपने अपने आगमों को अपौरुषेय (ईश्वरोक्त) माना है। उनका यह कथन प्रमाण-बाधित है। क्योंकि जब ईश्वर अकाय और अशरीरी है, तो भला फिर वह वर्णात्मकरूप छन्द किस प्रकार उच्चारण कर सकता है ! क्योंकि शरीर के बिना मुख नहीं होता और मुख के बिना वर्णों का उच्चारण नहीं हो सकता। अतः उनका यह कथन प्रमाण-बाधित सिद्ध हो जाता है। किन्तु जैनागम इस विषय को इस प्रकार प्रमाणपूर्वक सिद्ध करते हैं, जिसे मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती और नाही किसी प्रकार की शंका ही उत्पन्न हो सकती है। उदाहरणार्थ—शब्द पौरुषेय है और अर्थ अपौरुषेय है;

अर्थात् शब्दद्वारा सर्वज्ञ आत्माओं ने उन अर्थों का वर्णन किया, जो कि अपौरुषेय हैं। कल्पना कीजिए कि सर्वज्ञ आत्मा ने वर्णन किया कि 'आत्मा नित्य है' सो यह शब्द तो पौरुषेय है, किन्तु शब्दों द्वारा जिस द्रव्य का वर्णन किया गया है, वह नित्य (अपौरुषेय) है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य के विषय में समझ लेना चाहिए। अतः सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञप्रणीत आगमों का ही स्वाध्याय करना चाहिए।

सर्वज्ञप्रणीत आगम कौन कौन से हैं ?

वर्तमान काल में सर्वज्ञप्रणीत और सत्य पदार्थों के उपदेश करने वाले ३२ आगम ही प्रमाण-कोटि में माने जाते हैं। इन आगमों में पदार्थों का वर्णन प्रमाण और नय के आधार पर ही किया गया है। इनके अध्ययन से इन आगमों की सत्यता और इनके प्रणेता सर्वज्ञ या सर्वज्ञ-कल्प स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं।

वर्तमान काल में ३२ आगम इस प्रकार हैं—

"से किं तं सम्मसुअं ? जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्ण नाणदंसणधरेहिं तेलुक्क निरिक्खिअ महिअ पूइएहिं तीयपडुप्पण्ण मणागय जाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीअं दुवालसंगं गणिपिडगं तं जहा—आयारो १ सूयगडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ विवाहपण्णत्ती ५ नायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अणुत्तरोववाइयदसाओ ९ पण्हवागरणाइं १० विवागसुअं ११ दिट्ठिवाओ १२ इच्चेअं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दस पुव्विस्स सम्मसुअं अभिण्ण दस पुव्विस्स सम्मसुअं तेणपरं भिण्णेसु भयणा सेतं सम्मसुअं।

नंदीसूत्र (सू० ४०)

१२ अंगशास्त्र, १२ उपांगशास्त्र, ४ मूलशास्त्र, ४ छेदशास्त्र और

१ आवश्यक सूत्र। किन्तु ये ३३ होते हैं। विचार करना चाहिए कि इस समय ११ अंगशास्त्र विद्यमान हैं; १२ वाँ दृष्टिवादाङ्ग शास्त्र व्यवच्छेद हुआ माना जाता है। अंगशास्त्रों के नाम निम्नलिखित हैं—१ आचारांगशास्त्र, २ सूयगडांगशास्त्र, ३ स्थानांगशास्त्र, ४ समवायांगशास्त्र, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीशास्त्र), ६ ज्ञाताधर्मकथांगशास्त्र, ७ उपासकदशांगशास्त्र, ८ अंतकृद्दशांगशास्त्र, ९ अनुत्तरौपपातिकशास्त्र, १० प्रश्नव्याकरणशास्त्र, ११ विपाकशास्त्र, १२ दृष्टिवादांगशास्त्र (जो व्यवच्छेद हो गया है)।

उपांगशास्त्रों के नाम ये हैं—१ औपपातिकशास्त्र, २ राजप्रश्नीयशास्त्र, ३ जीवाभिगमशास्त्र, ४ प्रज्ञापनाशास्त्र, ५ जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिशास्त्र, ६ सूर्यप्रज्ञप्तिशास्त्र, ७ चन्द्रप्रज्ञप्तिशास्त्र, ८ निरयावलिकाओ, ९ कप्पवडिंसियाओ, १० पुप्फियाओ, ११ पुप्फचूलियाओ, १२ वण्हिदसाओ। चार मूल शास्त्र ये हैं—१ दशवैकालिकशास्त्र, २ उत्तराध्ययनशास्त्र, ३ नंदीशास्त्र और ४ अनुयोगद्वारशास्त्र। चार छेदशास्त्र—१ व्यवहारशास्त्र, २ बृहत्कल्पशास्त्र, ३ दशाश्रुतस्कन्धशास्त्र, ४ निशीथशास्त्र एवं ३१ और ३२ वाँ आवश्यकशास्त्र। इस प्रकार ३२ आगमों की संज्ञा वर्तमान काल में मानी जाती है। किन्तु यह संज्ञा अर्वाचीन प्रतीत होती है। कारण यह है कि नंदीसिद्धान्त में सब सिद्धान्तों की चार प्रकार से निम्नलिखित संज्ञाएँ वर्णन की गई हैं। जैसे—अंगशास्त्र, उत्कालिकशास्त्र, कालिकशास्त्र, और आवश्यकशास्त्र। जो उपांगशास्त्र और मूल चार छेदशास्त्र हैं, वे सब कालिक और उत्कालिक शास्त्रों के ही अन्तर्गत लिये गये हैं। देखो—नंदीसिद्धान्त—श्रुतज्ञानविषय।

तथा औपपातिक आदि शास्त्रों में कहीं पर भी यह पाठ नहीं है कि—यह उपांगशास्त्र है। जैसे पाँचवें अंग के आगे के अंगशास्त्रों के आदि में यह पाठ आता है कि, भगवान् जंबूस्वामी जी कहते हैं—"हे भगवन्! मैंने छठे अंगशास्त्र के अर्थ को तो सुन लिया है, किन्तु सातवें अंगशास्त्र का श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने क्या अर्थ वर्णन किया है?" इत्यादि। किन्तु उपांगशास्त्रों में यह शैली नहीं देखी जाती, और न शास्त्रकर्त्ता ने उनकी उपांग संज्ञा कही है। किन्तु केवल निरयावलिकासूत्र के आदि में यह सूत्र अवश्य विद्यमान है। तथा च पाठः—

"तएणं से भगवं जंबूजातसड्ढे जावपज्जुवासमाणे एवं वयासि—उवंगाणं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं, एवं उवंगाणं पंचवग्गा पण्णत्ता ? तं जहा—१ निरयावलियाओ २ कप्पवडिंसियाओ ३ पुप्फियाओ ४ पुप्फचूलियाओ ५ वण्हिदसाओ" इत्यादि ।

इस पाठ के आगे वर्गों के कतिपय अध्ययनों का वर्णन किया गया है। इस पाठ से यह स्फुट नहीं हो सकता कि—ये उपांगों के पाँच वर्ग कौन कौन से अंगशास्त्र के उपांग हैं। यद्यपि पूर्वाचार्यों ने अंग और उपांगों की कल्पना करके अंगों के साथ उपांग जोड़ दिये हैं, किन्तु यह विषय विचारणीय है। कालिक और उत्कालिक संज्ञा स्थानांगादि शास्त्रों में होने से बहुत प्राचीन प्रतीत होती है। किन्तु उपांगादि संज्ञा भी उपादेय ही है। अथवा यह विषय विद्वानों के लिये विचारणीय है। आचार्यवर्य हेमचन्द्र जी ने अपने बनाये 'अभिधानचिंतामणि' नामक कोष में अंगशास्त्रों का नामोल्लेख करते हुए 'केवल उपांगयुक्त अंगशास्त्र हैं' ऐसा कहकर विषय की पूर्ति कर दी है। किन्तु जिस प्रकार अंगशास्त्रों के नामोल्लेख किये हैं, ठीक उसी प्रकार किस किस अंग का कौन कौन सा उपांगशास्त्र है, ऐसा नहीं लिखा है। इससे भी यह कल्पना अर्वाचीन ही सिद्ध होती है। हाँ, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि यह कल्पना अभयदेव सूरि या मलयगिरि आदि वृत्तिकारों से पूर्व की है। क्योंकि उपांगों के वृत्तिकार वृत्ति की भूमिका में उस उपांग का किस अंग से संबंध है, इस प्रकार का लेख स्फुट रूप से करते हैं। अतः वृत्तिकारों के समय से भी यह कल्पना पूर्व की है, इसलिए यह कल्पना श्वेताम्बर आम्नाय में सर्वत्र प्रमाणित मानी गई है।

विधिविरुद्ध स्वाध्याय के दोष

जिस प्रकार सातों स्वरों और रागों के समय नियत हैं—जिस समय का

जो राग होता है, यदि उसी समय पर गायन किया जाय, तो वह अवश्य आनन्दप्रद होता है, और यदि समयविरुद्ध राग अलापा गया, तब वह सुखदायी नहीं होता; ठीक इसी प्रकार शास्त्रों के स्वाध्याय के विषय में भी जानना चाहिए। और जिस प्रकार विद्यारम्भ संस्कार के पूर्व ही विवाह संस्कार और भोजन के पश्चात् स्नानादि क्रियाएँ सुखप्रद नहीं होतीं, और जिस प्रकार समय का ध्यान न रखते हुए असंबद्ध भाषण करना कलह का उत्पादक माना जाता है, ठीक उसी प्रकार विना विधि के किया हुआ स्वाध्याय भी लाभदायक नहीं होता। और जिस प्रकार लोग शरीर पर यथास्थान वस्त्र धारण करते हैं यदि वे बिना विधि के तथा विपरीतांगों में धारण किये जायँ, तो उपहास के योग्य बन जाते हैं, ठीक इसी प्रकार स्वाध्याय के विषय में भी जानना चाहिए। अतः सिद्ध हुआ कि विधिपूर्वक किया हुआ स्वाध्याय ही समाधिकारक माना जाता है। जिस प्रकार उक्त विषय विधिपूर्वक किये हुए ही 'प्रिय' होते हैं, ठीक उसी प्रकार स्वाध्याय भी विधिपूर्वक किया हुआ ही आत्मविकास का कारण होता है। प्रस्तुत शास्त्र की पहली दशा में उस विषय का स्फुट रूप से वर्णन किया गया है।

स्वाध्याय का समय

स्वाध्याय के लिए जो समय आगमों में बताया गया है, उसी समय स्वाध्याय करना चाहिए, किन्तु अनध्याय काल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी स्वाध्याय के अनध्याय काल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। क्योंकि वे लोग वेद के भी अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय काल माना जाता है। किन्तु जैनागमों के सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्यासंयुक्त होने के कारण इनका भी अनध्याय काल आगमों में वर्णित है। यथा—

"दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाइए प० तं०—उक्कावाते, दिसिदाग्घे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जूयते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रतउग्घाते। दसविहे ओरालिते, असज्झातिते,

प० तं० अट्ठिमंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडणे, रायवुग्गहे, उवसयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।" स्थानांगसूत्र स्थान १० सू० ७१४

(छाया) दशविधम् आन्तरीक्षकम् अस्वाध्यायिकं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—उल्कापातः, दिग्दाहः, गर्जितं, विद्युत्, निर्घातः, यूपकः, यक्षादीप्तं, धूमिता, महिता, रजउद्घातः। दशविधः औदारिकः अस्वाध्यायिकः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—अस्थिमांसशोणितानि अशुचिसामन्तं श्मशानसामन्तं चन्द्रोपरागः सूरोपरागः पतनं राजविग्रहः उपाश्रयस्यान्ते औदारिकं शरीरकम्। तथा च पाठः—

"नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इन्दमहपाडिवाते कत्तिएपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए, णो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं सज्झाहिं सज्झायं करेत्तए, तं पडिमाते पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए तं०—पुव्वण्हे अवरण्हे पओसे पच्चुसे।" स्थानांगसूत्र स्थान ४ उद्देश २ सू० २८५

(छाया) नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा चतुर्भिः महाप्रातिपद्भिः स्वाध्यायं कर्त्तुम्। तद्यथा—आषाढीप्रतिपदः, इन्द्रप्रतिपदः, कार्त्तिकप्रतिपदः, सुग्रीष्मप्रतिपदः? नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां चतुर्भिः सन्ध्याभिः स्वाध्यायं कर्त्तुम्। प्रथमायां पश्चिमायां मध्याह्ने अर्धरात्रौ। कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां चतुष्काले स्वाध्यायं कर्त्तुम्। तद्यथा—पूर्वाह्णे, अपराह्णे, प्रदोषे, प्रत्यूषे।

भावार्थ—आकाश से संबंध रखने वाले कारणों से आकाशसंबंधी दश प्रकार से अस्वाध्याय वर्णन किये गये हैं। जैसे उल्कापात (तारापतन); यदि महत् तारापतन हुआ हो, तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्रों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए १। जब तक दिशा रक्त वर्ण की दिखाई पड़ती रहे, तब भी शास्त्रीय

स्वाध्याय नहीं करना चाहिए २। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। दो प्रहर पर्यन्त बादल गरजने पर ३। एक प्रहर पर्यन्त बिजली चमकने पर ४। दो प्रहर पर्यन्त कड़कने पर ५, अर्थात् बादल के होने या न होने पर आकाश में घोर गर्जना हो, शुक्लपक्ष में तीन दिन पर्यन्त, बालचन्द्र होने पर तीन दिन पर्यन्त। प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया की रात्रि को एक एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करना चाहिए ६। आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे ७। धूमिका श्वेत ८। धूमिका कृष्ण ९। माघ आदि महीनों में धुंध जब तक रहे तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए, विशेषतया वृष्टि होने पर १०। उक्त कारणों के उपस्थित होने पर शास्त्रों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। किन्तु गर्जना और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास्य में न मानना चाहिए। क्योंकि वह गर्जित और विद्युत्-कार्य ऋतु स्वभाव से ही प्रायः होता है। अतः आर्द्रा से और स्वाति अर्क तक अस्वाध्याय नहीं माना जाता। दश प्रकार औदारिक शरीर से संबंध रखने वाले कारणों के उपस्थित हो जाने पर भी अस्वाध्याय हो जाता है। जैसे हड्डी के दिखाई देने पर १। मांस के समीप होने पर २। रुधिर के समीप होने पर ३। वृत्तिकारों ने ६० हाथ के आसपास उक्त चीजें पड़ी होने पर अस्वाध्याय माना है। अशुचि (मलमूत्रादि) के समीप होने पर ४। श्मशान के पास होने पर ५। चन्द्रग्रहण के होने पर ८-१२-१६ प्रहर पर्यन्त ६। सूर्यग्रहण होने पर ८-१२-१६ प्रहर पर्यन्त ७। किसी बड़े राजा आदि अधिकारी की मृत्यु हो जाने पर—उनके संस्कार पर्यन्त अथवा अधिकार प्राप्त होने तक शनैः शनैः पढ़ना चाहिए ८। राजाओं के युद्ध स्थान ९। उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर—जैसे किसी ने कबूतर या चूहे को मार दिया हो तथा १०० हाथ के आसपास मनुष्य आदि का शव पड़ा हो, तब भी स्वाध्याय न करना चाहिए १०। एवं २८॥

चार महाप्रतिपदाओं में भी स्वाध्याय न करना चाहिए। जैसे आषाढ़ शुक्ला पौर्णमासी और श्रावण प्रतिपदा २, आश्विन शुक्ला पौर्णमासी तथा कार्त्तिक प्रतिपदा ४, कार्त्तिक शुक्ला पौर्णमासी तथा मार्गशीर्ष प्रतिपदा ६, चैत्र शुक्ला पौर्णमासी और वैशाख प्रतिपदा ८। और सूर्योदय से एक घड़ी पूर्व तथा एक घड़ी पश्चात् एवं सूर्यास्त से एक घड़ी पूर्व तथा एक घड़ी पश्चात्,

मध्याह्न के समय तथा अर्धरात्रि के समय भी पूर्ववत् स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। किन्तु दिन के प्रथम प्रहर और पश्चिम प्रहर तथा रात्रि के प्रथम प्रहर और पिछले प्रहर में अस्वाध्याय काल को छोड़कर अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए। इस प्रकार ३२ प्रकार के अस्वाध्याय काल को छोड़कर स्वाध्याय करना चाहिए। तथा निशीथ सूत्र के १९ वें उद्देश में यह पाठ है—

"जे भिक्खू चउसु महापडिवएसु सज्झायं करेइ करंतं वा साइज्जइ, तं जहा सुगिम्हिए पाडिवए, आसाढी पाडिवए, भद्दवए पाडिवए, कत्तिए पाडिवए।"

इनका अर्थ भी पूर्ववत् है, किन्तु इस पाठ में भाद्रपद भी ग्रहण किया गया है। सो भाद्रपदशुक्ला पौर्णमासी और आश्विन कृष्णा प्रतिपदा, इस प्रकार दो दिनों की वृद्धि करने से ३४ अस्वाध्याय काल हो जाते हैं। अतः इनको छोड़कर ही स्वाध्याय करना चाहिए। व्यवहारसूत्र के सातवें उद्देश में स्वाध्याय और अस्वाध्याय काल के विषय में वर्णन करते हुए उत्सर्ग और अपवादमार्ग दोनों का ही अवलम्बन किया गया है। जैसे—

"नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वितिकिट्ठाए काले सज्झायं उद्दिसित्तए वा करित्तए ॥१४॥ कप्पति निग्गंथीणं वितिकिट्ठाए काले सज्झायं उद्दिसित्तए वा करित्तए वा निग्गंथणिस्साए ॥१५॥ नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असज्झायं सज्झायं करित्तए ॥१६॥ कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सज्झाइय सज्झायं करित्तए ॥१७॥ नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अप्पणो असज्झाइयं करित्तए कप्पति णं अण्णमन्नस्स वायणं दलित्तए ॥१८॥

इन सूत्रों का भावार्थ केवल इतना ही है कि—साधु या साध्वियों को अकाल में स्वाध्याय न करना चाहिए। किन्तु काल में ही स्वाध्याय करना

चाहिए। यदि परस्पर वाचना चलती हो, तो वाचना की क्रिया कर सकते हैं; अर्थात् वाचना अकाल में भी दे ले सकते हैं। और यदि अपने शरीर से रुधिर आदि बहता हो, तब भी स्वाध्याय नहीं कर सकते, परन्तु उस स्थान को ठीक बाँधकर यदि खून आदि बाहर न बहते हों, तो परस्पर वाचना दे ले सकते हैं। इस प्रकार शुद्धिपूर्वक स्वाध्याय करने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—अस्वाध्याय मूल सूत्र का होता है या अनुप्रेक्षादि का भी? इसका उत्तर यही है कि—ठाणांग सूत्र के वृत्तिकार अभयदेव सूरि चार महा प्रतिपदाओं की वृत्ति करते समय प्रथम ही यह लिखते हैं :—

"स्वाध्यायो नन्न्यादिसूत्रविषयो वाचनादिः अनुप्रेक्षा तु न निषिध्यते"

इस कथन से सिद्ध हुआ कि केवल संहिता-मात्र का अस्वाध्याय है, अनुप्रेक्षा आदि का नहीं।

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से हानि

अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से यही हानि है कि—शास्त्र के देवाधिष्ठित एवं देव-वाणी होने के कारण अशुद्धिपूर्वक पढ़ने से कोई क्षुद्र देव पढ़ने वाले को छल ले या उसे दुःख दे देवे! (एतेषु स्वाध्यायं कुर्वतां क्षुद्रदेवता छलनं करोति इति वृत्तिकारः) जिससे कि लोकों में अत्यंत अपवाद हो जावे। तथा आत्मविराधना और संयमविराधना के होने की भी संभावना की जा सकती है। अथवा—

"सुय णाणंमि अभत्ती लोगविरुद्धं पमत्त छलणा य।
विज्जा साहणवे गुन्न धम्मया एव मा कुणसु ॥१॥"

"श्रुतज्ञानेऽभक्तिः लोकविरुद्धता प्रमत्तछलना च।
विद्यासाधनवैगुण्यधर्मता इति मा कुरु॥"

अर्थात्—विद्यासाधन में असफलता इत्यादि कारण जानकर हे शिष्य!

अकाल में स्वाध्याय न करना चाहिए। अतएव सिद्ध हुआ कि अकाल में स्वाध्याय न करना चाहिए। जैसे जो वृक्ष अपनी ऋतु आने पर ही फलते और फूलते हैं, वे जनता में समाधि के उत्पन्न करने वाले माने जाते हैं। किन्तु जो वृक्ष अकाल में फलते और फूलते हैं, वे देश में दुर्भिक्ष, मरी और राज्य-विग्रह (कलह) आदि के उत्पन्न करने वाले माने जाते हैं। इसी प्रकार स्वाध्याय के काल, अकाल विषय में भी जानना चाहिए। कारण यह है कि प्रत्येक कार्य विधिपूर्वक किया हुआ ही सफल होता है। जैसे समय पर सेवन की हुई औषधि रोग की निवृत्ति और बल की वृद्धि करती है, ठीक इसी प्रकार भक्तिपूर्वक और स्वाध्याय काल में ही किया हुआ स्वाध्याय कर्मक्षय और शान्ति की प्राप्ति कराता है। अतः—

"उद्देसोपासगस्स नत्थि"

इस वाक्य को स्मरण कर इस विषय को यहीं पर समाप्त किया जाता है। अर्थात् बुद्धिमान् को उपदेश की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं ही अपने कृत्यों को समझता है। इसलिए मुमुक्षु जनों को उचित है कि वे शास्त्रीय स्वाध्याय से अपने जीवन को पवित्र बनाकर मोक्ष के अधिकारी बनें। क्योंकि शास्त्र का वाक्य है :—

"दोहिं ठाणेहिं अणगारे संपन्ने अणादीयं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीतिवतेज्जा, तं जहा विज्जाए चेव चरणेण चेव।" स्थानांगसूत्र, स्थान २ उद्देश १ सूत्र ६३

दो कारणों से संयुक्त भिक्षु अनादि अनन्त दीर्घ मार्ग वाले चतुर्गति रूप संसाररूपी कान्तार से पार हो जाते हैं, जैसे कि विद्या और आचरण से। इसलिए हमें चाहिए कि देश और धर्म का अभ्युदय करते हुए अनेक भव्य प्राणियों को मोक्ष का अधिकारी बनावें, जिससे जनता में सुख और शांति का संचार हो। इत्यलं विद्वद्वर्येषु।

प्रस्तावना

संज्ञा

यद्यपि तीर्थंकरदेव की वाणी द्वादशांगी के नाम से प्रसिद्ध है ("दुवालसंगं गणिपिडगं"—समवायांग—नन्दी सू० १४) तथापि दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का विच्छेद हो जाने से वर्तमान काल में उपलब्ध ११ अंग १२ उपांग ४ छेद और ४ मूल तथा एक आवश्यक इस प्रकार कुल ३२ सूत्र प्रामाणिक कहे व माने जाते हैं। इनमें आचारांगादि ११ अंग और औपपातिक आदि बारह उपांग हैं, एवं व्यवहार बृहत् कल्पनिशीथ और दशाश्रुत ये चार छेद सूत्र कहे जाते हैं, तथा दशवैकालिक उत्तराध्ययन, अनुयोग द्वार और नन्दी इन चार की मूल संज्ञा है। इन चारों को प्रकीर्णक और कालिक भी कहते हैं।

चार अनुयोग और उनकी व्याख्या

शास्त्र में चार अनुयोग प्रतिपादन किये गये हैं— १ चरणानुयोग २ धर्मानुयोग ३ गणितानुयोग और ४ द्रव्यानुयोग। इन चार अनुयोगों में ही पूर्वोक्त अंगोपांगादि समस्त जैनागम वर्णित हुए हैं। ओघनिर्युक्ति भाष्य में इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली अर्थात् उक्त चारों अनुयोगों की विशेष रूप से व्याख्या करने वाली तीन गाथायें दी हैं, जो कि निम्नलिखित हैं—

(१) चत्तारिउ अणुओगा, चरणे धम्मगणियाणु ओगेय।
दव्वियणु जोगेय तहा, अहक्कमंते महड्ढिया॥५॥

(२) सविसय बलवत्तं पुण, जुज्जइ तहविय महिड्ढियं चरणं।
चारित्तरक्खणट्ठा जेणि अरे तिन्नि अणु ओगा॥६॥

---

(१) चत्वारस्त्वनुयोगाः, चरणं धर्मगणितानुयोगौ च।
द्रव्यानुयोगश्च तथा, यथा क्रमंते महर्द्धिकाः॥५॥

(२) स्वविषयबलवत्त्वं पुनर्युज्यते, तथापि च महर्द्धिकं चरणम्।
चारित्ररक्षणार्थं येन इतरे त्रयोऽनुयोगाः॥६॥

(३) चरणपडिवत्ति हेउं, धम्मकहा कालदिक्खमाईया।
दविए दंसण सुद्धी, दंसणसुद्धस्स चरणं तु ॥७॥

इन तीनों गाथाओं का संक्षेप से व्याख्यानुसारी तात्पर्य इस प्रकार है—चार प्रकार से अनुयोग कथन किये गये हैं—चरणानुयोग, धर्मानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग। ये चारों उत्तरोत्तर महत्त्वशाली हैं अर्थात् प्रथम की अपेक्षा दूसरा

---

(३) चरणप्रतिपत्तिहेतवः धर्मकथाकालदीक्षादयः।
द्रव्ये दर्शनशुद्धिः दर्शनशुद्धस्य चरणं तु ॥७॥

इस गाथात्रय की संस्कृत व्याख्या भी है, जो कि क्रमशः नीचे दी जाती है—

१ व्याख्या—चत्वारः इति संख्यावचनः शब्दः। अनुकूला अनुरूपा वा योगा अनुयोगाः। तुशब्दः एवकारार्थः चत्वार एव। अन्ये तु, तुशब्दं विशेषणार्थं व्याख्यानयन्ति। किं विशेषयन्तीति चत्वारोऽनुयोगाः। तुशब्दाद् द्वौ च पृथक्त्वापृथक्त्वभेदात्। कथं चत्वारोऽनुयोगाः? इत्याह—"चरणे धम्मगणियाणुओगेय" चर्यत इति चरणं तद्विषयोऽनुयोगश्चरणानुयोगस्तस्मिन् चरणानुयोगे। अत्र चोत्तरपदलोपात्करणस्यानुपन्यासः। अन्यथा चरणकरणानुयोगे इत्येवं वक्तव्यम्, स चैकादशांगरूपः। "धम्मे" इति धारयतीति धर्मः दुर्गतौ पतन्तं सत्त्वमिति तस्मिन् धर्मे धर्मविषये द्वितीयोऽनुयोगो भवति, स चोत्तराध्ययनप्रकीर्णकरूपः। "गणियाणुओगेय" इति गण्यत इति गणितम्। तस्यानुयोगो गणितानुयोगः। तस्मिन् गणितानुयोगविषये तृतीयो भवति, स च सूर्यप्रज्ञप्त्यादिरूपः। चशब्दः प्रत्येकमनुयोगपदसमुच्चायकः। "दव्वियणुओगे" त्ति द्रवतीति द्रव्यं तस्यानुयोगो द्रव्यानुयोगः सदसत्पर्यालोचनारूपः। स च दृष्टिवादः, चशब्दादनार्षः सम्मत्यादिरूपः। तथेति क्रमप्रतिपादकः। आगमोक्तेन प्रकारेण "यथाक्रमं" यथापरिपाट्येति। चरणकरणानुयोगाद्याः "महर्द्धिका" प्रधाना इति यदुक्तं भवति। एवं व्याख्याते सत्याह परः—"चरणे धम्मगणियाणुओगेय, दव्वियणुओगेय" त्ति यदेतेषां भेदेनोपन्यासः क्रियते तत्किमर्थं चत्वार इत्युच्यते? विशिष्टपदोपन्यासादेवावगमोऽवगम्यत इति, तथा चरणपदं भिन्नया विभक्त्या किमर्थमुपन्यस्तम्? धर्मगणितानुयोगौ तु एकयैव विभक्त्या पुनर्द्रव्यानुयोगो भिन्नया विभक्त्येति, तथाऽनुयोगशब्दश्चैक एवोपन्यसनीयः किमर्थं द्रव्यानुयोग इति भेदेनोपन्यस्त इति?

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं, चतुर्ग्रहणं न कर्तव्यं, विशिष्टपदोपन्यासात्। तदसत्, यतो न विशिष्टसंख्यावगमो भवति विशिष्टपदोपन्यासेपि कुतः? चरणधर्मगणितद्रव्यपदानि सन्ति, अन्यान्यपि सन्तीति संशयो मा भूदस्यविच्छित्त्यर्थं चतुर्ग्रहणं क्रियत इति यथा, यच्चोक्तं—भिन्नया विभक्त्या चरणपदं केन कारणेनोपन्यस्तम्? तत्रेदं प्रयोजनं, चरणकरणानुयोग एवात्राधिकृतः, प्राधान्यख्यापनार्थं भिन्नया विभक्त्या उपन्यास इति, तथा धर्मगणितानुयोगौ एकविभक्त्योपन्यस्तौ, तत्र तु क्रमेऽप्रधानतेतिविति। तथा द्रव्यानुयोगे भिन्नविभक्त्युपन्यासे प्रयोजनम्। अयं हि एकैकानुयोगे संलग्नीय, न पुनर्लौकिकशास्त्रवद् युक्तिभिर्न विचारणीय इति। तथाऽनुयोगशब्दद्वयोपन्यासे प्रयोजनमुच्यते—यद् त्रयाणां पदानामन्तेऽनुयोगपदमुपन्यस्तं तदपृथक्त्वानुयोगप्रतिपादनार्थमिति।

एवं व्याख्याते सत्याह परः इह गाथासूत्रपर्यन्त इदमुक्तम्—यथा क्रमेण—"महर्द्धिका" इति। एवं तर्हि चरणकरणानुयोगस्य लघुत्वे तत्किमर्थं तस्य निर्युक्तिः क्रियते, अपितु द्रव्यानुयोगस्य युज्यते कर्तुं, सर्वेषामेव प्रधानत्वात्, एवं चोदकेनाक्षिप्ते सत्युच्यते—

(२) स्वस्थाने विषयश्च स्वविषयस्तस्मिन् स्वविषये बलवत्त्वं पुनर्युज्यते घटते। एतदुक्तं भवति—सर्वे स्वस्वविषये सर्वे एव बलवन्तो वर्तन्त इति। एवं व्याख्याते सत्यपरः स्वाह—यद्येवं सर्वेषामेव निर्युक्तिकरणं प्राप्तम्, आत्मीयात्मीयविषये सर्वेषामेव बलवत्त्वात्, तथापि चरणकरणानुयोगस्य न कर्तव्येति। एवं चोदकेनाक्षिप्ते सत्याह गुरुः—"तहवियमहड्ढियं चरणं" तथापि एवमपि स्वविषयबलवत्त्वेऽपि सति महर्द्धिकं

अधिक महत्त्व रखता है। अनुकूल अथवा अनुरूप योग—व्याख्या को अनुयोग* कहते हैं। तात्पर्य यह है कि समस्त जैनसूत्र उक्त चारों अनुयोगों में ही प्रतिपादन किये गये हैं। जिन सूत्रों में चारित्रविधि की पूर्ण व्याख्या की गई है, वे चरणानुयोग के नाम से प्रसिद्ध हैं। यथा आचारांगादि अंगसूत्र चरणानुयोग कहे जाते हैं। एवं जिन सूत्रों में धर्म की व्याख्या की गई है, वे धर्मानुयोग के नाम से प्रसिद्ध हैं। धर्मानुयोग में उत्तराध्ययनादि प्रकीर्ण ग्रन्थों का समावेश होता है। दुर्गति में पड़ते हुए प्राणी को सुगति में ले जाने वाले तत्त्व का नाम धर्म है। इसी प्रकार जिन सूत्रों में गणित विषय का उल्लेख किया हुआ है, वे गणितानुयोग के अन्तर्गत हैं। यथा—सूर्य प्रज्ञप्ति आदि सूत्र। इन सूत्रों में गणितविषय का विशेष उल्लेख है। और जिन सूत्रों में धर्मादि द्रव्यों का विवेचन किया गया है, उन्हें द्रव्यानुयोग कहते हैं। दृष्टिवादांग की इसी अनुयोग में गणना की जाती है। यद्यपि वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले सूत्रग्रन्थों में चारों अनुयोगों के पाठ मिलते हैं परन्तु उक्त कथन उत्सर्ग सापेक्ष है अर्थात् उत्सर्ग मार्ग को अवलम्बन करके किया गया है और अपवाद मार्ग में तो प्रत्येक सूत्र में चारों अनुयोगों का वर्णन विद्यमान रहता है, इसलिये प्रत्येक अनुयोग की प्रधानता को लेकर उक्त प्रकार का उल्लेख समुचित ही है।

ऊपर बतलाया गया है कि ये चारों अनुयोग उत्तरोत्तर प्रधानता को लिये

चरणमेव। शेषानुयोगाना चरणकरणानुयोगार्थमेवोपादानात्, पूर्वोत्पन्नसंरक्षणार्थमपूर्वप्रतिपत्त्यर्थं च शेषानुयोगा अस्यैव वृत्तिभूताः। यथाहि कर्पूरवनखंडरक्षार्थं वृत्तिरुपादीयते, तत्र हि कर्पूरवनखंडं प्रधानं न पुनर्वृत्तिः। एवमत्रापि चारित्ररक्षणार्थं शेषानुयोगानामुपन्यासात्। तथा चाह—"चारित्तरक्खणट्ठाजेणियरे तिन्नि अणुओगा" चयरिक्तीकरणाच्चारित्रं तस्य रक्षणं तदर्थं चारित्ररक्षणार्थं येन प्रकारेण "इतरे" इति धर्मानुयोगादयस्त्रयोऽनुयोगा इति।

(२) एवं व्याख्याते सत्याह—कथं चारित्ररक्षणमिति चेत्तदाह—चरणपडिवत्तिहेउं .

चर्यत इति चरणं व्रतादिः। तस्य प्रतिपत्तिश्चरणप्रतिपत्तिः। चरणप्रतिपत्तेः हेतुः कारणं निमित्त-मिति पर्यायाः। किं तदाह—"धर्मकथा" दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसंघातं धारयतीति धर्मस्तस्य कथा कथनं धर्मकथा। चरणप्रतिपत्तेर्हेतुर्धर्मकथा। तथाहि—आक्षेपण्यादिधर्मकथाऽऽक्षिप्ताः सन्तो भव्यप्राणिनश्चारित्र-मवाप्नुवन्ति "कालदिक्खमाईयत्ति" कलनं कालः कलासमूहो वा कालस्तस्मिन् काले दीक्षादयः। दीक्षणं दीक्षा प्रव्रज्याप्रदान आदिशब्दादुपस्थापनादिपरिग्रहः। तथा च शोभनतिथिनक्षत्रमुहूर्तयोगादौ प्रव्रज्या-प्रदानं कर्त्तव्यम्। अतः कालानुयोगोऽप्यस्यैव परिकरभूतः। "दविएत्ति" द्रव्ये द्रव्यानुयोगे किं भवति? इत्यत आह—"दर्शनशुद्धिः" दर्शनं सम्यग्दर्शनमभिधीयते। तस्य शुद्धिः निर्मलता-दर्शनशुद्धिः। एतदुक्तं भवति, द्रव्यानुयोगे सति दर्शनशुद्धिर्भवति युक्तिभिर्यथा व्यवस्थितार्थपरिच्छेदात्। तदत्र चरणमपि युक्त्यनुगतमेव ग्रहीतव्यं न पुनरागमादेव केवलादिति। आह—दर्शनशुद्ध्यैव किम्? तदाह— "दर्शनशुद्धस्य" दर्शनं शुद्धं यस्यासौ दर्शनशुद्धस्तस्य "चरणं" चारित्रं भवतीत्यर्थः। तुशब्दो विशेषणे चारित्रशुद्धस्य दर्शनमिति।

* अनुयोगः इति कः शब्दार्थः? उच्यते श्रुतस्य स्वेनार्थेनानुयोजनम् अनुयोगः, अथवा सूत्रस्याभि-धेयव्यापारो योग, अनुरूपः अनुकूलो वा योगः अनुयोगः, अथवा अर्थतः पश्चादभिधानात् स्तोकत्वाच्च सूत्रमनु तस्याभिधेयेन योजनमनुयोगः।

[इति विनयाध्ययने चूर्णीकारः]

हुए हैं अर्थात् चरणानुयोग से धर्मानुयोग प्रधान है और धर्मानुयोग से गणितानुयोग विशिष्ट है । एवं गणितानुयोग की अपेक्षा द्रव्यानुयोग महत्त्व वाला है । इस प्रकार सब से अधिक महत्ता द्रव्यानुयोग की मानी गई है । परन्तु ऐसा मानने पर चरणानुयोग सब से लघु अर्थात् कम महत्त्व वाला ठहरता है । तब तो उसका सब से प्रथम निर्देश करना असंगत होगा क्योंकि सब से प्रथम निर्देश प्रधान का ही किया जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि यदि द्रव्यानुयोग को सब में प्रधानता प्राप्त है तो प्रथम उसी का निर्देश करना चाहिये था । इस आक्षेप के समाधानार्थ आचार्यों ने उत्तर की दूसरी गाथा का उल्लेख किया है । आचार्य कहते हैं कि उक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं कि इन चारों अनुयोगों में एक कम और दूसरा अधिक महत्त्व वाला है किन्तु ये चारों ही अनुयोग अपने अपने विषय में प्रधान अथच महत्त्वशाली हैं । चरणानुयोग का प्रथम निर्देश करने का अभिप्राय उसकी मुख्यता द्योतन करता है । तात्पर्य यह है कि चरणानुयोग अंगी और शेष तीनों अनुयोग उसके अंगभूत हैं । अथवा यों कहिये कि चरणानुयोग की रक्षा के लिये ही बाकी के तीन अनुयोग प्रतिपादन किये गये हैं । अतः चरणानुयोग अर्थात् चारित्र प्रधान है और धर्म, गणित तथा द्रव्य ये तीनों चारित्र के वृतिभूत संरक्षक होने से गौण हैं । लोक में भी देखा जाता है कि जो रक्षणीय होता है, उसे ही प्रधान कहा व माना जाता है । तात्पर्य यह है कि जैसे कर्पूरवनखंड की रक्षा के लिये वृति (बाड़) की अत्यन्त आवश्यकता होती है कारण कि उसके बिना वह सुरक्षित नहीं रह सकता परन्तु इससे वृति (बाड़) को प्रधान नहीं माना जा सकता । प्रधानता तो कर्पूरवनखंड को ही प्राप्त होती है । इसी प्रकार चारित्र संरक्षणार्थ वर्णन किये गये बाकी के तीनों अनुयोग आवश्यक होने पर भी उनमें प्रधानता चारित्र की ही मानी जाती है । कर्मों के संचय को—कर्मों के समूह को आत्मा से पृथक् करने का सामर्थ्य विशेषरूप से चारित्र में ही है । अतः "चयरिक्तीकरणाच्चारित्रं" (कर्मों के समुच्चय को रिक्त करने—आत्मा से पृथक् करने वाले तत्त्व का नाम चारित्र है) यह चारित्र शब्द की निरुक्ति सार्थक ही की गई है । तीसरी गाथा में धर्मादि अनुयोगों की चारित्रसंरक्षता का वर्णन है अर्थात् धर्म, गणित और द्रव्य ये तीनों अनुयोग चारित्र की रक्षा किस प्रकार से करते हैं, इस बात का उल्लेख किया गया है । धर्मकथानुयोग के द्वारा चारित्र में दृढता सम्पादन की जाती है अर्थात् मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को धर्मसम्बन्धी कथाओं के द्वारा चारित्र में आरूढ किया जाता है, जिससे कि उनके चारित्र में उत्तरोत्तर निर्मलता और जीवनसहभावित्व का संचार हो सके । इसी हेतु से धर्मानुयोग को चारित्र का रक्षक माना गया है । इसी भांति गणितानुयोग भी चारित्र का परम सहायक माना है । कारण कि दीक्षा ग्रहण में तिथि, नक्षत्र, योग और मुहूर्तादि की शुद्धि का जो विचार किया जाता है, जिससे कि ग्रहण की हुई दीक्षा निर्विघ्नतया सम्पन्न हो सके, यह सब गणितानुयोग पर ही निर्भर है । तथा तीसरा द्रव्यानुयोग है जो कि चारित्र

रक्षकों में सब से अग्रसर है। कारण कि चारित्रनिष्ठा के लिये दर्शनशुद्धि की नितान्त आवश्यकता है और दर्शनशुद्धि अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति जीवाजीवादि द्रव्यज्ञान की अपेक्षा रखती है अर्थात् जब तक मुमुक्षु आत्मा को जीवाजीवादि द्रव्यों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक उसको यथार्थ रूप से सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः दर्शनशुद्धि के लिये जीवाजीवादि द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना मुमुक्षु जीव के लिये परम आवश्यक है और जिसका दर्शन शुद्ध है उसी का चारित्र निर्मल अथवा सुदृढ़ हो सकता है। इसी आशय से आगमों* म कहा है कि जो व्यक्ति शुद्ध जीव और शुद्ध अजीव तथा जीवाजीव आदि को भली भांति जानता है वही संयम मार्ग में निष्णात हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि दर्शनशुद्धि के द्वारा ही सम्यक् चारित्र की उपलब्धि हो सकती है और जिन आत्माओं का दर्शन शुद्ध नहीं, उनका चारित्र भी निर्मल नहीं। इस प्रकार उक्त तीनों अनुयोग चारित्र की रक्षा के लिये अभिहित हुए हैं और उनमें से दूसरा जो धर्मानुयोग है, उसका वर्णन करने वाला यह उत्तराध्ययन सूत्र है।

उत्तराध्ययन शब्द की व्युत्पत्ति

उत्तराध्ययन इस वाक्य में उत्तर और अध्ययन ये दो शब्द हैं। इनमें उत्तर शब्द का प्रधान अर्थ भी होता है और पश्चाद्भावी भी। तब प्रधान अर्थ में उक्त वाक्य का यह अर्थ हुआ कि उत्तर—प्रधान अर्थात् धर्मसम्बन्धी विषय में एक से एक बढ़कर हैं अध्ययन—प्रकरण जिसमें, उस शास्त्र का नाम उत्तराध्ययन है। उक्त सूत्र के अध्ययनों—प्रकरणों की संख्या ३६ है। इस बात का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र के अन्त में† तथा समवायांग सूत्र के ३६वें स्थान में किया है‡ और उत्तर शब्द का पश्चाद्भावी उत्तर अर्थात् पश्चात् पढ़ा जाने वाला, यह अर्थ होता है। प्राचीन समय में आचारांगादि सूत्रों से उक्त सूत्र के अध्ययनों का पाठ उत्तर काल में किया जाता था। आचारांगादि सूत्रों से इस सूत्र की रचना पीछे से हुई है, कारण कि श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने इसको अन्त समय में कहा है। इसलिये इन अध्ययनों के समुदाय की उत्तराध्ययन

* जो जीवेवि वियाणेइ, अजीवेवि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥ (दशवैका० अ० ४ गा० १३)

† छत्तीस उत्तरज्झाए भवसिद्धीय संमए। (अ० ३६ गा० २७०)

‡ छत्तीसं उत्तरज्झयणा पं० तं०— १ विणयसुयं, २ परीसहो, ३ चाउरंगिज्जं, ४ असंखयं, ५ अकाममरणिज्जं, ६ पुरिसविज्जा, ७ उरब्भिज्जं, ८ काविलियं, ९ नमिपव्वज्जा, १० दुमपत्तयं, ११ बहुसुयपूजा, १२ हरिएसिज्ज, १३ चित्तसंभूय, १४ उसुआरिज्जं, १५ सभिक्खुगं, १६ समाहिठाणाहिं, १७ पावसमणिज्जं, १८ संजइज्ज, १९ मियचारिया, २० अणाहपव्वज्जा, २१ समुद्दपालिज्जं, २२ रहनेमिज्जं, २३ गोयमकेसिज्जं, २४ समितीओ, २५ जन्नतिज्जं, २६ सामायारी, २७ खलुंकिज्जं, २८ मोक्खमग्गई, २९ अप्पमाओ, ३० तवोमग्गो, ३१ चरणविही, ३२ पमायठाणाइं, ३३ कम्मपयडी, ३४ लेसज्झयणं, ३५ अणगारमग्गो, ३६ जीवाजीवविभत्तिय।

संज्ञा* हुई। सम्प्रतिकाल में दशवैकालिक सूत्र के पश्चात् इस सूत्र के अध्ययन की प्रथा प्रचलित हो रही है, इस हेतु से भी इसका उत्तराध्ययन यह नाम सार्थक प्रतीत होता है।

अध्ययन शब्द का निर्युक्तिकारसम्मत विशेष अर्थ

निर्युक्तिकार ने अध्ययन शब्द के प्रकरण अर्थ के अतिरिक्त कुछ विशेष अर्थ भी किये हैं। यथा—

(१) अज्झप्पस्साणयणं कम्माणं अवचयो उवचियाणं।
अणुवचयो व णवाणं तम्हा अज्झयणमिच्छंति ॥१॥
(२) अहिगम्मंति व अत्था, अणेण अहियं वणयणमिच्छंति।
अहियं व साहु गच्छइ, तम्हा अज्झयणमिच्छंति ॥२॥

---

* इसी आशय को निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा में व्यक्त किया गया है। यथा—

कम उत्तरेण पगय आयारस्सेव उपरिमाइ तु।
तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुंति णायव्वा ॥३॥

भावार्थ—जिससे कि ये अध्ययन अचारांग से उत्तर काल में पढ़े जाते थे, इसलिये इनकी उत्तर संज्ञा है।

यस्मादाचारस्योपर्येवेमानि पठितवन्तस्तस्मात् उत्तराणि उत्तरशब्दवाच्यानि।

(व्याख्या—) तथा चूर्णीकार का निम्नलिखित कथन भी इसी आशय को व्यक्त करता है। यथा—

"उत्तरज्झयणा पुव्वं आयारस्सुवरिं आसि, तस्सेव तेसिं उवोद्‌घातवसबंधाभिवत्थायं, ताणि पुण जप्पभिइं अज्जसेज्ज भवेण मणगपितुणा मणगहियत्थाएणिज्झूहियाणि दसवियालिय मिति, तम्मि चरणकरणानुयोगो वणिज्जति, तप्पभिइं च तस्सु वरिठवित्ताणि, एतेणाभिसंबंधेणुत्तरज्झयणाणि आगताणि"।

(१) अध्यात्मस्यानयनं, कर्मणाम् अपचयः उपचितानाम्।
अनुपचयो वा नवानां, तस्मात् अध्ययनमिच्छन्ति ॥१॥
(२) अधिगम्यन्ते वाऽर्थाः, अनेनाधिकं वा नयनमिच्छन्ति।
अधिकं वा साधु गच्छति, तस्मात् अध्ययनमिच्छन्ति ॥२॥

यह गाथा अणुयोद्वार सूत्र में भी है, देखो प्रमाण द्वार सू० १२५ में।

(१) व्याख्या—"अज्झप्पस्स"त्ति सूत्रत्वादध्यात्ममात्मनि, कोऽर्थ. ? स्वस्वभावे आनीयतेऽनेनेति आनयन, प्रस्तावादात्मनोऽध्ययनं, निरुक्तिविधिना चात्माकारनकारलोपः। कुतः एतदित्याह—यत· कर्मणा ज्ञानावरणीयादीनाम्, "अपचय" चयापगमोऽभाव इत्यर्थः। "उपचिताना" प्राग्बद्धानाम् "अनुपचयश्च" अनुपचीयमानताऽनुपादानमिति यावत्, नवानां प्रत्यग्राणां कोर्थः ? प्राग्बद्धानाम् एतदुपयुक्तस्येति गम्यते। उपसंहारमाह—तस्मात् प्राग्बद्धवध्यमानकर्माभावेनात्मनः स्वस्वभावानयनाद्धेतोः अध्ययनम् "इच्छति" अभ्युपगच्छन्ति पूर्वसूरय इति गम्यते। यद्वा अध्यात्ममिति रूढितो मनः तच्च प्रस्तावात् शुभ तस्यानयनमध्ययनम्। आनीयते ह्यनेन शुभं चेतः अस्मिन् उपयुक्तस्य वैराग्यभावात्। शेषं प्राग्वत्। नवरं वैराग्यभावात् कर्मणामिति क्लिष्टानामिति गाथार्थः।

(२) निरुक्त्यन्तरेणैतदेव व्याख्यातुमाह—

अधिगम्यन्ते वा परिच्छिद्यन्ते वा "अर्थाः" जीवादयः अनेनाधिकं वानयनं प्रापणमर्थादात्मनि

भावार्थ—केवल आत्मचिन्तन—आत्मस्वाध्याय अर्थात् आत्मा में तदाकार वृत्ति का सम्पादन करना ही अध्ययन है। तात्पर्य कि जिसके द्वारा आत्मा को वैभाविक परिणति से हटाकर स्वस्वभाव में लाया जाय, उसी को विद्वानों ने अध्ययन कहा है। यदि दूसरे शब्दों में कहें तो खरी आध्यात्मिकता का सम्पादन करना ही वास्तविक अध्ययन अथवा उसका सुचारु फल है। इसी आशय से चूर्णीकार ने—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकानि चोत्तराध्ययनानि' ऐसा उल्लेख किया है। यहां पर अध्ययन से शास्त्रकारों का अभिप्राय भावाध्ययन से है। कारण कि भावाध्ययन से ही यह आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त होकर अपने निज स्वभाव में रमण करने की योग्यता प्राप्त कर सकता है। मन, वाणी और शरीर के शुभ व्यापार से भावपूर्वक जो अर्थ चिन्तन है, उसी का नाम भावाध्ययन है। इसी भावाध्ययन से यह आत्मा स्वोपार्जित कर्म दलिकों का क्षय करके अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। निम्नलिखित निर्युक्तिगाथा इसी भाव को अर्थात् भावाध्ययन के स्वरूप और फल को व्यक्त कर रही है। यथा—

अट्ठविहं कम्मरयं, पोराणं जं खवेइ जोगेहिं।
एयं भावज्झयणं, णेयव्वं आणुपुव्वीए॥

परन्तु भावाध्ययन *द्रव्याध्ययनपूर्वक होता है अर्थात् यह जीव शुभ मन से द्रव्याध्ययन करता हुआ भावाध्ययन में प्रवेश करता है। तथा भावाध्ययन से पूर्व संचित कर्मों का क्षय हो जाता है और आगे के लिये नये कर्म का बन्धन नहीं होता। इस प्रकार उभयविध—सत्तागत और बध्यमान कर्मों से मुक्त होता हुआ यह जीवात्मा अपने स्वभाव में रमण करने लगता है। अतः अध्ययन शब्द की यह पूर्वोक्त निरुक्ति (आत्मा को स्वस्वभाव में लाना) ठीक ही प्रतीत होती है। अथवा रूढ्यर्थ को मानकर

ज्ञानादीनामनेन इच्छति विद्वांस इति शेष.। 'अधिकम्' अर्गलं शीघ्रतरमिति यावत्। 'वा' सर्वत्र विकल्पार्थः। "साधु" इति साधयति पौरुषेयीभिर्विशिष्टक्रियाभिरपवर्गमिति साधुः "गच्छति" यात्यर्थान्मुक्तिम्। अनेनेत्य-त्रापि योज्यते। यस्मादेवमेव च तत· किमित्याह—तस्मादध्ययनमिच्छन्ति। निरुक्तविधिनाऽर्थनिर्देश-परत्वाद्वाऽस्य अयतेर्गतेर्वा अधिपूर्वस्याध्ययनम्।

छाया—अष्टविधं कर्मरज , पुराणं यत् क्षपयति योगैः ।
एतद् भावाध्ययनं, नेतव्यम् आनुपूर्व्या ॥१॥

व्याख्या—"अष्टविधम्" अष्टप्रकारकं क्रियत इति कर्मज्ञानावरणादि रज इव रजो जीवशुद्ध-स्वरूपान्यथात्वकरणेन, इह चोपमावाचकशब्दमन्तरेणापि परार्थप्रयुक्तत्वात् अग्निर्माणवक इतिवदुपमानार्थोऽ-वगन्तव्यः। कर्मरज इति समस्तं वा पदं "पुराण" अनेकभवोपात्तत्वेन चिरन्तन यत्—यस्मात् क्षपयति जतुः योगैः भावाध्ययनचिन्तनादिशुभव्यापारैः, तस्मादिदमेव भावरूपत्वात् क्षपणाहेतुत्वात् भावक्षपणेत्युच्यते इति प्रक्रमः। प्रकृतमुपसंहर्तुमाह—एतद् इत्युक्तपर्यायाभिधेयं भावाध्ययनं नेतव्यं प्रापयितव्यम् आनुपूर्व्या शिष्यप्रशिष्यपरंपरात्मिकायाम्। यद्वा नेतव्यं संवेदनविषयतां प्रापणीयम् आनुपूर्व्या क्रमेणेति।

* "दव्वज्झयणे ? पत्तयपोत्थय लिहियं" अर्थात् पत्र और पुस्तक पर लिखा हुआ द्रव्याध्ययन कहलाता है। (अनु० सू० १५०)

अध्यात्म का अर्थ यहां पर प्रशस्त मन है । तात्पर्य कि जिसके द्वारा मन की प्रशस्त प्रवृत्ति हो और क्लिष्ट कर्मों के विनाशार्थं तदनुसार उपयुक्ततापूर्वक वैराग्य भाव धारण किया जावे, उसको अध्ययन कहते हैं।

(२) अथवा जिसके द्वारा जीवाजीवादि पदार्थों का सम्यग्बोध हो जावे, तथा आत्मा को जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो, उस क्रियाविशेष को विद्वान् अध्ययन कहते हैं। अपिच साधु—पौरुषी आदि विशिष्ट क्रियाकलाप के द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिये यत्न करने वाला जीव—जिस अनुष्ठान विशेष के द्वारा शीघ्र ही मोक्षपथ का पथिक बन सके, उसका नाम अध्ययन है। यहां पर अधिपूर्वक इङ् धातु से निष्पन्न हुए अध्ययन शब्द की चर्चा की गई है । सारांश कि उपर्युक्त भिन्न भिन्न प्रकार से की जाने वाली निरुक्तियों से उत्तराध्ययन सूत्र की विशिष्टता ध्वनित करना ही निर्युक्तिकार को अभिमत है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, जो कि सुसंगत एवं समुचित ही है।

रचनाविषयक मतभेद

प्रस्तुत सूत्र की रचना के विषय में कुछ मतभेद देखने में आता है। निर्युक्तिकार तो इसके कतिपय अध्ययनों को दृष्टिवादांग से उद्धृत किया हुआ मानते हैं। कितने एक स्थलों को जिनभाषित कहते हैं और कितने एक प्रत्येक बुद्धादि रचित एवं अन्य स्थविरादि के द्वारा कहे गये स्वीकार करते* हैं । चूर्णीकार† श्री जिनदास गणि महत्तर और बृहद्वृत्तिकार वादिवैताल श्री शांतिसूरि‡ तथा स्वर्गीय संवेगी

* अंगप्पभा जिणभासियाय पत्तेयबुद्धसंवाया ।
बंधे मुक्खे य कया, छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥ (निर्युक्तिगाथा ४)
छाया—अंगप्रभवाणि जिनभाषितानि प्रत्येकबुद्धसंवादानि ।
बन्धे मोक्षे च कृतानि षट्त्रिंशत् उत्तराध्ययनानि ॥

† एयाणि पुण उत्तरज्झयणाणि कओकेण वा भासियाणिति ? उच्यते "अंगप्पभागाहा । तत्थ अंगप्पभवा जहा परीसहा बारसमाओ अंगाओ कम्मप्पवाय पुव्वाओणिज्जूढा, जिणभासिया जहा दुमपत्तगादि, पत्तेयबुद्धभासियाणि जहा काविलिज्जादि, संवाओ जहाणमि पव्वज्जा केसिगोयमेज्ज च, त एते सव्वेव बंधप्पमोक्खत्थं छत्तीसं उत्तरज्झयणा कया । (चूर्णी पृ० ७)

‡ "अंगप्पभवा जिणभासिया" इत्यादि निर्युक्ति गाथा की व्याख्या रूप में उल्लेख किया गया बृहद्वृत्ति का पाठ इस प्रकार है—अंगाद् दृष्टिवादादेः प्रभव उत्पत्तिरेषामिति अंगप्रभवानि यथा परीषहाध्ययनम्। वक्ष्यति हि—"कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जंसुत्तं, सनय सोदाहरणं त चेव इहपियारयव्व" । जिनभाषितानि, यथा द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनं, तद्धि समुत्पन्नकेवलेन भगवता महावीरेण प्रणीतम्। यद्वक्ष्यति—"तं णिस्साए भयवं सीसाणं देइ अणुसट्ठिंत्ति, च समुच्चये प्रत्येकबुद्धाश्च संवादश्च प्रत्येकबुद्धसंवादं तस्मादुत्पन्नानि इति शेषः, तत्र प्रत्येकबुद्धाः कपिलादयः तेभ्य उत्पन्नानि यथा कापिलीयमध्ययनम् । वक्ष्यति हि—"धम्मट्ठयागीयं" तत्र हि कपिलेनेति प्रक्रमः । संवाद संगतप्रश्नोत्तरवचनरूपस्ततः उत्पन्नानि यथा केशिगौतमीयं, वक्ष्यति च—"गोतमकेसीओय संवाय समुट्ठिय तु जम्हेयमित्यादि . . . .
(अध्य० १ निर्युक्ति गाथा ४ की व्याख्या)

साधु श्री आत्माराम जी ने भी निर्युक्ति के इसी विचार को मान्य रक्खा है । तात्पर्य कि इन तीनों विद्वानों ने उत्तराध्ययन की रचना को निर्युक्ति के लेखानुसार ही स्वीकार किया है । परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा और श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाणसम्बन्धी कल्पसूत्र के पाठ को देखते हुए निर्युक्तिकार का उक्त कथन कुछ विचार की अपेक्षा रखता है । उत्तराध्ययन सूत्र की अन्तिम गाथा में लिखा है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों को प्रकट करने के अनन्तर निर्वाण पद को प्राप्त किया * । तथा कल्पसूत्र का निम्नलिखित पाठ भी इसी बात का समर्थन कर रहा है । यथा—

(१) "तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे तीसं वासाइं अगार वासमज्झे वसित्ता साइरेगाइं दुवालसवासाइं छउमत्थपरियायं पाउणित्ता

† प्रश्न ९४—जैनमत में यह जो रूढि से कितनेक लोग कहते हैं कि उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन दीपमाला की रात्रि में कथन करके और सैंतीसवां अध्ययन कथन करते हुए श्री श्रमण भगवान् मोक्ष को प्राप्त हो गये, यह कथन सत्य है वा नहीं ?

उत्तर—यह कथन सत्य नहीं क्योंकि कल्पसूत्र की मूलटीका से विरुद्ध है, और श्री भद्रबाहु स्वामी ने उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में ऐसा कथन किया है कि—उत्तराध्ययनसूत्र का दूसरा परीषहाध्ययन तो कर्मप्रवाद पूर्व के सत्तरवें पाहुड से उद्धार करके रचा है, और आठवां अध्ययन श्री कपिलकेवली ने रचा है और दशवां अध्ययन जब गौतम स्वामी अष्टापद से पीछे आये हैं तब भगवन्त ने गौतम को धैर्य देने के वास्ते चम्पा नगरी में कथन किया था और २३वां अध्ययन केशी गौतम के प्रश्नोत्तररूप स्थविरों ने रचा है । कितनेक अध्ययन प्रत्येक बुद्ध मुनियों के रचे हुए हैं और कितनेक जिनभाषित हैं । इसलिए उत्तराध्ययन दीपमाला की रात्री में कथन किया सिद्ध नहीं होता है (जैनधर्मविषयक प्रश्नोत्तर पृ० १२२) यह पाठ चूर्णी और निर्युक्ति गाथा की व्याख्यारूप से उल्लेख किये गये संस्कृत पाठ का प्राय. अनुवाद मात्र ही है । —लेखक

* इति पाउकरे बुद्धे नायए परि निव्वुए ।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीय संमए ॥ (गा० २७०)

इससे प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन भगवान् महावीर स्वामी का अन्तिम उपदेश है, इसके बाद उनका निर्वाण हो गया ।

(१) तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीर. त्रिंशद्वर्षाणि गृहस्थावस्थामध्ये उषित्वा समधिकानि द्वादशवर्षाणि छद्मस्थपर्यायं पालयित्वा किंचिदूनानि त्रिंशद्वर्षाणि केवलिपर्यायं पालयित्वा द्विचत्वारिंशद्वर्षाणि चारित्रपर्याय पालयित्वा द्विसप्ततिवर्षाणि सर्वायुः पालयित्वा क्षीणेषु सत्सु वेदनीयायुर्नामगोत्रेषु चतुर्षु भवोपग्राहिककर्मसु अस्याम् अवसर्पिण्याम् दुष्षमसुषमा इति नामके चतुर्थे अरके बहुव्यतिक्रान्ते सति त्रिषु वर्षेषु सार्द्धाष्टसु च मासेषु शेषेषु सत्सु पापायां मध्यमायां हस्तिपालस्य राज्ञः लेखकसभायाम् एकः सहायविरहात् अद्वितीयः एकाकी एव, नतु ऋषभादिवत् दशसहस्रपरिवार इति,

. षष्ठेन भक्तेन जलरहितेन स्वातिनक्षत्रेण सह चन्द्रयोगे उपागते सति प्रत्यूषकाले समये—चतुर्घटिकावशेषायां रात्रौ सपर्यंकासनेन निषण्णः पद्मासननिविष्टः पञ्चपञ्चाशदध्ययनानि कल्याणं पुण्यं तस्य फलविपाको येषु तानि कल्याणफलविपाकानि पंचपचाशत् अध्ययनानि पापफलविपाकानि षट्त्रिंशत् अपृष्टव्याकरणानि अपृष्टान्युत्तराणि व्याकृत्य कथयित्वा प्रधानं नाम एकं मरुदेव्यध्ययन विभावयन् भगवान् कालगतः संसाराद् व्यतिक्रान्त' सम्यग् ऊर्ध्वं यातः इत्यादि । (सुबोधिका टीका)

देसूणाइं तीसं वासाइं केवलिपरियायं पाउणित्ता वायालीसं वासाइं सामन्नपरियायं पाउणित्ता वावत्तरि वासाइं सव्वाउयं पाउणित्ता खीणे वेयणिज्जाउ नामगुत्ते इमीसे उसप्पिणीए दुसमसुसमाए वहुविई कंताए तिहिं वासेहिं अद्धनवमेहिए मासेहिं सेसेहिं पावाए मज्झिमाए हत्थिपालस्स रन्नो रज्जुगसभाए एगे अवीए छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं साइणा नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पच्चुसकाल समयंसि संपलियंकनिसन्ने पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं पणपन्नं अज्झयणाइं पावफलविवागाइं छत्तीसं अपुट्ठवागरणाइं वागरित्ता पहाणं नाम अज्झयणं विभावेमाणे २ कालगए विइकंते समुज्जाए छिन्नजाइं जरामरणवंधणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खपहीणे"।

(कल्पसूत्रवाचना ११वीं)

इस पाठ का आशय यह है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी तीस वर्ष तक तो गृहस्थाश्रम में रहे। फिर दीक्षित होकर अर्थात् त्यागवृत्ति को धारण करके कुछ अधिक १२ वर्ष तक वे छद्मस्थ दशा में रहे। फिर केवल ज्ञान हो जाने पर कुछ न्यून तीस वर्ष तक वे केवली अवस्था में विचरे। इस प्रकार ४२ वर्ष तक श्रमण अवस्था में रहकर कुल ७२ वर्ष की आयु को भोगकर चार प्रकार के अघाती—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—कर्मों का क्षय करके इस अवसर्पिणी काल के दुषम सुषम नामक चतुर्थ आरक के बीतने में केवल तीस वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रह जाने पर पावापुरी के हस्तिपाल राजा की राजसभा में षष्ठ भक्त करके प्रातःकाल के समय पद्मासन में बैठे हुए कल्याण फल के देने वाले ५५ और पाप फल के देने वाले ५५ अध्ययनों तथा ३६ अपृष्ट व्याकरणों—उत्तराध्ययन रूप ३६ अध्ययनों का कथन करके, प्रधान नाम के अध्ययन—मरुदेव्यध्ययन का चिन्तन करते हुए निर्वाण पद को प्राप्त हो गये। इत्यादि।

इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन के निर्माता भगवान् महावीर स्वामी हैं और यह उनका अन्तिम उपदेश है। इसके अतिरिक्त आचार्यप्रवर श्री हेमचन्द्र सूरि ने भी अपने त्रिषष्टि शलाका पुरुष चारित्र में इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया है अर्थात् वे भी उत्तराध्ययन को श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का अन्तिम उपदेश मानते हैं। यथा—

"षट्त्रिंशत्तमाप्रश्नव्याकरणान्यभिधाय च।
प्रधानं नामाध्ययनं जगद्गुरुरभावयत्॥" (पर्व १० सर्ग १३ श्लो० २२४)

इस श्लोक में आया हुआ 'अप्रश्नव्याकरणानि' यह पाठ कल्पसूत्रगत 'अपुट्ठवागरणाइं' पाठ की ही छायामात्र है। इसका तात्पर्य है, विना पूछे उपदेश करना। तव, जैसे सब पर हित बुद्धि रखने वाले महापुरुष विना पूछे भी दूसरे जीव के कल्याणार्थ धर्म का उपदेश देते हैं, इसी दृष्टि से परमोपकारी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने भी लोककल्याण की भावना से विना किसी के प्रश्न किये ही इनका

उपदेश किया, जो कि भगवान् का अन्तिम उपदेश कहा व माना जाता है। तथा इससे उत्तराध्ययन का अपृष्ट व्याकरण अथवा अप्रश्न व्याकरण यह नामान्तर भी प्रमाणित हो जाता है। इसके अतिरिक्त सब से अधिक विचारणीय एक और बात है, वह यह कि निर्युक्ति के कर्ता श्री भद्रबाहु स्वामी हैं और कल्पसूत्र के रचयिता भी उन्हीं अर्थात् भद्रबाहु स्वामी को ही माना जाता है। यह बात यदि सत्य है अर्थात् दोनों निर्युक्ति और कल्पसूत्र के कर्ता यदि भद्रबाहु स्वामी ही हैं तो फिर इन दोनों लेखों में विभिन्नता क्यों? और यदि दोनों के कर्ता एक नाम के कोई भिन्न २ व्यक्ति हैं तब तो निर्युक्ति की अपेक्षा आगमसम्मत विचार को ही अधिक महत्त्व देना उचित प्रतीत होता है। जैनसम्प्रदाय में श्री हेमचन्द्र सूरि एक विशिष्ट विद्वान् हुए हैं। उनका समय बारहवीं शताब्दी माना जाता है और निर्युक्तिकार का समय उनसे बहुत पहले का माना गया है अर्थात् आचार्यप्रवर श्री हेमचन्द्र सूरि के सामने निर्युक्ति और कल्पसूत्र ये दोनों ही विद्यमान थे और दोनों के लेखों से वे परिचित थे। उन्होंने भी उत्तराध्ययन की रचना को कल्पसूत्र के अनुसार ही माना है अर्थात् उसको भगवान् का अन्तिम उपदेश स्वीकार किया है। इससे भी निर्युक्ति का लेख विचारणीय ठहरता है। इसमें तो सन्देह नहीं कि उक्त सूत्र के कतिपय अध्ययनों का विषय भगवान् महावीर स्वामी के पूर्व का तो अवश्य है (यथा—चित्तसंभूत नामा अध्ययन) परन्तु उस विषय का वर्णन भगवान् महावीर स्वामी के ही द्वारा हुआ है। तथा प्रत्येक अध्ययन के अन्त में आये हुए 'त्ति बेमि—इति ब्रवीमि' शब्द की व्याख्या करते हुए जो—"इति सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं प्रति कथयति स्म हे जम्बू! अहं भगवद्वचसा त्वां ब्रवीमि" यह कहा है। इससे भी उत्तराध्ययन का श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी द्वारा उपदिष्ट होना ही प्रमाणित होता है।

यहां पर कोई २ सज्जन यह शंका करते हैं कि समवायांग सूत्र के ५५वें स्थान में लिखा है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अपने अंतिम समय में ५५ कल्याण फलविपाक के और ५५ पाप फलविपाक के अध्ययनों का कथन करके सिद्ध गति को प्राप्त हुए*। जिस प्रकार इस सूत्र में उक्त ५५ अध्ययनों के कथन की चर्चा की है उसी प्रकार इस सूत्र के ३६वें स्थान में उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ अध्ययनों के कथन का उल्लेख भी होना चाहिये था, परन्तु समवायांग सूत्र में उन अध्ययनों के कथन का उल्लेख नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन सूत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तिम उपदेश का विषय नहीं है अर्थात् उन्होंने अंतिम समय में इसका उपदेश किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इस शंका का समाधान यह है कि वर्त्तमान सूत्रों के रचयिता शब्दसंकलना रूप से

* समणे भगवं महावीरे अंतिम राइयसिपणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं पणपन्नं अज्झयणाइं पावफलविवागाइं वागरित्ता सिद्धबुद्धे जावप्पहीणे।

श्री सुधर्मा स्वामी माने जाते हैं; जब कि उन्होंने उत्तराध्ययन सूत्र के अन्त में यह स्पष्ट कह दिया है कि उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों का अंत समय में प्रकाश करके भगवान् मोक्ष में पधारे तो फिर समवायांग सूत्र में उल्लेख न रहने पर भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। कारण कि उत्तराध्ययन में उसका उल्लेख हो चुका है। और उक्त दोनों सूत्रों के आशय को लेकर श्री भद्रबाहु स्वामी ने कल्पसूत्र की ग्यारहवीं वाचना में इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है, जिससे कि किसी को भ्रम ही न रहे। तब इस सारे सन्दर्भ से यह बात भली भांति प्रमाणित हो जाती है कि उत्तराध्ययन सूत्र के निर्माता (अर्थ रूप से) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

क्या उत्तराध्ययनसूत्र भद्रबाहु रचित है ?

कितने एक विचारक सज्जनों का मत है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी भद्रबाहु स्वामी की कृति है, इसी लिये इसका दूसरा नाम भाद्रबाहव देखने में आता है। यथा—'भद्रबाहुणा प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि' अर्थात् भद्रबाहु प्रोक्त—कथित होने से उत्तराध्ययन को भाद्रबाहव कहते हैं। अतः इस कल्पना के लिये कि उत्तराध्ययन सूत्र भद्रबाहु स्वामी की कृति है, यह पूर्वोक्त प्रमाण अधिक बलवान् है। इस प्रमाण से उत्तराध्ययन का भद्रबाहु स्वामी द्वारा रचा जाना अनायास ही सिद्ध हो जाता है। परन्तु जरा गम्भीरतापूर्वक विचार करने से उक्त कथन में कुछ भी सार प्रतीत नहीं होता। कारण कि प्रोक्त और कृत ये दोनों शब्द समान नहीं किन्तु भिन्न २ अर्थ के वाचक हैं। इनमें प्रोक्त का अर्थ तो व्याख्यात और अध्यापित है तथा कृत का अर्थ नवीन रचना है। इसलिये भद्रबाहु प्रोक्त का अर्थ भद्रबाहु की कृति या रचना विशेष नहीं किन्तु उसके द्वारा प्रचारित होना अर्थ है। तात्पर्य कि भद्रबाहु स्वामी ने उत्तराध्ययन की रचना नहीं की किन्तु व्याख्यान और अध्यापन द्वारा जनता में इसका पर्याप्त रूप से प्रचार किया। उनके द्वारा किये जाने वाले विशिष्ट प्रचार के कारण ही यह उत्तराध्ययन सूत्र उनके नाम से विख्यात हो गया। इसलिये भद्रबाहु स्वामी उत्तराध्ययन के प्रचारकमात्र थे, न कि रचयिता। इस बात को शाकटायन व्याकरण के * टः प्रोक्ते ३।१।६६ सूत्र की वृत्ति में आचार्य यक्षवर्मा ने और हैमव्याकरण के † तेन प्रोक्ते ६।३।१८८ सूत्र की बृहद्वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने विशेष रूप से स्पष्ट कर दिया है। अर्थात् इन दोनों आचार्यों ने प्रोक्त शब्द का अर्थ विशेष रूप से व्याख्यान और अध्यापन ही किया है। इसके अतिरिक्त

* प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापितं वा प्रोक्तं तस्मिन् ट इति तृतीयान्ताद् यथाविहितं प्रत्ययो भवति। भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि।

† प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापितं वा प्रोक्तं नतु कृतम्। तत्र कृत इत्येव गतत्वात् तस्मिन्नर्थे तेनेति तृतीयान्तान्नाम्नो यथाविहितं प्रत्यया भवन्ति। भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि गणधरप्रत्येकबुद्धादिभि कृतानि तेन व्याख्यातानीत्यर्थः।

तेन प्रोक्तम् ४।३।१० इस पाणिनीय सूत्र* की व्याख्या में तत्त्वबोधिनीकार दण्डी ने भी प्रोक्त शब्द का ऊपर की भांति ही अर्थ किया है । तात्पर्य कि किसी के कहे हुए को कहना—अध्यापन और व्याख्यान द्वारा प्रकाशित करना, उसका नाम प्रोक्त है, और नवीन रचना कृति कहलाती है। इसलिये भद्रबाहु स्वामी उत्तराध्ययन सूत्र के कर्त्ता नहीं किन्तु व्याख्याता कहे जाते हैं । यदि भद्रबाहु स्वामी इसके कर्त्ता होते तो उन्होंने नियुक्ति में उत्तराध्ययन के विषय में जो यह लिखा है कि उसके कुछ अध्ययन तो पूर्व से उद्धृत हैं; और कुछ जिनभाषित तथा कई एक प्रत्येक बुद्धादि रचित हैं इत्यादि, सो किस प्रकार से संगत होगा। इसलिये उत्तराध्ययन सूत्र को श्री भद्रबाहु स्वामी की कृति—रचना कहना व मानना किसी प्रकार से उचित प्रतीत नहीं होता।

सूत्र शब्द की निरुक्ति, लक्षण और भेदानुभेद

जैनागमों को सूत्र शब्द के नाम से भी अभिहित किया गया है । इसलिये सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति वा निरुक्ति तथा लक्षण और उसके अवान्तर भेदानुभेदों की जिस प्रकार से जैनशास्त्रों में चर्चा की गई है, उसका उल्लेख कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है। अतः इन बातों का क्रमशः यहां पर विचार किया जाता है।

निरुक्ति

सूत्र शब्द के निर्वचन में निम्नलिखित गाथा देखने में आती है। यथा—

सुत्तं तु सुत्तमेवउ, अहवा सुत्तं तु तं भवे लेसो।
अत्थस्स सूयणा वा, सुवुत्तमिइवा भवे सुत्तं ॥१॥

प्राकृत भाषा में जैसे सूत्र शब्द का सुत्त प्रयोग बनता है, उसी प्रकार सुप्त शब्द का भी "सुत्त" प्रयोग होता है। और श्रुत शब्द के "सुय" वा "सुअ" इस प्रकार के दो प्रयोग बनते हैं। इस स्थान पर अर्थात् उक्त गाथा में जो "सुत्त" शब्द आया है, वह सूत्र और सुप्त इन दोनों का प्रतिरूप है। तात्पर्य कि उक्त गाथा में आये हुए "सुत्त" शब्द के सूत्र और सुप्त ये दो अर्थ हैं। इन्हीं दोनों के प्रतिरूप में सुत्तशब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी लिए उक्त गाथा की व्याख्या में—"अर्थेनावोधितं सुप्तमिव सुप्तं प्राकृतशैल्या सुत्तम्"

* तेन प्रोक्तम् ४।३।१०। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। तेन प्रोक्तम्—प्रकर्षेणोक्तं प्रोक्तमित्युच्यते नतु कृतं। कृते ग्रन्थे इत्यनेन गतार्थत्वात। प्रोक्तमिति-स्वयमन्येन कृतं व्याकरणमध्यापनेनार्थव्याख्यानेन वा प्रकाशितमित्यर्थः ।

(१) छाया—सूत्रं तु सुप्तमेव च अथवा सूत्रं तु तद् भवति श्लेषः।
अर्थस्य सूचनाद्वा, सूक्तमिति वा भवेत् सूत्रम् ॥

इस प्रकार कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे किसी सोये हुए व्यक्ति को शब्दों के द्वारा जगाया जाता है ठीक उसी प्रकार अर्थों के द्वारा सुप्त की भांति किसी को जिसका बोध कराया जाय, उसे सुत्त—सूत्र कहते हैं। जैसे सोये हुए व्यक्ति के पास वार्तालाप करने पर भी उसे तब तक भान नहीं होता जब तक कि उसको जगाया न जावे। इसी प्रकार उच्चारण किये जाने पर भी विना वृत्ति या व्याख्या अथवा भाष्यादि के जिसके अर्थ का यथार्थ रूप से कुछ भी भान नहीं होता, उसी को सूत्र कहते हैं। यदि संक्षेप से कहें तो "सुप्तमिव सुत्तं" अर्थात् सोये हुए की तरह जो हो, उसका नाम सूत्र है। अथवा "सूत्रमिव सूत्रं" अर्थात् तंतुरूप जो हो, उसे सूत्र कहते हैं। (सूत्रं नाम तद् भवति श्लेषः तन्तुरूपमित्यर्थः। यथा तंतुना द्वे त्रीणि वहूनि वा वस्तूनि एकत्र संनह्यन्ते एवमेकेनापि सूत्रेण वहवोऽर्थाः संघात्यन्ते इति सूत्रमिव सूत्रम्) सूत्र नाम तन्तुओं का है, सो जैसे एक सूत्र में अनेक वस्तुओं को संगृहीत किया जाता है, अथवा जैसे एक सूत्र में माला के अनेक मणकों का संग्रह किया जाता है, तथा जैसे प्रमार्जनी (बुहारी—जूड़ी) की अनेक सीखें एकत्रित की जाती हैं ठीक उसी प्रकार जिसमें अनेक अर्थों का संग्रह किया जाय, उसी को सूत्र की भांति सूत्र इस नाम से अभिहित किया जाता है। अथवा अर्थ का सूचक होने से भी सूत्र कहा जाता है (अर्थस्य सूचनाद्वा सूत्रम्)। तात्पर्य कि सूत्र में जो अर्थ निहित होता है, उसकी सूचना सूत्र के उच्चारण करने पर हो जाती है। अपिच सूक्त (सुन्दर कथन) का भी प्राकृत में सुत्त बनता है। इस लिये जो भली प्रकार से कथन किया जावे, वह भी सूत्र कहलाता है। इसके अतिरिक्त सूत्र शब्द की निरुक्ति में एक और गाथा उपलब्ध होती है।

नेरुत्तियाइ तस्स सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइति।
अणुसरतित्ति भेया तस्स नामा इमा हुंति ॥२॥

इस गाथा में भी भिन्न भिन्न प्रकार से सूत्र शब्द की निरुक्ति—निर्वचन किया गया है। यथा— (१) सूत्रयतीति सूत्रं (२) सीव्यतीति सूत्रं (३) सुवतीति सूत्रं (४) अनुसरतीति सूत्रम् इत्यादि। (१) अर्थ का सूचक होने से सूत्र कहा जाता है तथा जैसे खोई हुई सूई सूत्र द्वारा उपलब्ध हो जाती है अर्थात् सूत्र के साथ खोये जाने पर सूत्र से उसका पता मिल जाता है, उसी प्रकार किसी विस्तृत अर्थ की सूचना देने के कारण सूत्र कहलाता है। (२) जिस प्रकार सूई के द्वारा वस्त्रादि सिये जाते हैं, इसी प्रकार अनेक अर्थों का संग्राहक होने से सूत्र कहा जाता है (३) सुप्तप्रबोध की भांति सूत्र होता है अर्थात् जैसे सोये हुए व्यक्ति को जगाकर ही बोध कराया जाता है, उसी प्रकार उच्चारण के अनन्तर इसके अर्थ द्वारा भव्य जीवों को प्रतिबोध दिया जाता है। इसी कारण से सूत्र शब्द को सुप्त अर्थ में ग्रहण किया गया है। तथा—'अर्थस्रवणात् सूत्रम्' अर्थात् अर्थ का स्रावक होने से सूत्र कहलाता है। जैसे

(२) छाया—निरुक्तानि तस्य—सूचयति सीव्यति तथैव सुवति इति।
अनुसरति इति भेदाः तस्य नामानि इमानि भवन्ति ॥

सूर्य के सम्मुख होने से सूर्यकान्तमणि अग्नि को बरसाता है और चन्द्रमा के सम्मुख होने पर चन्द्रकान्तमणि से जल की वर्षा होने लगती है, उसी प्रकार जो अर्थ का स्रावक—अर्थों की वृष्टि करने वाला हो, उसे सूत्र कहते हैं। तात्पर्य कि जैसे सूर्य और चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से सूर्यकान्त मणियों से अग्नि और जल का वर्षण होने लगता है, उसी प्रकार जिसके उच्चारण से अर्थों की धारा निकल पड़े, उसका नाम सूत्र है। अथवा "अनुसरतीति सूत्रम्" अर्थात् जिसके अनुसरण से—सहायता से कर्मों के मल को दूर किया जाय, उसको सूत्र कहते हैं। अनुसरण दो प्रकार का है—एक द्रव्यानुसरण दूसरा भावानुसरण। इन दोनों के स्वरूप को निम्नलिखित एक दृष्टान्त से समझें। यथा—

एक वैश्य के चार पुत्र थे। उन चारों में एक जन्मान्ध—जन्म का अन्धा था। जब वे चारों युवावस्था को प्राप्त हुए तो उस वैश्य ने विचार किया कि मेरे तीन पुत्र तो अपनी योग्यता के अनुसार अपने कर्तव्य में लग गये हैं परन्तु यह चौथा पुत्र जन्म का अन्धा होने से कुछ भी नहीं कर सकता। आगे चलकर कहीं ऐसा न हो कि इसके अन्य तीनों भ्राता और उनकी स्त्रियाँ इसका तिरस्कार करने लग जावें। अतः इसको भी किसी कार्य में नियुक्त कर देना चाहिये। इस प्रकार विचार करने के अनन्तर उसने अपने विशाल भवन के दोनों खंभों के साथ एक रस्सी बाँध दी और अपने अन्ध पुत्र के हाथ में वह रस्सी पकड़ाकर बोला कि लो, इस रस्सी के सहारे से तुम प्रतिदिन अपने घर के कचरे-कूड़े, मल को सिर पर उठाकर घर से बाहर फेंक दिया करो। वह अन्ध पुत्र विनीत था, इसलिये उसने अपने पूज्य पिता की आज्ञा को मानकर उसी प्रकार आचरण करना आरम्भ कर दिया अर्थात् वह प्रतिदिन घर में एकत्रित हुए मल को सिर पर उठाकर खंभों के साथ बँधी हुई उस रस्सी के सहारे से बाहर ले जाकर फेंक दिया करता। उसके उपरोक्त कार्य से घर के सभी लोग उसका आदर करने लगे और उसका जीवन शांतिपूर्वक व्यतीत होने लगा। यह तो है द्रव्यानुसरण। और भावानुसरण के लिये इसे यों समझिए—वैश्य के समान तो आचार्य हैं और जन्मान्ध पुत्र के तुल्य साधु हैं, तथा रस्सी के समान ये सूत्ररूप आगम है। एवं ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार के कर्म, यह घर के भीतर एकत्रित हुआ मल है। तब जिस प्रकार वह जन्मान्ध बालक पिता के आदेश से खंभों के साथ बँधी हुई रस्सी का सहारा लेकर घर में रहे हुए मल को बाहर फेंकने में समर्थ हो गया, उसी प्रकार गुरुजनों के आदेश से सूत्रानुसार क्रियानुष्ठान में प्रवृत्त होने वाला साधु भी उक्त प्रकार के कर्ममल को अपने आत्मा से पृथक् करने में समर्थ हो जाता है। इसी का नाम भावानुसरण है। सम्प्रति काल में तो मुमुक्षु पुरुषों के लिये एकमात्र सूत्र ही अवलम्बन हैं। इसके अनुसार संयम मार्ग में विचरने वाला साधु आत्मसंपृक्त कर्ममल को शीघ्र से शीघ्र दूर कर सकता है। इसलिये 'अनुसरणात् सूत्रम्' यह सूत्र शब्द की निरुक्ति सर्वोत्तम प्रतीत होती है।

लक्षण

सूत्र रूप से ग्रन्थरचना की प्रणाली अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है। प्राचीन आर्षग्रन्थों में प्रायः इसी प्रणाली का अनुसरण देखने में आता है। इसी हेतु से प्राचीन जैनागमग्रन्थ सूत्र के नाम से विख्यात हैं। इसलिये सूत्र के लक्षण का निर्देश करना भी यहां पर आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्य रूप से तो सूत्र का लक्षण यही है कि जिसमें अक्षर अल्प हों और अर्थ महान् हो। तात्पर्य कि जो अक्षरों में स्वल्प होते हुए अर्थ में विस्तृत हो, उसका नाम सूत्र है। परन्तु सूत्र के नाम से विख्यात होने वाले आगमग्रन्थों को देखते हुए उनमें सर्वत्र उक्त लक्षण संघटित नहीं होता। इसलिये निर्युक्ति में उस सूत्र लक्षण को चार प्रकार से वर्णन किया गया है, जिससे कि उसका आगमों में समन्वय हो सके। यथा—

अप्पक्खरं महत्थं, महक्खरऽप्पत्थं दो सुवि महत्थं।
दो सुवि अप्पं च तहा भणियं सत्थं च उ विगप्पं ॥१॥

इस प्राकृत गाथा का तात्पर्य यह है कि सूत्र चार प्रकार के कहे हैं—(१) अल्प अक्षर और महान् अर्थ अर्थात् जिनके अक्षर थोड़े हों और अर्थ अधिक हों (२) प्रभूत अक्षर और अल्प अर्थ वाले अर्थात् जिनके अक्षर अधिक हों और अर्थ अल्प हों (३) अधिक अक्षर और अधिक अर्थ वाले तथा (४) अल्प अक्षर और अल्प अर्थ वाले। इस प्रकार सूत्र के चार विकल्पों—भेदों का शास्त्र में वर्णन किया गया है। ऊपर की इस गाथा में सूत्र नाम से विख्यात आगम ग्रन्थों के चार प्रकार भेद—बतलाने के व्याज से, सूत्र के भिन्न २ चार लक्षण बतलाये गये हैं ताकि सूत्र नाम से व्यवहृत होने वाले आगम ग्रन्थों में ऊपर दिये गये सूत्र लक्षणों का समन्वय हो सके। सारांश कि उपरोक्त भंगों में सारे ही सूत्रागमों का समावेश हो जाता है। परन्तु इतना ध्यान अवश्य रहना चाहिये कि उपरोक्त चार भंगों में प्रथम के तीन तो लोकोत्तर अर्थात् आगम शास्त्र के लिये हैं और चतुर्थ भंग का लौकिक शास्त्र से सम्बन्ध है। जैसे कि निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा से व्यक्त होता है—

---

(१) छाया—अल्पाक्षरं महार्थं, महाक्षराल्पार्थं द्वयोरपि महार्थम्।
द्वयोरप्यल्प च तथा, भणितं शास्त्रं चतुर्विकल्पम् ॥

व्याख्या—अत्र चतुर्भंगिका, अल्पान्यक्षराणि यस्मिन् तदल्पाक्षरं स्तोकाक्षरमित्यर्थः। "महत्थं" इति महानर्थो यस्मिन् तन् महार्थं प्रभूतार्थमित्यर्थः। तत्रैकं शास्त्र अल्पाक्षर भवति महार्थं च प्रथमो भागः। अथान्यत् किं भूतं भवति ? "महक्खरमप्पत्थं" महाक्षर प्रभूताक्षरमिति हृदयम्। अल्पार्थं स्वल्पार्थमिति हृदयम् द्वितीयो भाग.। तथान्यत् किं भूतं भवति ? "दोसुवि महत्थं" द्वयोरपीति अक्षरार्थयोः, श्रुतत्वाद-क्षरार्थोभयं परिगृह्यते। एतदुक्त भवति—प्रभूताक्षर प्रभूतार्थं च तृतीयो भागः। तथाऽन्यत् किं भूत भवति "दोसुवि अप्प च तहा" द्वयोरप्यल्पमक्षरार्थयोः, एतदुक्तं भवति अल्पाक्षरम् अल्पार्थं चेति, तथेति तेनागमोक्त प्रकारेण "भणितम्" उक्तं शास्त्र चतुर्विकल्पं चतुर्विधमित्यर्थः।

सामायारी ओहे, नायज्झयणा य दिट्ठी वा ओय ।
लोइअ कप्पासाई अनुकम्माकारगा चउरो ॥१॥

इस गाथा में, पहली गाथा में वर्णन किये गये चार प्रकार के सूत्रों के उदाहरण दिखलाये गये हैं । यथा— (१) ओघसामाचारी की गणना प्रथम भंग में की जाती है (२) ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र का प्रथम अध्याय द्वितीय भंग में गिना जाता है (३) और तीसरे भंग में दृष्टिवाद की गणना है । तथा लौकिक पक्ष में कार्पासादि, शिवचन्द्रादि शब्द चतुर्थ भंग के उदाहरण में लिये जाते हैं ।

यद्यपि सूत्र का सर्वसम्मत निर्दुष्ट लक्षण तो यही है कि जिसके अक्षर अल्प हों और अर्थ विस्तृत हो, अतः उसका प्रथम विकल्प में ही समावेश होता है । इस विकल्प में बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुत, निशीथ और सामायिक सूत्र आदि सूत्र परिगणित किये जा सकते हैं । कारण कि इनके अक्षर तो स्तोक हैं परन्तु अर्थ बहुत विस्तृत है । अतः पूर्वोक्त लक्षण इनमें सर्वांग रूप से संघटित होता है तथापि अनेकान्त वाद के आश्रित होकर अन्य विकल्पों का विधान भी शास्त्रसम्मत एवं युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है ।

भेदोपभेद

शास्त्र में यद्यपि सूत्रों के अनेक भेदोपभेदों का वर्णन है परन्तु उनके मुख्य भेद संज्ञासूत्र, कारकसूत्र और प्रकरण सूत्र इस प्रकार से तीन हैं । पुनः इनके उत्सर्ग, अपवाद, उत्सर्गापवाद और अपवादोत्सर्ग ये चार भेद और हैं ।

(१) संज्ञासूत्र—जिन में वर्णनीय किसी भी पदार्थ का सामान्य रूप से निर्देश किया जाय, उनको संज्ञासूत्र कहते हैं । दशवैकालिकादि सूत्रों की संज्ञासूत्रों में गणना है । उदाहरणार्थ—"जे छेए से सागारियं परियाहरे तहा सव्वामगंधपरिन्नाय निरामगंधो परिव्वए" * अर्थात् जो बुद्धिमान् है वह मैथुन को त्याग देता है, तथा सदोष वस्तु का त्याग कर निर्दोष वस्तु का सेवन करता है, एवं ज्ञान परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करता हुआ अप्रतिबद्ध होकर विचरता है, यह संज्ञासूत्र है ।

(१) व्याख्या—ओघसामायारी प्रथमभंगके उदाहरणं भवति । पूर्वापरनिपातादेवमुपन्यासः कृतः । ज्ञाताध्ययनानि षष्ठांगे प्रथमश्रुतस्कन्धे तेषु कथानकान्युच्यन्ते । ततः प्रभूताक्षरत्वमल्पार्थं चेति द्वितीयभंगके ज्ञाताऽध्ययनान्युदाहरणं चशब्दादन्यच्च यदस्यां कोटौ व्यवस्थितम् । दृष्टिवादश्च तृतीयभंगके उदाहरणं यतोऽसौ प्रभूताक्षरः प्रभूतार्थश्च, चशब्दादेकदेशोपि । चतुर्थभंगोदाहरणप्रतिपादनार्थमाह—"लोइय कप्पासाई" इति लौकिकं चतुर्भंगे उदाहरणम् । किं भूतम् ? कार्पासादि, आदिशब्दात् शिवचन्द्रादिग्रह । "अनुक्कमत्ति" अनुक्रमादिति । अनुक्रमेणैव—परिपाट्या, तृतीयार्थे पंचमी । "कारकाणि" कुर्वन्तीति कारकाणि—उदाहरणान्युच्यन्ते चत्वारीति यथासंख्येनैनेति ।

* आचारांगसूत्र

(२) कारकसूत्र—जिन सूत्रों में क्रिया कांड का विधान किया गया हो और साथ ही उपस्थित होने वाली शंकाओं का युक्तिपूर्वक समाधान भी किया गया हो, उन्हें कारक सूत्र कहते हैं। यथा—

"अहाकम्मं भुंजमाणे समणे निग्गंथे कइकम्मपगडीओ वंधंति, गोयमा! आउवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ वंधंति, से केण ट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ" इत्यादि।

हे भगवन्! आधाकर्मी आहार करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ किन कर्मप्रकृतियों को बाँधता है? भगवान्—हे गौतम! आधाकर्मी आहार को ग्रहण करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आयुकर्म को छोड़कर सातों ही कर्म प्रकृतियों को बाँधता है। गौतम—हे भगवन्! किसलिये ऐसा होता है, इत्यादि। इसका नाम कारक सूत्र है। तात्पर्य कि क्रिया कांड के प्रतिपादक यावन्मात्र सूत्र हैं, इन सब की कारक सूत्रों में गणना की जाती है।

(३) प्रकरणसूत्र—जिस सूत्र में वर्णनीय विषय और प्रकरण के अनुरूप ही अध्ययन का नाम निर्दिष्ट किया गया हो, उसे प्रकरण सूत्र कहते हैं। यथा—नमिप्रव्रज्या अध्ययन, गौतमकेशीय अध्ययन और आर्द्रक अध्ययन इत्यादि सब प्रकरण सूत्र के अन्तर्गत हैं। नमिप्रव्रज्या अध्ययन में नमिराजर्षि का वर्णन है। अतः उसी के नाम से यह अध्ययन प्रसिद्ध है। गौतम केशीय अध्ययन में गौतमस्वामी और केशिकुमार के प्रश्नोत्तर की चर्चा है। अतः यह अध्ययन गौतमकेशीय के नाम से विख्यात है और आर्द्रक अध्ययन में आर्द्रक कुमार की कथा वर्णित है, अतः यह अध्ययन भी उसी के नाम से ख्याति को प्राप्त हुआ। तात्पर्य कि जिस अध्ययन वा उद्देश का नामकरण उसमें वर्णन किये गये विषय के अनुसार किया गया हो, उसे प्रकरण सूत्र कहते हैं। यह उपरोक्त भेदकथन निर्युक्तिकार ने किया है। इसके अतिरिक्त यहां पर इतना स्मरण अवश्य रहे कि सूत्रों के ये उक्त प्रकार के तीन भेद, वर्णनीय विषय को लेकर किये गये हैं अर्थात् सूत्रग्रंथो में जो २ विषय वर्णित हुए हैं उनमें क्रियाकांड से सम्बन्ध रखने वाला कारक सूत्र के नाम से अभिहित होगा और संज्ञा तथा प्रकरणानुसारी विषय को संज्ञा और प्रकरण सूत्र माना जायगा। इसलिये एक ही सूत्र ग्रन्थ में उक्त प्रकार के तीनों ही लक्षण चरितार्थ हो जाते हैं। इस प्रकार सूत्रों के संज्ञा, कारक और प्रकरण ये तीन मुख्य भेद माने गये हैं। इनमें से प्रत्येक के उत्सर्ग, अपवाद, उत्सर्गापवाद और अपवादोत्सर्ग रूप से चार भेद और होते हैं। इनका भी संक्षेप से निर्युक्त्यनुसारी वर्णन नीचे दिया जाता है—

(१) उत्सर्ग सूत्र—जिसमें किसी प्रकार की क्रिया या विधि विशेष का स्वतन्त्रतापूर्वक सामान्य वर्णन हो, उसे उत्सर्ग सूत्र कहते हैं। यथा—"नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए" अर्थात् साधु और साध्वी को ताल वृक्ष का अभिन्न कच्चा फल नहीं कल्पता। इस सूत्र में सामान्यरूप से

ताल वृक्ष के अभिन्न कच्चे फल का निषेध किया गया है। अतः यह उत्सर्ग सूत्र कहलाता है।

(२) अपवाद सूत्र—जिसमें उत्सर्ग—सामान्य विधि का वाध हो, उसका नाम अपवाद है। यथा—"कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा पक्के ताल पलंबे भिन्ने अभिन्ने वा पडिगाहित्तए" अर्थात् साधु और साध्वी को ताल वृक्ष का पका हुआ भिन्न वा अभिन्न फल कल्पता है। इसमें ताल वृक्ष के पके हुए भिन्न अथवा अभिन्न सभी प्रकार के फल को साधु और साध्वी के लिये ग्राह्य बतलाया है। अतः पूर्वोक्त निषेध की सामान्य विधि का बाधक होने से इसकी अपवाद संज्ञा है।

(३) उत्सर्गापवाद सूत्र—जिसमें उत्सर्ग और अपवाद—सामान्य और विशेष दोनों विधियों का विधान हो, उसे उत्सर्गापवाद कहते हैं। तात्पर्य कि सामान्य रूप से निषेध किये गये किसी पदार्थ का किसी विशेष कार्य के लिये विधान कर देना उत्सर्गापवाद है। जैसे किसी भी साधु अथवा साध्वी को प्रथम पहर में लाये हुए आहार पानी को चौथे पहर तक रखने और ग्रहण करने का निषेध है परन्तु किसी बलवान् कारण (रोगादि विशेष) के उपस्थित हो जाने पर उसके रखने और ग्रहण करने का भी विधान है अर्थात् वह रखा भी जा सकता है। इसी को उत्सर्गापवाद कहते हैं। निम्नलिखित सूत्रपाठ में इसी बात को दर्शाया गया है।

यथा—

"नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा परियासियस्स आहारस्स जाव तयप्पमाणमितमविभुत्तिपमाणमित्तमवि विंदुप्पमाण मित्तमवि आहारमाहारित्तए नन्नत्थ आगाढेसु रोगायंकेसु" (बृहत्क० ३०५ सू० ४८) अर्थात् साधु और साध्वी को प्रथम पहर में लाये हुए आहार पानी में से चतुर्थ पहर में एक ग्रास और बिन्दुमात्र भी ग्रहण करना नहीं कल्पता। परन्तु किसी रोगादि विशेष कारण के उपस्थित हो जाने पर वह ग्रहण भी कर सकता है। यहां पर सामान्य और विशेष दोनों विधियों का एक ही सूत्र में वर्णन किया गया है। इसलिये इसकी उत्सर्गापवाद संज्ञा है।

(४) अपवादोत्सर्ग सूत्र—जिसमें अपवाद और उत्सर्ग विधि—विशेष और सामान्य विधि—का विधान हो, उसे अपवादोत्सर्ग कहते हैं। जैसे कि साधु वृत्ति की द्वादश प्रतिमाएँ हैं। सामान्य साधुवृत्ति की अपेक्षा उनके नियम कुछ कठिन हैं। वे नियम सब साधुओं के लिये कथन नहीं किये गये किन्तु जिन आत्माओं ने उन नियमों को धारण किया है, उन्हीं से वे सम्बन्ध रखते हैं। उन नियमों का यथाविधि पालन करने के अनन्तर फिर सामान्य वृत्ति में आ जाना, इसी का नाम अपवादोत्सर्ग है। स्कन्धकादि मुनि की भांति यदि संक्षेप से कहें तो विशेष से सामान्य में प्रवेश करना अपवादोत्सर्ग कहलाता है।

शंका—उपरोक्त वर्णन से अपवादोत्सर्ग का स्वरूप तो ध्यान में आ जाता है।

जैसे कि प्रतिमा का धारण करना अपवाद है और सामान्य साधुवृत्ति* का यथाविधि पालन करना उत्सर्ग है। एवं साधु की द्वादश प्रतिमाओं में से अमुक प्रतिमा का वहन करके फिर सामान्य साधुवृत्ति में प्रवेश करना अपवादोत्सर्ग है, परन्तु इस प्रकार से तो वह साधु शिथिल कहलायगा। कारण कि उसने प्रथम उच्चवृत्ति को ग्रहण करके फिर सामान्य वृत्ति में प्रवेश कर लिया है। ऐसी दशा में तो उसे शिथिल ही कहना होगा। समाधान—पूर्वोक्त शंका का समाधान यह है कि सामान्य वृत्ति तो सब के लिये प्रतिपादन की गई है। यदि उस वृत्ति में कोई न्यूनता करे तब तो उसे शिथिल कहा जा सकता है और यदि कोई सामान्य वृत्ति का यथावत् पालन करता हुआ कुछ समय के लिये और आगे बढ़कर फिर उसी सामान्य वृत्ति में आ जाता है तो उसको शिथिल नहीं कहा जा सकता। जैसे—कोई पुरुष किसी दूरस्थित नगर में पहुँचने की इच्छा से उसकी ओर भागता हुआ चला जाता है परन्तु अधिक भागने से जब वह मार्ग में थक जाता है तो फिर द्रुत गति को त्याग कर वह अपनी स्वभावसिद्ध मूल गति में होकर चलने लगता है। तात्पर्य कि यदि वह भागता ही चला जावे तब तो उसका जीवित रहना कठिन है और यदि मार्ग में ही बैठ जावे तब उसको अभीष्ट स्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये वह शीघ्र गति—अत्यन्त भागने को छोड़कर और बैठने को त्याग कर अपनी स्वभावसिद्ध मूल गति से चलता हुआ कुछ समय के बाद अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेता है ठीक इसी प्रकार जो आत्मा अपवाद मार्ग में आरूढ होकर फिर उत्सर्ग मार्ग में आ जाते हैं, वे "धावति" क्रिया—द्रुतगति—को छोड़कर "गच्छति" क्रिया—सामान्य गति में प्रविष्ट होते हैं। धावति का अर्थ है भागना और गच्छति का अर्थ है चलना। अतः जैसे अत्यन्त भागने से भविष्य में होने वाली हानि का विचार करने वाला पुरुष उसका त्याग करके अपनी स्वाभाविक गति की ओर आता हुआ मूर्ख कहलाने की अपेक्षा बुद्धिमान् कहलाता है, उसी प्रकार कुछ समय तक अपवाद मार्ग में आरूढ होकर उत्सर्ग मार्ग में आने वाला साधु भी शिथिलता के स्थान में अपनी बहुज्ञता का परिचय देता है। इसलिये अपवाद से उत्सर्ग में आना शिथिलता नहीं किन्तु अपने लक्ष्य को निर्विघ्नतापूर्वक प्राप्त करने के लिये एक प्रकार की सुविधा का सम्पादन करना है। तथा जैसे भागने से थका हुआ पुरुष कुछ समय के लिये धीरे २ चलने लगता है और श्रम दूर हो जाने के बाद फिर भागना आरम्भ कर देता है। इस प्रकार कभी भागते और चलते हुए वह अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेता है। इसी भांति संयमशील साधु भी कभी उत्सर्ग से अपवाद और कभी अपवाद से उत्सर्ग, इस प्रकार यथाशक्ति दोनों मार्गों का अनुसरण करता हुआ अपने गन्तव्य—मोक्ष-स्थान को प्राप्त कर लेता है। इसलिये अपवाद से उत्सर्ग

* सामान्य साधुवृत्ति—पांच महाव्रत, पंचविध आचार, पांच समिति, तीन गुप्ति और दशविध श्रमण धर्म का पालन करना।

और उत्सर्ग से अपवाद मार्ग में आने जाने से संयमशील मुनि को कोई क्षति नहीं पहुंचती। ये दोनों ही मार्ग सापेक्ष अथच समान हैं। इनमें से किसी एक को न्यून या अधिक कहना अनेकान्तवाद की परिधि से बाहर है। अनेकान्तवाद की विस्तृत राजधानी के ये दोनों ही राजमार्ग हैं। इसी लिये शास्त्रकारों ने इन दोनों को समान कक्षा में स्थान दिया है। साधु के लिये एक तरफ यदि उचित उदक के स्पर्श करने का निषेध है तो दूसरी तरफ विधिपूर्वक नदी पार करने की भी आज्ञा है। इसके अतिरिक्त सूत्रों के और भी कई एक अवान्तर भेद हैं। विस्तार भय से इन सब का यहां पर उल्लेख नहीं किया गया।

पठन विधि

ऊपर जो सूत्रों के भेदों का वर्णन किया है, वह उनके पठन के लिये परम आवश्यक है। एक जिज्ञासु पुरुष को सूत्र और उसके अर्थ को भली भांति समझने के लिये सूत्रों के अध्ययन की शास्त्रविहित सारी विधि का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। तथा उपयोगपूर्वक सूत्र स्वाध्याय करने के साथ साथ सूत्र व्याख्या के प्रकारों को भी जान लेना परम आवश्यक है।

शास्त्रकारों ने सूत्र व्याख्या के निम्नलिखित छः प्रकार बतलाये हैं— १ संहिता २ पद ३ पदार्थ ४ पदविग्रह ५ चालना और ६ प्रत्यवस्थान।

(१) पदों के अस्खलित उच्चारण को संहिता कहते हैं। (२) नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग और मिश्रित इनकी पद संज्ञा है। तात्पर्य कि सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं। (३) पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। (४) अर्थ करते समय समस्त पदों का छेद—विभाग करना विग्रह कहलाता है। (५) शंका के उद्भावन को चालना कहते हैं। (६) सयुक्ति नाम प्रत्यवस्थान है। इसके अतिरिक्त अनुयोगद्वार सूत्र में १ उपक्रम २ निक्षेप ३ अनुगम और ४ नय ये चार और भी व्याख्या करने के प्रकार बतलाये गये हैं। इनका विवरण देखने की इच्छा रखने वाले मेरी लिखी हुई अनुयोगद्वार की "ज्ञानप्रबोधिनी" भाषा व्याख्या को देखें। तथा सूत्रगत पदों की अर्थावगति के लिये प्रत्येक पद की निरुक्ति का बोध भी नितान्त अपेक्षित है। कारण कि निरुक्ति के द्वारा जो अर्थ उपलब्ध होता है, वह प्रायः असंदिग्ध अथच स्पष्ट होता है। निरुक्ति और निर्युक्ति ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैनागमों में निर्युक्त्यनुगम और सूत्रानुगम वर्णन में निर्युक्त्यनुगम के—निक्षेप निर्युक्ति, उपोद्घात निर्युक्ति, और सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति, इस प्रकार तीन भेद वर्णन किये गये हैं। उपोद्घात निर्युक्ति के द्वारा सूत्रगत अध्ययनों और गाथाओं की उत्पत्ति का बोध होता है। सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति से सूत्र के अवयवार्थ का ज्ञान होता है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—चार निक्षेपों के द्वारा सूत्रार्थ के व्याख्यान को निक्षेप निर्युक्ति कहते हैं। इनका विशेष वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र से जान लेना।

इसके अतिरिक्त, अध्ययनविधि में सूत्रगत मूलपाठ का उच्चारण भी शुद्ध और घोषपूर्वक होना चाहिये। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों की घोषसंज्ञा है। तात्पर्य कि जिस सूत्र में जो स्वर हो, उसको उसी स्वर से उच्चारण करना घोषपूर्वक उच्चारण कहलाता है। इसी विधि से किया गया सूत्रपाठ शुद्ध कहलाता है।

इस प्रकार उपरोक्त रीति से विधिपूर्वक किया हुआ श्रुत का अध्ययन ही सफल अर्थात् अभीष्ट फल के देने वाला होता है परन्तु वह भी उपयोगपूर्वक ही होना चाहिये अन्यथा उपयोगशून्य अध्ययन केवल द्रव्याध्ययन ही है, जो कि आत्मशुद्धि के लिये पर्याप्त नहीं। इसलिये सूत्रों के पाठ और अर्थों का उपरोक्त विधि के अनुसार उपयोगपूर्वक मनन और चिन्तन करने की ओर सदाचारी जिज्ञासुओं को अवश्य ध्यान देना चाहिये, जिससे कि श्रुतज्ञान के दिव्यप्रकाश द्वारा उनका आत्मगत अन्धकार शीघ्र से शीघ्र नष्ट हो सके।

उत्तराध्ययन और धम्मपद

शास्त्रकारों ने श्रुतज्ञान को सब से अधिक और सब का उपकारी माना है। इसका दिव्य प्रकाश अन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के जगत् को आलोकित कर रहा है। श्रुतज्ञान की पुनीत जलधारा आत्मगत कर्ममल को धो डालने के लिये अपने में पर्याप्त सामर्थ्य रखती है। जिस आत्मा ने इस पुण्यश्रोत में एक बार श्रद्धापूर्वक गोता लगाकर अपने आत्मगत कर्ममल को धो डालने का प्रयत्न किया है, निस्सन्देह वह कृतकृत्य हो गया। इसलिये श्रुतज्ञान की महिमा अपार है। शास्त्रकारों ने श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य इस प्रकार दो भेद किये हैं *। उनमें अंगबाह्य श्रुत के भेदों में सब से प्रथम नाम उत्तराध्ययन का आया है। दूसरे धर्मकथानुयोग का प्रतिपादक होने से इसमें धर्मसम्बन्धी सभी विषयों का बड़ी उत्तमता से वर्णन किया गया है। आचार, नीति और धर्मसम्बन्धी विषयों के प्रतिपादन की जो पद्धति इसमें दृष्टिगोचर होती है, उसका अन्यत्र प्राप्त होना दुर्लभ है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अन्धकार भाग जाता है, उसी प्रकार इस सूत्र में प्रतिपादित शिक्षाओं के बोध से आत्मगत अज्ञानान्धकार भी दूर हो जाता है। इससे अधिक इसका और क्या महत्त्व हो सकता है कि इसमें प्रतिपादन किये गये विषयों को जैनधर्म के प्रतिस्पर्द्धी बौद्धधर्म ने भी अपने धार्मिक ग्रन्थों में आदरणीय स्थान दिया है। उदाहरणार्थ धम्मपद को लीजिए। यह बौद्धधर्म का सर्वमान्य धर्मग्रन्थ है। इसमें उत्तराध्ययन की बहुत सी गाथायें तो कुछ शब्दपरिवर्तन के साथ ज्यों की त्यों ही दी गई हैं और कई एक

* सुयनाणे दुविहे पन्नत्ते तं०—अंगपविट्ठे चेव अंगबाहिरे चेव। (स्थानांग सू० स्था० २. उ० १ सू० ७१) तथा नन्दीसूत्र में अंग बाह्य के आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त ऐसे दो भेद करके आवश्यक व्यतिरि के भी उत्कालिक और कालिक ये दो भेद किये हैं। उनमें कालिक सूत्रों की गणना करते हुए उत्तराध्ययन का प्रथम निर्देश किया है। यथा—"कालियं अणेगविहं पन्नत्तं। तं जहा—उत्तरज्झयणाइं" इत्यादि।

स्थलों में केवल नाममात्र का परिवर्तन किया गया है परन्तु विषयसम्बन्धी चर्चा वही है। अधिक क्या कहें, यदि विचार दृष्टि से देखा जाय तो धम्मपद की सृष्टि का मूलस्रोत उत्तराध्ययन ही प्रतीत होता है। उसमें स्थान स्थान पर उत्तराध्ययन की छाया के दर्शन होते हैं। पाठकगण, नीचे दिये गये उत्तराध्ययन और धम्मपद के कतिपय उद्धरणों से इस वात की जांच करें—

(१) मासे मासे उजो वालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुअक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥
(उत्तराध्ययन सूत्र अ० ९ गा० ४४)

(१) मासे मासे कुसग्गेणं, वालो भुंजेथ भोजनं।
न सो संखत धम्माणं, कलं अग्घति सोलसिं॥
(धम्मपद वालवग्ग ५ गा० ११)

(२) जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एससे परमो जओ॥
(उत्त० सू० अ० ९ गा० ३४)

(२) सहस्सं सहस्सेन, संगामे मानुसेजिने।
एकं च जेय्य मत्ताणं, सवे संगाम जुत्तमो॥
(धम्मपद सहस्सवग्गट्ठ गा० ४)

(३) जहा पउम जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तकामे हिं, तं वयं वूम माहणं॥
(उत्त० सु० अ० २५ गा० २७)

(३) वारियोक्खरपत्तेव, आरगो रिव सासओ।
यो न लिम्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥
(धम्मपद ब्राह्मण वग्ग २६ गा० १९)

(४) जहित्ता पुव्वसंजोगं, नातिसंगेय वंधवे।
जोन सज्जइ एएसु, तं वयं वूम माहणं॥
(उत्त० सूत्र २५ गा० २९)

(४) सव्व संयोजनं छेत्वा, यो वे न परितस्सति।
संगातिगं विसं भुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥
(धम्मपद वग्ग २६ गा० २५)

(५) एए पाउकरे वुद्धे, जेहि होइ सिणाइओ।
सव्व कम्म विणिम्मुकं, तं वयं वूम माहणं॥
(उत्त० सु० अ० २५ गा० ३४)

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं ।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
(धम्मपद वग्ग २६ गा० ४०)

(६) अक्कोसिज्जपरो भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥
(अ० २ गा० २४)

सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकंटया ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे ॥
(२—२५)

हओ न संजले भिक्खू , मणंपि न पओसए ।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खु धम्मं विचिंतए ॥
(२—२६)

समणं संजयं दंतं, हणेज्जा को वि कत्थइ ।
नत्थि जीवस्स नासोत्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥
(२—२७)

(६) पठवी समो नो विरुज्झति, इन्दखीलूपमोतादि सुब्बतो ।
रहद्दोऽव अपेत कद्दमो, संसारा न भवंति तादिनो ॥
(धम्मपद अरिहंत व० ७ गा० ६)

खंति परमं तपो तितिक्खा, निब्बाणं परमं वदंति बुद्धा ।
नहि पब्बजितो परूपघाती, समणो होति परं विहेठयंतो ॥
(धम्मपद बुद्ध व० १४ गा० ६)

सुत्वा रुसितो वहुं. वाचं समणाणं पुथु वचनानं ।
करुसेन ने न परिवज्जा. नहि संतो परिसेनि करोति ॥
(सुत्तनिपात ९३२)

न ब्राह्मणस्स पहरेय्य, नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो ।
धी ब्राह्मणस्स हंतारं, ततो धी यस्य मुंचति ॥
(धम्मपद ब्रह्म० व० २६ गा० ७)

इस प्रकार से उत्तराध्ययन सूत्र की अनेक गाथायें धम्मपद में संगृहीत हुई हैं। इनमें कतिपय तो शब्द रूप से ग्रहण की गई हैं और कई एक का अर्थ रूप में संग्रह किया गया है । इसके अतिरिक्त अन्य बौद्धग्रन्थों में भी जैनसाहित्य प्रतिबिंबित हुआ देखा जाता है। बुद्ध के अन्य जातकों में बहुत सी कथायें ऐसी उपलब्ध होती हैं. जिनका संग्रह जैन सूत्रों से किया गया है। उदाहरणार्थ—

चित्तसम्भूत जातक में उत्तराध्ययन सूत्र के १३वें अध्ययन का विषय संगृहीत हुआ है। तथा अंगुत्तरिया नाम के बुद्धजातक में आये हुए एक गद्य पाठ की भी उत्तराध्ययनसूत्र के निम्नलिखित गद्य पाठ से पाठक तुलना करें।

(१) नो निग्गंथे इत्थीणं कुड्डं तरंसि वा दूसं तरंसि वा भित्ति तरंसि वा कुइअसद्दं वा रुइअसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कंदिअसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणित्ता हवइ से निग्गंथे । तं कहमिति चे? आयरि आह— निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा जाव विलवियसद्दं वा सुणमाणस्स वंभयारिस्स वंभचेरे संका वा जाव केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा तम्हा खलु निग्गंथे नो इत्थीणं कुड्डंतरंसि जाव सुणमाणे विहरेज्जा। (उत्तराध्ययन सू० अ० १६)

(१) अपि च खो मातुगामस्स सद्दं सुणाति तिरो कुड्डा वा तिरो परकारा वा हसंतिया वा भणंतिया वा गायंतिया वा रोदंतिया वा सो तदस्सादेति तन्निकामेति तेन च विर्त्ति आपज्जति इदंपि खो ब्रह्मचारियस्स खण्डंपि छिद्दंपि वा सवलंपि कम्मासंपि अयं वुच्चति ब्राह्मणो अपरिसुद्धं ब्रह्मचरियं चरति संपुत्तो मेथुनेन संयोगेन न परिमुच्चति जातिया जरामरणेन सो केहि परिदेवेहि दुक्खेहि . न परिमुच्चति दुक्खस्माति वदामि। (अंगु० ७ वग्ग ५)

उत्तराध्ययन का माहात्म्य

उक्त लेखों से उत्तराध्ययन सूत्र की उपयोगिता को तो पाठक अब अच्छी तरह से समझ गये होंगे तथा बौद्धग्रन्थों में उसका उपयोग कहां तक हुआ है, इस बात का भी उन्हें उपर्युक्त पाठों से भली भांति परिचय मिल जाता है। अब पाठकों को निम्नलिखित निर्युक्ति गाथाओं के द्वारा उसके माहात्म्य का परिचय दिया जाता है। उत्तराध्ययन के महत्त्व को सूचित करने वाली तीन गाथाओं का निर्युक्तिकार ने उल्लेख किया है। यथा—

जे किर भवसिद्धीया, परित्त संसारिआय भविआय।
ते किर पढंति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणे ॥१॥
जे हुंति अभविसिद्धीया, गंथिअसत्ताअणंतसंसारा।
ते संकिलिट्ठ कम्मा, अभविय उत्तरज्झाए ॥२॥
तम्हाजिणपन्नत्ते अणंतगमपज्जवेहि संजुत्ते।
अज्झाए जहाजोगं, गुरूपसाया अहिज्झिज्जा ॥३॥

व्याख्या—ये इत्यनिर्दिष्टनिर्देशे किल इति सम्भावने भवसिद्धिकाः भव्याः परीतः—प्राग्वत् परिमितः स चासौ संसारश्च तद्वन्तः परीत्तसंसारिकाः ['अत इनिठनौ' (पा० ५। २। ११५) इति मत्वर्थीयष्ठन्] कोऽर्थः? तथा भव्यत्वाक्षिप्तप्रत्यासन्नीभूतमुक्तयः भव्याः सम्यग्दर्शनादिगुणयोग्याः भिन्नग्रन्थय इति योऽर्थः उभयत्र चः समुच्चये इति व्यवच्छेदफलत्वाद् वा वाक्यस्य त एव किल इति परोक्षाप्तसूचकः पठंति अधीयते धीराः

प्राग्वत् कानि ? इत्याह छत्तीसं ति षट्त्रिंशत् उत्तराध्ययनानि विनयश्रुतादीनि । भवसिद्धिकादीनामेतत् पाठफलस्य सम्यग् ज्ञानादेः सद्भावेन निश्चयतस्तत्पाठसंभवः अन्येषां व्यवहारत एवेत्येवमभिधानम् । उक्तमेवार्थं विनेयानुग्रहाय व्यतिरेकत आह—ये भवन्ति अभवसिद्धयः अभव्याः प्राग्वत् वचनव्यत्ययः, ग्रन्थिः उक्तरूपस्तद्योगात् ग्रन्थयस्त एव ग्रन्थिकास्ते च ते सत्त्वाश्च ग्रन्थिकसत्त्वाः अभिन्नग्रन्थय इत्यर्थः । तथा अनन्तः-अपर्यवसितः संसार एषामित्यनन्तसंसारा येन कदाचिन्मुक्तिसुखमवाप्स्यंति अभव्याः "भव्वाविते अणंते" इत्यादिवचनतो भव्या वा ते संक्लिष्टानि—अशुभानि कर्माणि ज्ञानावरणीयादीनि एषामिति संक्लिष्टकर्माण इत्याह अभवियत्ति सूत्रत्वात् अभव्याः अयोग्याः उत्तरज्झायत्ति वचनव्यत्ययादुत्तराध्यायेषु उत्तराध्यायविषये अध्ययन इति गम्यते । यद्वा—उत्तरत्ति प्राग्वत् पदैकदेशेपि पददर्शनादुत्तराध्ययनानि तेषामध्यायः पाठः उत्तराध्यायस्तस्मिन् तदनेन विशिष्टयोग्यतायामेव तात्त्विकैतदध्ययनसद्भावलक्षणं माहात्म्यमुक्तमिति गाथाद्वयार्थः ।

यतश्चैवमिति माहात्म्यवन्त एव उत्तराध्यायास्ततो यद्विधेयं तदाह—तस्माज्जिनैः श्रुतजिनादिभिः प्ररूपिताः प्रज्ञप्तास्तान् अनन्ताश्च ते गमाश्च अर्थपरिच्छित्तिप्रकाराः पर्यवाश्च शब्दपर्यवार्थपर्यवरूपाः अनन्तगमपर्यवास्तैः समिति सम्यग् भृशं वा युक्ताः संयुक्तास्तान् अध्यायान् प्रक्रमादुत्तराध्यायान् जहा जोगंति योग उपधानादिरुचितव्यापारस्तदनतिक्रमेण यथायोगं गुरूणां प्रसादः चित्तप्रसन्नता गुरुप्रसादस्तस्माद्धेतोः अधीयीत नत्वेतदध्ययनयोग्यतावाप्तौ प्रमादं कुर्यादिति भावः गुरुप्रसादादिति चाभिधानमध्ययनार्थिनाऽवश्यं गुरवः प्रसादनीयाः तदधीनत्वात्तस्येति ख्यापनार्थमिति गाथार्थः ।

भावार्थ—जो भवसिद्धिक जीव हैं और मुक्तिगमन के आसन्नभूत हो रहे हैं तथा जिनका संसार पर्यटन बहुत अल्प रह गया है, वे ही भव्यात्मा उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों को भावपूर्वक पढ़ते हैं। तथा जो अभवसिद्धिक ग्रन्थिक सत्त्व [जिनका ग्रन्थिभेद नहीं हुआ] और अनन्तसंसारी जीव हैं, वे अत्यन्त क्लिष्ट अशुभ कर्मों के सद्भाव से उत्तराध्ययन सूत्र का अध्ययन करने में अयोग्य हैं। इसलिये जिनेन्द्र देव के कथन किये गये शब्द और अर्थ के अनन्त पर्याय वाले इस उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययनों को यथाविधि उपधानादि तप के द्वारा गुरुजनों की प्रसन्नता से पढ़े, इत्यादि ।

प्रथम गाथा में अन्वय और दूसरी गाथा में व्यतिरेक से उत्तराध्ययन के माहात्म्य का वर्णन है। तथाच जिनका संसार भ्रमण बहुत अल्प रह गया है और मोक्ष जिनके नज़दीक है ऐसे भव्यात्माओं को ही इन अध्ययनों को भावपूर्वक पढ़ने का अवसर प्राप्त होता है। तात्पर्य कि ग्रन्थिभेद के अनन्तर जिनको सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है ऐसे भव्यात्मा जीव ही इसके अध्ययन से मुक्ति का लाभ करते हैं और

बाकी के आत्माओं का अध्ययन तो केवल व्यवहारमात्र है। उनको इसके अध्ययन का मोक्षरूप फल प्राप्त नहीं होता। तथा जो अनन्त संसारी अभव्य आत्मा हैं अर्थात् जिनका ग्रन्थिभेद नहीं हुआ उनको इसका भावपूर्वक अध्ययन प्राप्त नहीं होता। एवं जो अत्यन्त क्लिष्ट कर्म युक्त दीर्घसंसारी भव्यात्मा हैं वे भी भावपूर्वक इसके अध्ययन के अयोग्य हैं। तात्पर्य कि जो अल्पसंसारी भव्यात्मा हैं, उन्हीं के हृदय में इसके पढ़ने की रुचि उत्पन्न होती है और जो अनन्तसंसारी अभव्य तथा दीर्घसंसारी भव्य जीव हैं, उनको इसका अध्ययन भाव से प्राप्त नहीं होता। यदि वे पढ़ते भी हैं तो उनका पठन केवल व्यवहारमात्र ही है, उससे इच्छित लाभ नहीं होता। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से उत्तराध्ययन के पाठ का महत्त्व बतलाने के साथ २ निर्युक्तिकार ने भव्य और अभव्य का लक्षण भी बतला दिया है। तीसरी गाथा में इसको जिनेन्द्रभाषित कहा तथा शब्द और अर्थ के अनन्त पर्यायों से युक्त बतलाया, और पूर्ण विनय से गुरु जनों के समीप बैठकर विधिपूर्वक अध्ययन करने का आदेश दिया गया है, जिससे प्रस्तुत सूत्र की महिमा अनायास ही व्यक्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि श्रुत का अध्ययन गुरु मुख से ही करना चाहिये तथा भक्ति और विनयादि से गुरुजनों को सदा प्रसन्न रखना चाहिये।

इस प्रकार निर्युक्ति की उक्त तीन गाथाओं को उद्धृत करके बृहद्वृत्तिकार ने उनकी उपर्युक्त व्याख्या की है, परन्तु प्रस्तुत सूत्र की दीपिका टीका में निम्नलिखित अन्य दो गाथायें और उपलब्ध होती हैं। यथा—

जोगविहीए वहिया, एए जो लहइ सुत्तमत्थं वा।
भासेइ भवियजणो, सो पावेइ निज्जरा बहुआ ॥१॥
जस्सा ढत्ता एए, कहवि समप्पंपि विग्घरहियस्स।
सो लक्खिज्जइ भव्वो, पुव्वरिसी एव भासंति ॥२॥

दीपिका—स भव्यजनो विपुलां निर्जरां प्राप्नोति । सः कः—यो योगविधिं वाहयित्वा योगोपधानतपोऽनुष्ठानविधिं कृत्वा एतान् उत्तराध्यायान् सूत्रार्थतो लभेत पश्चात् गुरुमुखात् सूत्रार्थं लब्ध्वापरं भाषेत स क्षीणकर्मा भवतीत्यर्थः ॥१॥ स मनुष्यो भव्यो मुक्तिगामी इति लक्ष्यते। पूर्वर्षयः पूर्वाचार्याः एवं भाषन्ते। स इति कः—यस्य पुरुषस्य विघ्नरहितस्य निर्विघ्नस्य सतः कथमपि यत्नेनापि एते उत्तराध्यायाः आढत्ता पठनाय आरब्धाः सन्तः समाप्यन्ते सम्पूर्णा भवन्ति, स भव्यो भाग्यवान् ज्ञेय इत्यर्थः। भाग्यवतः पुरुषस्यैव निर्विघ्नम् एते अध्यायाः सम्पूर्णा भवन्ति। यतः "श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि" इत्युक्तेः ॥२॥

भावार्थ—वह भव्यजन बहुत से कर्मों की निर्जरा कर देता है जो उपधान तपोनुष्ठान से विधिपूर्वक उत्तराध्ययन के सूत्र और उसके अर्थ को प्राप्त करता है। इतना ही नहीं किन्तु गुरुमुख से सूत्र और अर्थ को प्राप्त करके उसका अन्य जीवों के

कल्याणार्थ उपदेश करता है, वह क्षीण कर्म वाला होता है ॥१॥ तथा पूर्वाचार्य कहते हैं कि जिन आत्माओं का आरम्भ किया हुआ उत्तराध्ययन निर्विघ्नता से समाप्त हो जाता है, वे आत्मा भव्य अर्थात् मोक्षगामी हैं। कारण कि शुभ कार्य में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। इन दोनों गाथाओं में उत्तराध्ययन की फलश्रुति का वर्णन किया गया है। इसके अध्ययन और उपदेश का फल कर्मों की निर्जरा है अर्थात् विधिपूर्वक गुरुमुख से पढ़ने तथा पढ़कर उसका उपदेश करने से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय हो जाता है। इसी लिये दूसरी गाथा में इसकी निर्विघ्नसमाप्ति को पुरुप का अहोभाग्य बतलाया गया है। अतः उत्तराध्ययन का विधिपूर्वक पठन पाठन साक्षात् वा परम्परया मोक्ष का निदान है, यह बात उपरोक्त कथन से भली भांति प्रमाणित हो जाती है।

श्रुत(प्रवचन)प्रभावना

शास्त्रकारों ने जीव के भावी कल्याणार्थ दस साधन बतलाये हैं। उनमें से एक प्रवचन की प्रभावना है। यथा—

दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसि भद्दत्ताए कम्मं पगरेंति। तं—

(१) अणिदाणताते (२) दिट्ठिसंपन्नाए (३) जोगवाहियत्ताते (४) खंतिखमणताते (५) जितिंदियताते (६) अमाइल्लत्ताते (७) अपासत्थताते (८) सुसामण्णताते (९) पवयणवच्छलयाते (१०) पवयण उब्भावणताए।

भावार्थ—निम्नलिखित दश स्थानों से यह जीव भविष्यत् काल में कल्याणप्रद कर्मों का बन्ध करता है। यथा—

(१) अणिदाणताते[अनिदानतया]—अनिदानता से निदान कर्म—सकाम के त्याग से। जिसके द्वारा आनन्द रसोपेत मोक्ष फल के देने वाली ज्ञानादि की आराधना रूप लता लौकिक अभ्युदय की इच्छा रूप कुल्हाड़ी से काट दी जावे, उसका नाम निदान है। तद्भिन्न अर्थात् जिस कर्म में ऐहिक अभ्युदय की वासना न हो, उसे अनिदान कहते हैं। तात्पर्य कि निदान रहित क्रियानुष्ठान से यह जीव भविष्यत् काल में कल्याण रूप कर्मों का उपार्जन करता है।

(२) दिट्ठिसंपन्नयाए [दृष्टिसम्पन्नतया]—सम्यग्दृष्टि का सम्पादन करने से।

(३) जोगवाहियत्ताते* [योगवाहितया]—श्रुतोपधान तप से अथवा समाधि से सर्वत्र उत्सुकता के परित्याग से।

(४) खंतिखमणताते [क्षान्त्या]—क्षमा करने से।

(५) जितिंदियताते [जितेन्द्रियतया]—इन्द्रियों के निग्रह से।

* योगवाहित्तया—श्रुतोपधानकारितया योगेन वा समाधिना सर्वत्रानुत्सुकत्वेन तदेन वहतीत्येवं-शीलो योगवाही तद्भावस्तत्ता तया।

(६) अमाइल्लताते [अमायिकतया—निष्कपटतया]—छल का परित्याग करने से।

(७) अपासत्थत्ताते [अपार्श्वस्थतया]—ज्ञानदर्शन और चारित्र की पूर्णतया शुद्धि करने से।

(८) सुसामण्णताते [सुश्रामिण्यभावतया]—शुद्ध संयम के पालन से।

(९) पवयणवच्छलयाते [प्रवचनवत्सलतया]—द्वादशांग अथवा श्रीसंघ की वत्सलता करने से।

(१०) पवयणउब्भावणया [प्रवचनोद्भावनया]—धर्मोपदेशादि के द्वारा प्रवचन की प्रभावना करने से, आगामी जन्म से यह जीव भद्रकर्मों का उपार्जन करता है।

अतः आगामी काल में सुलभबोधि और कल्याणप्रद कर्मों की उपार्जना के लिये श्रुत रूप प्रवचन की अवश्य प्रभावना करनी चाहिये परन्तु श्रुत की प्रभावना करने की योग्यता तब तक नहीं हो सकती जब तक कि विधिपूर्वक श्रुत का अध्ययन न किया जाय। इसलिए विधिपूर्वक श्रुत का अध्ययन करना मुमुक्षु जनों का सब से पहला कर्त्तव्य है।

प्रस्तुत टीका लिखने का प्रयोजन

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र की छोटी बड़ी संस्कृत टीकाएँ तथा गुजराती और इंगलिश आदि भाषाओं में बहुत से अनुवाद मुद्रित हो चुके हैं परन्तु हिन्दीभाषाभाषी संसार के लिये हिन्दी भाषा में एक ऐसी टीका की बड़ी आवश्यकता थी कि जिसमें मूल, छाया, पदार्थान्वय, मूलार्थ और विस्तृत विवेचन हो। विक्रम संवत् १९७१ में जब मैं अनुयोगद्वार सूत्र की हिन्दी भाषा में व्याख्या कर रहा था, उस समय मेरे स्वर्गीय शिष्य मुनि ज्ञानचन्द्र ने मुझे प्रस्तुत सूत्र की हिन्दी में व्याख्या करने के लिये विनयपूर्वक बहुत आग्रह किया। अत एव मुनि ज्ञानचन्द्र की तीव्र प्रेरणा से और जिन प्रवचन में उत्तराध्ययनसूत्र को अधिक शिक्षाप्रद समझकर हिन्दीभाषाभाषी संसार को इसका लाभ मिल सके, इस उद्देश्य से मैंने इस कार्य का आरम्भ कर दिया। परन्तु 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इस सूक्ति के अनुसार कई एक कारणों से तथा मुनि ज्ञानचन्द्र के रोगग्रस्त हो जाने से उस समय मैं इस काम को न कर सका। वि० सं० १९७२ में मुनि ज्ञानचन्द्र का तो बरनाला मंडी में स्वर्गवास हो गया। अनुयोग द्वारसूत्र का भाषान्तर सम्पूर्ण करने के बाद, फिर इस कार्य को हाथ में लेने का विचार किया परन्तु इतने में इन्दौरनिवासी सेठ केसरीचन्द जी भंडारी की ओर से अर्द्धमागधीकोष के लिये श्रीभगवती, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्म कथांग और दशवैकालिक आदि सूत्रों में से शब्दों के संग्रहार्थ एक विज्ञप्ति मिली और उनकी ओर से

कान्फ्रेन्स प्रकाश के कार्यकर्ता लाला दुर्गाप्रसाद जी भी आए। उक्त कार्य को भी आवश्यक और उपयोगी समझते हुए उनकी विज्ञप्ति के अनुसार प्रथम कोष के कार्य का आरम्भ किया गया जो कि कुछ समय के बाद सम्पूर्ण हो गया। अर्द्धमागधीकोष के लिये पर्याप्त शब्दों का संग्रह कार्य समाप्त करने के बाद मुनि ज्ञानचन्द्र की ओर से हुई प्रेरणा का ध्यान आने से फिर इस कार्य का आरम्भ किया गया अर्थात् उत्तराध्ययन सूत्र की हिन्दी भाषा में व्याख्या लिखनी आरम्भ कर दी। परन्तु प्राकृत भाषा से अधिक परिचय न रखने वाले संस्कृतज्ञ विद्वानों को भी इसके पदार्थों का यथेष्ट परिचय मिल सके, एतदर्थ प्राकृत मूलपाठ के साथ उसकी संस्कृत छाया भी दे दी गई है। यहां पर इतना स्मरण रहे कि मूल प्राकृत पाठ की संस्कृत छाया में जहां कहीं पर भी पाठकों को छन्दोभंग प्रतीत हो, वहां पर वे इस बात का भी खयाल रक्खें कि प्राकृत पद्य के शब्दानुवाद में यह त्रुटि अनिवार्य है परन्तु इससे अर्थबोध में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

यद्यपि दुर्भाग्यवश इस भाषा टीका के लिखने में विघ्न बाधायें तो बहुत उपस्थित हुईं परन्तु जहां तक हो सका, वहां तक अशांति के कारणों की उपेक्षा करते हुए अपने ध्यान को इस कार्य की ओर ही संलग्न रक्खा और यह प्रस्तुत टीका सानन्द सम्पूर्ण हो गई।

नामकरण

अपने स्वर्गीय शिष्य मुनि ज्ञानचन्द्र की प्रेरणा से ही आत्मा में इस टीका के लिखने के संस्कार उत्पन्न हुए थे। अतः इस टीका का नाम "आत्मज्ञानप्रकाशिका" रखना ही उचित प्रतीत हुआ ताकि नामकरण के साथ प्रेरक की स्मृति भी बनी रहे। जहां तक मुझ से बन पड़ा है, वहां तक इसको सर्वोपयोगी बनाने की ओर ही अधिक ध्यान रक्खा गया है और भाषा भी सरल एवं सुबोध रक्खी गई है।

इसमें सन्देह नहीं कि जो सरसता मूल भाषा में है, उतनी अनुवाद में लाई नहीं जा सकती परन्तु फिर भी जहां तक हो सका है वहां तक मूल के आशय को सरलतापूर्वक स्फुट करने का यथेष्ट प्रयत्न किया गया है।

टीका के लिखने में सहायक ग्रन्थ

इस टीका के लिखने में जिन जिन ग्रन्थों की सहायता ली गई है, उनका निर्देश कर देना भी उचित प्रतीत होता है।

प्रस्तुत टीका के लिखते समय खरतर गच्छाधिराज श्री जिनभद्रसूरि के शिष्य श्री कमल संयमोपाध्याय विरचित सर्वार्थसिद्धि नामक संस्कृत टीका की एक प्रति तो पञ्जाबप्रान्तीय जालन्धरनगरनिवासी श्रीयुत पूज्य केसर ऋषि जी के

भंडार से मिली। दूसरी, लक्ष्मीवल्लभ गणिविरचित दीपिका नाम की टीका नाभा-निवासी लाला वंशीलाल सीताराम मालेरी के पुस्तकालय से प्राप्त हुई। तीसरी पुस्तक वादिवेताल श्री शान्तिसूरिविरचित बृहद्वृत्ति की है, जो कि देवचन्द लाल-भाई जैन पुस्तकोद्धार फंड की ओर से मुद्रित हुई है। उसके एक से लेकर पांच अध्ययन तो अमृतसरनिवासी लाला उमेदसिंह मुसद्दीलाल की ओर से प्राप्त हुए और पांच से लेकर ३६ अध्ययन तक बीकानेरनिवासी श्रीमान् सेठ अगरचन्द भैरोंदान जी की ओर से मिले। वि० सं० १९७५ में जब सेठ साहब, गणावच्छेदक स्थविरपदविभूषित श्री १००८ स्वामी गणपतिराय जी महाराज तथा श्री १००८ गणावच्छेदक श्री स्वामी जयरामदास जी महाराज व प्रवर्तक श्री १००८ स्वामी शालिगराम जी महाराज के दर्शनार्थ लुधियाना में पधारे थे तब उनके पास वे सब अध्ययन थे। उस समय जब उत्तराध्ययन सूत्र की भाषाटीका के विषय में उनसे वार्तालाप हुआ तब वे प्रस्तुत टीका की सहायता के लिये दे गये। संस्कृत अवचूरी भाषाटीका की एक प्रति तथा भावविजयगणि विरचित टीका तो मेरे पास प्रथम से ही मौजूद थी। इसके अतिरिक्त गुजराती भाषाटीका की भी एक प्रति मेरे पास विद्यमान थी। इन उपर्युक्त टीकाग्रन्थों की सहायता से प्रस्तुत भाषा टीका का निर्माण किया गया है। एवं जहां जहां भेद प्रतीत हुआ, वहां पर उनका यथास्थान स्पष्टीकरण भी कर दिया गया है तथा कतिपय स्थानों में परस्पर जो पाठभेद वा पाठान्तर देखने में आता है, उनका टीका में स्पष्टीकरण कर दिया है। मूलपाठ का अधिकांश भाग सेठ देवचन्द लाल भाई की ओर से प्रकाशित हुई प्रति से लिया गया है।

आभारप्रदर्शन

जिन महानुभावों ने पूर्वोक्त प्रतियां देकर मेरे इस कार्य में सहायता पहुँचाई है, मैं उन महानुभावों का अन्तःकरण से आभार मानता हूँ। अन्त में विद्वज्जनों से प्रार्थना है कि 'गच्छतः स्खलनम्—' इस न्याय से प्रस्तुत भाषा टीका के निर्माण में यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो वे उसे सुधार लेने की कृपा करें।

वि० १९८२ आश्विन शु० ५
मंगलवार, लुधियाना

प्रार्थी
उपाध्याय आत्माराम

मांगलिक विचार

शिष्टाचार की स्थापना और विघ्नों के उपशान्त करने के लिये इष्ट देव का मंगलाचरण करना शास्त्र के आदि में आवश्यक होता है किन्तु प्रस्तुत शास्त्र के आरम्भ में केवल भिक्षु के विनय धर्म के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की गई है। मंगलाचरण के विषय में कोई भी शब्द दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः मंगलाचरण अवश्य होना चाहिये था। इस शङ्का के समाधान में कहा जाता है कि जैनागम में चार मंगल प्रतिपादन किये गये हैं। जैसे कि—अरिहन्तमंगल, सिद्धमंगल, साधुमंगल और केवलि कथित धर्ममंगल। सो प्रस्तुत शास्त्र के आरम्भ में भिक्षु और अनगार शब्द से तृतीय मंगल का उल्लेख विद्यमान है और विनयशब्द से चतुर्थ मंगल भी विद्यमान है तथा प्रथम गाथा के प्रथम पाद में जो 'संजोगा विप्पमुक्कस्स' पद दिये गये हैं, इनसे ध्वनित होता है कि कर्मों के संयोग से सर्वथा विप्रमुक्त अरिहन्त सिद्ध ही हैं। अतः इस प्रकार विचार करने से प्रस्तुत शास्त्र के आरम्भ में चारों मंगल प्रतिपादन किये गये हैं। श्री गणधर देव ने प्रतिज्ञापूर्वक मंगलसूचक शब्दों का प्रयोग भली प्रकार से कर दिया है। अतएव सिद्ध हुआ कि यह शास्त्र मंगलाचरण से शून्य नहीं है। तथा सर्वज्ञप्रणीत होने से यह शास्त्र मंगल रूप ही है। इसी प्रकार श्रीमान् शीलाङ्काचार्य श्री सूत्र कृताङ्ग सूत्र की वृत्ति में लिखते हैं। जैसे कि—'शास्त्रस्य चाशेषप्रत्यूहोपशान्त्यर्थमादिमङ्गलं तथा स्थिरपरिचयार्थं मध्यमङ्गलं शिष्यप्रशिष्याविच्छेदार्थञ्चान्त्यमंगलमुपादेयं तच्चेह नोपलभ्यते ? सत्यमेतत् मंगलं हीष्टदेवतानमस्कारादिरूपम्, अस्य च प्रणेता सर्वज्ञस्तस्य चापरनमस्कार्य्याभावान्मङ्गलकरणे प्रयोजनाभावाच्च न मङ्गलाभिधानम्। गणधराणामपि तीर्थकृदुक्तानिवादित्वान्मंगलाकरणम्। अस्मदाद्यपेक्षया तु सर्वमेव शास्त्रं मङ्गलम्'।

शास्त्र के समस्त विघ्नों की शान्ति के लिए आदिमङ्गल तथा स्थिरपरिचय के लिये मध्यमंगल और शिष्य-प्रशिष्य की परंपरा के अविच्छेद के लिये अन्त्यमंगल करना चाहिए परन्तु वह यहां नहीं पाया जाता है।

यह सत्य है। इष्ट देवता को नमस्कार आदि करना मंगल है परन्तु इस शास्त्र के रचयिता सर्वज्ञ पुरुष हैं। उस सर्वज्ञ पुरुष का नमस्कार करने योग्य कोई दूसरा पुरुष नहीं है और उनको मंगल करने का कोई प्रयोजन भी नहीं है। इसलिये इस शास्त्र में मंगल का कथन नहीं है। गणधरों ने भी तीर्थंकर के कथन का अनुवाद मात्र किया है। इसलिये उन्होंने भी मंगल नहीं किये। हम लोगों के लिए तो यह सम्पूर्ण शास्त्र ही मंगल है। अतः यहां मंगल की पृथक् आवश्यकता नहीं है। सो व्यवहार दृष्टि से इस सूत्र में भी आदि, मध्य और अन्त में मंगल विधान किया है। आदि मंगल 'संजोगा विप्पमुक्कस्स' है, मध्य मंगल 'जिणे पासेति नामेणं' (अध्याय २३ गाथा १) है और अन्तिम मंगल 'जीवाजीव विभत्तिं' (अध्याय ३६ गाथा १) है। उक्त तीनों मंगलों से परम्परागत यह भाव लिया जाता है। आदि मंगल शास्त्र की विघ्नोपशान्ति के लिये है, मध्य मंगल प्रतिपाद्य विषयात्मक ग्रन्थ को स्थिरीभूत करने के लिये और अन्तिम मंगल शिष्य-शाखा में ग्रन्थ के अव्यवच्छेद रूप से पठन-पाठन के लिये किया जाता है।

श्रीः

उत्तराध्ययनसूत्रम्

संस्कृतच्छाया–पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतम्

आत्मज्ञानप्रकाशिकाहिन्दीभाषाटीकासहितं च

णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

विणयसुयं पढमं अज्झयणं

विनयश्रुतं प्रथममध्ययनम्

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो ।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१॥

संयोगाद् विप्रमुक्तस्य, अनगारस्य भिक्षोः ।
विनयं प्रादुःकरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥१॥

पदार्थान्वयः—संजोगा-संयोग से विप्पमुक्कस्स-विप्रमुक्त अणगारस्स-अनगार भिक्खुणो-भिक्षु का विणयं-विनय पाउकरिस्सामि-प्रकट करूंगा आणुपुव्विं-अनुक्रम से मे-मुझ से सुणेह-सुनो ।

मूलार्थ—मैं संयोग से विप्रमुक्त-रहित अनगार भिक्षु के विनय-धर्म को प्रकट करूंगा, आप मुझ से उसको श्रवण करें ।

टीका—इस गाथा में शास्त्रकार त्यागी महात्मा जनों के विनय-धर्म के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हुए उसके श्रवण करने का भव्य पुरुषों को उपदेश करते हैं । सांसारिक पदार्थों का विशिष्ट संसर्ग ही दुःख का मूल कारण है, अतः अनगार भिक्षु के लिए सब से प्रथम उस संसर्ग का परित्याग ही परम आवश्यक

है, अन्यथा उसे अपने अभिलषित पद की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। यद्यपि मूलगाथा में केवल सामान्यरूप से ही संयोग शब्द अभिहित हुआ है तथापि भिक्षु शब्द के साथ सम्बन्धित होने से यह अपने विशेष अर्थ का भी स्फुटतया भान करा रहा है।

आगमवेत्ताओं ने संयोग के दो भेद माने हैं—एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। माता पिता आदि इष्ट पदार्थों का सम्बन्ध बाह्य संयोग है और क्रोध मान माया लोभ आदि की तीव्र इच्छा का नाम आभ्यन्तर संयोग है। सो जिस व्यक्ति ने इन दोनों प्रकार के संयोगों को ज्ञान वैराग्य द्वारा दृढ़तापूर्वक परित्याग करके अनगार भिक्षु पद को ग्रहण किया है उसी महापुरुष के विनय-धर्म का यहां पर उल्लेख किया जाता है। अनगार—अगार नाम घर का है। उससे जो रहित हो अर्थात् जिसने घर बार आदि का परित्याग कर दिया हो, उसे अनगार कहते हैं। अगार (घर) भी द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का है। लकड़ी, पत्थर, मिट्टी, चूना आदि से बना हुआ घर द्रव्य अगार है और जिनके प्रभाव से यह संसारी जीव नाना प्रकार की आपदाओं को झेलता है उन पापकर्मों के समुदाय को भाव अगार कहते हैं। इन दोनों प्रकार के अगारों का सर्वथा परित्याग करने वाला भिक्षु अनगार कहलाता है। तथाच निर्ममत्व भाव के अवलम्बन से जिसने द्रव्य रूप अगार का परित्याग किया हो और पाप कर्म के विपाक से उत्पन्न होने वाली दुःखपरम्परा का अनुभव करते हुए दुःख के कारणभूत मोहनीय आदि कर्मों के क्षय करने की तीव्र भावना से जिसने भिक्षुचर्या का अनुसरण किया है उसी महात्मा पुरुष के विनय-धर्म का यहां पर आरम्भ में वर्णन करने की ग्रन्थकार प्रतिज्ञा करते हैं।

भिक्षु—सामान्य रूप से देखा जाय तो भिक्षु शब्द के अर्थ, केवल भीख मांग कर खाने वाले के होते हैं, परन्तु भिक्षु शब्द का ऐसा निकृष्ट अर्थ यहां पर अभिप्रेत नहीं और न ऐसे अर्थ के लिये यह उपयुक्त है किन्तु जीवन के उत्कृष्टतम आदर्श को लक्ष्य में रख कर यहां पर उक्त शब्द की नियुक्ति की गई है। इसलिये किसी प्रकार की जघन्य आकांक्षा से प्रेरित न होकर किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न देकर तथा किसी भी गृहस्थ के लिये

किसी तरह से भारभूत न होकर केवल शरीरयात्रानिर्वाहार्थ निर्दोष आहारभिक्षा लेने वाले सत्पुरुष को भिक्षु कहते हैं। साधु, यति, संयमी, मुनि और संन्यासी आदि इसी के पर्याय अथवा नामान्तर हैं।

अनगार और भिक्षु शब्द की सार्थकता—अनगार और भिक्षु ये दोनों शब्द यद्यपि एक ही अर्थ के बोधक हैं तथापि मूल गाथा में इन दोनों की एक साथ नियुक्ति करने का तात्पर्य यह है कि लोक मे कई एक साधु महात्मा भी दृष्टिगोचर होते हैं जो कि अनगार होते हुए भी भिक्षावृत्ति का पालन नहीं करते तथा ऐसों की कुछ कम संख्या नहीं जो कि स्थानधारी होने पर भी सदा भिक्षावृत्ति से ही जीवनयात्रा करते हैं, परन्तु शास्त्रकारों को ऐसा आचरण अभिमत नहीं है। शास्त्रकारों की सम्मति में तो यति साधु के लिये अनगार होने पर भिक्षु होना और भिक्षावृत्ति का आलम्बन करने पर अनगार होना अनिवार्य है। इसी लिये इन दोनों शब्दों की उक्त गाथा में योजना की गई है, जो कि सर्वथा सार्थक है।

क्रियापद—उक्त गाथा में वर्त्तमान काल की क्रिया का प्रयोग न करते हुए 'करिस्सामि' जो भविष्यत्कालीन क्रिया का प्रयोग किया है उसका तात्पर्य है कि सर्वज्ञोक्त वाणी तो अनन्तविध अर्थों के प्रतिपादन करने वाली है और उनके अतिनिकटवर्ती शिष्य गणधरादि देव छद्मस्थ हैं। इसलिये वे सर्वज्ञ देव के कहे हुए सम्पूर्ण अर्थों का तो वर्णन नहीं कर सकते किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार उसके वर्णन की चेष्टा करते हैं। बस, इसी भाव को व्यक्त करने के लिये भविष्यत्कालीन क्रिया का प्रयोग किया गया है। अर्थात् ग्रन्थकार गणधरदेव का यह वचन है कि मैं यथाशक्ति सर्वज्ञदेव के कहे हुए अर्थों के प्रतिपादन करने की चेष्टा करूंगा, न कि सम्पूर्णतया उन अर्थों के प्रतिपादन करने में मैं समर्थ हूं। इस कथन से गणधरदेव ने अपनी असीम गुरुभक्ति का भी खूब परिचय दिया है।

शृणुत—गाथा में जो 'सुणेह' क्रियापद दिया है उससे शिष्यवर्ग को विनय-धर्म का श्रवण कराना ही ग्रन्थकार को अभिप्रेत है। क्योंकि वक्ता

को श्रवण कराने में तभी आनन्द आता है जब कि श्रोता लोग दत्तचित्त होकर श्रवण करने की ओर अग्रेसर होने की चेष्टा करें।

यहां पर 'आणुपुव्विं' यह तृतीया विभक्ति के स्थान में द्वितीयान्त पद का प्रयोग इसलिये किया गया है कि आर्षभाषा में भी विभक्ति व्यत्यय का होना शिष्ट सम्मत है, यह बात सब को भली भांति विदित हो जाय। तथा इस गाथा में केवल भिक्षु सम्बन्धी विनय-धर्म के वर्णन की जो प्रतिज्ञा की गई है उसका तात्पर्य यह है कि व्यक्तिसामान्य से सम्बन्ध रखने वाले विनय के अवान्तर भेदों में से केवल मोक्षविनय के विषय में ही यहां पर विचार करना ग्रन्थकार को अभिमत है, अन्य के विषय में नहीं।

शास्त्रकारों ने विनय के (१) लोकोपचार विनय (२) अर्थ विनय (३) भय विनय (४) काम विनय और (५) मोक्ष विनय ये पांच भेद माने हैं।

(१) जिसका मात्रलोक पंक्ति फल हो उसे लोकोपचार विनय कहते हैं।

(२) धनप्राप्ति की अभिलाषा के निमित्त किसी धनाढ्य व्यक्ति से विनय करना अर्थ-विनय कहलाता है।

(३) प्राणादि की रक्षा के लिये किसी राजा मन्त्री आदि शासकवर्ग के विनय को भय-विनय कहा है।

(४) विषयपूर्ति के निमित्त तदुपयोगी सामग्री का संग्रह करना तथा विषयक्रीड़ार्थ स्त्री आदि का विनय करना काम-विनय है।

(५) ऐहिक तथा पारलौकिक विषय भोगों के विनश्वर सुख की अभिलाषा को छोड़कर केवल कर्म क्षय के निमित्त सम्यक्तया रत्नत्रय दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना का नाम मोक्ष-विनय है।

सो इस प्रकरण में केवल मोक्षविनय का ही वर्णन ग्रन्थकार को अभिप्रेत है क्योंकि इस मोक्षविनय के अनुष्ठान से ही कर्मक्षय द्वारा अक्षय सुख (मोक्ष) की प्राप्ति शक्य हो सकती है। इसलिये विनय-धर्म के साथ भिक्षु शब्द का सम्बन्ध परम आवश्यक और युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

(विनय का स्वरूप)

धर्मी द्वारा धर्म का निरूपण—

यद्यपि विनय ही निश्चय धर्म है अतः उसी का वर्णन करना समुचित जान पड़ता है तथापि धर्म धर्मी का कथंचित् अभेद होने से ग्रन्थकार यहां पर धर्मी के द्वारा विनय-धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। यथा—

आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने, सेविणीए त्ति वुच्चई ॥२॥

आज्ञानिर्देशकरः, गुरूणामुपपातकारकः।
इङ्गिताकारसंपन्नः, स विनयीत्युच्यते ॥२॥

पदार्थान्वयः—आणा–आज्ञा का निद्देसकरे–निर्देश करने वाला गुरुणं–गुरुओं के उववायकारए–समीप रहने तथा उनकी आज्ञा के अनुकूल कार्य करने वाला इंगियागारसंपन्ने–गुरुओं के इंगित और आकार को भली भांति जानने वाला से–वह विणीए–विनयवान् त्ति–इस प्रकार से वुच्चई–कहा जाता है।

मूलार्थ—जो गुरुओं की आज्ञा का पालन करने वाला हो, गुरुओं के समीप बैठने वाला हो, उनके कार्य को करने तथा उनके इङ्गित और आकार को भली प्रकार जानने वाला हो, वह शिष्य विनयवान् कहा जाता है।

टीका—इस गाथा में विनय-धर्म का स्वरूप उसके आधारभूत धर्मों के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। यहां पर विनय-धर्म और विनयवान् शिष्य धर्मी हैं। अतः धर्म धर्मी का अभेद मानकर शिष्य के कर्तव्य का जो वर्णन है वही विनय-धर्म का स्वरूप समझना चाहिये। विनीत अथवा विनयवान् शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह आगम विहित उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का अनुसरण करता हुआ गुरुजनों की आज्ञा के अनुकूल वर्ताव करे। गुरुजन उसे जिस कार्य के विधान की आज्ञा दें उसे तो वह आचरण में लावे और जिस कार्य के लिये वे निषेध करें उसको वह सर्वथा त्याग दे। तथा उसकी (शिष्य की)

सारी कार्यविधि गुरुजनों की दृष्टि के सम्मुख ही रहनी चाहिये, ताकि उसका कोई भी कार्य गुरुजनों की आज्ञा के प्रतिकूल न हो । इसके अतिरिक्त विनीत शिष्य का केवल इतना ही कर्तव्य नहीं कि वह गुरुओं के आदेश पर ही हेय और उपादेय कार्य में अपनी साधु-चर्या को मर्यादित करे किन्तु गुरुजनों की प्रवृत्ति और निवृत्ति सूचक इङ्गित आकार आदि चेष्टाओं के ज्ञान की भी वह अपने में योग्यता सम्पादन करे। नेत्र का इशारा, सिर का हिलाना और दिशा आदि का अवलोकन करना इत्यादि जो भावसूचक मूल चेष्टाएं हैं उन्हीं के द्वारा भी गुरुजनों के आन्तरिक अभिप्राय को समझ कर उसके अनुसार आचरण करने वाला शिष्य ही वास्तव में विनीत कहा जा सकता है ।

यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिये कि गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना, उनकी अंग चालनादि मूल चेष्टाओं को समझ कर तदनुकूल आचरण करना तथा गुरुजनों के संसर्ग का—उनकी आज्ञा के बिना परित्याग न करना और श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा भक्ति करना आदि जो शिष्य के मुख्य धर्म उक्त गाथा मे निर्दिष्ट किये हैं, उनको अहर्निश भली भांति आचरण मे लाने वाला विनयशील कहा अथवा माना जा सकता है। इसके विपरीत गुरुजनों को केवल नमस्कार मात्र कर देना, इच्छा न रहते हुए भी किसी न किसी प्रकार से उन्हें आज्ञा देने के लिये बाध्य करना, उनसे पृथक् रह कर केवल शब्दों द्वारा उनकी प्रशंसामात्र कर देना विनय-धर्म की झूठी नकल करना है । इस प्रकार का बनावटी आचरण रखने वाला शिष्य न कभी विनीत माना जा सकता है और न उसके इस विनयाभास को विनय-धर्म के नाम से घोषित करना शास्त्र सम्मत है ।

मुख्य विनय-धर्म तो सर्वज्ञ वीतराग देव के द्वारा निर्दिष्ट किये गये मार्ग का अनुसरण और तदनुकूल आचरण रखने वाले गुरुजनों की आज्ञा के यथावत् पालन में है। इसी लिये आगमों में अनेक जगह पर 'आणाए आराहित्ता' की घोषणा देखी जाती है ।

यहां गाथा के प्रथम पाद मे तो आज्ञा के पालन का निर्देश है और द्वितीय तृतीय पाद में उसके जानने की विधि का वर्णन है तथा चतुर्थ पाद में

पदार्थान्वयः—आणा–आज्ञा का अणिद्देसकरे–अस्वीकार करने वाला गुरुणं–गुरुओं के अणुववायकारए–पास न बैठने वाला पडिणीए–प्रतिकूलवर्ती असंबुद्धे–तत्त्व के बोध से रहित अविणीए–विनय रहित त्ति–इस प्रकार वुच्चई–कहा जाता है।

मूलार्थ—गुरुजनों की आज्ञा का अस्वीकार करने वाला, उनके समीप न बैठने तथा उनके प्रतिकूल आचरण करने वाला और तत्त्वार्थ के बोध से रहित ऐसा जो शिष्य है उसे अविनीत या विनयशून्य कहते हैं।

टीका—विनय धर्म के ऊपर जितने लक्षण बतलाये गए हैं उनके विपरीत चलने वाला अविनीत कहा जाता है। जैसे शास्त्राज्ञा को सम्मान न देना, गुरुजनों की परिचर्या में न रहना, तथा गुरुजनों की इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल आचरण करना, इत्यादि सब अविनीत शिष्य के लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थ बोध से रहित और पूज्य वृद्धजनों से शत्रुता रखना भी अविनीतता का प्रत्यक्ष स्वरूप है। तत्त्वार्थ बोध में षट् द्रव्य, नव तत्त्व, सप्त नय, सप्त भंग और चार प्रमाण आदि का समावेश है। यदि संक्षेप से कहें तो तीर्थंकरों की आज्ञा का विराधक और गुरुजनों के प्रतिकूल बर्ताव करने वाला शिष्य अविनीत कहा जाता है, जो कि अतिदूषित है।

अब इसी विषय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥४॥

यथा शुनी पूतिकर्णी, निःकास्यते सर्वतः।
एवं दुःशीलः प्रत्यनीकः, मुखारिः निःकास्यते ॥४॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे सुणी–कुत्ती पूइकन्नी–सड़े हुए कानों वाली निक्कसिज्जई–निकाली जाती है सव्वसो–सर्व स्थान से एवं–इसी प्रकार दुस्सील–दुराचारी पडिणीए–शत्रु मुहरी–मुखर–वाचाल निक्कसिज्जई–निकाला जाता है।

मूलार्थ—जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया घर आदि निवास योग्य स्थानों से निकाल दी जाती है उसी प्रकार गुरुजनों से शत्रुता रखने वाला, असम्बद्धप्रलापी और दुराचारी पुरुष भी गण संघ आदि से पृथक् कर दिया जाता है।

टीका—इस गाथा में जो दृष्टान्त दिया गया है वह स्वेच्छाचारी चारित्रभ्रष्ट अविनीत शिष्य के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। जैसे कोई एक कुतिया जिसके क्रिमि पड़े हुए हैं, सिर से पूय और रुधिर की धारा बह रही है, उसे कोई भी भद्र पुरुष अपने या अपने घर के समीप आने नहीं देता प्रत्युत समीप आती देख उसे दूर से ही भगा देता है, जैसे इस सड़ी हुई कुतिया के साथ होने वाले इस प्रकार के व्यवहार को हम प्रत्यक्ष रूप से संसार में देखते हैं ठीक इसी प्रकार का उचित व्यवहार लोक में उस व्यक्ति से होता है जो कि आचारभ्रष्ट होकर शास्त्रों और गुरुजनों की अवहेलना करता है। जैसे उस सड़ी हुई कुतिया को घर में रखने से दुर्गन्धादि के फैलने का भय रहता है उसी प्रकार उक्त आचारभ्रष्ट व्यक्ति के संसर्ग से भी अनेक प्रकार के उपद्रवों के आगमन की सम्भावना रहती है। एवं जिस प्रकार वह कुतिया गृह आदि निवास योग्य स्थानों में रखने लायक नहीं है ठीक उसी प्रकार स्वेच्छाचारी, गुरुजन-विद्वेषी और चारित्रभ्रष्ट अविनीत शिष्य भी संघ आदि में स्थान देने योग्य नहीं है। इसी लिये उक्त गाथा में पुरुषलिङ्ग का प्रयोग न करते हुए 'सुणी—शुनी' यह स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य अतीव जघन्य अर्थ का प्रकाश करना है, तथा शुनी के साथ पूतिकर्णी आदि जो विशेषण दिये गये हैं वे उसे अपने संसर्ग से पृथक् रखने में ही चरितार्थ हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'सव्वसो' में जो निन्दार्थसूचक शस् प्रत्यय का उपयोग किया है उसने तो उक्त भाव व्यक्ति में और भी चार चांद लगा दिये हैं। तात्पर्य कि अविनीत शिष्य उस शुनी के समान त्याग देने लायक है जिसके पूय और रुधिर आदि बह रहे हैं। यथा पूय और रुधिरादि बहने के कारण से शुनी का संसर्ग त्याज्य है ऐसे ही दुःशीलादि अपगुणों के निमित्त से अविनीत शिष्य का सम्बन्ध भी किसी प्रकार से उपादेय नहीं है।

दुष्ट पुरुष सद्गुणों का परित्याग कर अपगुणों में किस प्रकार से रमण करता है, इस रहस्य को निम्नलिखित गाथा मे दिखलाया जाता है—

कणकुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥५॥

कणकुण्डकं त्यक्त्वा, विष्ठां भुंक्ते शूकरः ।
एवं शीलं त्यक्त्वा, दुःशीले रमते मृगः ॥५॥

पदार्थान्वयः—सूयरे–शूकर कणकुंडगं–कण–चावलों के भाजन को चइत्ताणं–त्याग कर विट्ठं–विष्ठा को भुंजइ–खाता है एवं–इसी प्रकार मिए–मृग के समान अज्ञानी सीलं–शील–सुन्दर आचार को चइत्ताणं–त्याग करके दुस्सीले–दुराचार में रमई–रमण करता है ।

मूलार्थ—जिस प्रकार चावलों के भाजन को छोड़कर शूकर विष्ठा को ही खाता है इसी प्रकार मृगवत् अज्ञानी जीव शुद्ध आचार का परित्याग करके दुराचार में रमण करता है ।

टीका—शूकर प्राणी जैसे भक्षण योग्य चावलों से भरे हुए कुंड का परित्याग करके केवल विष्ठा के आहार से ही अपने शरीर को पुष्ट करता है ठीक इसी प्रकार मृग की भांति बोधरहित अज्ञानी जीव शास्त्रविहित और साधुजनानुमोदित सदाचार का परित्याग करके शिष्टजनविगर्हित कुत्सित आचार में ही प्रवृत्त होता है । यहां गाथा मे मृग शब्द का प्रयोग मूर्खता के अर्थ ज्ञापन में किया गया है । तात्पर्य कि जैसे मूर्खता के कारण मृग गीत आदि में मूर्च्छित होकर अपने निकटवर्ती मृत्यु के भय को नहीं देखता इसी प्रकार अविनीत आत्मा–जीव दुर्गति के भय की अवगणना करता हुआ दुराचार में ही रम जाता है ।

जैसे शूकर उत्तम और पुष्टि के देने वाले चावल आदि भोज्य पदार्थों की अवगणना करके विष्ठा आदि निकृष्टतम पदार्थों के सेवन में ही दत्तचित्त रहता है ऐसे ही अविनीत आत्मा ज्ञानदर्शन और चारित्र आदि सद्गुणों की आराधना का परित्याग करके अधमतम विषय विकारों में ही अहर्निश रमण

करता है। यहां पर ग्रन्थकार ने सदाचार को चावलों और कुत्सित आचार को विष्ठा से उपमित किया है। अतः अविनीत पुरुष को शूकर का सादृश्य देना ठीक ही है ताकि सुज्ञ पुरुष दुराचार को विष्ठा के समान समझ कर त्याग दें और सदाचार में रत होने का निरन्तर अभ्यास करे।

इस उपदेश के श्रवण के अनन्तर जिज्ञासु का जो कर्त्तव्य है उसका प्रतिपादन निम्नलिखित गाथा में किया जाता है—

सुणियाभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य।
विणए ठवेज्ज अप्पाणं, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥६॥

श्रुत्वाऽभावं शुनः, शूकरस्य नरस्य च।
विनये स्थापयेदात्मानम्, इच्छन् हितमात्मनः ॥६॥

पदार्थान्वयः—सुणिया–सुन करके अभावं–अफल साणस्स–कुतिया का सूयरस्स–शूकर का य–और नरस्स–पुरुष का विणए–विनय में ठविज्ज–स्थापन करे अप्पाणं–आत्मा को इच्छन्तो–चाहता हुआ हियं–हित अप्पणो–आत्मा का।

मूलार्थ—इस लोक तथा परलोक में अपने हित को चाहने वाला पुरुष कुतिया, सूअर और असम्बद्धप्रलापी मनुष्य के कुत्सित फल को सुनकर अपने आत्मा को विनय धर्म के अनुष्ठान में स्थापन करे।

टीका—रुधिर पूयस्रावयुक्त शुनी–कुतिया, विष्ठाभोजी शूकर और आचार-भ्रष्ट स्वेच्छाचारी पुरुष ये किसी स्थान पर भी सत्कार के भाजन नहीं बनते प्रत्युत हर एक स्थान पर इनका तिरस्कार ही होता है। इनकी इस दुर्दशा के कारण इनके विगर्हित आचरण हैं। इस प्रकार कुत्सित आचरणों की हीन फलता का विचार करके साधु पुरुष इनसे सदा पराङ्मुख रहकर अपने आत्मा को सदाचार युक्त विनय धर्म में ही स्थित करने का प्रयत्न करे, इसी में उसका ऐहिक तथा पारलौकिक हित है। यथा विनय से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र, चारित्र से मोक्ष और मोक्ष से निराबाध अनन्त सुख की प्राप्ति। इस प्रकार विनय धर्म में ही आत्मा के असीम सुख का मूल निहित है। यहां पर गाथा में जो

अभाव शब्द आया है उसमें नञ् समास कुत्सा के अर्थ में है और वह अशुभ फल के अर्थ का सूचक है जो कि अविनीत पुरुष के लिये उपयुक्त ही है।

तथा 'साणस्स' शब्द, जो कि षष्ठी विभक्ति 'शुन्याः' स्त्रीलिंग के स्थान में पुरुषलिंग के निर्देश में किया गया है, वह प्राकृत के बाहुल्य नियम के अनुसार किया गया है। प्राकृत में लिंग और विभक्ति व्यत्यय की बहुलता प्रायः रहती ही है।

अब विनय के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि—

तम्हा विणयमेसिज्जा, सीलं पडिलभेज्जओ।
बुद्धपुत्त नियागट्ठी, न निक्कसिज्जइ कण्हुई ॥७॥

तस्माद् विनयमेषयेत्, शीलं प्रतिलभेत यतः।
बुद्धपुत्रो नियागार्थी, न निःकास्यते कुतश्चित् ॥७॥

पदार्थान्वयः—तम्हा–इसलिये विणयं–विनय को एसेज्जा–करे जओ–जिससे सीलं–आचार को पडिलभे–प्राप्त करे नियागट्ठी–नियाग–मोक्ष को चाहने वाला बुद्धपुत्त–बुद्ध-आचार्य-पुत्र न–नहीं कण्हुई–किसी स्थान से भी निकसिज्जइ–निकाला जाता।

मूलार्थ—इसलिये भव्य पुरुष विनय का आचरण करे, जिससे कि उसे आचार की प्राप्ति हो। मोक्ष का अभिलाषी वह बुद्धपुत्र आचार्यशिष्य किसी स्थान से भी नहीं निकाला जाता।

टीका—सर्व प्रकार के सद्‌गुणों का आदि स्रोत विनय है। विनय के अनुष्ठान से ही शीलादि सदाचार की प्राप्ति होती है। विनीत शिष्य तत्त्ववेत्ता आचार्यों के समक्ष पुत्र के समान प्रिय बन जाता है। उसकी मोक्षविषयिणी अभिलाषा उसे हर एक स्थिति और स्थान में आदर का पात्र बना देती है। इसलिये विनय धर्म का आराधन करने वाला कभी और किसी दशा में भी तिरस्कार का भाजन नहीं बनता। अधिक क्या कहें, विनय धर्म साधु जीवन का प्राण है।

यहां पर अर्थतः बुद्ध नाम तत्त्ववेत्ता आचार्य का है और पुत्र शब्द शिष्य का बोधक है। आचार्य अथवा गुरुजनों की आज्ञा के अनुकूल वर्ताव करने वाला

शिष्य भी उनके निकट पुत्र ही है। शास्त्रकारों ने पुत्र और शिष्य में किसी प्रकार का भी अन्तर नहीं माना। इसलिये आचार्य और शिष्य पद का प्रयोग न करके उसके स्थान में बुद्धपुत्र वाक्य का ही प्रयोग ग्रन्थकार ने किया है जिससे कि शिष्य और पुत्र में अभेद का बोध बड़ी सरलता से हो सके। यहां पर 'नियागार्थी' के अर्थ 'नितरां यागः पूजा यस्मिन् स नियागो मोक्षस्तदर्थी' इस व्युत्पत्ति के द्वारा मोक्ष की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु के हैं। और 'एषयेत्' इस क्रिया पद का जो 'कुर्यात्' करे, अर्थ किया गया है वह 'अनेकार्था धातवो भवन्ति' इस व्यापक नियम के आधार पर है।

विनय के अनुष्ठान की विधि—

विनय का आचरण किस प्रकार करना चाहिये, यह नीचे दिखाते हैं—

निस्सन्ते सियामुहरी, बुद्धाणं अन्तिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥८॥

निःशान्तः स्यान्मुखारिः, बुद्धानामन्तिके सदा।
अर्थयुक्तानि शिक्षेत, निरर्थानि तु वर्जयेत् ॥८॥

पदार्थान्वयः—निस्संते-अतिशान्त सिया-होवे अमुहरी-असम्बद्धभाषी न होवे बुद्धाणं-आचार्यों के अंतिए-समीप में सया-सदा अट्ठजुत्ताणि-अर्थ युक्त पदों को सिक्खिज्जा-सीखे निरट्ठाणि-निरर्थक बातों को उ-वितर्क से वज्जए-त्याग दे।

मूलार्थ—स्वभाव से सदा शान्ति रक्खे, असम्बद्ध भाषण का परित्याग कर दे, सदा गुरुजनों के समीप में रहकर अर्थयुक्त पदों का ग्रहण करे और निरर्थक बातों का विचार करना छोड़ दे।

टीका—विनयशील शिष्य का धर्म है कि वह सदा शान्त रहे, कभी क्रोध न करे, विना विचार किये कभी न बोले, आचार्यों के समीप रहकर परमार्थ साधक तात्त्विक पदार्थों की शिक्षा ग्रहण करे और परमार्थशून्य पदार्थों के जानने के निमित्त अपने अमूल्य समय को न खोवे।

यहां पर इतना और भी समझ लेना चाहिये कि मूलगाथा में अर्थयुक्त

पद के ग्रहण और निरर्थक पद के त्याग का कथन किया गया है। सो यहां पर अर्थयुक्त सार्थक पद से तो परमार्थविधायक आगमादि धर्मशास्त्रों का ग्रहण है और निरर्थक पद से केवल लौकिक अर्थ के साधक वात्स्यायनादि रचित कामसूत्रादि ग्रन्थों के ग्रहण से तात्पर्य है।

अर्थात् गाथा में आया हुआ पद शब्द शास्त्र सामान्य का बोधक है। इसलिये मुमुक्षु पुरुष को केवल परमार्थ विषय से सम्बन्ध रखने वाले अध्यात्म शास्त्रों का ही गुरुजनों के निकट रहकर स्वाध्याय करने का उपदेश किया गया है और केवल ऐहिक विषयों का वर्णन करने वाले लौकिक ग्रन्थों के स्वाध्याय में समय यापन करने का निषेध है क्योंकि मुमुक्षु पुरुष के लिये इनमें जानने योग्य कोई महत्त्व का विषय नहीं है, परन्तु वास्तव में देखा जाय तो कोई भी पदार्थशास्त्र स्वयं सार्थक अथवा निरर्थक नहीं। पदार्थों की सप्रयोजनता और प्रयोजनशून्यता तो विचार करके अपने निजी भाव और योग्यता पर निर्भर है। कहीं सम्यग्दृष्टि–विवेकशील व्यक्ति द्वारा ग्रहण किया गया मिथ्यादर्शन शास्त्र भी सम्यग्दर्शन शास्त्र हो जाता है और मिथ्यादृष्टि—विवेकशून्य विचारविधुर-परिगृहीत सम्यग्दर्शन-शास्त्र भी मिथ्या-दर्शन-शास्त्र बन जाता है। एवं भाव के अनुसार ही कहीं पर आश्रव संवर का स्थान ग्रहण कर लेता है और संवर आश्रव हो जाता है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये मूलगाथा में 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका वितर्कगम्य तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु पुरुष का जिससे अपना अभीष्ट सिद्ध हो उसी शास्त्र का वह पठन पाठन करे और जिसके पठन पाठन से उसका अपना कोई प्रयोजन फलीभूत न हो सके उसके विचार मे वह अपने अमूल्य समय को न खोवे।

पदार्थ शिक्षण प्रकार—

अब गुरुजनों के समीप बैठकर जिस विधि से पदार्थों का ग्रहण करना विनीत शिष्य के लिये उचित है, उसका वर्णन निम्नलिखित गाथा में किया जाता है। यथा—

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खांतिं सेविज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए॥९॥

अनुशासितो न कुप्येत्, क्षांतिं सेवेत पण्डितः।
क्षुद्रैः सह संसर्गं, हास्यं क्रीडां च वर्जयेत् ॥९॥

पदार्थान्वयः—अणुसासिओ–शिक्षित किया गया न कुप्पेज्जा–कोप न करे खांतिं–क्षमा को सेवेज्ज–सेवन करे पंडिए–पंडित खुड्डेहिं–क्षुद्रों–पतित आचार वालों के सह–साथ संसग्गिं–संसर्ग को हासं–हास्य को च–और कीडं–क्रीड़ा को वज्जए–छोड़ देवे।

मूलार्थ—पण्डित जन—विनयशील शिष्य गुरुओं के द्वारा शिक्षा—ताड़ना मिलने पर भी क्रोध न करे किन्तु क्षमा को सेवन करे तथा क्षुद्रजनों का संसर्ग और उनसे हास्य क्रीड़ादि न करे।

टीका—बुद्धिमान् शिष्य को यही उचित है और इसी में उसकी भलाई है कि गुरुजनों से सीखे हुए पदार्थ को प्रमादवश यदि वह भूल जाय और भूल जाने से अशुद्ध पढ़ने लग जाय, यह देख गुरु महाराज उसको कोमल अथवा कठोर शब्दों के द्वारा ताड़ना करें तो गुरुजनों की इस हितशिक्षारूप ताड़ना के उत्तर में वह उन पर किसी प्रकार का क्रोध न करके अपने आपको अविनीत न बनावे और न अपने आत्मा में किसी प्रकार की ग्लानि को स्थान दे, किन्तु हित बुद्धि से दी गई गुरुजनों की इस समुचित शिक्षा को बड़ी नम्रता से और शान्तिपूर्वक ग्रहण करके अपनी भूल को सुधारने का प्रयत्न करे तथा बालक और पतित जनों के सहवास में कभी न आवे और न उनसे किसी प्रकार का हास्य तथा क्रीड़ादि व्यापार करे, क्योंकि उनके संसर्ग में आने से अपनी अन्तर्मुख आत्मवृत्ति में शिथिलता आने की सम्भावना है। इसलिये जिन पतित व्यक्तियों के साथ हास्य क्रीड़ादि द्वारा अधिक सहवास में आने से अपने आत्मा में धर्मपथ से भ्रष्ट होने की आशंका हो उनका सहवास दूर से ही त्याग देना उचित है।

यहां पर शिष्य को प्रमाद करने के कारण गुरुजनों द्वारा दी गई ताड़ना रूप शिक्षा के उत्तर में उन पर कुपित न होने का जो उपदेश दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि क्रोध से विद्या और बुद्धि दोनों का नाश हो जाता है तथा क्रोधी पुरुष की विद्या कभी सफल नहीं होती। इसलिये विनीत शिष्य को उचित

है कि वह क्रोध से अपने आत्मा को सदा अलग रक्खे तथा हास्य, क्रीड़ा और जघन्य पुरुषों का संसर्ग भी विद्या प्राप्ति में विघ्नरूप ही है इसलिये विनीत शिष्य को इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

गुरुजनों का उपदेश—

मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे ।
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाइज्ज एगगो ॥१०॥

मा च चाण्डालिकं कार्षीः, बहुकं मा चालपेत् ।
कालेन चाधीत्य, ततो ध्यायेदेककः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—हे शिष्य ! मा–मत य–च–समुच्चय चंडालियं–क्रोध के वश होकर झूठ कासी–बोल य–और मा–मत बहुयं–बहुत आलवे–बोल य–और कालेण–काल के प्रमाण मे अहिज्जित्ता–पढ़कर तओ–उसके पश्चात् झाइज्ज–ध्यान कर एगगो–एक होकर ।

मूलार्थ—हे शिष्य ! क्रोध के वश में आकर तू झूठ मत बोल और बहुत मत बोल किन्तु काल के प्रमाण से अध्ययन करने के पश्चात् एक होकर उसका ध्यान कर ।

टीका—गुरु शिष्य को उपदेश करते हैं कि वह क्रोध और लोभ आदि के वशीभूत होकर कभी झूठ न बोले क्योंकि मृषावाद का आचरण साधु के लिये हर प्रकार से निन्दनीय है। झूठ बोलने से मनुष्य सभी के अविश्वास का पात्र बन जाता है, इसलिये असत्य भाषण का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

विना प्रयोजन के अधिक बोलना भी किसी प्रकार से उचित नही क्योंकि अधिक बोलने से ध्यान में, अध्ययन और अध्यापन में विघ्न पड़ता है, तथा अधिक बोलने से क्लेश और बहिर्मुखता बढ़ती है । इसलिये विना प्रयोजन प्रमाण से अधिक अमर्यादित भाषण कभी नहीं करना चाहिये । एवं पठन पाठन भी काल की मर्यादा के अनुसार ही करना चाहिये अर्थात् दिवस के प्रथम भाग में पढ़कर उसके पश्चात् द्रव्य और भाव से एकाकी होकर उसका चिन्तन करना

चाहिये। द्रव्य से अकेला होना तो स्त्री, पशु और नपुंसकादि से रहित स्थान में बैठना है और भाव से राग द्वेषादि से रहित होना है। तात्पर्य कि दिवस के आद्य भाग में गुरुजनों से शास्त्र को पढ़कर बाद में राग द्वेष रहित होकर एकान्त स्थान में बैठकर उस पढ़े हुए का चिन्तन करना चाहिये। इस गाथा में अकृत्य का त्याग और कृत्य के सेवन का उपदेश दिया गया है जो कि मुमुक्षु के लिये परम हितकर है। तथा 'वद्' धातु के स्थान में 'कृ' धातु के प्रयोग से जो काम चलाया है, वह 'धातूनामनेकार्थत्वात्' इस नियम के आधार पर है।

शिष्य से यदि क्रोधादि के वशीभूत होकर कभी झूठ बोला जाय तो फिर उसका क्या कर्तव्य है, इस विषय को निम्नलिखित गाथा में वर्णन किया जाता है—

आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि।
कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य ॥११॥

आहत्य[1] चाण्डालिकं कृत्वा, न निह्नुवीत कदापि च।
कृतं कृतमिति भाषेत, अकृतं नो कृतमिति च ॥११॥

पदार्थान्वयः—आहच्च–कदाचित् चंडालियं कट्टु–क्रोध के वशीभूत होकर असत्य बोल दे तो उसे न निन्हविज्ज–न छिपावे कयाइवि–कदाचित् भी कडं–किये हुए को कडे–किया है त्ति–इस प्रकार य–और अकडं–नहीं किये हुए को नो–नहीं कडे–किया है त्ति–इस प्रकार भासेज्जा–भाषण करे।

मूलार्थ—कदाचित् क्रोध के वशीभूत होकर असत्य भाषण किया गया हो तो गुरुजनों के पूछने पर उसे कदाचित् भी छिपावे नहीं किन्तु किया हो तो कह दे कि मैंने किया है और यदि न किया हो तो कह दे कि मैंने नहीं किया।

टीका—क्रोध लोभादि के वशीभूत होकर कदाचित् असद् भाषण का हो जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। ऐसा प्रायः हो ही जाता है कि विवेकी पुरुष भी कभी क्रोध अथवा लोभ आदि के वश में आकर झूठ बोलने के लिए बाध्य हो जाता है परन्तु ऐसा होने पर भी विनीत शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह उसे

१ कदाचिच्च इत्यपि छाया पुस्तकान्तरे।

छिपाने की कोशिश हरगिज़ न करे, गुरुजनों के पूछने अथवा न पूछने पर तथा किसी अन्य व्यक्ति के देखने अथवा न देखने पर भी वह उसे गुप्त न रक्खे। यदि उसने असद् भाषण किया है तो स्पष्ट शब्दों में कह दे कि मैंने किया है। और यदि उसने असत्य न बोला हो तो कह दे कि मैंने असत्य नहीं बोला। तात्पर्य कि किसी समय क्रोधादि कषायों के वश में आ जाने पर भी अपनी सत्यनिष्ठा से न गिरे। इसी आचरण में उसके आत्मिक सद्गुणों का उज्ज्वल विकास है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने से होने वाले असद् भाषण को किन्हीं लज्जा, भय आदि के कारण से छिपाने का प्रयत्न करता है वह तो मायावी बन कर आत्मा को और भी अधिक कलुषित करता है। इसलिये वही आत्मा शूरवीर हैं जो कि किसी बलवान् निमित्तवश से हो जाने वाले अपने अपराध की स्वीकृति मे जरा भी संकोच नहीं करते, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

गुरुजनों के उपदेशानुसार शिष्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति किस प्रकार से होनी चाहिये, अब इस बात का वर्णन नीचे की गाथा में किया जाता है—

मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए ॥१२॥

मा गलिताश्व इव कशं, वचनमिच्छेत् पुनः पुनः।
कशामिव दृष्ट्वाऽऽकीर्णः, पापकं परिवर्जयेत् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—कसं–चाबुक को गलियस्सेव–गलित घोड़े की तरह वयणं–गुरुओं के वचन को मा–न इच्छे–चाहे कसं–चाबुक को दट्ठुं–देखकर व–जैसे आइण्णे–विनयवान् घोड़ा पावगं–दुष्ट मार्ग को छोड़ देता है तद्वत् परिवज्जए–छोड़ देवे।

मूलार्थ—जैसे दुष्ट घोड़ा चाबुक को बार २ चाहता है वैसे विनीत शिष्य गुरुओं के वचनों को बार २ न चाहे किन्तु जैसे विनीत घोड़ा चाबुक को देखकर ही दुष्ट मार्ग को छोड़ देता है उसी प्रकार विनयशील शिष्य भी गुरुजनों की दृष्टि आदि को देखकर अपनी दुष्ट प्रवृत्ति को छोड़ दे।

टीका—अड़ियल घोड़ा अपने स्वामी की इच्छानुसार सीधे मार्ग पर न चलने के कारण वार वार चाबुक की मार खाता है और विनीत घोड़ा चाबुक को देखते ही अपने स्वामी की इच्छानुसार सुमार्ग—अभीष्ट मार्ग की ओर चलने लग पड़ता है। इसी प्रकार विनीत शिष्य को चाहिये कि वह कुमार्गगामी उस दुष्ट घोड़े की तरह अपने गुरुजनों को वार २ उपदेश देने के लिये वाधित न करे किन्तु सुमार्गगामी उस विनीत घोड़े की तरह अपने गुरुजनों की भावसूचक अंगचालनादि रूप मूक चेष्टा से ही अपनी दुष्ट प्रवृत्ति को सुधार ले। इसी में उसके विनय धर्म की शोभा है।

इस गाथा में उपमा अलंकार का चित्र वड़ी ही सुन्दरता से खींचा गया है। जैसे विनीत घोड़ा अपने स्वामी के आदेशानुसार चलने से अभीष्ट स्थान पर पहुंच जाता है उसी प्रकार गुरुजनों की आज्ञा का पालन करता हुआ विनयशील शिष्य भी अपने अभीष्ट स्थान—मोक्ष मन्दिर तक पहुंच जाता है। यहां पर घोड़े के समान शिष्य, चाबुक के समान वचन और मार्ग के समान मोक्ष मार्ग को समझना चाहिये तथा दुष्ट घोड़े के सदृश तो कुशिष्य है और विनीत घोड़े के सदृश सुशिष्य को समझें। इसके सिवा अविनीत शिष्य के लिये चाबुक के आघात के समान तो गुरुजनों के आदेश रूप वार २ के वचन हैं और विनीत शिष्य के लिये चाबुक के देखने के समान उनकी भावसूचक अंगचेष्टा है।

सारांश यह है कि जैसे सुशील घोड़ा अपने स्वामी के आदेश का पालन करता हुआ स्वयं सुखी रह कर अपने स्वामी को भी सुख पहुंचाता है, इसी प्रकार गुरुजनों के उपदेशानुसार चलने वाला विनीत शिष्य भी अपनी आत्मा में किसी विलक्षण सुख का अनुभव करता हुआ अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति से गुरु-जनों को भी प्रसन्न कर लेता है।

अब विनीत और अविनीत शिष्य के गुणदोषों का विचार निम्नलिखित गाथा में किया जाता है—

अणासवा थूलवया कुसीला,
मिउंपि चण्डं पकरंति सीसा।

चित्ताणुया लहुदक्खोववेया,
पसायए ते हु दुरासयंपि ॥१३॥

अनाश्रवाः स्थूलवचसः कुशीलाः,
मृदुमपि चण्डं प्रकुर्वते शिष्याः ।
चित्तानुगाः लघुदाक्ष्योपपेताः,
प्रसादयेयुस्ते खलु दुराश्रयमपि ॥१३॥

पदार्थान्वयः—अणासवा–वचन के न मानने वाले थूलवया–विना विचारे बोलने वाले कुसीला–कुत्सित आचार वाले सीसा–शिष्य मिउंपि–कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी चंडं–क्रोधी पकरंति–बना देते हैं गुरु के चित्ताणुआ–चित्त के अनुसार चलने वाले लघु–शीघ्र कार्य करने वाले दक्ख–चतुर उववेया–गुणों से युक्त पसायए–प्रसन्न करते हैं ते–वे शिष्य हु–फिर दुरासयंपि–अतिक्रोधी गुरु को भी ।

मूलार्थ—गुरु के वचन को न मानने वाले, विना विचारे बोलने वाले, खोटे आचार वाले कुशिष्य कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं तथा गुरु के चित्त के अनुसार चलने वाले शीघ्र कार्य करने वाले चतुर शिष्य क्रोधी गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं ।

टीका—इस गाथा में अविनीत और विनयशील शिष्य के आचरणों का गुरुजनों के चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है उसी का दिग्दर्शन कराया गया है। जिनकी गुरुओं के वचनों पर आस्था नहीं और जो विना विचार किये बोलते हैं तथा कुत्सित आचरण रखते हैं ऐसे कुशिष्य भद्र प्रकृति वाले गुरुजनों को भी क्रोध करने के लिये विवश कर देते हैं । क्योंकि विना विचार किये बोलने वाले और बार २ मना करने पर भी अपनी कुप्रवृत्तियों को न बदलने वाले शिष्य के प्रतिकूल व्यवहार को देखकर शान्त पुरुष को भी क्रोध आ जाना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है । इसके विपरीत गुरुओं की इच्छानुसार बर्ताव करने वाले, उनके वचनों पर आस्था रखने वाले, उनके इशारे पर ही अविलम्ब रूप से कार्य करने

वाले परम चतुर शिष्य कठिन प्रकृति के क्रोधी गुरु को भी सरल और शान्त बना देने में सिद्धहस्त होते हैं। बड़ी कठिनता से क्रोध का त्याग करने वाले गुरु को सरल और शान्त बना देने में ही विनीत शिष्य की योग्यता का अधिक महत्त्व है। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि शिष्य के आचरणों का अच्छा या बुरा प्रभाव गुरुजनों के चित्त पर अवश्य पड़ता है।

इसके अतिरिक्त इस गाथा के भाव का बारहवीं गाथा से भी मेल खाता है। जैसे दुष्ट घोड़ा अपनी कुचेष्टा से स्वामी के शान्त स्वभाव में भी विकृति पैदा करके उसे अशान्त बना देता है इसी प्रकार अयोग्य शिष्य के प्रतिकूल व्यवहार से सदा शान्त रहने वाले गुरुजन भी क्रोध में आकर अशान्त बन जाने के लिये विवश हो जाते हैं तथा चतुर और विनीत शिष्य भले घोड़े की तरह अपने गुरुजनों को लुभाते हैं अर्थात् जैसे सुशील घोड़ा अपने स्वामी के कठिन हृदय को भी अपने भद्र आचरण से अपनी ओर खींच लेता है इसी प्रकार बुद्धिमान् शिष्य भी अपने कठोर हृदय के गुरुजनों के चित्त में बैठकर उन्हें सदा के लिये सरल और शान्त बना देते हैं।

शास्त्रकारों का विनीत शिष्य के लिये यह उपदेश है कि वह अपने गुरुजनों के चित्त को सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे, अपनी तमाम चर्या को वह उनके चित्त के अनुकूल रक्खे, और भूल कर भी वह ऐसा कोई प्रतिकूल आचरण न करे जिससे कि उसके गुरुजनों के अन्तःकरण में किसी प्रकार का आघात पहुंचे। इसी में इसके शिष्यभाव की सार्थकता है। विनीत शिष्य के विशुद्ध आचरणों का प्रभाव गुरुजनों के अतिरिक्त उसके निकटवर्ती अन्य व्यक्तियों पर भी पड़ता है। उसके कारण अन्य व्यक्तियों के जीवन में भी आशातीत परिवर्तन हो जाता है। इसलिये अविनीतता का परित्याग करके विनयशील बनना ही मुमुक्षु के जीवन का प्रधान लक्ष्य है।

अब गुरुजनों के चित्तानुवर्ती होने की विधि बतलाते हैं—

नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं॥१४॥

नापृष्टो व्यागृणीयात् किंचित्, पृष्टो वा नालीकं वदेत्।
क्रोधमसत्यं कुर्यात्, धारयेत् प्रियमप्रियम् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—अपुट्ठो–विना बोलाये किंचि–किंचित् मात्र भी न–न वागरे–बोले वा–अथवा पुट्ठो–पूछा हुआ अलियं–झूठ न वए–न बोले कोहं–क्रोध को असच्चं–असत्य–निष्फल कुव्वेज्जा–करे पियं–प्रिय वचन और अपियं–अप्रिय वचन को धारेज्जा–धारण करे।

मूलार्थ—विना बोलाये थोड़ा भी न बोले, और बोलाने पर झूठ कभी न बोले, क्रोध को निष्फल बना देवे तथा प्रिय और अप्रिय वचनों को धारण करे।

टीका—इस गाथा में शिष्य के लिये यह शिक्षा दी गई है कि वह विना बोलाये थोड़ा सा भी न बोले, और यदि किसी बात पर उसे बोलाया जाय तो वह झूठ कभी न बोले। गुरुजनों के किसी तिरस्कारयुक्त वचन को सुनकर वह अपने मन में क्रोध न लावे। यदि किसी कारणवशात् क्रोध आ भी जाय तो उसे फलप्रद न होने दे अर्थात् क्रोध के कटु फल का विचार करते हुए उसे निष्फल बना दे। यथा—क्रोध से मन में परिताप पैदा होता है, क्रोध से उद्वेग की वृद्धि होती है, क्रोध वैर का हेतु है तथा क्रोध से सुगति का नाश और दुर्गति की प्राप्ति होती है। इसलिये क्रोध सर्वथा हेय है। इसी प्रकार मान, माया और लोभ आदि कषायों को भी उक्त विचारसरणि से निष्फल बनाने का प्रयत्न करे। जिस प्रकार विचारप्रवण अन्तर्मुख वृत्ति से क्रोध आदि कषायों को निष्फल बनाया जा सकता है उसी प्रकार अपनी शान्त धारणा से समता को ग्रहण करता हुआ राग द्वेष से रहित होने का प्रयत्न करे। जिसके अन्तःकरण में समतादेवी का साम्राज्य होता है, उसके लिये निन्दा और स्तुति दोनों समान कक्षा में आ जाते हैं। वह अपने विषय में किसी के स्तुतियुक्त वचनों को सुनकर प्रसन्न नहीं होता और निन्दासूचक शब्दों से किसी पर द्वेष नहीं लाता।

इसके अतिरिक्त विनीत शिष्य का दूसरा कर्तव्य यह बतलाया है कि वह गुरुजनों के प्रिय अथवा अप्रिय वचनों को सुनकर मन में किसी प्रकार की

प्रसन्नता अथवा क्षुब्धता पैदा न करे किन्तु उनके प्रिय तथा अप्रिय वचनों को अपने लिये नितान्त पथ्य समझ कर उनको अपने हृदय मे शान्तिपूर्वक स्थान देवे। तात्पर्य कि गुरुजनों के प्रिय तथा अप्रिय वर्ताव में किसी प्रकार का अन्तर न समझता हुआ अपने लिये दोनों को ही परम हितकर समझे, यही उसकी विनयशीलता की सच्ची कसौटी है। यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि उक्त गाथा मे शिष्य को 'विना बोलाये कभी बोलना न चाहिये' यह उपदेश केवल उत्सर्ग मार्ग को लेकर के दिया गया है और अपवाद मार्ग में तो जिस विषय पर बोलने से अपने गुरुजनों का महत्त्व बढ़ता हो और जो भाषण धर्म वृद्धि मे अधिक सहायक हो तथा जिस भाषण से किसी संदिग्ध धार्मिक तत्त्व की अधिक स्पष्टता होती हो ऐसे स्थान मे तो विना पूछे भी वार्तालाप करने की शास्त्रों मे कहीं मनाही नहीं प्रत्युत शिष्टजनों तथा शास्त्रप्रेमियों की दृष्टि में तो यह भाषण और भी अधिक महत्त्व का स्थान रखता है।

आत्मदमन और उसका फल—

क्रोध आदि की निष्फलता का आधार आत्मा के दमन पर है इसलिये प्रथम उसी का वर्णन किया जाता है—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥१५॥

आत्मा चैव दमितव्यः, आत्मैव खलु दुर्दमः।
आत्मा दान्तः सुखी भवति, अस्मिँल्लोके परत्र च ॥१४॥

पदार्थान्वयः—अप्पा-आत्मा च-पुनः एव-निश्चय ही दमेयव्वो-दमन करना चाहिये अप्पा-आत्मा हु-ही खलु-निश्चय से दुद्दमो-दुर्जेय है अप्पा दंतो-दमन किया हुआ आत्मा सुही-सुखी होइ-होता है अस्सिं-इस लोए-लोक में य-और परत्थ-परलोक में।

मूलार्थ—प्रथम अपने आत्मा का ही दमन करना चाहिये। आत्मा ही दुर्जय है। यह मनुष्य इस लोक और परलोक में आत्मा के दमन से ही सुखी होता है।

टीका—यहां पर ग्रन्थकार को आत्मा शब्द से मन और इन्द्रियों का ग्रहण अभीष्ट है। इसलिये इन्द्रिय और मन के दमन को ही आत्मदमन कहा गया है। आत्मा में रागद्वेषादि के जो भाव पैदा होते हैं, उनका कारण भी विपयोन्मुख मन और चक्षुरादि इन्द्रियां ही हैं। इन्हीं के वशीभूत होकर यह आत्मा उन्मार्ग को चलने लग पड़ता है। इसलिये सब से पहले मुमुक्षु जीव को इन्हीं का दमन करना चाहिये। प्रथम इन्हीं को वश में लाने का प्रयत्न करना चाहिये। यही आत्म दमन है, इसी को दूसरे शब्दों में आत्मस्वाधीनता कहते हैं। आत्मा के दमन से अथवा यों कहिये कि इन्द्रियों के निग्रह से यह जीव इस लोक तथा परलोक दोनो में ही विलक्षण सुख का भागी होता है। आत्मसंयमी अथवा इन्द्रियनिग्रही पुरुप की मनुष्य तो क्या देवता आदि भी पूजा करते हैं और परलोक स्वर्ग तथा मोक्ष का सुख तो आत्मदमन के विना असम्भव ही है। इसलिये ऐहिक तथा पारलौकिक सुख के अभिलाषी को सब से प्रथम आत्मदमन—इन्द्रियनिग्रह करने का प्रयत्न करना चाहिये। आत्मदमन अथवा मनोनिग्रह के विना आत्मसुख की कथा तो दूर रही, संसार का भी कोई पूर्ण सुख इस जीव को प्राप्त नहीं होता क्योंकि अदान्तात्मा इन्द्रियों के वशीभूत होने से सदा पराधीनता की ही वेड़ियों से जकड़ा रहता है। इसलिये उसके सुख के साधन भी परिणाम में दुःख के हेतु बन जाते हैं। अतः इन्द्रियों के वश में होना दुःख अथवा पराधीनता है और उनको अपने वश में करना सुख और स्वाधीनता है। यद्यपि आत्मा के सर्व प्रकार के अभ्युदय मन्दिर की आधार शिला इन्द्रियदमन अथवा मनोनिग्रह है तथापि इन्द्रिय अथवा मन को दमन करना कोई साधारण सी बात नहीं है। इसके समान दुःसाध्य कार्य लोक में दूसरा कोई नहीं। वे महापुरुप धन्य है, जिन्होंने अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर रक्खा है। आत्मनिग्रह जैसे दुष्कर कार्य की सिद्धि करने वाला सहस्रों व्यक्तियों में कोई विरला ही महानुभाव निकलता है। इसलिये सर्वतोभावेन आत्मदमन की ओर ही विनीत शिष्य की प्रवृत्ति करनी चाहिये। इसी मे उसका कल्याण निहित है।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि गाथा में 'हु' शब्द 'एव' के अर्थ मे और 'खलु' अव्यय हेत्वर्थक है।

आत्मदमन का उपाय—

अब आत्मदमन में मुमुक्षु पुरुष की भावना को दिखलाते हैं—

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ॥१६॥

वरं मयात्मा दान्तः, संयमेन तपसा च।
माऽहं परैर्दमितः, बन्धनैर्वधैश्च ॥१६॥

पदार्थान्वयः—वरं-अच्छा हुआ मे-मैंने संजमेण-संयम से य-और तवेण-तप से अप्पा दंतो-आत्मा का दमन किया अहं-मुझे परेहिं-औरों के द्वारा बंधणेहिं-बन्धनों य-और वहेहि-वधों से दम्मंतो-दमन करवाना मा-मत हो।

मूलार्थ—अच्छा हुआ जो कि मैंने संयम और तप के द्वारा स्वयं ही आत्मा का दमन कर लिया। वध और बन्धनों के द्वारा औरों से आत्मदमन करवाना मुझे उचित नहीं है।

टीका—इस गाथा में जो कुछ लिखा गया है उसका भाव यह है कि द्वादशविध तप और पंचविध आश्रव-निरोध रूप संयम के अनुष्ठान से जो आत्मनिग्रह (मन और इन्द्रियों पर पूरा काबू पाना) किया गया है, वही सच्चा आत्मदमन है। इसी से आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों की स्वच्छन्दता सर्वथा नष्ट हो जाती है । मन और इन्द्रियां विनीत अनुचरों की भांति संयमी आत्मा की आज्ञा के विरुद्ध जरा भी इधर उधर नहीं होने पातीं ; संयमी पुरुष का मन रसायन विधि के द्वारा पक्ष छेदन किये हुए पारद की तरह अपनी नैसर्गिक चंचलता को सदा के लिये छोड़ देता है। मन के स्थिर होने पर उसकी आज्ञा में चलने वाली इन्द्रियां भी अपने स्वेच्छाचार को त्याग देने के लिये विवश हो जाती हैं। इस प्रकार मन और इन्द्रियों की चंचलता विषयोन्मुख प्रवृत्ति के नष्ट हो जाने से तन्मूलक आत्मा की जो रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति है उसमें भी स्थिरता, समता और उज्ज्वलता का प्रवेश हो जाता है। इससे संयमी आत्मा उन्मार्गगामी बनने के स्थान में केवल सन्मार्ग का ही उत्तरोत्तर

अनुसरण करता चला जाता है। इसलिये संयम और तप के द्वारा ही सच्चा आत्मदमन अथवा इन्द्रियनिग्रह हो सकता है।

इसके विपरीत बलात्कार से जो इन्द्रियों का निग्रह करना है, वह वास्तव में आत्मनिग्रह नहीं है क्योंकि इसमें मन की स्वाभाविक विकृति–चंचलता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। इसी लिये इसमें आत्मिक शान्ति का सर्वथा अभाव रहता है। वध–ताड़ना और बन्धन के द्वारा मनुष्य की शारीरिक चेष्टा कदाचित् रुक सकती है किन्तु उसकी अभ्यन्तर की मानसिक वृत्ति पर इन बन्धनादिकों का कोई असर नहीं होता। इसलिये वधबन्धनादि के द्वारा किया गया आत्मदमन सर्वथा निष्प्रयोजन और निर्जीव मूर्ति के समान है। उससे न इन्द्रियों का निग्रह ही होता है और न आत्मा की रागद्वेषात्मक भावपरिणति में ही कोई अन्तर पड़ता है। उक्त गाथा में 'दमित्तः' का स्थानापन्न जो 'दम्मंतो' शब्द है, उसकी नियुक्ति आर्ष समझनी चाहिए।

अब विनयाचार के विषय मे लिखते हैं—

पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइवि ॥१७॥

प्रत्यनीकं च बुद्धानां, वाचाऽथवा कर्मणा।
आविर्वा यदि वा रहसि, नैव कुर्यात् कदापि च ॥१७॥

पदार्थान्वयः—च–और बुद्धाणं–आचार्यों की पडिणीयं–प्रतिकूलता वाया–वचन से अदुव–अथवा कम्मुणा–कर्म से आवी–प्रत्यक्ष वा–अथवा जइ वा–यदि फिर रहस्से–एकान्त में नेव–नहीं कुज्जा–करे कयाइवि–कदाचित् भी।

मूलार्थ—योग्य शिष्य–लोगों के समक्ष अथवा एकान्त में मन, वचन और शरीर से आचार्यों के प्रतिकूल आचरण कदाचित् भी न करे।

टीका—शिष्य को उचित है कि वह अपने आचार्यों—गुरुजनों की लोगों के समक्ष और परोक्ष में भी मन, वचन और काया इन तीनों के द्वारा कभी अविनय न करे। जैसे—

आचार्यों पर आन्तरिक प्रेम न रखना मानसिक अविनय है। वचनों के द्वारा उनकी भर्त्सना करनी वाचिक अविनय है। यथा—तुम क्या जानते हो, तथा लोगों में उनके विरुद्ध बोलते हुए यह कहना कि मैंने तो इनको पढ़ाया हुआ है, इत्यादि और गुरुजनों के आसन आदि को उनकी आज्ञा के विना स्पर्श करना, उनके निजी उपकरणों की आशातना करना आदि कायिक अविनय कहलाता है। सारांश यह है कि शिष्य अपने गुरुजनों—आचार्यों के प्रतिकूल मन, वाणी और शरीर से ऐसा कोई भी आचरण न करे, जिससे कि आचार्यों का उसके ऊपर किसी प्रकार का असद्भाव पैदा हो। गाथा में आये हुए 'बुद्ध' के अर्थ तत्त्ववेत्ता आचार्य और गुरु के हैं, उनका अविनय कदापि न करना चाहिये।

अब केवल कायिक अविनय का वर्णन करते हैं—

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे ॥१८॥

न पक्षतो न पुरतः, नैव कृत्यानां पृष्ठतः।
न युञ्जीतोरुणोरुं, शयने नो प्रतिशृणुयात् ॥१८॥

पदार्थान्वयः—किच्चाणं—आचार्यों के न—न पक्खओ—पक्ष से न पुरओ—न आगे से नेव—नहीं पिट्ठओ—पीठ करके बैठे न जुंजे—न जोड़े ऊरुणा—गोडे से ऊरुं—गोडा सयणे—शय्या में बैठा हुआ नो पडिस्सुणे—गुरु के वाक्य को न सुने।

मूलार्थ—आचार्यों के पासे के साथ पासा जोड़कर न बैठे, आगे न बैठे, पीठ करके न बैठे और उनके गोड़े के साथ गोड़ा जोड़कर न बैठे तथा शय्या में बैठा हुआ उनकी वाणी को न सुने।

टीका—इस गाथा का तात्पर्य यह है कि शिष्य गुरुजनों के बराबर के आसन पर न बैठे क्योंकि इससे उनका अविनय होता है, तथा उनके आगे भी न बैठे। आगे बैठने से गुरुजनों के वन्दनार्थ आने वालों को उनके दर्शन में बाधा पहुंचने की आशंका रहती है। एवं गुरुजनों की ओर पीठ करके भी न बैठे। ऐसा करना तो प्रत्यक्ष ही अविनय है और आचार्यों के गोड़े के साथ गोड़ा जोड़कर

भी न बैठना चाहिये क्योंकि इससे देखने वालों के मन में असद्भाव पैदा होने की सम्भावना रहती है और गुरुजनों के महत्त्व में भी न्यूनता आती है। इसके सिवाय अपनी शय्या में पड़े रहकर ही गुरुओं के वचन को सुनने और सुनकर उत्तर देने की भी चेष्टा न करे किन्तु उनके वचन को सुनकर उसी समय अपनी शय्या से उठे और गुरुजनों के समीप आकर उनकी वाणी को सुने और बड़े विनीत भाव से उनके आदेश का पालन करे।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिण्डं च संजए।
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए ॥१९॥

नैव पर्यस्तिकां कुर्यात्, पक्षपिण्डं च संयतः।
पादौ प्रसार्य वापि, न तिष्ठेद् गुरूणामन्तिके ॥१९॥

पदार्थान्वयः—पल्हत्थियं—पर्यस्तिका—जंघोपरि वस्त्र वेष्टन रूप पाल नेव—न कुज्जा—करे च—तथा पक्खपिंडं—दोनों भुजाओं को जंघोपरि रख कर न बैठे संजए—संयत पाए—पांव पसारिए—पसार करके वा—अथवा वि—और भी अविनय-सूचक आसन आदि से गुरुणंतिए—गुरुओं के समीप न चिट्ठे—न बैठे।

मूलार्थ—शिष्य गुरुओं के समीप पर्यस्तिका—जंघोपरि वस्त्र वेष्टन रूप पाल—करके न बैठे, अथवा अपनी दोनों भुजाओं को जांघों पर रखकर न बैठे, तथा पांव पसार कर न बैठे और संयत शिष्य इसी प्रकार के और भी अविनय सूचक आसनादि से गुरुओं के निकट न बैठे।

टीका—इस गाथा में शरीर द्वारा होने वाले गुरुजनों के अविनय का दिग्दर्शन कराया गया है। ग्रन्थकार शिष्य की उन शारीरिक चेष्टाओं का निषेध करते हैं, जिनके द्वारा गुरुजनों का अपमान सूचित हो। इसलिये शिष्य को अपने गुरुजनों के समक्ष पर्यस्तिका करके बैठने, भुजाओं से अपनी जांघों को वेष्टित करके बैठने और गुरुओं के आगे पैर फैलाकर बैठने आदि का निषेध किया गया है; क्योंकि ये सभी व्यापार गुरुजनों की अवज्ञा के सूचक हैं अतः शिष्य को इन सब

का परित्याग कर देना चाहिये। यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिये कि इस अशिष्ट व्यवहार का उपदेश केवल दीक्षित शिष्य के ही लिये नहीं है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को गुरुजनों के साथ इस प्रकार के अशिष्ट व्यवहार का त्याग करना उचित है। यदि इस सारी गाथा के भाव का संक्षेप में वर्णन करे तो इतना ही है कि गुरुजनों के समीप जिस आसन से बैठने पर उनका अविनय सूचित हो और सभा आदि मे जिस आसन के द्वारा अपनी अयोग्यता साबित हो उस आसन का मुमुक्षु पुरुष परित्याग कर दे।

यद्यपि योगाभ्यास मे ध्यान विषय के अनेक आसन हैं और उनमे उक्त प्रकार के (जिनका गुरुओं के समीप मे निषेध किया गया है) आसन भी निर्दिष्ट किये गये हैं परन्तु यह विषय अलग और एकान्त स्थान से सम्बन्ध रखता है, इसका गुरुजनों के समीप बैठने से कोई सम्बन्ध नहीं। गुरुओं के समीप तो उसी आसन से बैठना चाहिये जो कि शास्त्रसम्मत और सभ्य व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित हो चुका है तथा जिससे गुरुजनों की अवज्ञा न हो।

अब वाणी के विषय मे कहते हैं—

आयरिएहिं वाहिंत्तो, तुसिणीओ न कयाइवि।
पसायपेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया ॥२०॥

आचार्यैर्व्याहृतः , तूष्णिको न कदापि च।
प्रसादप्रेक्षी नियागार्थी, उपतिष्ठेद् गुरुं सदा ॥२०॥

पदार्थान्वयः—आयरिएहिं—आचार्यों करके वाहिंतो—बुलाया हुआ तुसिणीओ—मौन वृत्ति के साथ न कयाइवि—कदाचित् भी न होवे पसायपेही—प्रसादप्रेक्षी नियागट्ठी—मोक्ष की इच्छा रखने वाला—शिष्य गुरुं—गुरु के पास सया—सदा उवचिट्ठे—ठहरे।

मूलार्थ—आचार्यों के द्वारा बुलाया हुआ शिष्य कदाचित् भी मौन का अवलम्बन न करे और गुरुओं की प्रसन्नता तथा मोक्ष की अभिलाषा रखता हुआ सदा उनके समीप ही रहे।

टीका—इस गाथा में आचार्यों के वाग्विनय के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन बड़ी ही सुन्दरता से किया गया है। गुरुजनों के बुलाने पर शिष्य को कभी मौन नहीं रहना चाहिये, क्योंकि मौनावलम्बन से गुरुओं के वचन का अनादर होता है, जो कि किसी प्रकार से भी अभीष्ट नहीं है। विनयशील शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरुजनों के आह्वान करने पर झट से उनके पास आकर समुचित शब्दों में उनसे अपने लिये अनुष्ठेय कार्य की आज्ञा मांगे और इस बात के लिये अपना परम सौभाग्य समझे कि गुरु महाराज ने अपने पास बैठे हुए अन्य शिष्यों को छोड़कर अमुक सेवा के निमित्त जो मुझे ही बुलाया है, यह उनकी मेरे ऊपर अनन्य कृपा का सूचक है। इस प्रकार मोक्षाभिलाषी शिष्य गुरुजनों की प्रसन्नता का विचार करता हुआ सदा उनके समीप रहने में ही अपने को अधिक पुण्यशाली समझे।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

आलवन्ते लवन्ते वा, न निसीएज्ज कयाइवि।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥२१॥

आलपति लपति वा, न निषीदेत् कदापि च।
त्यक्तासनं धीरः, यतो युक्तं प्रतिशृणुयात् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—आलवंते—एक बार बुलाने पर वा—अथवा लवंते—बार २ बोलाने पर न निसीएज्ज—न बैठा रहे कयाइवि—कदाचित् भी आसणं—आसन को चइऊणं—छोड़ करके धीरो—बुद्धिमान् जओ—जिससे जत्तं—यत्नवान् होता हुआ—गुरु के वचन को पडिस्सुणे—स्वीकार करे।

मूलार्थ—गुरु के एक बार बुलाने अथवा बार २ बुलाने पर कदाचित् भी बैठा न रहे किन्तु बुद्धिमान् शिष्य आसन को छोड़कर यत्न के साथ गुरुओं के वचन को सुने।

टीका—शिष्य का यह धर्म है कि गुरुओं के एक अथवा एक से अधिक बार बुलाने पर भी वह अपने आसन पर ही न बैठा रहे किन्तु गुरुओं की आवाज़ को सुनते ही झट अपने आसन को छोड़कर उनके पास आकर उनके

वचन को सुने और तदनुकूल आचरण करे। तात्पर्य कि उनके बार २ बुलाने से आलस्य और प्रमाद के वशीभूत होकर किसी समय उनके वचन की अवहेलना न करे। इसी में योग्य शिष्य की बुद्धिमत्ता और उसके विनयधर्म की उज्ज्वलता है। यहां पर गाथा में कदाचित् पद इसलिये दिया गया है कि विनीत शिष्य रोगादि की अवस्था में भी गुरुजनों के वचनों का अनादर न करे।

यहां 'आलवंते' शब्द में 'आ' उपसर्ग ईषत् अर्थ का बोधक है जिसका तात्पर्य यह है कि गुरुजनों के थोड़ा सा बोलने पर भी उनके वचन को शीघ्रता से ग्रहण करने का प्रयत्न करे, किन्तु उनके वचन की उपेक्षा कदापि न करे।

अब शास्त्रकार फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जागओ कयाइवि।
आगम्मुक्कडुओ सन्तो, पुच्छिज्जा पंजलीउडो ॥२२॥

आसनगतो न पृच्छेत्, नैव शय्यागतः कदापि च।
आगम्योत्कटिकः सन्, पृच्छेत् प्राञ्जलिपुटः ॥२२॥

पदार्थान्वयः—आसणगओ—आसन पर बैठा हुआ न पुच्छेज्जा—न पूछे कयाइवि—कदाचित् भी सेज्जागओ—शय्या पर बैठा हुआ नेव—न पूछे आगम्म—आकर के उक्कडुओ—आसन को छोड़ता हुआ पंजलीउडो—हाथों को जोड़कर पुच्छिज्जा—पूछे।

मूलार्थ—आसन पर बैठा हुआ गुरु से न पूछे, तथा शय्या पर बैठा हुआ भी न पूछे, आसन को छोड़ता हुआ गुरुओं के पास आकर हाथ जोड़कर (सूत्रादि का अर्थ) पूछे।

टीका—इस गाथा में शिष्य की अध्ययनकालीन विनयचर्या का उल्लेख किया गया है। शिष्य को यदि अपने किसी पाठ्य विषय में कोई सन्देह हो तो उसकी निवृत्ति के लिये वह अपने गुरुजनों से किस प्रकार विनययुक्त होकर पूछे तथा किस प्रकार पूछने से गुरुओं का अविनय होता है, इसी भाव को उक्त गाथा में व्यक्त किया गया है। शिष्य को यदि कोई बात गुरुओं से पूछनी हो तो वह

अपने आसन पर ही बैठा हुआ न पूछे, और शय्या पर पड़ा हुआ भी वह अपने गुरुजनों से किसी प्रकार का वार्तालाप न करे। किन्तु अपने आसन आदि का त्याग करता हुआ गुरुजनों के समीप बद्धांजलि होकर अपने सन्देह को पूछे। आसन अथवा शय्या पर बैठे हुए पूछने पर शिष्य का औद्धत्य पाया जाता है। इससे एक तो गुरुजनों का अपमान सूचित होता है और दूसरे शिष्य के विनयधर्म में लांछन आता है। इसलिये विनीत शिष्य का यह धर्म है कि वह गुरुजनों से जो कुछ भी पूछे, उसमें किसी प्रकार की अविनीतता का समावेश न होने पावे, इस बात की पूरी सावधानी रक्खे। गाथा में जो 'उक्कडुआ' शब्द आया है, उसका संस्कृत में 'उत्कुटुक' रूप बनता है जिसके अर्थ मुक्तासन के हैं। इसके अतिरिक्त गुरुजनों की अपेक्षा अधिक ज्ञान रखने वाला शिष्य भी उन गुरुजनों की सेवा भक्ति का कभी परित्याग न करे, यह भी उक्त गाथा का फलितार्थ है।

गुरुजनों का कर्तव्य—

उक्त प्रकार के विनयाचार से युक्त शिष्य के प्रति गुरुजनों का क्या कर्तव्य होना चाहिये, इस विषय का वर्णन निम्नलिखित गाथा मे किया जाता है—

एवं विणयजुत्तस्स, सुत्तं अत्थं च तदुभयं।
पुच्छमाणस्स सीसस्स, वागरिज्ज जहासुयं ॥२३॥

एवं विनययुक्तस्य, सूत्रमर्थं च तदुभयम्।
पृच्छतः शिष्यस्य, व्यागृणीयाद् यथाश्रुतम् ॥२३॥

पदार्थान्वयः—एवं-इस प्रकार विणयजुत्तस्स-विनय युक्त को सीसस्स-शिष्य को सुत्तं-सूत्र च-और अत्थं-अर्थ तदुभयं-सूत्र और अर्थ दोनों को पुच्छमाणस्स-पूछने वाले को जहासुयं-जैसे सुना है वागरिज्ज-कहे।

मूलार्थ—इस प्रकार विनययुक्त शिष्य के पूछने पर गुरु सूत्र तथा अर्थ और सूत्र अर्थ दोनों को गुरुपरम्परा से जैसे सुना है उसी प्रकार कहे।

टीका—विनयाचार का जो स्वरूप प्रथम वर्णन किया गया है, उसके अनुकूल आचरण रखने वाला शिष्य यदि गुरुओं के समीप आकर सूत्र के विषय

में वा अर्थ के विषय में अथवा दोनों के विषय में श्रद्धापूर्वक कुछ पूछे तो गुरुजनों का कर्तव्य है कि वे विना किसी संकोच के गुरुपरम्परा द्वारा प्राप्त किये हुए सूत्रार्थ को उसे यथार्थ रूप में कह दें अर्थात् गुरुजनों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से जिस प्रकार की सूत्र और उसके अर्थ की धारणा की हुई है उसी को शिष्य के प्रति बतलावे। इससे श्रुतज्ञान की सफलता और चिरस्थायित्व बना रहता है अन्यथा श्रुतज्ञान मे विकार प्राप्ति की अधिक सम्भावना है। अतः परम्परागत आम्नाय की रक्षा करना भी योग्य गुरुओं और शिष्यों का सुचारु कर्तव्य है।

अब वाग्विनय के विषय में कहते हैं—

मुसं परिहरे भिक्खू, न य ओहारिणीं वए।
भासादोसं परिहरे, मायं च वज्जए सया ॥२४॥

मृषां परिहरेद् भिक्षुः, न चावधारिणीं वदेत्।
भाषादोषं परिहरेत्, मायां च वर्जयेत् सदा ॥२४॥

पदार्थान्वयः—मुसं-झूठ को भिक्खु-साधु परिहरे-त्याग दे च-और ओहारिणीं-निश्चयात्मक भाषा को न-न वए-कहे भासादोसं-भाषा के दोष को परिहरे-दूर करे च-और मायं-माया को सया-सदा ही वज्जए-त्याग देवे।

मूलार्थ—साधु झूठ को त्याग दे और निश्चयात्मक भाषा को न बोले। भाषा के दोष को भी छोड़ दे और माया (कपट) को सदा के लिए त्याग देवे।

टीका—इस गाथा में वचन की शुद्धि के लिये वचनगत दोषों के त्याग का आदेश किया गया है। यथा—साधु कभी मिथ्या भाषण न करे तथा निश्चयात्मक भाषा और दुष्ट भाषा का कभी व्यवहार न करे, एवं छल कपट युक्त वचनों का सदा के लिये परित्याग कर देवे। मिथ्या भाषण, निश्चयात्मक भाषण, सावद्य भाषण और छल कपटमय भाषण ये सब सत्य के आचार में विघ्नरूप दोष हैं। इसलिये सत्यनिष्ठ भिक्षु को इनका सर्वथा त्याग ही उचित है, क्योंकि इनके त्याग के विना वाणी मे कभी विशुद्धता नहीं आती। वाणी की विशुद्धि—निर्दोषता ही

वस्तुतः वाग्विनय है। अतः विनयधर्म मे प्रवृत्त भिक्षु सदा निर्दोष भाषा का ही व्यवहार करे। भाषागत दोषों में मिथ्या भाषण-झूठ बोलना सब से बड़ा दोष है। निश्चयात्मक भाषण (जैसे मैं यह कार्य आज ही अवश्य करूंगा, ऐसा वचन) करने की साधु को इसलिये मनाही की गई है कि समय २ पर अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। कौन जाने, कहा हुआ वचन पूरा भी हो सकेगा या कि नहीं। इसलिये भिक्षु को भविष्य में होने वाले कार्यों के विषय मे कभी निश्चयात्मक वचन नहीं कहना चाहिये। एवं सावद्य भाषा (अशुद्ध भाषा, दोषयुक्त भाषा) के व्यवहार से भी साधु की सत्यनिष्ठा में विकार पैदा होता है। इसलिये यह भी त्याज्य है। तथा छल कपट युक्त भाषण तो वाणी में भयंकर विकृति उत्पन्न करने के साथ २ आत्मा मे भी कलुषितता पैदा करता है। तात्पर्य कि ये सब दोष वाणीविषयक विनयाचार के पूर्ण विरोधी हैं। अतः विनयशील भिक्षु इनका अपनी वाणी में कभी समावेश न होने दे, इसी में उसका श्रेय है।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥२५॥

न लपेत् पृष्टः सावद्यं, न निरर्थं न मर्मकम्।
आत्मार्थं परार्थं वा, उभयस्यान्तरेण वा ॥२५॥

पदार्थान्वयः—पुट्ठो-पूछा हुआ सावज्जं-सावद्य वचन को न-न लवेज्ज-बोले न-न निरट्ठं-निरर्थक वचन बोले न-न मम्मयं-मर्मयुक्त वचन बोले अप्पणट्ठा-अपने लिये वा-अथवा परट्ठा-पर के लिये अभयस्स-दोनों के लिये वा-अथवा अंतरेण-विना प्रयोजन से न बोले।

मूलार्थ—पूछने पर सावद्य वचन न बोले, निरर्थक वचन न बोले, मर्मयुक्त वचन न बोले। अपने वास्ते, दूसरों के वास्ते तथा दोनों के वास्ते और विना प्रयोजन से भी न बोले।

टीका—इस गाथा मे साधु के लिये वचन गुप्ति के संरक्षण का उपदेश

दिया गया है। साधु ऐसी भाषा का कभी व्यवहार न करे जो सावद्य अर्थात् दोषयुक्त हो, तथा इस प्रकार की भाषा भी न बोले जिसके बोलने से कोई भी अर्थ सिद्ध न होता हो और दूसरों के मर्म को प्रकट करने वाली भाषा का भी व्यवहार न करे क्योंकि मर्मयुक्त भाषा के बोलने से कभी कभी बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं। बहुतों की तो मृत्यु तक की नौबत आ जाती है। इसलिये सावद्य भाषा, निरर्थक भाषा और मर्मयुक्त भाषा का अपने तथा दूसरों के वास्ते भी विचारशील साधु कभी व्यवहार न करे।

सारांश यह है कि तत्त्व का जिज्ञासु साधु पुरुष संयत भाषा का व्यवहार करता हुआ सदा सत्य, सार्थक, हित और मित बोलने का ही प्रयत्न करे जिससे अपना और दूसरों का कभी अहित (अनिष्ट) न हो। इसी में उसकी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति निहित है। यहां पर वृत्तिकार ने 'अन्तरेण' का अर्थ 'प्रयोजनं विना' यही किया है।

संसर्गज दोषों के परिहार का उपदेश—

पूर्व की गाथाओं में आत्मगत दोषों के त्याग का उपदेश दिया है। अब संसर्गज दोषों के त्याग के विषय में कहते हैं—

समरेसु अगारेसु, सन्धीसु य महापहे।
एगो एगत्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥२६॥

समरेषु अगारेषु, सन्धिषु च महापथे।
एक एकस्त्रिया सार्धं, नैव तिष्ठेन्न संलपेत् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—समरेसु–खर कुटी में अगारेसु–घरों में सन्धीसु–दो घरों की सन्धियों में य–और महापहे–राजमार्ग में एगो–अकेला साधु एगत्थिए–अकेली स्त्री के सद्धिं–साथ नेव चिट्ठे–न खड़ा होवे और न संलवे–न बोले।

मूलार्थ—खर कुटी में, घरों में, घरों की सन्धियों में और राजमार्ग में अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ न खड़ा हो और न उसके साथ भाषण करे।

टीका—इस गाथा में संसर्गजन्य दोष के आगमन भय से साधु को

स्त्रीजनों के परिचय में आने का निषेध किया गया है, क्योंकि साधु यदि स्त्रीसमुदाय के परिचय में आवेगा तो उसको अवश्य किसी न किसी अपवाद का भागी बनने की आशंका रहेगी। अधिक नहीं तो जनता में तो उसके लिये अवश्य थोड़ा बहुत असद्भाव पैदा हो जावेगा। अतः साधु पुरुष को चाहिये कि वह येन केन प्रकारेण स्त्रीजनों के दूषित संसर्ग से अपने आपको अलग रखने का प्रयत्न करे। इसी विषय को सूत्रकार कहते हैं कि कोई एकाकी साधु किसी अकेली स्त्री के साथ निम्नलिखित स्थानों में न तो कभी खड़ा हो और न उसके साथ किसी प्रकार का संभाषण करे। जहां पर अन्धकार विशेष हो, ऐसे स्थानों में, शून्य घरों में और जहां पर घरों की संधियां मिलती हों ऐसे स्थलों में तथा राजमार्ग में अकेला साधु अकेली स्त्री के परिचय में कभी भी न आवे। क्योंकि इन उपर्युक्त स्थानों में साधु का स्त्री के साथ परिचय में आना जनता में अवश्य सन्देह का कारण बन जाता है। इसलिये इन उक्त स्थानों में तो स्त्री के परिचय में संयमी पुरुष कभी न आवे। यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि सूत्रकार ने इन शंकित स्थानों में स्त्रीपरिचय का जो संयमी पुरुष के लिये निषेध किया है, वह उसके ब्रह्मचर्य व्रत को निर्दोष और उज्ज्वल रखने के निमित्त ही किया गया है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में जो 'समर' शब्द दिया है, उसका अर्थ चूर्णीकार ने 'लोहारशाला' किया है। सो ऐसा अर्थ उपयुक्त ही प्रतीत होता है क्योंकि काम कर चुकने के पश्चात् वह स्थान भी प्रायः शून्य ही हो जाता है। ग्रामों में तो आज भी इसके नमूने मौजूद हैं।

भूल हो जाने पर गुरुजनों के द्वारा दी गई शिक्षा को विनयशील शिष्य किस प्रकार ग्रहण करे, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

जं मे बुद्धाणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥२७॥

यन्मां बुद्धा अनुशासन्ति, शीतेन परुषेण वा।
मम लाभ इति प्रेक्ष्य, प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—जं-जो मे-मुझे बुद्धा-आचार्य अणुसासंति-शिक्षा करते

हैं सीएण–शीतल वचनों से वा–अथवा फरुसेण–कठोर वाक्यों से मम–मेरे लाभाय–लाभ के लिये त्ति–इस प्रकार पेहाए–विचार करके पयओ–प्रयत्न से युक्त तं–उसको पडिस्सुणे–स्वीकार करे।

मूलार्थ—आचार्य महाराज मेरे को कोमल अथवा कठोर वाक्यों से जो शिक्षा करते हैं, यह सब मेरे लाभ के लिए है। इस प्रकार से विचार करता हुआ शिष्य प्रयत्नपूर्वक गुरुजनों की शिक्षा को ग्रहण करे।

टीका—उक्त गाथा के भाव का सारांश यह है कि किसी प्रकार की भूल हो जाने पर उसके सुधार के निमित्त गुरुजन यदि किसी प्रकार की शिक्षा देने में प्रवृत्त हों तथा उस शिक्षा प्रवृत्ति में यदि वे कोमल अथवा कठोर वाक्यों का भी प्रयोग करें तो शिष्य को उचित है कि वह गुरुजनों के इस उपदेश को अपने लिये परम हितकारी समझ कर श्रद्धापूर्वक उसे स्वीकार करे। तात्पर्य कि गुरुजनों की हित शिक्षा की किसी रूप में भी अवहेलना न करे। संयमी पुरुष गुरुओं की शिक्षा पर विश्वास रखता हुआ मोक्षमार्ग का अधिकारी बनने के साथ २ धर्म के मर्म का भी ज्ञाता हो जाता है तथा बहुश्रुत हो जाने से स्थविर पद को भी प्राप्त कर लेता है। इसलिये, गुरुजनों की हित शिक्षा में अनेक प्रकार के प्रशस्त लाभ निहित हैं, यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए।

अब शिष्य की पात्रता के अनुसार गुरुजनों की शिक्षा का जो प्रभाव होता है, उसके विषय में कहते हैं—

अणुसासणमोवायं , दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ॥२८॥

अनुशासनमौपायं , दुष्कृतस्य च चोदनम्।
हितं तन्मन्यते प्राज्ञः, द्वेष्यं भवत्यसाधोः ॥२८॥

पदार्थान्वयः—अणुसासणं–शिक्षा उवायं–उपाययुक्त य–और दुक्कडस्स–पाप को चोयणं–प्रेरणा करने हारी हियं–हितरूप तं–उसको पण्णो–बुद्धिमान् मण्णई–मानता है असाहुणो–असाधु को वह अनुशासन वेसं–द्वेष का कारण होइ–होता है।

मूलार्थ—गुरुजनों का पाप को दूर करने वाला उपाययुक्त हित रूप अनुशासन बुद्धिमान् को तो हित का कारण होता है और असाधु पुरुष को वही अनुशासन द्वेष का हेतु बन जाता है।

टीका—इस गाथा में गुरुजनों के अनुशासन को विनीत और अविनीत शिष्य किस रूप मे ग्रहण करते हैं, इस विषय को कुछ स्पष्ट किया गया है। यद्यपि गुरुजनों की शिक्षा में विनीत और अविनीत दोनों ही शिष्यों के प्रति किसी प्रकार का भेद भाव नहीं है तथापि ग्रहण करने वाले पात्र के अनुसार उसमे भिन्नता आ जाती है। जिस प्रकार एक ही सरोवर से जल ग्रहण करने वाले गौ और सांप इस पिये हुए जल को अपनी २ योग्यता के अनुसार परिणमन करते है, इसी प्रकार गुरुजनों से प्राप्त शिक्षा को विनीत और विनयरहित शिष्य भी अपने २ स्वभाव के अनुसार ही उसे ग्रहण करते हैं। एवं वह पान किया हुआ जल जैसे गाय में दुग्ध रूप से परिणत होता है और सर्प में वह जल विष के रूप में परिणत हो जाता है ऐसे ही पापों को दूर करने वाला गुरुजनों का अनुशासन बुद्धिमान् विनीत शिष्य के लिये तो परम हित के देने वाला होता है और असाधु—अविनीत शिष्य के लिए वह द्वेष का कारण बन जाता है। एवं जिस प्रकार बुद्धिमान् शिष्य में गुरुजनों का उक्त शासन उत्तरोत्तर विनय धर्म में उत्कर्ष पैदा करने वाला होता है, उसी प्रकार असाधु—अयोग्य शिष्य में उसका द्वेपरूप विपरीत परिणमन उत्तरोत्तर अविनय वृद्धि का पुष्ट साधन बन जाता है। इसलिये अनुशासन-कर्ता गुरुजनों को शिक्षा देते समय शिष्यसमुदाय की पात्रापात्रता का अवश्य विचार कर लेना चाहिये, ताकि उनके अनुशासन में किसी प्रकार की विपरीतता न आनी पावे क्योंकि कुपात्र में डाला हुआ हित शिक्षारूप दुग्धामृत भी विकृति भाव को प्राप्त होकर विष के तुल्य हानिकारक हो जाता है।

यहां पर हित शब्द से ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के हितों का ग्रहण है।

अब इसी विषय को और भी स्पष्ट किया जाता है—

हियं विगयभया बुद्धा, फरुसंपि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं, खन्तिसोहिकरं पयं ॥२९॥

हितं विगतभया बुद्धाः, परुषमप्यनुशासनम् ।
द्वैष्यं तद् भवति मूढानां, क्षान्तिशुद्धिकरं पदम् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—विगयभया–भय रहित बुद्धा–तत्त्ववेत्ता पुरुष फरुसंपि–कठोर भी अणुसासणं–अनुशासन को हियं–हित रूप मानते हैं तं–वह अनुशासन मूढाणं–मूर्खों को वेसं होइ–द्वेष का कारण बन जाता है जो खंति–क्षमा सोहिकरं–और शुद्धि के करने वाला पयं–पद है।

मूलार्थ—सप्तविध भय रहित बुद्धिमान् शिष्य गुरुजनों के कठोर शासन को भी अपने लिये हितकर मानते हैं परन्तु मूर्खजनों के लिये वही शासन द्वेष का हेतु बन जाता है जो कि क्षान्ति और आत्मशुद्धि का पद है।

टीका—इस गाथा में भी पहली गाथा की भांति मूर्ख और बुद्धिमान् शिष्य की योग्यता को परखने का उपदेश दिया गया है। विनयधर्म की आराधना में सतत प्रवृत्ति रखने वाले बुद्धिमान् शिष्य तो अपने गुरुजनों के कठोर शासन को भी अपने हित का साधक समझते हैं और उस शासन से अपने में आत्मशुद्धि और क्षमा आदि सद्गुणों को प्राप्त करते हैं परन्तु मूर्खजनों को वही शासन द्वेष का कारण बन जाता है। इसके प्रभाव से वे अपने में प्रसुप्त द्वेषदावानल को और भी अधिक प्रदीप्त करते हुए अपने आत्मा को अधिक मलिन और क्रोध का आगार बना लेते हैं। इसमें गुरुजनों का तो अणुमात्र भी दोष नहीं। वे तो कृपा बुद्धि से सब को हितशिक्षा ही देते हैं परन्तु ग्रहण करने वालों के हृदय स्थान के संसर्ग से उसमें जो विषमता पैदा होती है उसी का ही यह प्रभाव है कि एक तो (बुद्धिमान्) उससे लाभ उठाते हैं और दूसरे (मूर्ख) हानि का अनुभव करते हैं।

अब फिर विनयाचार के विषय में कहते हैं—

आसणे उवचिट्ठेज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे ।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥३०॥

आसने उपतिष्ठेत्, अनुच्चे अकुचे स्थिरे ।
अल्पोत्थायी निरुत्थायी, निषीदेदल्पकुक्कुचः ॥३०॥

पदार्थान्वयः—आसणे–आसन पर उवचिट्ठेज्जा–बैठे अणुच्चे–जो ऊंचा नहीं है अकुए–अस्पंदमान थिरे–स्थिर है अप्पुट्ठाई–थोड़ा उठने वाला निरुट्ठाई–विना प्रयोजन न उठने वाला अप्प–थोड़ी कुक्कुए–हस्तादि की चेष्टा से निसीएज्ज–बैठे ।

मूलार्थ—शिष्य चेष्टा रहित होकर ऐसे आसन पर बैठे जो गुरु से ऊंचा न हो, स्थिर हो, चलायमान न हो और उक्त प्रकार के आसन पर बैठा हुआ भी विना प्रयोजन उठे नहीं तथा प्रयोजन होने पर भी थोड़ा उठे ।

टीका—इस गाथा में शिष्य का आसनसम्बन्धी विनयाचार किस प्रकार का होना चाहिये, इस बात की चर्चा की गई है । गुरुजनों की अपेक्षा शिष्य का आसन हमेशा ही नीचा होना चाहिये अर्थात् विनीत शिष्य जिस पीठादि आसन पर बैठे वह आसन गुरुओं के आसन से आकारादि में न्यून हो, स्थिर हो और चलायमान न हो तथा उस आसन पर स्थिरतापूर्वक बैठे और विना प्रयोजन उस आसन से न उठे एवं प्रयोजन होने पर भी बहुत कम उठे । इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि शिष्य में अविनीतता और बहिर्मुखता न आनी पावे । यदि गुरुओं की अपेक्षा शिष्य ऊंचे आसन पर बैठेगा तो इसमें उसकी उद्धतता प्रकट होगी और अस्थिर चंचल आसन पर बैठने से उसकी (शिष्य की) समाधि में अन्तर पड़ेगा एवं स्थिरचित्त होकर आसन पर न बैठने तथा बैठे हुए हाथ पैर हिलाने से बहिर्मुखता के बढ़ने की आशंका रहती है । परन्तु इसके विपरीत स्थिर आसन पर समाहित चित्त होकर बैठने से उस शिष्य के ज्ञान ध्यान में वृद्धि होगी, जिसका फल उसके लिये तथा देखने वाले दूसरों के लिये भी हितकर ही होगा ।

इसलिये योग्य शिष्य को उचित है कि वह अपने गुरुजनों की अपेक्षा ऊंचे आसन पर न बैठे तथा गुरुओं की अपेक्षा अधिक सुन्दर और मूल्यवान् वस्त्रों को न पहने । तात्पर्य कि योग्य शिष्य द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से गुरुजनों की अपेक्षा अपने को लघुता में रक्खे । ताकि उसकी यह लघुता विनयाचार की सम्यक् आराधना से प्रभुता के उच्च सिंहासन पर विराजमान हो जाए ।

अब एषणा समिति के विषय में कहा जाता है—

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥३१॥

कालेन निष्क्रमेद् भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रमेत् ।
अकालं च विवर्ज्य, काले कार्यं समाचरेत् ॥३१॥

पदार्थान्वयः—भिक्खू–भिक्षु–साधु कालेन–समय होने पर निक्खमे–भिक्षा के लिये जावे य–और कालेण–समय पर पडिक्कमे–आ जावे च–पुनः अकालं–असमय को विवज्जित्ता–वर्ज करके काले–समय पर कालं–प्रतिलेखनादि का जो कार्य है उसको समायरे–ग्रहण करे।

मूलार्थ—साधु समय पर भिक्षादि के लिये जावे और समय पर वापिस आ जावे तथा असमय को त्याग कर नियत समय पर प्रतिलेखनादि क्रियाओं का आचरण करे।

टीका—इस गाथा मे साधु की धार्मिक क्रियाओं के नियत समय विभाग की सूचना दी गई है अर्थात् साधु के लिये जिस समय पर जिस क्रिया के अनुष्ठान की आज्ञा शास्त्र में दी है उसको उसी समय पर नियत रूप से करना चाहिये। यथा—भिक्षा का समय होते ही साधु अपने निवास स्थान—उपाश्रय आदि से भिक्षा आदि लाने के लिये निकले और भिक्षा लेकर नियत समय पर ही उपाश्रय में वापिस आ जावे तथा प्रतिक्रमण, प्रतिलेखना आदि अन्य धार्मिक कृत्यों को भी विचारशील साधु समय पर ही करे, समय का अतिक्रमण करके अर्थात् असमय में कोई भी कृत्य न करे। प्रत्येक मनुष्य की जीवनचर्या का समय के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो लोग अपने जीवन के कार्यविभाग का उपयोग ठीक समय के अनुसार करते हैं, उनका जीवन सुखी और सुव्यवस्थित होने के अतिरिक्त दूसरों के लिये आदर्श भी होता है।

समय एक बड़ी ही बहुमूल्य वस्तु है। इसके सदुपयोग पर ही जीवन की उत्कृष्टता का सार निर्भर है। जो लोग मनुष्यजन्म पाकर भी समय का सदुपयोग

नहीं करते अर्थात् इसको यों ही व्यर्थ खो देते हैं, वे वस्तुतः आत्मघाती हैं, उनको अन्त में इतना पश्चात्ताप करना पड़ता है कि उसकी कल्पना नहीं हो सकती और साधु जीवन तो साधारण मनुष्यजीवन की अपेक्षा बहुत ही अधिक उत्कर्षता को लिये हुए हैं, परन्तु उस उत्कर्षता की मूल भित्ति अधिकांश समय के सदुपयोग पर ही अवलम्बित है। साधुचर्या मे तो जीवन का एक २ समय भी चिन्तामणि रत्न के समान अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिये साधु को, जहां तक हो सके, बड़ी सावधानी से अपने धार्मिक कृत्यों का यथासमय अनुष्ठान करना चाहिये। जो साधु प्रमादवश समय को व्यर्थ खो देते हैं, उनका अधःपतन अवश्यंभावी है। अतः समय को कभी भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये।

यहां पर इतना और भी ध्यान में कर लेना चाहिये कि किसी भी कार्य को सरल और सुव्यवस्थित बनाने के लिये कालक्रम अथवा समय विभाग की बड़ी आवश्यकता है। समय का विभाग किये विना कोई भी कार्य सुचारु रूप से सम्पूर्ण नहीं हो सकता। इसी विचार से शास्त्रकारों ने साधुजीवन मे भी आचरणीय धार्मिक कृत्यों का कालक्रम—समयविभाग नियत कर दिया है ताकि उसकी प्रति दिन की धार्मिक क्रिया मे किसी प्रकार की अव्यवस्था न होनी पावे।

अब एपणा समिति के विषय में कुछ और नियमों का वर्णन किया जाता है—

परिवाडीए न चिट्ठेज्जा, भिक्खू दत्तेसणं चरे।
पडिरूवेण एसित्ता, मियं कालेण भक्खए ॥३२॥

परिपाट्यां न तिष्ठेत्, भिक्षुर्दत्तैषणां चरेत्।
प्रतिरूपेणैषयित्वा , मितं कालेन भक्षयेत् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—परिवाडीए-पंक्ति मे न चिट्ठेज्जा-न खड़ा होवे भिक्खू-भिक्षु दत्तेसणं-दिया हुआ एपणीय चरे-आसेवन-ग्रहण करे पडिरूवेण-साधु के वेप से एसित्ता-गवेपणा करके मियं-प्रमाणपूर्वक कालेण-शास्त्रोक्त काल में भक्खए-आहार करे।

मूलार्थ—साधु पंक्ति-जीमनवार में जाकर खड़ा न हो किन्तु गृहस्थ का दिया हुआ, एषणीय-शुद्ध आहार का ग्रहण करे और साधु के वेष से गवेषणा करके शास्त्रोक्त काल में प्रमाणपूर्वक आहार करे।

टीका—इस गाथा में साधु की भिक्षाचर्या से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी जानने योग्य बातों का उल्लेख किया गया है। जहां पर प्रीतिभोज अथवा विवाह आदि अन्य किसी निमित्त से जीमनवार किया गया हो, ऐसे स्थान पर साधु को आहार के लिये कदापि न जाना चाहिये क्योंकि ऐसे स्थान पर भिक्षा के निमित्त जाकर खड़ा होना साधु के लिये अप्रीति—असद्भाव का कारण बन जाता है। अतः ऐसे स्थान से साधु कभी भिक्षा न लावे किन्तु गृहस्थ का दिया हुआ निर्दोष आहार ही साधु को ग्रहण करना चाहिये परन्तु वह निर्दोष आहार भी साधु को तभी कल्पता है जब कि उसने उस आहार को अपने वेष में शास्त्रविहित काष्ठमय पात्र में ग्रहण किया हो। अन्य वेष से ग्रहण किया हुआ आहार साधु के उपयोग में नहीं आ सकता।

इसका अभिप्राय यह है कि साधु के लिये भिक्षा लेने और आहार करने में जिन काष्ठमयादि पात्रों का विधान शास्त्रकारों ने किया है उन्हीं में साधु भिक्षा ले सकता है और उन्हीं में आहार कर सकता है। परन्तु गृहस्थ के किसी पात्र में दिया हुआ आहार न तो वह ले सकता है और न उस पात्र में आहार कर सकता है। इसलिये साधु अपने ही पात्र में आहार—भिक्षान्न का ग्रहण करे और उसी में भक्षण करे। अन्यमतावलम्बी साधुओं की तरह न तो गृहस्थ के घर अथवा पात्र में उसे भिक्षा लेनी कल्पती है और न उसमें साधु को भक्षण करने की शास्त्र में आज्ञा है। इस प्रकार स्ववेष से ग्रहण किया हुआ आहार भी साधु को विधिपूर्वक ही भक्षण करना चाहिये। एवं वह आहार भी गवेषणापूर्वक लाया हुआ होना चाहिये अर्थात् किसी एक ही सद्गृहस्थ के घर से नहीं किन्तु अनेक गृहस्थों के घर से लाया हुआ हो। केवल एक ही घर से लाई हुई भिक्षा भी साधु के उपयोग में नहीं आ सकती। इसलिये साधु को अनेक घरों से ही थोड़ा थोड़ा निर्दोष आहार लाने की शास्त्रों में आज्ञा दी गई है।

शास्त्रविहित मर्यादा के अनुसार भिक्षा लाकर उसको भक्षण करते समय प्रथम वह 'नमो अरिहंताणं' इत्यादि नमस्कारमंत्र का उच्चारण करे। फिर न तो अधिक शीघ्रता से और न अधिक मन्दता से उसका भक्षण करे किन्तु काल की मर्यादा के अनुसार मध्यम मार्ग का अनुसरण करता हुआ भक्षण करे, और वह भी इस परिमाण तक भक्षण करे कि जिससे उसके स्वाध्याय और धर्मध्यान में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो अर्थात् मर्यादित भोजन करे।

इसके अतिरिक्त आहार की किसी प्रकार की प्रशंसा और निन्दा करने का भी साधु के लिये शास्त्रों में निषेध किया है। इसलिये आहार मे किसी प्रकार के गुण दोष की उद्भावना भी साधु को नहीं करनी चाहिये। सारांश यह है कि विधिपूर्वक लाया हुआ और विधिपूर्वक भक्षण किया हुआ भिक्षान्न साधुजीवन के निर्वाह में सहायक बनता हुआ किसी प्रकार के पाप कर्म के बन्ध का कारण नहीं बनता।

अब इसी विषय में कुछ और ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया जाता है—

नाइदूरमणासन्ने , नन्नेसिं चक्खुफासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे ॥३३॥

नातिदूरमनासन्नः , नान्येषां चक्षुःस्पर्शतः।
एकस्तिष्ठेद् भक्तार्थं, लङ्घयित्वा तं नातिक्रमेत् ॥३३॥

पदार्थान्वयः—नाइदूरे–न अति दूर मे अनासन्ने–न अति समीप में नान्नेसिं–न औरों के चक्खुफासये–चक्षुःस्पर्श मे भत्तट्ठा–भक्त के लिये एगो–अकेला चिट्ठेज्जा–खड़ा होवे लंघित्ता–उल्लंघन करके तं–उस अन्य भिक्षु को नइक्कमे–न घर मे जावे।

मूलार्थ—यदि पहले घर में किसी अन्य भिक्षु ने प्रवेश किया हुआ हो तो साधु उस भिक्षु के न तो अति दूर में और न अति समीप में तथा न उसके नेत्रों के सामने खड़ा हो और उसको उल्लंघन करके भी घर में न जावे।

टीका—किसी वृद्ध अथवा आतुर साधु के निमित्त भिक्षा या औषध आदि लेने के लिये साधु यदि किसी गृहस्थ के घर में प्रवेश करे और वहां पर उससे प्रथम कोई और भिक्षु खड़ा हो तथा औषध आदि आवश्यक वस्तु का उसी घर में योग हो तो साधु उसका उल्लंघन करके आगे न बढ़े किन्तु किसी एकान्त स्थान मे जाकर खड़ा हो जाय जहां से कि वह उस भिक्षु के न तो अति निकट मे हो और न अति दूर मे हो। एवं उस भिक्षु तथा घर के अन्य लोगों की आँखों के सामने भी जाकर खड़ा न हो। जब वह भिक्षु भिक्षा ले कर चला जाय तो फिर वहां से आहार अथवा औषध आदि आवश्यक वस्तु को ग्रहण करे। पहले से घर मे आये हुए भिक्षु के उल्लंघन करने और उसके समीप में जाकर खड़े होने से उक्त भिक्षु के मन में स्पर्द्धा पैदा होने के अतिरिक्त घर के लोगों में भी अप्रीति के उत्पन्न होने की आशंका रहती है। इसलिये ऐसे आचरण की शास्त्रों मे साधु के लिये मनाही कर दी गई है। इस गाथा में 'नाइदूरं' यह सप्तमी के स्थान में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग आर्ष होने से समझना और 'फासओ—स्पर्शतः' मे तस् प्रत्यय सप्तमी विभक्ति के अर्थ मे है। तात्पर्य कि जिस प्रकार से किसी आगन्तुक भिक्षु और भिक्षा देने वाले सद्गृहस्थ के मन मे किसी प्रकार की अप्रीति की उत्पत्ति न हो और शासन की भी किसी प्रकार की अवहेलना न हो, उसी प्रकार से भिक्षा का ग्रहण करना उचित है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

नाइउच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिण्डं, पडिगाहेज्ज संजए ॥३४॥

नात्युच्चैर्नीचैर्वा　, नासन्ने　नातिदूरतः।
प्रासुकं　परकृतं　पिण्डं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥३४॥

पदार्थान्वयः—नाइ—न अति उच्चे व—ऊंचे से वा—अथवा नीए—नीचे से नासन्ने—न समीप से नाइदूरओ—न अति दूर से फासुयं—अचित्त—निर्जीव परकडं—दूसरों के लिये बनाया हुआ पिंडं—आहार संजए—संयमी—साधु पडिगाहेज्ज—ग्रहण करे।

मूलार्थ—संयमशील साधु गृहस्थ के घर में जाकर दूसरों के निमित्त से बनाये गये अचित्त आहार को ग्रहण करे परन्तु वह आहार ऊंचे स्थान से वा नीचे स्थान से तथा अति समीप और दूर से न दिया गया हो।

टीका—इस गाथा में साधु की निर्दोष आहार लेने की विधि का वर्णन किया गया है। यदि संयमशील साधु भिक्षा के निमित्त किसी गृहस्थ के घर में जावे और वह गृहस्थ ऊपर चौबारे मे से उसके पात्र मे भिक्षा डाले तो साधु न लेवे क्योंकि ऊपर से डाली हुई भिक्षा में एक तो यत्ना नहीं रहती, उसके इधर उधर गिर जाने का भी भय रहता है और दूसरे उस पर पूर्णतया दृष्टि न पड़ने से उसकी सदोषता और निर्दोषता का भी साधु को परिज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार तहखाने आदि नीचे के स्थान से दिये गये आहार को भी साधु न लेवे क्योंकि वहां पर भी निविड़ अन्धकार होने के कारण साधु की दृष्टि का सुगमता से प्रवेश नहीं हो सकता। एवं अतिसमीप और दूर से आहार लेने पर भी अधिक राग और घृणा के उत्पन्न होने की आशंका है। इसलिये संयमशील साधु को उचित है कि वह देख भाल कर उसी आहार को ग्रहण करे जो कि उसके निमित्त से न बनाया गया हो, तथा अचित्त हो और चौबारे तथा तहखाने आदि ऊंचे नीचे स्थानों से न फेंका गया हो और साथ मे यदि वह विना मांगे न दिया गया हो। इस प्रकार से विधिपूर्वक आहार लेने वाला साधु ही अपने संयम को सुव्यवस्थित रख सकता है और गृहस्थों के घरों से लिये गये इस आहार से अपने शरीर का पोषण करता हुआ भी वह किसी प्रकार के पाप कर्म का बन्धन नहीं करता। यहां पर स्थान की ऊंचाई और नीचाई का उल्लेख द्रव्य और भाव दोनों को लेकर के है। द्रव्य से तो चन्द्रशाला—चौबारा आदि है और भाव से लब्धि का ग्रहण है। तात्पर्य कि 'मैं लब्धि सम्पन्न हूं' इस बात का भी साधु गर्व न करे। एवं द्रव्य से नीचा स्थान तहखाना आदि है और भाव से नीचता तथा दीनतासूचक गद्गद् वचनों का प्रयोग करना है। तात्पर्य कि आहार के निमित्त साधु किसी प्रकार की दीनता का अवलम्बन न करे। यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिये कि आहार लेने की जो यह विधि शास्त्र मे वर्णन की गई है, इसका प्रयोजन केवल साधु धर्म का संरक्षणमात्र है।

अब पिंडैषणा के बाद ग्रासैषणा का वर्णन किया जाता है—

अप्पपाणेऽप्पबीयम्मि , पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
समयं संजए भुंजे, जयं अपरिसाडियं ॥३५॥

अल्पप्राणेऽल्पबीजे , प्रतिच्छन्ने संवृते ।
समकं संयतो भुञ्जीत, यतमपरिशाटिकम् ॥३५॥

पदार्थान्वयः—अप्पपाणेऽप्पबीयंमि–अल्प प्राणी और अल्पबीज वाले पडिच्छन्नम्मि–चारों ओर से ढांपे हुए संवुडे–दोनों ओर दीवारों से संवृत स्थान में समयं–अपने समान संजए–साधु के साथ भुंजे–आहार करे जयं–यत्न से अप्परिसाडियं–भूमि पर न गेरता हुआ।

मूलार्थ—अल्प प्राणी और अल्प बीज वाले चारों ओर से ढाँपे हुए तथा दोनों तरफ भित्ति आदि में संवृत ऐसे उपाश्रय आदि स्थान में अपने समान साधुओं के साथ बैठकर यत्न से भूमि पर न गिराता हुआ आहार करे।

टीका—साधु शास्त्रविधि के अनुसार निर्दोष आहार लाकर कैसे स्थान में और किन के साथ बैठकर उसको भक्षण करे इत्यादि बातों की चर्चा उक्त गाथा में की गई है। संयमशील साधु को अपने समान आचार रखने वाले साधुओं के साथ एक स्थान में बैठकर भोजन करने की शास्त्र में आज्ञा दी गई है तथा पृथिवी पर न गिरे, इस प्रकार यत्न से आहार करना चाहिये। एवं जिस स्थान में आहार किया जाय, वह स्थान भी द्वीन्द्रिय आदि जीवों से भरपूर न हो तथा धान्य आदि भी उसमें उगे हुए न हों। इसके सिवाय वह स्थान ऊपर से ढंपा हुआ हो और चारों तरफ से दीवार आदि से घिरा हुआ हो। तात्पर्य कि आहार करने के लिए जो स्थान हो, वह सब प्रकार से साफ और स्वच्छ हो तथा चारों ओर से घिरा हुआ, ऊपर से ढंपा हुआ होना चाहिये ताकि भोजन करते समय किसी आगन्तुक बुभुक्षित व्यक्ति की वहां पर दृष्टि न पड़े। अकेला भी आहार न करे। ऐसा करने से साधु में स्वार्थ वृत्ति की मात्रा के बढ़ने का भय है। यत्नपूर्वक आहार के करने से कीट पतंग आदि सूक्ष्म जीवों की विराधना

से वचना तो प्रत्यक्षसिद्ध है। इसलिये परिमार्जित और संवृतस्थान में सहचारी साधुओं के साथ यत्नापूर्वक किया गया आहार संयमशील साधु के लिये निस्संदेह उसके सात्त्विक भाव की जागृति में सहायक होता है।

बहुत से जीवों का यह स्वभाव होता है कि वे भोजन करते समय अनेक प्रकार की इधर उधर की बातों में प्रवृत्त हो जाते हैं परन्तु उनका यह व्यवहार शास्त्रसम्मत और साधुजनानुमोदित नहीं है। इसलिये विवेकशील पुरुष को भोजन के समय में अपनी वाणी को सर्वथा संयत रखना चाहिये। इसी विषय को अब आगे दिखलाया जाता है।

सुकडित्ति सुपक्कित्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥३६॥

सुकृतमिति सुपक्वमिति, सुच्छिन्नं सुहृतं मृतम्।
सुनिष्ठितं सुलष्टमिति, सावद्यं वर्जयेन्मुनिः ॥३६॥

पदार्थान्वयः—सुकडित्ति–अच्छा किया, इस प्रकार का भाषण करना सुपक्कित्ति–अच्छा पकाया, इस प्रकार कहना सुच्छिन्नं–अच्छा छेदन किया सुहडे–अच्छा हरण किया मडे–अच्छा मरण हुआ सुणिट्ठिए–अच्छा रस उत्पन्न हुआ सुलट्ठित्ति–यह बहुत मनोहर है इस प्रकार के सावज्जं–सावद्य—पापयुक्त वचन को मुणी–मुनि–साधु वज्जए–छोड़ देवे।

मूलार्थ—भोजन करते समय व्रतशील साधु—अच्छा किया, अच्छा पकाया, अच्छा छेदन किया, अच्छा हुआ जो इसका कड़वापन हरा गया, अच्छा मर गया, इसमें अच्छा रस उत्पन्न हो गया, यह बहुत ही मनोहर है—इस प्रकार के सावद्य—पापयुक्त वचन को त्याग देवे।

टीका—इस गाथा में साधु को भोजन करते समय व्यर्थ वचन और सावद्य वचन के परित्याग का आदेश किया गया है। यह भोजन बहुत अच्छा बना हुआ है, यह पदार्थ बहुत सुन्दर रीति से पकाया गया है, यह शाक बड़ी ही बुद्धिमानी से चीरा (बनाया) गया है, इस शाक का कड़ुवापन अच्छी तरह से

दूर हो गया, इन सत्तुओं ने तो सारे ही घी को पी लिया, इस पदार्थ में तो अब बहुत ही उत्तम रस उत्पन्न हो गया और यह चावल तो बहुत ही सुन्दर हैं—इस प्रकार के सावद्य शब्दों का भोजन के समय विवेकशील मुनि कभी उच्चारण न करे। इस प्रकार के भाषण से आत्मा में मलिन संस्कारों की वृद्धि और रागद्वेष के भाव पैदा होने के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के लाभ की सम्भावना नहीं है। अतः साधु पुरुष इस प्रकार की शब्दरचना का सर्वथा त्याग कर दे। हाँ, यदि उसको बोलना ही अभीष्ट हो तो इस साधु ने शास्त्रों का बहुत अच्छा मनन किया है, इसके वचन और विज्ञान आदि सद्गुण बहुत ही परिपक्व हैं, यह महात्मा निस्सन्देह प्रशंसा के योग्य है क्योंकि इसने स्नेह के बन्धन को बिल्कुल ही तोड़ दिया है, इसने पंडित मृत्यु से जो मृत्यु प्राप्त किया है यह बहुत ही अच्छा किया, और इसकी साधुचर्या बड़ी ही उज्ज्वल तथा प्रभावपूर्ण है—इस प्रकार के साधुजनोचित शब्दों का व्यवहार करे।

दशवैकालिक सूत्र के वृत्तिकार महात्मा ने उक्त गाथा का इस प्रकार से अर्थ किया है—

भोजन करते समय साधु इस प्रकार के सावद्य वचनों का उच्चारण न करे। यथा—इसने अच्छी सभा की है, सहस्रपाकादि तेल अच्छी रीति से पकाये गये हैं, वन आदि का छेदन अच्छा किया गया है, अच्छा हुआ जो इस दुष्ट का धन हरा गया, यह शत्रु मर गया सो अच्छा हुआ, इसको अपने धन का बहुत गर्व था सो इस धन के नाश से इसका भी नाश हो गया यह बहुत अच्छा हुआ, यह कन्या बड़ी ही सुन्दर है अब इसका यदि किसी योग्य वर से विवाह कर दिया जाय तो बहुत ही अच्छा हो क्योंकि यह अब वरने के योग्य है, इत्यादि।

उक्त प्रकार के सावद्य वचनों के स्थान में साधु निम्नलिखित निरवद्य—निष्पाप वचनों का प्रयोग करे। यथा—इसने गुरुजनों की अच्छी सेवा की है, इसका ब्रह्मचर्य बहुत ही परिपक्व है, इसने स्नेह का बन्धन तोड़ दिया है, इसने शिष्य के क्रोध को हर लिया है, इसने पंडित मरण से अच्छी मृत्यु प्राप्त कर ली है, यह अप्रमत्त संयम में पूर्णतया सुनिष्ठित है और इस साधु की क्रिया बहुत ही सुन्दर है, इत्यादि।

विनीत और विनयरहित शिष्य को शिक्षा देने में गुरु को जो फल प्राप्त होता है, अब उसी के विषय में कहते हैं—

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए ॥३७॥

रमते पण्डितान् शासत्, हयं भद्रमिव वाहकः।
बालं श्राम्यति शासत्, गलिताश्वमिव वाहकः ॥३७॥

पदार्थान्वयः—पंडिए-पंडितों को सासं-शिक्षा करता हुआ गुरु रमए-आनन्दित होता है भद्दं-भद्र हयं-घोड़े व-की तरह वाहए-वाहक बालं-मूर्ख को सासंतो-शिक्षा करता हुआ सम्मइ-कष्ट पाता है गलियस्सं-दुष्ट घोड़े व-की तरह वाहए-वाहक।

मूलार्थ—गुरु पण्डितों को शासन करता हुआ इस प्रकार से आनन्द को प्राप्त होता है जैसे उत्तम घोड़े का शासन करने वाला वाहक—चावक सवार। और मूर्खों को शिक्षा देता हुआ ऐसे कष्ट पाता है जैसे दुष्ट घोड़े का शिक्षक वाहक—चावक सवार।

टीका—विनयशील शिष्य को शिक्षा देने से गुरुजनों को किस प्रकार के सुन्दर फल की प्राप्ति होती है और अविनीत शिष्य के शासन से उन्हें किस प्रकार के कुफल का अनुभव करना पड़ता है, इस विषय को सरल और दुष्ट स्वभाव के अश्व के दृष्टान्त से शास्त्रकार ने बहुत ही उत्तमता से बतलाया है। जिस प्रकार सरल प्रकृति का घोड़ा थोड़े में ही अपने वाहक की शिक्षा को ग्रहण करके उसकी आज्ञा के अनुसार चलकर उसे आनन्द देने लगता है इसी प्रकार विनीत शिष्य भी अपने गुरुजनों की शिक्षा को संकेतमात्र से ही ग्रहण करके उनकी मनोवृत्ति के अनुसार चलता हुआ गुरुजनों के असीम आनन्द का हेतु बन जाता है। एवं जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा अपने वाहक के शासन को न मान कर अपनी कुचेष्टाओं से सुख के बदले उसे कष्ट पहुंचाने का कारण बनता है ठीक इसी प्रकार अविनीत शिष्य को शिक्षा देने के विपरीत परिणाम का अनुभव भी गुरुजनों को

ही करना पड़ता है। जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा स्वयं दुःखी होता हुआ अपने शासक को भी दुःख मे डाल देता है, इसी प्रकार मूर्ख शिष्य गुरुजनों की शिक्षा को विपर्यय रूप में ग्रहण करके स्वयं कलुषित होता हुआ गुरुजनों को भी कष्ट पहुंचाने में कुछ कसर नहीं रखता। इसलिये शासन करते समय गुरुजनों को प्रथम योग्यायोग्य शिष्य का विचार अवश्य कर लेना चाहिये। यहां पर भले घोड़े के समान तो विनीत शिष्य है और दुष्ट घोड़े के सदृश विनयरहित कुशिष्य को समझना चाहिये। और गाथा में 'व' शब्द 'इव' सदृश अर्थ का बोधक है। यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिये कि ग्रन्थ के इस अध्याय में इससे पहले भी इसी प्रकार के विषय में अश्व की उपमा दी जा चुकी है। अब पुनः उसके उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि शास्त्र में अश्व को एक बहुमूल्य रत्न के समान माना है। इसलिये उसका पुनः उल्लेख किया गया है।

मूर्ख शिष्य के हृदय पर गुरुओं की शिक्षा का कैसा प्रभाव पड़ता है तथा उसको वह किस रूप में समझता है, अब इस विषय में कुछ प्रकाश डाला जाता है—

खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे।
कल्लाणमणुसासन्तो, पावदिट्ठित्ति मन्नई ॥३८॥

खड्डुका मे चपेटा मे, आक्रोशाश्च वधाश्च मे।
कल्याणमनुशिष्यमाणः, पापदृष्टिरिति मन्यते ॥३८॥

पदार्थान्वयः—मे-मेरे खड्डुया-टकरें मारते हैं मे-मेरे चवेडा-चपेड़ मारते हैं य-और मे-मुझे अक्कोसा-आक्रोशते हैं य-और मे-मुझे वहा-मारते हैं कल्लाणं-कल्याण रूप अणुसासन्तो-अनुशासन को पावदिट्ठी-पापदृष्टि त्ति-इस प्रकार मन्नई-मानता है।

मूलार्थ—गुरु मेरे टकरें मारते हैं, चपेड़ मारते हैं और मुझे कोसते तथा मारते हैं। पापदृष्टि शिष्य गुरुजनों के हित शासन को इस प्रकार मानता है।

टीका—जिस प्रकार साँप को पिलाया हुआ गोदुग्ध भी विष के रूप में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार मूर्ख शिष्य को दी गई हितशिक्षा का भी भयंकर ही परिणाम निकलता है। गुरुजनों का सहज कठोर शासन तो केवल शिष्य के हित और सुधार के लिये होता है परन्तु अविनीत मूर्ख शिष्य तो उसे केवल द्वेषमूलक कठोर दंड समझने लगता है और गुरुओं के हित वचन को भी अहित रूप समझ कर उन पर क्रोध करने लगता है, तथा नाना प्रकार के उपालम्भों से उन्हें दूषित करने की चेष्टा करने लगता है। यथा—ये कैसे गुरु बने हैं, ये तो मुझे चपेड़े मारते हैं, और रात दिन मुझे कोसते हैं, एवं मुझे मारने को तैयार हो रहे हैं, इत्यादि। यद्यपि गुरुजनों का शासन तो मेघजल के समान सब को तुल्य ही शान्ति देने वाला और इस लोक तथा परलोक दोनों मे ही कल्याणकारक है तथापि मूर्ख शिष्य उसको उलटा अपने लिये अहितकारक ही समझता हुआ गुरुजनों से द्वेष करके उनसे विपरीत आचरण करने लगता है। अतः गुरुजनों को भी उचित है कि वे शिक्षा देने से पहले शिष्य की योग्यता की परीक्षा अवश्य कर लिया करें ताकि उनका शासन विफल न जावे।

अब इसी विषय में कुछ जानने योग्य बातों का उल्लेख किया जाता है—

पुत्तो मे भाय नाइ त्ति साहू कल्लाण मन्नई।
पावदिट्ठि उ अप्पाणं सासं दासि त्ति मन्नई ॥३९॥

पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति साधुः कल्याणं मन्यते।
पापदृष्टिस्त्वात्मानं शिष्यमाणो दास इति मन्यते ॥३९॥

पदार्थान्वयः—मे-मुझे पुत्तो-पुत्र के समान भाय-भ्राता के समान नाइ-ज्ञाति के समान त्ति-इस प्रकार साहू-साधु-विनयवान् कल्लाण-गुरुओं के शिक्षण को कल्याण रूप मन्नई-मानता है उ-फिर पावदिट्ठि-खोटी बुद्धि वाला उस सासं-शासन को अप्पाणं-आत्मा में दासि-दास की त्ति-तरह मन्नई-मानता है।

मूलार्थ—विनीत शिष्य तो गुरुजनों के शासन को पुत्र, भ्राता और ज्ञाति-सम्बन्धि-जनों को दिये गये शिक्षण के समान हितकारी समझता है और पापदृष्टि—मूर्ख शिष्य उसी हित शिक्षण को अपने लिये दास की शिक्षा के तुल्य मानता है।

टीका—संसार में दृष्टिभेद ही सब जगह पर काम कर रहा है। आज संसार में जितनी भी विषमता देखी जाती है उसका कारण दृष्टिभेद अथवा अध्यवसायभेद है। वस्तु एक अथवा समान होने पर भी रुचिभेद या दृष्टिभेद उसे भिन्न २ रूप में उपस्थित कर देता है। इसी लिये जो बात एक को रुचिप्रद होती है, दूसरा उससे घृणा करता है। यही दशा शास्त्रों के समान उपदेश और गुरुजनों के भेदभाव से रहित अनुशासन की है। शास्त्रों का सदुपदेश यद्यपि सब के लिये समान कक्षा का है तथापि बहुत से तो उसको कल्याणप्रद और उन्नतिसाधक समझते हुए उत्तम आचरण द्वारा उससे लाभ उठाते हैं तथा बहुत से ऐसे सज्जन भी हैं जो उक्त शास्त्रीय उपदेश को आत्मा के अधःपतन का कारण समझते हुए उससे कोसों दूर भागते हैं। इसका कारण सिवाय अध्यवसाय अथवा दृष्टिभेद के और कुछ नहीं है। गुरुजनों के सदुपदेश अथवा शिक्षण की भी ठीक यही दशा है। उनकी हित शिक्षा बिना किसी भेद भाव को लिये हुए सारे शिष्य समुदाय के लिये समानकोटि की होती है परन्तु पात्रभेद से वह भी उत्तम और अधम फल देने वाली हो जाती है। विनीत शिष्य तो उनके अनुशासन को परम कल्याण के देने वाला समझता है और पापदृष्टि—अविनीत शिष्य की दृष्टि में वह अनुशासन एक प्रकार की साधुजनविगर्हित भर्त्सनामात्र है। मूल गाथा में न्यूनाधिक शब्दों द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया गया है।

बुद्धिमान् शिष्य तो गुरुजनों के सहज कठोर शासन को भी पुत्र, भ्राता और सम्बन्धी जनों के शासन के समान हितकर समझता है और अविनीत शिष्य उसे दास को दी जाने वाली कठोर शिक्षा के समान अहितकर समझता है। इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि गुरुजनों के शासन करने पर बुद्धिमान् शिष्य अपने मन में विचार करता है कि पिता हितबुद्धि से ही पुत्र को शिक्षा देता है। भाई इसी लिये भाई को समझाने बुझाने की चेष्टा करता है

कि भाई के लिये उसके हृदय में स्नेह-सरिता की ऊर्मियाँ लहरा रही हैं। एक सम्बन्धी का अपने दूसरे सम्बन्धी को बोध देना भी उसके आन्तरिक स्नेह का ही द्योतक है। इसी प्रकार गुरुजनों का जो मेरे लिये यह सहज कठोर शासन है इसमें भी इनकी कृपामयी हितकामना ही काम कर रही है। इसलिये गुरुजन जो कुछ भी कहते सुनते हैं वह सब कुछ मेरे ही भले के लिये है, इसमें इनका स्वार्थ कुछ भी नहीं है। ऐसा विचार कर वह बुद्धिमान् शिष्य गुरुजनों की इच्छा के अनुकूल आचरण करता हुआ अपने आत्मा को मोक्षमार्ग का दृढ़ पथिक बना लेता है, और जो पापदृष्टि—मूर्ख शिष्य है उसका विचार इससे सर्वथा विपरीत होता है। वह गुरुजनों के शासन को हितकर एवं कल्याणप्रद समझने के बदले उसको एक निकृष्ट प्रकार की भर्त्सना मानता है। उसके हृदय पर गुरुजनों के अनुशासन का विपरीत प्रभाव पड़ने से वह अपनी आत्मा में इस प्रकार का कुविचार उत्पन्न करता है कि इन गुरुओं का अब मेरे ऊपर बिलकुल स्नेह नहीं रहा। ये तो स्नेह के बदले मेरे ऊपर अब द्वेष ही रखने लग पड़े हैं। इसी लिये ये रात दिन मेरे को कोसते रहते हैं। मेरे साथ इनका जो बर्ताव है, वह बहुत ही तुच्छ है। इनकी दृष्टि में मैं एक तुच्छ दास के तुल्य हूं। जैसे कठोर हृदय वाले मालिक को अपने नौकर पर दया नहीं होती इसी लिये वह उसके जरा से अपराध पर भी आपे से बाहर होकर उसको कठोर ताड़ना करने लग पड़ता है, इसी प्रकार इनको भी मेरे ऊपर किसी प्रकार की करुणा नहीं है। इनकी कठोर शिक्षा अब मुझ से सहन नहीं हो सकती। इस प्रकार की विपरीत भावनाओं से वह मूर्ख शिष्य अपनी आत्मा को मलिन करता हुआ उसे सन्मार्ग की ओर ले जाने के बदले कुमार्ग का ही यात्री बना देता है।

यहां पर भी विचारभेद अथवा दृष्टिभेद ही काम कर रहा है। विनीत शिष्य ने गुरुजनों के शासन में रही हुई उनकी आन्तरिक हितकामना को परख लिया है, और अविनीत शिष्य को गुरुजनों के शासन में काम करने वाली हितकामना का परिज्ञान नहीं होता। इसलिये फलश्रुति में भी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। विनीत को तो वह शिक्षा मोक्षमार्ग का पथिक बनाती है और अविनीत को वह भारी कर्मबन्ध का हेतु बना देती है, यही अध्यवसाय मनोगत विचार भेद की विचित्रता है।

अब विनीत शिष्य के अन्य उत्तम कर्तव्यों का वर्णन किया जाता है—

न कोवए आयरियं, अप्पाणंपि न कोवए ।
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥४०॥

न कोपयेदाचार्यम्, आत्मानमपि न कोपयेत् ।
बुद्धोपघाती न स्यात्, न स्यात् तोत्रगवेषकः ॥४०॥

पदार्थान्वयः—**आयरियं**—आचार्य पर **न कोवए**—क्रोध न करे **अप्पाणंपि**—अपनी आत्मा पर भी **न कोवए**—क्रोध न करे **बुद्धोवघाई**—बुद्धों का घात करने वाला **न सिया**—न होवे **तोत्तगवेसए**—छिद्रों का गवेषक **न सिया**—न होवे ।

मूलार्थ—**आचार्य पर क्रोध न करे, अपनी आत्मा पर भी क्रोध न लावे, तत्त्ववेत्ताओं का घातक न हो और छिद्रों के देखने वाला भी न हो ।**

टीका—जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, सभी पुरुष एक ही प्रकृति तथा विचार के नहीं होते । बहुतों को दी गई शिक्षा तो अज्ञानता के कारण शान्ति के बदले क्रोध की उत्पत्ति का हेतु बन जाती है । इसलिये कई एक मूढ़ शिष्य तो शिक्षा देने वाले गुरुजनों पर ही क्रुद्ध हो जाते हैं और क्रोध में आकर मनुष्य कितने और किस प्रकार के अनर्थ कर बैठता है यह सब को भली भांति विदित ही है, इसके लिये किसी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है । अतः गुरुजनों की सेवा में रहने वाले बुद्धिमान् शिष्य को क्रोध और उससे होने वाले अनर्थों को अपने पास तक भी फटकने न देना चाहिये, इसी में उसका श्रेय है । बस, इसी विषय को ऊपर दी गई मूल गाथा में गुन्थन करने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है ।

विनयाचार में प्रवृत्त होने वाले बुद्धिमान् शिष्य को उचित है कि गुरुजनों के कठोर शासन करने पर भी वह उनके ऊपर क्रोध न लावे । इसके सिवाय वह अपने आत्मा पर भी कुपित न हो अर्थात् गुरुजनों के शासन से आत्मा में ग्लानि लाता हुआ 'इससे तो मर जाना ही अच्छा है' इस प्रकार का अनिष्ट विचार न करे । तथा क्रोध के वशीभूत होकर गुरुजनों के घात का भी मन में संकल्प न करे तथा उनके छिद्रों का अन्वेषण भी न करे । इसका तात्पर्य यह है कि बहुत से बुद्धिहीन शिष्य गुरुजनों की शिक्षा से चिढ़कर उनके घात

करने के कुविचार मन मे लाने लगते हैं। उनकी दुर्भावनाओं में यह समाया हुआ होता है कि अच्छा हो यदि ये मर जाएँ नहीं तो जब तक ये जीवित रहेंगे तब तक इसी प्रकार की अंड बंड शिक्षा करते रहेंगे। इनके मर जाने से 'न होगा बाँस न बजेगी बँसरी' वाली कहावत चरितार्थ हो जावेगी। छिद्रान्वेषण भी क्रोध की ही एक अवान्तर शाखा प्रतिशाखा है। गुरुजनों पर असद्भाव रखने वाले अविनीत शिष्य उनकी शिक्षा का उनसे बदला लेने के विचार से उनके किसी न किसी छिद्र की तलाश में रहते हैं। उनके मन मे रात दिन यही दुर्भावना चक्र लगाती रहती है कि इनकी भी अगर मुझे कोई गुप्त कमजोरी मिल जाय तो मैं भी जनता मे इनका भांडा फोड़ कर ही दम लूं ताकि आगे को इन्हे किसी प्रकार की शिक्षा करने का साहस न हो सके। इस सारे कथन का अन्तिम अभिप्राय यह है कि विनीत शिष्य को इस प्रकार के अनाचरणीय विचारों और आचारों को किसी समय में भी अपने पुनीत हृदय में स्थान न देना चाहिये। बुद्धिमान् शिष्य के आचार विनय की शोभा तो इसी मे है कि वह अपने गुरुजनों को किसी समय भी अप्रसन्न न होने दे, इसी में उसके आत्मज्ञान की उज्ज्वलता और समाहित दृष्टि का विकास निहित है।

अब गुरुजनों की प्रसन्नता के लिये विनीत शिष्य का जो कर्तव्य है, उसका उल्लेख करते हैं—

आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलीउडो, वएज्ज न पुणुत्ति य ॥४१॥

आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा, प्रातिकेन[1] प्रसादयेत्।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुटः, वदेन्न पुनरिति च ॥४१॥

पदार्थान्वयः—आयरियं—आचार्य को कुवियं—कुपित हुआ नच्चा—जान कर पत्तिएण—प्रत्ययकारी वचनों से पसायए—प्रसन्न करे और पंजलीउडो—हाथ जोड़ कर विज्झवेज्ज—उनकी क्रोध रूप अग्नि को उपशान्त करे य—और वएज्ज—कहे न पुणुत्ति—फिर इस प्रकार न करूंगा।

1 'प्रीत्या' इत्यपि छाया ग्रन्थान्तरे।

मूलार्थ—आचार्य महाराज को कुपित हुआ जानकर विनीत शिष्य प्रतीतिकारक वचनों से उन्हें प्रसन्न करे और उनकी क्रोध रूप अग्निज्वाला को शीतल वचनों से शान्त करे तथा दोनों हाथ जोड़कर कहे कि मैं फिर आगे को ऐसा कभी न करूंगा।

टीका—यदि गुरुजन–आचार्य, उपाध्याय और स्थविर साधु प्रभृति–किसी कारण वश से असन्तुष्ट अथवा कुपित हो जायें तो विनयशील बुद्धिमान् शिष्य का यह धर्म है कि वह उन्हें अनुनय विनय आदि हर प्रकार से सन्तुष्ट एवं प्रसन्न करने का प्रयत्न करे क्योंकि गुरुजनों की तुष्टि और शान्ति से ही शिष्य के ज्ञान ध्यान और समाधि की स्थिरता रह सकती है। इसलिये आचार्य महाराज यदि कुपित हो जायें तो शिष्य को चाहिये कि बड़ी नम्रता से विश्वास और प्रीति-जनक शब्दों द्वारा उन्हे प्रसन्न करता हुआ उनकी क्रोध रूप अग्निज्वाला को उपशान्त करने का प्रयत्न करे और दोनों हाथ जोड़कर उनके चरणों मे प्रार्थना करे कि भगवन्! आप बड़े कृपालु हैं और मै आपकी कृपा का तुच्छ पात्र हूं तथा आप मेरे सदा पूज्य हैं। मैं आपका सदा अनुचर हूं। मुझे अपने इस अज्ञात अपराध की क्षमा प्रदान करें। भविष्य मे मैं जिससे आपको असन्तोष पैदा हो ऐसा आचरण कभी नहीं करूंगा। इस प्रकार के हार्दिक विनयाचार से गुरुजनों की फिर से प्रसन्नता प्राप्त कर लेने वाला शिष्य निस्सन्देह आसन्नभवी—निकटसंसारी हो जाता है क्योंकि आचारसम्पन्न गुरुजनों की कृपा मे भी कुछ कम चमत्कार नहीं है।

अब विनयाचारविषयक कुछ अन्य ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया जाता है—

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई ॥४२॥

धर्मार्जितं च व्यवहारं, बुद्धैराचरितं सदा।
तमाचरन् व्यवहारं, गर्हां नाभिगच्छति ॥४२॥

पदार्थान्वयः—धम्मज्जियं–धर्म से उत्पन्न हुआ च–और सया–सदा बुद्धेहायरियं–तत्त्ववेत्ता आचार्यों द्वारा आचरण किया गया जो ववहारं–व्यवहार है

तं–उस ववहारं–व्यवहार को आयरंतो–आचरण मे लाता हुआ गरहं–निन्दा को नाभिगच्छई–प्राप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जो व्यवहार धर्म से उत्पन्न हुआ है, और तत्त्ववेत्ता आचार्यों ने जिसका आचरण किया है उस व्यवहार को आचरण में लाने वाला पुरुष संसार में कभी निन्दा को प्राप्त नहीं होता।

टीका—इस गाथा में विनयशील मुमुक्षुजनों को परम्परागत शुद्ध व्यवहार के अनुष्ठान करने का आदेश किया गया है। जो व्यक्ति शास्त्रों मे अभिधान किये गये और प्राचीन ऋषियों द्वारा आचरण किये गये व्यवहार मार्ग का अनुसरण करता है, वह संसार मे कभी भी निन्दा का पात्र नहीं बनता। इसके विपरीत स्वेच्छाकल्पित व्यवहार का अनुष्ठान साधु पुरुषों मे अवश्य गर्हित समझा जाता है और समझा जाना चाहिये। इसलिये भद्रपुरुषों को सदा शास्त्रविहित परम्परागत व्यवहार का ही पालन करना चाहिये। परम्परागत शुद्ध व्यवहार की उत्पत्ति का मूल, क्षमा आदि दशविध यतिधर्म में है। इसी लिये इसको धर्मार्जित (धर्म से एकत्रित किया गया, धर्म से उत्पन्न किया गया) कहते हैं और धर्मप्राण पूर्वाचार्यों ने भी इसी हेतु से इसको आचार मार्ग में लाने का प्रयत्न किया है। इसलिये उक्त गाथा मे शास्त्रकार फरमाते हैं कि जो व्यवहार धर्म से अर्जित किया गया है और तत्त्ववेत्ता आचार्यों ने जिसका स्वयं आचरण किया है ऐसे शुद्ध व्यवहार का पालन करने वाला कभी निन्दा या अपयश का भागी नहीं बनता। इससे सिद्ध हुआ कि इसके विरुद्ध स्वेच्छाकल्पित व्यवहार का आचरण करने वाला इस लोक में अवश्य निन्दा का भाजन बनेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

इस प्रकार शुद्ध व्यवहार को ग्रहण करके शिष्य का गुरुजनों के प्रति जो आगे का कर्तव्य है, अब उसकी चर्चा की जाती है—

मणोगयं वक्कगयं, जाणित्तायरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ॥४३॥

मनोगतं वाक्यगतं, ज्ञात्वाऽऽचार्यस्य तु।
तं परिगृह्य वाचा, कर्मणोपपादयेत् ॥४३॥

पदार्थान्वयः—मणोगयं–मन के भाव वक्कगयं–वचन के भाव उ–अर्थात् काय के भाव आयरियस्स–आचार्य के जाणित्ता–जान करके तं–उस भाव को वायाए–वाणी से परिगिज्झ–ग्रहण करके कम्मुणा–काया से उववायए–उत्पादन करे।

मूलार्थ—आचार्य के मन, वचन और काय के भावों को जानकर वचन द्वारा स्वीकार करके उनका शरीर द्वारा उत्पादन करे।

टीका—विनय धर्म की आराधना में प्रवृत्त होने वाले मेधावी का गुरुचरणों मे किस कक्षा का अनुराग होना चाहिये, इस बात का दिग्दर्शन उक्त गाथा में कराया गया है। भावसूचक अंग प्रत्यंग चालन रूप किसी भी चेष्टा से आचार्यों–गुरुजनों के मन, वाणी और शरीरगत भाव को समझ कर विनीत शिष्य उसे वाणी मे लाता हुआ आचरण में लाकर उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करे। इसका तात्पर्य यह है कि योग्य शिष्य गुरुजनों के वचन और आदेश की प्रतीक्षा न करता हुआ यहां तक अपनी योग्यता और विनीतता का परिचय दे कि गुरुओं की किसी मूक चेष्टा से ही उनके मनोगत भाव को समझकर उसकी पूर्ति के लिये शीघ्र प्रयासशील बने। यह उसकी योग्यता और गुरुचरणानुरक्ति की परीक्षा के लिये एक उत्तम कसौटी है। इसके अतिरिक्त यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि गुरुजनों की विनय पर बार २ जो इतना महत्त्व दिया गया है उसका मुख्य प्रयोजन विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति है। गुरुचरणों की आराधना के बिना शिष्य की अन्तरात्मा मे ज्ञानज्योति का प्रदीप्त होना सुकर तो क्या दुष्कर भी नहीं। अतः ज्ञानामृत के पिपासु शिष्य का यही धर्म है कि अपने आपको गुरुचरणों पर न्योछावर कर दे ताकि उसका अक्षय सुख प्राप्ति का निकट मार्ग नितान्त सरल बन सके।

अब विनय धर्म में निपुणता प्राप्त किये हुए शिष्य के लक्षण कहते हैं—

वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वइ सया ॥४४॥

वित्तोऽनोदितो नित्यं, क्षिप्रं भवति सुनोदितः।
यथोपदिष्टं सुकृतं, कृत्यानि कुरुते सदा ॥४४॥

पदार्थान्वयः—वित्ते–विनीत अचोइए–विना प्रेरणा किये निच्चं–सदा खिप्पं–शीघ्र हवइ–होता है सुचोइए–सुप्रेरित जहा–जैसे उवदिट्ठं–कहा है सुकयं–अच्छा किया किच्चाई–कार्यों को सया–सदा कुव्वई–करता है।

मूलार्थ—विनयवान् शिष्य विना प्रेरणा किया हुआ प्रेरणा किये हुए की तरह शीघ्र कार्यकारी हो और गुरुओं के उपदेश के अनुसार ही सदा कार्यों को करता रहे।

टीका—इस गाथा में विनीत शिष्य की निपुणता के सम्बन्ध में उसका कर्तव्य वर्णन किया गया है। विनयशील शिष्य का यह धर्म है कि वह गुरुजनों की प्रेरणा के न होने पर भी प्रेरणा किये गये की भांति बड़ी शीघ्रता से कार्य का सम्पादन करे और करने योग्य हर एक कार्य को बड़ी सुन्दरता से करे और गुरुजनों के उपदेश के अनुसार करे जिससे कि वे उसके कार्य को देखकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए यह कहें कि 'बहुत अच्छा किया'। इसका अभिप्राय यह है कि कोई भी करने योग्य काम हो तो गुरुजनों को उसे कहकर न करवाना पड़े किन्तु उनके उपदेश के अनुसार उस कार्य को उनकी प्रेरणा के विना ही इस खूबी और शीघ्रता से करे जिससे कि गुरुजनों को उसकी प्रशंसा करने के लिये विवश होना पड़े। सारांश यह है कि विनीत शिष्य अपनी कार्यदक्षता से भी गुरुजनों की प्रसन्नता के सम्पादन में किसी प्रकार की कसर बाकी न रक्खे, यही उसके विनयधर्म के अनुशीलन का सुखद सार है।

उपसंहार—

नच्चा नमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायए।
हवई किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा ॥४५॥

ज्ञात्वा नमति मेधावी, लोके कीर्तिस्तस्य जायते।
भवति कृत्यानां शरणं, भूतानां जगती यथा ॥४५॥

पदार्थान्वयः—नच्चा–जान करके मेहावी–बुद्धिमान् नमइ–नम्र होता है लोए–लोक में से–उसकी कित्ती–कीर्ति जायए–होती है किच्चाणं–कृत्यों का शरणं–

शरणभूत हवई–होता है भूयाणं–वनस्पति आदि भूतों का जगई–पृथिवी जहा–जैसे शरण है।

मूलार्थ—विनय के स्वरूप को जानकर बुद्धिमान् शिष्य नम्र हो जाता है, लोक में उसकी कीर्ति होती है, वनस्पति आदि भूतों का शरण–आश्रय जैसे पृथिवी है, इसी प्रकार समस्त कार्यों का शरणभूत–आश्रय स्वरूप बन जाता है।

टीका—इस गाथा में विनय धर्म की फलश्रुति का उल्लेख किया गया है। विनय धर्म का पहला गुण तो यह है कि उसके अनुष्ठान से नम्रता की प्राप्ति होती है क्योंकि विनीत पुरुष का सब से पहला आचार नम्रता है। अविनीत के पास तो विनम्रता फटकने भी नहीं पाती! विनयधर्म के आचरण का दूसरा फल कीर्ति है। विनय धर्म का सेवन करने वाले की कीर्ति लोक मे इस प्रकार फैलती है कि एक दिन समस्त संसार मे उसका आधिपत्य हो जाता है। विनयधर्म का इनसे भी अधिक यह प्रभाव है कि उसका अनुष्ठान करने वाला मनुष्य आचरणीय समस्त कार्यों का आश्रयदाता बन जाता है। जिस प्रकार वृक्ष आदि समस्त सजीव प्राणियों को आश्रय देने वाली पृथिवी है, उसी प्रकार विनयाचारनिष्ठ पुरुष भी अपने आचार्यों तथा आचरणीय कार्यों की सफलता मे एक अपूर्व सहारा है।

विनयधर्म समस्त धर्मों की मूल भित्ति है। विनयाचार समस्त आचारों का मूल स्रोत है। इसके धारण से, इसके आचरण से आत्मा में जिस ज्ञानज्योति का उदय होता है और शान्ति के प्रशान्त महासागर में जिस प्रकार की डुबकी लगती है तथा अन्तरात्मा मे अप्रमत्तता की जो मस्ती दौरा करती है उसका यथार्थ तो क्या, साधारण वर्णन भी इस मूक लेखिनी की सामर्थ्य से सर्वथा बाहर है। इसलिये विनयधर्म की महिमा अपार है।

इस गाथा मे विनयधर्म के सम्बन्ध में उल्लेखनीय मुख्य तीन बातें कही गई हैं—(१) विनयधर्म का अधिकारी (२) विनयधर्म का फल (३) और विनयधर्म का प्रभाव। सो इसका अधिकारी तो बुद्धिमान् पुरुष है, फल—विनम्रता और दिगन्तव्यापिनी विश्वविश्रुत कीर्ति की प्राप्ति है तथा आचरणीय समस्त कार्यों को आश्रय देना अथवा आत्मा मे समस्त कार्यों के सम्पादन की शक्ति का प्रादुर्भाव होना इसका प्रभाव है। इस सारे वक्तव्य का सारांश यह है कि विनयधर्म एक

ऐसा धर्म है कि जिससे मोक्षमंदिर के कण्टकापूर्ण विकट मार्ग को निष्कंटक और सरलतर बनाने में अधिक से अधिक सहायता मिल सकती है। अतः मुमुक्षु पुरुष के लिये इसका आचरण करना कितना आवश्यक है, इसके कहने की अब कोई आवश्यकता शेष नहीं रहती।

गुरुजनों की प्रसन्नता प्राप्त करने वाले विनीत शिष्य के सम्बन्ध में अब अन्य ज्ञातव्य विषय का उल्लेख किया जाता है—

पुज्जा जस्स पसीयंति, संबुद्धा पुव्वसंथुया।
पसन्ना लाभइस्संति, विउलं अट्ठियं सुयं ॥४६॥

पूज्या यस्य प्रसीदन्ति, संबुद्धाः पूर्वसंस्तुताः।
प्रसन्ना लाभयिष्यन्ति, विपुलमार्थिकं श्रुतम् ॥४६॥

पदार्थान्वयः—पुज्जा–पूज्य–आचार्य जस्स–जिस पर पसीयंति–प्रसन्न होते हैं संबुद्धा–जो तत्त्ववेत्ता हैं पुव्वसंथुया–पढ़ने से पूर्व जिनकी स्तुति की गई है पसन्ना–प्रसन्न होकर लाभइस्संति–लाभ देंगे विउलं–विस्तार वाले अट्ठियं–अर्थ और सुयं–श्रुत का।

मूलार्थ—पढ़ने से पूर्व जिनकी स्तुति की गई है ऐसे तत्त्ववेत्ता पूज्य आचार्य जिस पर प्रसन्न हैं ऐसे शिष्य को वे प्रसन्नतापूर्वक बहुत विस्तार वाले अर्थ और श्रुत का लाभ देंगे।

टीका—अर्थसहित आगमादि श्रुत ज्ञान की प्राप्ति का आधार केवल पूज्य गुरुजनों की प्रसन्नता है। उनकी प्रसन्नता के विना श्रुत ज्ञान की न तो प्राप्ति ही हो सकती है और न वह सफल ही हो सकता है। इसलिये तत्त्वबुभुत्सु आगमाभ्यासी शिष्य को सब से प्रथम यही उचित है कि वह जिस तरह भी हो सके अपने पूज्य गुरुजनों की प्रसन्नता प्राप्त करने का उद्योग करे। गुरुजनों की प्रसन्नता से दुर्लभ श्रुत ज्ञान की प्राप्ति और उसकी सफलता अवश्यंभावी है। प्रसन्न-हृदय गुरुजन अपने विनीत शिष्य को श्रुतज्ञान का अलभ्य लाभ देने में जरा भी संकोच नहीं करते और गुरुजनों का प्रसन्नतापूर्वक दिया हुआ श्रुतज्ञान शिष्य

को अधिक लाभप्रद होता है क्योंकि प्रसन्न हुए गुरुजन अपने विनीत शिष्य के सामने आगमादि श्रुतज्ञान के किसी भी गुप्त रहस्य को छिपाकर नहीं रखते अपितु उनके आगमादि श्रुत के अध्यापन मे तत्त्वबोधसम्बन्धी अधिक स्पष्टता, अर्थविषयक अधिक मार्मिक विस्तार और ज्ञान प्राप्ति के विषय मे अधिक साफल्य का होना अनिवार्य है। बस, इसी रहस्य का व्यक्तीकरण कुछ न्यूनाधिक शब्दों में उक्त गाथा में किया गया है। तात्पर्य कि बुद्धिमान् शिष्य पढ़ने से पूर्व तत्त्ववेत्ता आचार्यों को स्तुति आदि के द्वारा प्रसन्न करे। छद्मस्थों की स्तुति आदि से प्रसन्नता प्रायः हो ही जाती है। फिर प्रसन्न हुए गुरुजन उस शिष्य को अधिक विस्तार वाले अर्थ—मोक्षपदार्थ और आगमादि श्रुत विद्या का अवश्य लाभ देते हैं। सारांश यह कि आगमादि श्रुतज्ञान की प्राप्ति का मूल साधन पूज्य आचार्यों की प्रसन्नता है। अतः उसी का संपादन करना चाहिये। वास्तव में तत्त्ववेत्ता गुरुजन एक प्रकार की कामधेनु गाय हैं। उनको प्रसन्न करने से ही श्रुतज्ञान रूप दुग्धामृत की प्राप्ति होती है। एवं उनकी जितनी अधिक प्रसन्नता होगी उतना ही अधिक दुग्धामृत उनसे प्राप्त हो सकेगा। इसलिये कामधेनु रूप गुरुजनों की अधिक से अधिक सेवा भक्ति करके उनसे अधिक से अधिक श्रुतज्ञान का लाभ प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिये।

अब विनय की ऐहिक फलश्रुति का उल्लेख किया जाता है—

स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए,
मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया।
तवोसमायारि समाहिसंवुडे,
महज्जुई पंच वयाइं पालिया ॥४७॥

स पूज्यशास्त्रः सुविनीतसंशयः,
मनोरुचिस्तिष्ठति कर्मसंपदा।
तपःसमाचारी समाधिसंवृतः,
महाद्युतिः पंच व्रतानि पालयित्वा ॥४७॥

पदार्थान्वयः—स–वह शिष्य पुज्जसत्थे–पूज्यशास्त्र सुविणीयसंसए–सर्वथा सन्देह रहित मणोरुई–गुरुओं के मन की रुचि और कम्मसंपया–दशविध कर्मसम्पदा में चिट्ठइ–ठहरता है तवोसमायारि–तप समाचारी समाहि–समाधि संवुडे–संवृत—आश्रव से रहित पंच वयाइं–पांच व्रतों को पालिया–पालन करके महज्जुई–महाद्युति वाला होता है।

मूलार्थ—वह विनीत शिष्य, जो पूज्य शास्त्र और सर्व प्रकार के संशयों से रहित है, मनोरुचि और कर्मसम्पदा में रहता है तथा तप समाचारी और समाधियुक्त आश्रव से रहित, पांच महाव्रतों का पालन करके महान् प्रकाश वाला हो जाता है।

टीका—इस गाथा में विनय धर्म के महत्त्व की चर्चा बड़ी सुन्दर परिभाषा में की गई है। विनय धर्म की इससे अधिक और क्या महिमा हो सकती है कि उसके उपासक को जनता पूज्यशास्त्र की उपाधि से अलंकृत करती है अर्थात् उसका अध्ययन किया हुआ शास्त्र औरों की अपेक्षा अधिक पूज्य समझा जाता है, तथा उसके श्रुत ज्ञान को अन्य सर्व साधारण की अपेक्षा अधिक परिष्कृत, असंदिग्ध और आदरणीय माना जाता है क्योंकि उसने गुरुचरणों में रहकर विनयधर्म की सतत आराधना करते हुए श्रुत का सम्यक् अध्ययन किया है, और गुरुजनों के मन के अनुसार सदा आचरण करने से उस विनीत शिष्य को मनोरुचि भी कहते हैं, तथा वह शिष्य जो कि इस समय पूज्यशास्त्र और विगतसंशय माना जा रहा है—अधीतागम अथवा सर्वप्रिय होने के कारण सदा गुरुचरणों में निवास करता है। आवश्यकीय आदि दशांगसमाचारी उसकी कर्मसम्पदा—कर्मसम्पत्ति है, तथा तपसमाचारी—बाह्य और आभ्यन्तर तप का अनुष्ठान करना—में भी वह पूर्ण निपुण होता है एवं समाधियुक्त और आश्रवरहित होकर पांच महाव्रतों का यथावत् पालन करके वह विनीत शिष्य लोक में एक अद्वितीय तेज वाला हो जाता है। एवं गुरुजनों से विनयपूर्वक अध्ययन किया हुआ शास्त्र ही पूज्य और उनसे विनयपूर्वक प्राप्त किया श्रुत ज्ञान ही सन्देहरहित होता है। इन्हीं दो बातों को स्फुट

१ इसका वर्णन इसी सूत्र के २६वें अध्ययन में देखो।

२ इसका वर्णन इसी सूत्र के ३०वें अध्ययन में किया है।

करने के लिये उक्त गाथा में 'सु' शब्द का प्रयोग किया है। तथा श्रुत का पूर्णतया अध्ययन कर चुकने के बाद भी जो गुरुजनों के निकट रहने का शिष्य को आदेश किया गया है उसका प्रयोजन केवल स्वेच्छाचार का निरोध करना है। इसके अतिरिक्त कर्मसम्पदा में स्थित रहने की आज्ञा करने का सूत्रकार का यह अभिप्राय है कि केवल ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती किन्तु उसके साथ क्रिया—शुद्ध आचार की भी आवश्यकता है और कर्मसम्पदा के साथ जो तपसमाचारी का उल्लेख किया है उसका तात्पर्य यह है कि क्रिया के साथ तपोऽनुष्ठान की भी नितान्त आवश्यकता है, परन्तु तप का अनुष्ठान भी चित्त की समाधि के विना व्यर्थ है। इसलिये गाथा मे समाधियुक्त होने का आदेश किया गया है और समाधि के लिये प्रथम आश्रव द्वारों का निरोध करके संवृत होना आवश्यक है अतः संवृत का उल्लेख किया है परन्तु आश्रवों का निरोध भी तभी शक्य है जब कि पांच महाव्रतों का यथावत् पालन किया जाय। अतः पांच महाव्रतों के अनुष्ठान से आश्रव द्वारों का निरोध करना, और आश्रवनिरोध से संवर की प्राप्ति करनी, संवर से समाधि की उपलब्धि और समाधि से तपोऽनुष्ठान की प्राप्ति एवं तपोऽनुष्ठान से कर्मसम्पदा में स्थिति होती है। इस प्रकार कर्म और ज्ञान की निर्मलता से आत्मा में अद्वितीय तेज की प्राप्ति होती है, जिसका अन्तिम परिणाम मोक्ष है।

इसके अतिरिक्त गाथा में आये हुए 'कर्मसम्पदा' और 'महाद्युति' इन दोनों शब्दों के पीछे 'भवति' क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिये।

अब सूत्रकार विनय के प्रत्यक्ष फल के विषय में कहते हैं—

स देवगंधव्वमणुस्सपूइए,
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए,
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥४८॥
त्ति बेमि।

इति विणयसुयं नाम पढमं अज्झयणं समत्तं ॥१॥

स देवगन्धर्वमनुष्यपूजितः,
त्यक्त्वा देहं मलपङ्कपूर्वकम् ।
सिद्धो वा भवति शाश्वतः,
देवो वाल्परजो महर्द्धिकः ॥४८॥
इति ब्रवीमि ।

इति विनयश्रुतं नाम प्रथममध्ययनं समाप्तम् ॥१॥

पदार्थान्वयः—स-वह विनयवान् शिष्य देवगंधव्वमणुस्सपूइए-देव, गन्धर्व और मनुष्यों द्वारा पूजित चइत्तु-त्याग करके देहं-शरीर को मलपंकपुव्वयं-मलपंकयुक्त को वा-अथवा सासए-शाश्वत सिद्धे-सिद्ध हवइ-होता है वा-अथवा अप्परए-अल्प कर्म रज वाला महिड्ढिए-महाऋद्धि वाला देवे-देव होता है त्ति-इस प्रकार वेमि-मैं कहता हूं।

मूलार्थ—वह विनयशील शिष्य देव, गन्धर्व और मनुष्यादि से पूजित होता हुआ मलपंक—शुक्रशोणित युक्त शरीर को त्याग कर या तो शाश्वत सिद्ध हो जाता है अथवा अल्पकर्मज और महासमृद्धि वाला देव हो जाता है।

टीका—विनय धर्म की यह प्रत्यक्ष महिमा है कि उसके आराधक को साधारण मनुष्य की तो क्या कहें, वैमानिक ज्योतिषी आदि देव व्यन्तर और भवनपति आदि गन्धर्व तथा चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुष भी पूजते तथा सम्मानित करते हैं। तथा विनयधर्म की आराधना के प्रभाव से वह मलमूत्र और पूय रुधिर आदि से युक्त इस दृश्यमान शरीर का परित्याग करके सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करता हुआ या तो शाश्वत—सदा रहने वाले सिद्धपद—मोक्षपद को प्राप्त हो जाता है और यदि उसके कर्म कुछ शेष रह जायँ तो वह अपने मे स्वल्पतर मोहनीय कर्म को रखता हुआ लवसप्तम आदि महासमृद्धि वाला देव बनता है। यहां पर विनयधर्म की फलश्रुति का वर्णन करते हुए उसके ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के विशिष्ट फल का प्रतिपादन किया गया है। देव गन्धर्व और उच्चकोटि के मनुष्यों द्वारा सम्मानित होना यह उसका महत्त्वपूर्ण ऐहिक फल है और शरीर त्याग के पश्चात् देवगति तथा अजर अमर पद की प्राप्ति उसका पारलौकिक चमत्कार है।

इसके अतिरिक्त यहां पर एक साधारण सी यह शंका रह जाती है कि विनयधर्म का आराधक जब कि देवों द्वारा पूजित होता है तब फिर उसको साथ में मनुष्यों के द्वारा भी पूजित बतलाना कुछ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि देवों की अपेक्षा मनुष्य हीन कक्षा में माने जाते हैं। अतएव उनकी अपेक्षा ये अपूज्य हैं। फिर इनको एक ही समान कक्षा में रखना किस प्रकार युक्तियुक्त माना जाय, इस शंका का समाधान यह है कि देव गन्धर्वादि के द्वारा विनीत पुरुष का सम्मानित होना तो केवल आगमसिद्ध अथवा केवलीदृष्ट ही है परन्तु चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुषों के द्वारा होने वाले पूजा सत्कार को देखने का सौभाग्य तो अस्मदादि साधारण व्यक्तियों को भी कदाचित् प्राप्त हो सकता है। इसलिये उक्त गाथा में जो मनुष्य शब्द का प्रयोग किया है वह बिलकुल अर्थसंगत है। इसके अलावा एक सन्देह और बाकी रह जाता है। वह यह कि किसी घाती कर्म के कुछ शेष रह जाने पर विनयोपासक, सिद्धगति को प्राप्त न करके केवल देवगति को ही प्राप्त हुआ अर्थात् देव बन गया तो फिर वह देव, स्वल्पकर्म व स्वल्परति वाला होने के साथ महासमृद्धि वाला भी हो यह कैसे संगत हो सकता है। परन्तु यह सन्देह बिलकुल अज्ञानमूलक है क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि घाती कर्मों की न्यूनता के साथ समृद्धि की न्यूनता हो। लवसप्तम और कल्पातीत देवों में समृद्धि का उत्कर्ष और घाती कर्मों की स्वल्पता ये दोनों बातें मौजूद हैं। इन देवों के मोहनीय कर्म का उदय नहीं होता किन्तु उपशम होता है। इसलिये ये उपशान्त मोह वाले कहलाते हैं परन्तु इसके साथ ही ये महासमृद्धि वाले भी हैं। अतः उक्त प्रकार का सन्देह व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त सिद्ध पद के साथ जो शाश्वत विशेषण दिया गया है, वह सिद्धगति—मोक्षगति को नित्य प्रतिपादन करने के लिये दिया गया है। तात्पर्य कि मुक्तात्मा की पुनरावृत्ति नहीं होती। कितने एक आज कल के स्वल्पबुद्धि पुरुष मोक्ष से कितने एक समय के बाद आत्मा का वापस आना भी मानते हैं परन्तु उनका यह कथन कितना मूल्यवान् है तथा उनकी इस भ्रान्त कल्पना में कितना सार है, इसका सविस्तर निरूपण अन्यत्र किया गया है।

'त्ति बेमि' (इस प्रकार मैं कहता हूँ)—यहां पर 'इति' शब्द समाप्ति के अर्थ का बोधक है और 'ब्रवीमि' का अर्थ है कि 'मैं गणधरादि के उपदेश से

ऐसा कहता हूं अर्थात् सुधर्मा स्वामी अपने जम्बू स्वामी आदि शिष्यों से कहते हैं कि मैंने जैसे तीर्थंकर देव और गौतम आदि गणधरों से विनयधर्म का स्वरूप सुना है उसी प्रकार मैं तुम को कहता हूं, इसमें अपनी निजी कल्पना से मैंने कुछ नहीं कहा है।

विनयश्रुत अध्ययन समाप्त।

अह दुइअं परिसहज्झयणं

अथ द्वितीयं परिषहाध्ययनम्

अब परिषह नाम के दूसरे अध्ययन का आरम्भ किया जाता है। इसके आरम्भ की उत्पत्ति इस प्रकार है—पहले अध्ययन में विनयधर्म का स्वरूप विस्तारपूर्वक निरूपण कर दिया गया है। अब इसमें शंका होती है कि क्या विनय का आचरण स्वस्थ दशा में ही करना अथवा परिषह की अवस्था में भी? इसका उत्तर यह है कि विनयधर्म का सेवन दोनों ही अवस्थाओं में आवश्यक है। जब ऐसा है तब तो परिषह का स्वरूप और संख्या का ज्ञान होना भी आवश्यक है। इसलिए परिषह अध्ययन का आरम्भ किया जाता है।

परिषह—इस शब्द का सामान्य अर्थ चारों ओर से आने वाले कष्टों का समतापूर्वक सहन करना है। संक्षेप से इन परिषहों की संख्या बाईस है। इन्हीं के स्वरूप का विस्तृत वर्णन इस दूसरे अध्ययन में किया गया है, जिसके आरम्भ की गाथा यह है—

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु वावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया। जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥१॥

श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्। इह खलु द्वाविंशतिः परिषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः। यान् भिक्षुः श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वाऽभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत ॥१॥

पदार्थान्वयः—श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—आउसं–हे आयुष्मन्! सुयं मे–मैंने सुना है तेणं–उस जगत्प्रसिद्ध भगवया–भगवान् ने एवं–इस प्रकार अक्खायं–प्रतिपादन किया है इह–इस जिनशासन में खलु–निश्चय से बावीसं–बाईस परीसहा–परिषह—कष्ट समणेणं–श्रमण भगवया–भगवान् महावीरेणं–महावीर कासवेणं–काश्यपगोत्री ने पवेइया–बतलाये हैं जे–जिनको भिक्खू–साधु सुच्चा–सुन करके नच्चा–जान करके जिच्चा–परिचित करके अभिभूय–जीत करके भिक्खाचरियाए–भिक्षाचरी मे परिव्वयंतो–फिरता हुआ पुट्ठो–स्पर्शित हुआ नो विनिहन्नेज्जा–संयम मार्ग से हनन न होवे।

मूलार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन्! मैंने सुना है कि उस जगत्प्रसिद्ध भगवान् ने इस प्रकार से प्रतिपादन किया है, इस जिन शासन में २२ परिषह हैं जो कि काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी ने बतलाये हैं जिनको साधु, सुन करके जान करके परिचित करके उनके सामर्थ्य को जीत करके भिक्षाचरी में घूमते हुए को उनका स्पर्श होने पर भी संयम मार्ग से पतित न होवे।

टीका—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से परिषहों का वर्णन करते हुए उसको प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये अपनी श्रुतिपरम्परा का भी उल्लेख करते हैं। यथा—हे आयुष्मन्! मैंने सुना है कि उस जगत्प्रसिद्ध सर्वैश्वर्य-सम्पन्न भगवान् ने इस रीति से प्रतिपादन किया है। (शंका—) किस स्थान पर कहा है? (समाधान—) इस प्रवचन में प्रतिपादन किया है कि काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने २२ परिषह बतलाये हैं। (शंका—) भगवान् ने स्वयं बतलाये हैं या किसी से सुनकर? (समाधान—) किसी से सुनकर नहीं किन्तु अपने केवल ज्ञान में देखकर इनका प्रतिपादन किया है। साधु मुनिराज, इन परिषहों को

अपने गुरुजनों के मुख से सुन करके यथावत् जान करके पुनः २ अभ्यास के द्वारा इनसे परिचित होकर और इनके सामर्थ्य को नष्ट करके अपने चारित्र में—स्वीकृत नियम मे दृढ़ रहने का प्रयत्न करे किन्तु भिक्षाचरी मे घूमते हुए—भिक्षा के निमित्त फिरते हुए साधु को, दैवयोग से यदि कोई परिषह—कष्ट आ जावे तो वह दृढ़ता और समता से उसका सामना करे और उस पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करे परन्तु परिषह् से डर कर अपने संयम मार्ग से भ्रष्ट होने की गर्हित चेष्टा कदापि न करे। यहां पर परिषहों के आगमन में जो भिक्षाचरी का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य केवल इतना है कि भिक्षार्थ घूमते समय प्रायः किसी न किसी परिषह् का उदय हो ही जाता है। यथा—'भिक्खायरियाए वावीसं परिसहा उईरिज्जंति' अर्थात् भिक्षाचरी मे २२ परिषह् उदय में आ जाते हैं। इसलिये परिषह् के आ जाने पर भी विवेकी पुरुष अपने चारित्र पथ से कभी विचलित न होवे तथा मूल गाथा में आये हुए 'आउसं—आयुष्मन्' शब्द का देहलीदीपन्याय से भगवान् और शिष्य दोनों के साथ सम्बन्ध किया जा सकता है। एवं 'परिषहाः' शब्द अध्याहृत 'संति' क्रिया का कर्ता है और 'खलु' शब्द को व्यक्तिकार अलंकारार्थक मानते हैं।

अब शिष्य का परिषहों के विषय में जो प्रश्न है, उसका उल्लेख किया जाता है—

कयरे खलु ते वावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया जे भिक्खू सुच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥२॥

कतरे खलु ते द्वाविंशतिः परिषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः यान् भिक्षुः श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत ॥२॥

पदार्थान्वयः—कयरे-कौन खलु-निश्चय से ते-वे वावीसं-बाईस परीसहा-परिषह हैं जो समणेणं-श्रमण भगवया-भगवान् महावीरेणं-महावीर

कासवेणं–कश्यपगोत्री ने पवेइया–वतलाये हैं जे–जिनको सुच्चा–सुन करके नच्चा–जान करके जिच्चा–जीत करके—अभ्यास करके अभिभूय–उनकी शक्ति को जीत करके भिक्खायरियाए–भिक्षाचरी में परिव्वयंतो–घूमते हुए को पुट्ठो–स्पर्शित होने पर नो विनिहन्नेज्जा–संयम मार्ग से न गिरे।

मूलार्थ—वे कौन से बाईस परिषह हैं जो कि कश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किये हैं जिनको साधु सुन करके जान करके अभ्यास करके और उनकी शक्ति को जीत करके रहे। यदि भिक्षाचरी में घूमते हुए को इनका स्पर्श हो जावे तो वह अपने संयम से न गिरे।

टीका—इस वाक्यसमुदाय की व्याख्या पहले कर दी गई है। अब दोबारा व्याख्या करना सर्वथा अनावश्यक है। प्राकृत भाषा की अथवा सूत्र ग्रन्थों की यह शैली है कि प्रश्न में उन सब वाक्यों को फिर से दोहराया जावे, इसलिये प्रश्न में वे सब पद फिर से दोहराये गये हैं। अस्तु, यहां पर श्रमण शब्द का अर्थ तपस्वी है और साथ में श्रमण शब्द के उल्लेख से यह भी ध्वनित किया गया है कि वास्तव में ज्ञान की प्राप्ति श्रमण से ही हो सकती है तथा ज्ञान की परिपक्वता के लिये सतत अभ्यास की जरूरत है। इसलिये अभ्यास के द्वारा परिषहों पर विजय प्राप्त करके अपने संयम को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

अब गुरु शिष्य को उत्तर देते हैं—

इमे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया जे भिक्खू सुच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ॥३॥

इमे खलु ते द्वाविंशतिः परिषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः यान् भिक्षुः श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वा अभिभूय भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत ॥३॥

इमे-ये खलु-निश्चय ते-वे वावीसं-बाईस परीसहा-परिषह समणेणं-श्रमण भगवया-भगवान् महावीरेणं-महावीर कासवेणं-कश्यपगोत्री ने पवेइया-प्रतिपादन किये हैं जे-जिनको भिक्खू-साधु श्रवण करके जान करके परिचित करके उनकी शक्ति को जीत करके भिक्खायरियाए-भिक्षाचरी में परिव्वयंतो-घूमते हुए पुट्ठो-स्पर्शित हुआ नो विनिहन्नेज्जा-संयम मार्ग से पतित न होवे।

मूलार्थ—वे अनन्तर वक्ष्यमाण २२ परिषह हैं जिनका प्रतिपादन कश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने किया है, जिनको सुनकर जानकर परिचित कर और उनके सामर्थ्य को नष्ट करके संयम में स्थित होता हुआ साधु, भिक्षाचरी में घूमते हुए किसी परिषह के स्पर्श से संयम मार्ग का परित्याग करे।

टीका—जिस प्रकार प्रश्न करते समय सम्पूर्ण पाठ का उच्चारण किया गया था उसी प्रकार उत्तर की इस गाथा में भी उसका सम्पूर्ण पाठ देना कोई पुनरुक्ति नहीं किन्तु प्राकृत प्रवचन की यही शैली है कि उसमें एक पाठ का प्रश्न और उत्तर में अनेक बार उच्चारण किया जाता है जिससे कि स्वाध्याय में तो पुण्य की अभिवृद्धि हो और अर्थों के परिज्ञान में सुगमता रहे।

इसके अतिरिक्त 'कासवेणं' काश्यप—लिखने का प्रयोजन भगवान् महावीर स्वामी को क्षत्रिय कुल के कश्यप गोत्र में उत्पन्न होना प्रमाणित करना है। कश्यप यह क्षत्रियों का प्रधान गोत्र माना गया है और सूत्रगत 'पवेइया'-प्रवेदिताः-का भावार्थ यह है कि भगवान् ने परिषहों का प्रतिपादन अपने स्वतन्त्र ज्ञान द्वारा स्वयं किया है किसी अन्य से सुनकर नहीं किया क्योंकि वे केवलज्ञानी—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, उनका ज्ञान किसी अन्य ज्ञान के अधीन नहीं था। वे स्वतंत्र ज्ञान के अधिपति थे। उनके स्वतंत्र ज्ञान मे भूत भविष्यत् और वर्तमान कालीन विश्व के सारे पदार्थ करतलामलकवत् भासमान होते थे। केवल ज्ञान की यह महिमा है कि उससे कोई भी भाव तिरोहित नहीं रहता। केवल ज्ञान ही एक स्वतंत्र ज्ञान है, उसके अतिरिक्त मति श्रुति अवधि और मनःपर्यव ये चारों ज्ञान पर तंत्र अथवा छद्मस्थ कहे जाते हैं। सो भगवान् ने मुनि को सहन करने योग्य बाईस परिषह बतलाये हैं। उनके नामों का अनुक्रम से उल्लेख इस प्रकार है—

तं जहा—१ दिगिंछापरीसहे २ पिवासापरीसहे ३ सीयपरीसहे ४ उसिणपरीसहे ५ दंसमसयपरीसहे ६ अचेलपरीसहे ७ अरइपरीसहे ८ इत्थीपरीसहे ९ चरियापरीसहे १० निसीहियापरीसहे ११ सेज्जापरीसहे १२ अक्कोसपरीसहे १३ वहपरीसहे १४ जायणापरीसहे १५ अलाभपरीसहे १६ रोगपरीसहे १७ तणफासपरीसहे १८ जल्लपरीसहे १९ सक्कारपुरक्कारपरीसहे २० पन्नापरीसहे २१ अन्नाणपरीसहे २२ दंसणपरीसहे ॥४॥

ते यथा—१ क्षुधापरिषहः २ पिपासापरिषहः ३ शीतपरिषहः ४ उष्णपरिषहः ५ दंशमशकपरिषहः ६ अचेलपरिषहः ७ अरतिपरिषहः ८ स्त्रीपरिषहः ९ चर्यापरिषहः १० नैषेधिकीपरिषहः ११ शय्यापरिषहः १२ आक्रोशपरिषहः १३ वधपरिषहः १४ याचनापरिषहः १५ अलाभपरिषहः १६ रोगपरिषहः १७ तृणस्पर्शपरिषहः १८ जल्लपरिषहः १९ सत्कारपुरस्कारपरिषहः २० प्रज्ञापरिषहः २१ अज्ञानपरिषहः २२ दर्शनपरिषहः ॥४॥

पदार्थान्वयः—दिगिंछापरीसहे–भूख का परिषह पिवासापरीसहे–तृषा का परिषह सीयपरीसहे–शीत का परिषह उसिणपरीसहे–उष्ण का परिषह दंसमसयपरीसहे–दंश मशक परिषह अचेलपरीसहे–अवस्त्र परिषह अरइपरीसहे–अरति का परिषह इत्थीपरीसहे–स्त्री का परिषह चरियापरीसहे–चर्या का परिषह निसीहियापरीसहे–बैठने का परिषह सेज्जापरीसहे–शय्या का परिषह अक्कोसपरीसहे–आक्रोशपरिषह वहपरीसहे–वध का परिषह जायणापरीसहे–याचना का परिषह अलाभपरीसहे–अलाभ का परिषह रोगपरीसहे–रोग का परिषह तणफासपरीसहे–

तृण के स्पर्श का परिषह जल्लपरीसहे–प्रस्वेद का परिषह सक्कारपुरक्कारपरीसहे–सत्कार पुरस्कार का परिषह पन्नापरीसहे–बुद्धि का परिषह अन्नाणपरीसहे–अज्ञान का परिषह दंसणपरीसहे–दर्शन का परिषह।

मूलार्थ—जैसे कि क्षुधापरिषह, तृषापरिषह, शीतपरिषह, उष्णपरिषह, दंशमशकपरिषह, अवस्त्रपरिषह, अरतिपरिषह, स्त्रीपरिषह, चर्यापरिषह, नैषेधिकी परिषह, शय्यापरिषह, आक्रोशपरिषह, वधपरिषह, याचनापरिषह, अलाभपरिषह, रोगपरिषह, तृणस्पर्शपरिषह, प्रस्वेदपरिषह, सत्कारपुरस्कारपरिषह, प्रज्ञापरिषह, अज्ञानपरिषह और दर्शनपरिषह ये बाईस परिषह हैं।

टीका—ये २२ परिषह साधु जीवन के परखने की कसौटी हैं। इनको सहन करने में ही मुनि जीवन की खरी मौलिकता है। इसलिये वीतराग देव के निर्दिष्ट किये हुए त्यागप्रधान साधु मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को इन उक्त परिषहों पर विजय प्राप्त करके अपने संयम को दृढ़तर बनाये रखना चाहिये। ये परिषह साधुचर्या में जिस अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं उसी अनुक्रम से इनका नामनिर्देश किया गया है। इसमें इतना और स्मरण रखना चाहिये कि पहले क्षुधापरिषह के नामनिर्देश में जो 'दिगिंछा' शब्द का प्रयोग किया है वह देशी प्राकृत के नियमानुसार किया गया है। देशी प्राकृत में क्षुधा का वाची 'दिगिंछा' शब्द माना गया है। प्राकृत के तज्ज, तत्सम और देशी ये तीन भेद माने गये हैं। जो शब्द संस्कृत शब्दों से उत्पन्न किये जाते हैं, वे 'तज्ज' कहे जाते हैं। जैसे—धर्म से धम्म बना। संस्कृत शब्दों के साथ समानता रखने वाले शब्दों की 'तत्सम' संज्ञा है। जैसे–अहिंसा—मंगल आदि शब्द हैं और देशी प्राकृत के रूप तो अनेक प्रकार के होते हैं। उन्हीं में से एक क्षुधावाची दिगिंछा शब्द भी है।

अपिच 'परीत्ति सर्वप्रकारेण सह्यते इति परिषह' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो सर्व प्रकार से सहन किया जाय उसको परिषह कहते हैं। तथा स्वाध्याय भूमि वा श्मशान भूमि को नैषेधिकी कहा है। उपाश्रय को शय्या, याच्वा को जायणा, वस्तु के स्वरूप को स्वयं जान लेने का नाम प्रज्ञा और ज्ञान के अभाव को अज्ञान तथा सम्यक्त्व का नाम दर्शन है।

अब परिषहों के स्वरूप के विषय में लिखा जाता है—

परीसहाणं पविभत्ति, कासवेणं पवेइया ।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१॥

परिषहाणां प्रविभक्तिः, काश्यपेन प्रवेदिता ।
तां भवतामुदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥१॥

पदार्थान्वयः—परीसहाणं—परिषहों का पविभत्ति—जो विभाग कासवेणं—काश्यप ने पवेइया—बतलाया है तं—उसको भे—आपके प्रति उदाहरिस्सामि—प्रतिपादन करूंगा आणुपुव्विं—अनुक्रम से मे—मुझ से सुणेह—सुनें।

मूलार्थ—कश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामी ने परिषहों का जो विभाग प्रतिपादन किया है, उसको मैं आपके प्रति कहूंगा। आप मुझ से उसको श्रवण करें।

टीका—२२ परिषहों के नामों का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। अब उनके स्वरूप का वर्णन करना बाकी रहता है, जो कि नीचे किया जायगा। यद्यपि काश्यप शब्द सामान्यतया भगवान् ऋषभ देव का वाचक है परन्तु वृत्तिकार ने यहां पर काश्यप शब्द से भगवान् महावीर स्वामी का ग्रहण किया है क्योंकि वे ही इस समय के शासन पति हैं तथा प्राकृत भाषा में सभी विभक्तियों के स्थान में प्रायः 'भे' का आदेश किया जाता है, इसलिये 'भे' का 'भवताम्' अर्थ करने में किसी प्रकार की भी आपत्ति नहीं है।

इसके अतिरिक्त 'उदाहरिस्सामि' इस भविष्यत्कालीन क्रिया के प्रयोग से (जैसे कि इस शास्त्र के आरम्भ की गाथा की व्याख्या में बतलाया जा चुका है) सूत्रकर्त्ता को परिषहों के स्वरूप को यथार्थ रूप में प्रतिपादन करने की अपनी असमर्थता दिखलाना अभिप्रेत है क्योंकि सर्वज्ञभाषित पदार्थ का यथावत् रूप से प्रतिपादन करना छद्मस्थ की शक्ति से सर्वथा बाहर है। वे तो अपनी परिमित शक्ति के अनुसार ही पदार्थ का वर्णन कर सकते हैं। कोई भी व्याख्याता अथवा उपदेशक जब तक अपने प्रतिपाद्य विषय का, जिस पर कि उसको व्याख्या

करनी या उपदेश देना अभीष्ट है, प्रथम नाम निर्देश नहीं कर देता तब तक पाठकों वा श्रोताओं की उसके पढ़ने और श्रवण करने में उत्कट रुचि पैदा नहीं होती और न वे सुगमता से उस विषय को धारण कर सकते हैं। इसलिये व्याख्याता अथवा वक्ता का यह सब से पहला कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने प्रतिपाद्य विषय का व्याख्यान अथवा निरूपण करने से पहले उसका नाम निर्देश कर दे। बस, इसी आशय से उक्त गाथा में परिषहों के स्वरूप वर्णन के प्रस्ताव में प्रथम उनके नाम और विषय का उल्लेख किया गया है।

(१) क्षुधापरिषह—

दिगिंछापरिगए देहे, तवस्सी भिक्खू थामवं।
न छिंदे न छिंदावए, न पए न पयावए ॥२॥

क्षुधापरिगते देहे, तपस्वी भिक्षुः स्थामवान्।
न च्छिंद्यात् न च्छेदयेत्, न पचेत् न पाचयेत् ॥२॥

पदार्थान्वयः—दिगिंछापरिगए-क्षुधा से व्याप्त देहे-शरीर में तवस्सी-तपस्वी भिक्खू-साधु थामवं-बलवान् होवे न छिंदे-फलादि को न छेदे न छिंदावए-और दूसरों से न छेदावे न पए-स्वयं न पकावे न पयावए-न औरों से पकवावे।

मूलार्थ—क्षुधा के शरीर में अत्यन्त व्याप्त होने पर भी तपस्वी साधु अपने संयम में बलवान् रहे अर्थात् क्षुधा को सहन करे किन्तु क्षुधा की निवृत्ति के लिये फलादि को स्वयं न छेदे और न दूसरों से छिदवावे तथा उनको स्वयं न पकावे और न दूसरों से पकवावे।

टीका—अन्य कष्टों की अपेक्षा क्षुधा का कष्ट अधिक बलवान् है। इसका समतापूर्वक सहन करना कोई मामूली सी बात नहीं है। शास्त्रकारों ने भी साधु के उक्त २२ परिषहों में क्षुधापरिषह को प्रथम स्थान इसी हेतु से दिया है कि वह अन्य परिषहों की अपेक्षा दुर्जेय है। इसलिये संयमशील साधु को उस क्षुधा का

समतापूर्वक विना किसी प्रकार का आर्त ध्यान किये हुए सहन कर लेना मानो पिपासा आदि अन्य परिषहों पर बड़ी सुगमता से विजय प्राप्त कर लेने की एक प्रकार की बलवती आरम्भिक सूचना करना है। अतः क्षुधा के अधिक से अधिक परिमाण में व्याप्त होने पर भी दृढ़संयमी साधु उसको समतापूर्वक सहन करने की ही अपने आत्मा में विशिष्ट शक्ति सम्पादन करे और क्षुधा के व्याप्त होने पर उसकी निवृत्ति के लिये स्वतः बिना किसी प्रकार का आरम्भ किये कहीं से एषणीय प्रासुक आहार निर्दोष शुद्ध भिक्षा यदि मिल जाय तो उसका तो वह उपयोग कर सकता है परन्तु जंगलों में रहे हुए वृक्षों के कच्चे अथवा पक्के सचित्त फलों से तथा इसी प्रकार के आधाकर्मी दूषित आहार से शरीरव्याप्त क्षुधा की उस तीव्र अग्निज्वाला को शान्त करने के लिए पापमय प्रयत्न कदापि न करे।

इसका भावार्थ यह है कि साधु को सचित्त वस्तु के स्पर्श तक का जब शास्त्रों में निषेध किया है तब उनके भक्षण का तो संयमशील को मन में विचार तक भी नहीं लाना चाहिये, इसी में उसके निर्दोष संयम की दृढ़ता और परिपक्वता है। इसी लिये उक्त गाथा में वृक्षों के कच्चे अथवा पक्के फलों को स्वयं तोड़ने वा दूसरों से तुड़वाने तथा उनके छेदन करने और दूसरों से करवाने एवं टूटे हुए उन सचित्त फलों अथवा अन्य खाद्य पदार्थों को स्वयं पकाने या दूसरों से पकवाने का संयमशील साधु के लिये स्पष्ट निषेध किया है। इसके अतिरिक्त उक्त प्रकार के आचरण का अनुमोदन करना भी संयमवान् साधु के लिये त्याज्य है। इसके अलावा क्षुधा की शान्ति के निमित्त खाद्य वस्तुओं को मूल्य देकर लाना अथवा दूसरों से मंगवाना तथा ऐसा आचरण करने वालों का अनुमोदन करना भी वीतराग मार्ग में प्रवृत्ति रखने वाले साधुवर्ग के लिये निन्द्य है। इससे सिद्ध हुआ कि जिस विधि से जिन पदार्थों के ग्रहण करने की साधु के लिये वीतराग देव के धर्म में आज्ञा नहीं है उन पदार्थों से साधु अपनी तीव्र क्षुधा को शान्त करने के बदले उसको पूर्ण समता से सहन करता हुआ अपनी साधुचर्या पर अटल खड़ा रहने का स्तुत्य प्रयत्न करे। यही उसकी क्षुधापरिषह पर सर्वतोभावी विजय है, जिसे कि पिपासा आदि अन्य परिषहों के लिये एक प्रकार की चुनौती—चेतावनी समझना चाहिये।

इसके अलावा इस गाथा के भावार्थ पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह बात भी भली भांति समझ में आ जाती है कि उस समय के मुनि लोग प्रायः वनों में ही निवास किया करते थे । वनों में फल आदि की सुलभता प्रायः होती ही है, इसी लिये मुनि को उनके तोड़ने वा तुड़वाने आदि का निषेध किया है। अन्यथा वह (फल आदि का तोड़ना वा तुड़वाना) उपपन्न ही नहीं हो सकता। अतः मुनिजनों के निवासस्थान को भी स्पष्ट नहीं तो अर्द्ध स्पष्ट शब्दों में तो अवश्य प्रतिपादन कर दिया है। तथा साधु के नवकोटि प्रत्याख्यान— मन वाणी और शरीर से करना कराना और अनुमोदना करनी रूप—की झलक भी उक्त गाथा के भावार्थ में किसी न किसी रूप मे दृष्टिगोचर हो रही है।

अब इसी विषय में जानने योग्य कुछ और कहते हैं—

कालीपव्वंगसंकासे किसे धमणिसंतए।
मायन्ने असणपाणस्स अदीणमणसो चरे ॥३॥

कालीपर्वाङ्गसंकाशः कृशो धमनिसंततः।
मात्रज्ञोऽशनपानयोः अदीनमनाश्चरेत् ॥३॥

पदार्थान्वयः—**कालीपव्वंगसंकासे**–काक पर्वांग के समान **किसे**–कृश **धमणिसंतए**–धमनी जाल है **मायन्ने**–प्रमाण के जानने वाला **असणपाणस्स**–अन्न जल के **अदीणमणसो**–अदीन मन होकर **चरे**–संयम मार्ग में विचरे।

मूलार्थ—काक जंघा के समान शरीर यदि कृश भी हो गया है तो भी अन्न और पानी के प्रमाण का जानने वाला साधु अदीन मन से संयम मार्ग में विचरे।

टीका—तपोऽनुष्ठान से जिसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है अर्थात् काक जंघा—एक प्रकार की वनस्पति—बूटी जिसके पर्व तो स्थूल होते हैं और मध्य का भाग बहुत सूक्ष्म होता है—के समान जिसके शरीर के अंगोपांग हो गये हों, शरीर में केवल नसों का समूह ही दिखाई देता हो, ऐसा अस्थि-पंजरमय नितान्त कृश शरीर वाला साधु अदीन होकर बड़ी दृढ़ता से संयम मार्ग

में विचरण करे। इसका भावार्थ यह है कि यदि उसको साधु के ग्रहण करने योग्य शुद्ध आहार—भिक्षा न मिले तो वह उसके लिये किसी प्रकार की दीनतासूचक लालसा को प्रकट न करे किन्तु क्षुधा के उस असहनीय कष्ट को भी समतापूर्वक सहन कर लेवे और यदि उसको प्रासुक एषणीय आहार की योगवाही कहीं से मिल जाय तो उसकी सरसता पर वह अपने आत्मा को मूर्च्छित न करे, तथा प्रमाण से अधिक भोजन करने की भी इच्छा न करे। तात्पर्य कि क्षुधा की तीव्रता मे भी साधु अपनी वृत्ति के विरुद्ध आहार की लालसा कदापि न करे।

यहां पर इतना और भी अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार आगमविहित संयम मार्ग मे यथावत् प्रवृत्ति रखने वाला साधु, शरीर के अन्दर क्षुधा की तीव्रतर अग्नि ज्वाला के धधकने पर भी साधुजनविगर्हित सचित्त आहार—भोजन से उसकी निवृत्ति की कभी आकांक्षा नहीं करता उसी प्रकार सद्गृहस्थों को भी चाहिये कि वे भी मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों को कभी अंगीकार न करें। धर्मात्मा पुरुषों का इसी में गौरव है कि वे बड़ी से बड़ी आपत्ति के समय में भी अपने कर्तव्य से कभी च्युत न हों, क्योंकि धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है जो कि परलोक में साथ देने वाला है अन्य सब कुछ तो यहीं पर रह जाने वाली सामग्री है। इसलिये साधु पुरुषों की भांति गृहस्थों को भी अपने गृहीत नियमों के अनुष्ठान में पूर्णतया सावधान रहना चाहिये।

अपिच—देश और सर्वविरति (गृहस्थ और साधु) के नियमों को लेकर परिषहों के सहन में भी कुछ न्यूनाधिकता आ जाती है परन्तु यह सब कुछ विशेष करके भावना की तरतमता पर अवलंबित है। उदाहरण के तौर पर—अम्बड़ संन्यासी के सात सौ शिष्यों ने सचित्त जल का त्याग न होने पर भी, अदत्तादान—अदत्त विना दिये हुए का आदान—ग्रहण करना अर्थात् चोरी का त्याग रहने पर, अनशन द्वारा अपने प्राण तो छोड़ दिये परन्तु अदत्त होने से उस जल का ग्रहण नहीं किया तथा धन्ना अनगार ने अभिग्रहपूर्वक आहार परिषह का सहन अन्त तक किया। इसी प्रकार अन्य परिषहों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

(२) तृषापरिषह—

तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं न सेविज्जा, वियडस्सेसणं चरे ॥४॥

ततः स्पृष्टः पिपासया, जुगुप्सी लज्जासंयतः।
शीतोदकं न सेवेत, विकृतस्यैषणां चरेत् ॥४॥

पदार्थान्वयः—तओ–उसके पीछे पुट्ठो–स्पर्शित हुआ पिवासाए–पिपासा से दोगुंछी–घृणा करने वाला लज्जसंजए–लज्जा वाला—साधु सीओदगं–शीतोदक न सेविज्जा–का सेवन न करे वियडस्स–विकृत—अचित्त जल की एसणं–तलाश के लिये चरे–विचरे।

मूलार्थ—क्षुधा के पीछे पिपासा से स्पृष्ट होने पर दुराचार से घृणा करने वाला साधु शीतोदक—सचित्त जल का सेवन कदापि न करे किन्तु प्रासुक—एषणीय जल के लिये गृहस्थों के घरों में भ्रमण करे।

टीका—क्षुधा के बाद अब तृषा परिषह का वर्णन किया जाता है। उक्त गाथा का भावार्थ यह है कि अत्यन्त तृषा युक्त होने पर भी अनाचार—शास्त्र विरुद्ध आचार से घृणा करने वाला संयमशील साधु उस अत्यन्त बढ़ी हुई तृषा की शांति के निमित्त सचित्त जल—जिसका कि स्पर्श करना भी निषिद्ध है—का कभी व्यवहार न करे किन्तु गृहस्थों के घरों में अनायास प्राप्त हुए प्रासुक—अचित्त जल से ही उस तृषा को शान्त करने का प्रयत्न करे।

साधु को अविकृत (सचित्त, सजीव) जल के ग्रहण का सर्वथा निषेध है। इसलिये विकृत—शस्त्रादि के आघात से अथवा अग्नि आदि के स्पर्श से विकृति को प्राप्त होकर जो अचित्त निर्जीव हो गया हो—उस जल का ही वह सदा व्यवहार करे। जो जल अपनी काय से तथा अन्य कारणों—शस्त्रों द्वारा विकृति—अन्य रस को प्राप्त हो गया हो, उसे अविकृत या प्रासुक अथवा अचित कहते हैं।

अपिच—गाथा में आया हुआ 'एसणं' चतुर्थी के अर्थ में द्वितीया है।

अब इसी विषय की पुष्टि के लिये और कहते हैं—

छिन्नावाएसु पंथेसु आउरे सुपिवासिए ।
परिसुक्कमुहाऽदीणे तं तितिक्खे परीसहं ॥५॥

छिन्नापातेषु पथिषु आतुरः सुपिपासितः ।
परिशुष्कमुखोऽदीनः तं तितिक्षेत् परीषहम् ॥५॥

पदार्थान्वयः—छिन्नावाएसु—लोगों के आगमन से रहित पंथेसु—मार्गों में आउरे—आकुल सुपिवासिए—अतितृषा से परिसुक्कमुह—सूखा हुआ मुख अदीणे—दीनता से रहित तं—उस पिपासा परीसहं—परिषह को तितिक्खे—सहन करे ।

मूलार्थ—गरमी के कारण लोगों के आगमन से रहित मार्ग में अति तृषा से आकुल और परिशुष्क मुख हुआ २ भी साधु अदीन मन से पिपासा के इस परिषह—कष्ट को सहन करे ।

टीका—दोपहर के समय अत्यन्त धूप पड़ने के कारण जिन मार्गों मे लोगों का आवागमन रुक गया हो और विहार करता हुआ साधु यदि उन मार्गों में चला जाय एवं वहां पर अत्यन्त तृषा लगने के कारण उसका मुख सूखने लगे और चित्त व्याकुल हो जाय तो ऐसी दशा में भी संयमशील साधु सचित्त जल का कभी व्यवहार न करे किन्तु तृषा के इस बढ़े हुए कष्ट को अदीनता से समतापूर्वक सहन ही करे । यही उसकी साधु वृत्ति का अमूल्य भूषण है ।

यहां पर आतुर—आकुल शब्द मन और शरीर दोनों के साथ सम्बन्ध रखता है और 'सु' उपसर्ग अतिशय अर्थ का ज्ञापक है ।

भूख और प्यास के कारण जिस साधु का शरीर अतिकृश हो गया हो, उसको शीत की बाधा विशेष रूप से उत्पन्न हो जाती है ।

(३) शीतपरिषह—

अब तीसरे शीतपरिषह के विषय में कहते हैं—

चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया ।
नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चाणं जिणसासणं ॥६॥

चरन्तं विरतं रूक्षं, शीतं स्पृशति एकदा।
नातिवेलं मुनिर्गच्छेत्, श्रुत्वा जिनशासनम् ॥६॥

पदार्थान्वयः—चरंतं-ग्रामानुग्राम फिरता हुआ विरयं-सावद्य कर्म से निवृत्त लूहं-रूक्ष वृत्ति वाले भिक्षु को सीयं-शीत एगया-किसी समय फुसइ-स्पर्श करता है अइवेलं-स्वाध्याय के समय का अतिक्रमण करके मुणी-साधु न गच्छे-स्थानान्तर में न जावे सोच्चा-सुन करके णं-वाक्यालंकार में आता है जिनसासणं-जिन भगवान् के शासन को।

मूलार्थ—सावद्य प्रवृत्ति के त्यागी और रूक्ष वृत्ति वाले साधु को ग्रामानुग्राम विचरते हुए यदि कहीं पर शीत का स्पर्श हो—शीत का कष्ट उत्पन्न हो तो वह स्वाध्याय के समय का उल्लंघन करके स्थानान्तर में, जहां पर जाने से शीत की बाधा न हो सके, जाने का प्रयत्न न करे किन्तु जिनशासन—वीतराग देव की शिक्षा को सुनकर शीत के परिषह को सहन ही करे।

टीका—धर्मोपदेश अथवा संयमनिर्वाहार्थ ग्राम प्रतिग्राम विचरते हुए अथच मोक्षमार्ग पर चलते हुए साधु को कहीं न कहीं पर शीत की बाधा का उपस्थित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि अग्नि आदि को जला कर तापने अथवा जलती हुई अग्नि के पास जाकर तापने का तो वीतराग देव के संयम-प्रधान धर्म में चलने वाले साधु के लिये सर्वथा निषेध है। अतः यदि किसी स्थान पर साधु को शीत की बाधा उपस्थित हो जावे तो साधु अपने स्वाध्याय के समय की अवहेलना करके शीत की निवृत्ति के लिये किसी अन्य स्थान में जाने की कोशिश न करे किन्तु भगवान् की साधुधर्मसम्बन्धी शिक्षा का विचार करता हुआ उस असह्य शीतपरिषह के सहन करने में ही अपने दृढ़तर संयम का परिचय देवे।

यहां पर रूक्ष शब्द का स्निग्ध भोजन तैलाभ्यंग आदि दोनों से ही सम्बन्ध है। तब 'रूक्ष वृत्ति वाला' इस वाक्य का अर्थ हुआ कि जो स्निग्ध भोजन का त्यागी हो और तैल आदि के मर्दन का जिसे त्याग हो, ऐसी वृत्ति वाला।

अब फिर इसी विषय पर कहा जाता है—

न मे निवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ॥७॥

न मे निवारणमस्ति, छविस्त्राणं न विद्यते।
अहं तु अग्निं सेवे, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥७॥

पदार्थान्वयः—न–नहीं मे–मेरे निवारणं–शीतनिवारक स्थान अत्थि–है छवित्ताणं–शरीररक्षक कम्बल आदि भी न विज्जई–नहीं है अहं–मैं तु–फिर अग्गिं–अग्नि को सेवामि–सेवन करूं इइ–इस प्रकार भिक्खू–साधु न चिंतए–चिंतन न करे।

मूलार्थ—मेरे पास शीत से रक्षा करने वाला स्थान नहीं है और शीत से शरीर की रक्षा करने योग्य वस्त्र आदि भी नहीं हैं तो फिर मैं अग्नि का ही सेवन करूं, इस प्रकार का चिन्तन भिक्षु कदापि न करे।

टीका—इस गाथा में शास्त्रकार साधु को अग्नि के तापने का निषेध करते हैं। यदि साधु के पास शीतनिवारण की कोई सामग्री—स्थान व वस्त्र आदि भी न हो तब भी साधु को अग्नि ताप आदि से शीत की निवृत्ति करनी उचित नहीं। साधु को सचित्त पदार्थ के स्पर्श करने का सर्वथा निषेध है और अग्नि भी शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार सचित्त वस्तु है, क्योंकि वह अग्नि सचित्त—सजीव अर्थात् अग्निकाय के जीवों का ही एक पिंडमात्र है। इसलिये किसी शीतनिवारक स्थान के न होने पर और शीत से रक्षा करने वाले कम्बल आदि वस्त्र का संयोग न होने पर भी साधु अग्नि का स्पर्श न करे किन्तु शीत की उस असह्य वेदना को इसी प्रकार समतापूर्वक सहन कर लेवे। किन्तु शीत से परिभूत होकर कोई अग्नि सेवनादि ऐसी क्रिया आचरण मे न लावे, जिसका कि साधु के लिये शास्त्रकारों ने सर्वथा निषेध किया है। शीतपरिषह के सहन में नारकी जीवों की दुःखमयी यातनाओं और पशुओं की सदैव काल की नग्नता का ध्यान करता हुआ साधु अपने आपको बलवान् बनाने का प्रयत्न करे, यही इस गाथा का सार है।

(४) उष्णपरिषह—

अब उष्ण परिषह का वर्णन करते हैं—

उसिणं परियावेणं, परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परियावेणं, सायं नो परिदेवए ॥८॥

उष्णपरितापेन , परिदाहेन तर्जितः।
ग्रीष्मे वा परितापेन, सातं नो परिदेवेत ॥८॥

पदार्थान्वयः—उसिणं–गरमी के परियावेणं–परिताप से परिदाहेण–सर्व प्रकार के दाह से तज्जिए–पीड़ित हुआ घिंसु–ग्रीष्म ऋतु के वा–अथवा शरत् आदि के परियावेणं–परिताप से पीड़ित हुआ सायं–साता नो परिदेवए–कब प्राप्त होगी, इत्यादि विचार न करे।

मूलार्थ—गरमी के परिताप से सर्व प्रकार के दाह से पीड़ित हुआ अथवा ग्रीष्म और शरत् ऋतु आदि के कष्ट से खेद को प्राप्त हुआ साधु साता के लिये आर्त ध्यान न करे अर्थात् मुझे कब शान्ति होगी, ऐसा विचार न करे।

टीका—इस गाथा में उष्ण परिषह के उपस्थित होने पर साधु को आर्त ध्यान करने का निषेध किया गया है। यदि किसी उष्ण भूमि वा शिला आदि के स्पर्श से अथवा शरीर के मल स्वेद आदि वा तृषा और उष्ण वायुजन्य दाह से पीड़ित हुआ एवं ग्रीष्मादि के उष्ण परिताप से तर्जित हुआ साधु अपनी सुख शान्ति के लिये चिन्ता न करे अर्थात् मुझे कब शान्ति मिलेगी इस समय उष्ण परिताप के कारण जो असह्य कष्ट हो रहा है वह कब शान्त होगा इत्यादि दीनतासूचक वचनों द्वारा उक्त परिषह के सहन में अपनी कायरता का परिचय न देवे। इस गाथा का संक्षेप से इतना ही भावार्थ है कि जब कभी साधु को उष्णताजन्य परिताप के कष्ट का सामना करना पड़ जाय तो वह उस परिताप से व्याकुल होने पर अपने में किसी प्रकार की आकुलता न लावे किन्तु उस कष्ट को बड़े धैर्य से सहन करने का प्रयत्न करे। शान्तिपूर्वक कष्ट सहन करने में दो लाभ हैं—एक तो कष्ट की निवृत्ति हो जाती है और दूसरे कर्मों की निर्जरा भी होती है।

इसलिये संयमशील साधु को गरमी के परिताप में भी अपनी सहनशीलता को दृढ़तर बनाये रखना चाहिये।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

उण्हाहितत्तो मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए ।
गायं नो परिसिंचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं ॥९॥

उष्णाभितप्तो मेधावी, स्नानं नापि प्रार्थयेत् ।
गात्रं नो परिसिंचेत्, न वीजयेच्चात्मानम् ॥९॥

पदार्थान्वयः—उण्हाहि–उष्णता से तत्तो–तप्त—पीड़ित मेहावी–बुद्धिमान् सिणाणं–स्नान को वि–कभी भी नो पत्थए–न प्रार्थे गायं–शरीर को नो परिसिंचेज्जा–जल के छींटों से सिंचन न करे य–और अप्पयं–अपने आत्मा को न वीएज्जा–पंखा भी न करे।

मूलार्थ—बुद्धिमान् साधु उष्णता के परिताप से तप्त होने पर भी स्नान की इच्छा न करे, और शरीर को जल के छींटे भी न देवे तथा अपने आपको पंखा भी न करे ।

टीका—इस गाथा में, बढ़ी हुई उष्णता के कारण शरीर में उत्पन्न होने वाले परिताप की निवृत्ति के जितने भी बाह्य साधन हैं उन सब के उपयोग का साधु के लिये निषेध किया गया है। गरमी के अत्यन्त लगने पर भी उसकी निवृत्ति के अर्थ साधु स्नान न करे, शरीर को जल के छींटे न देवे और पंखे को जल से तर करके भी उससे हवा न करे तथा पंखे को यूं भी न झुलावे किन्तु उपस्थित हुए गर्मी के इस कष्ट को केवल सहन करके ही पराजित करे।

स्नान के देशस्नान और सर्वस्नान ऐसे दो भेद हैं। केवल हाथ मुँह आदि धोकर बस कर देने का नाम देशस्नान है और सिर से लेकर पांव तक शरीर को धोना सर्वस्नान कहलाता है। साधु के लिये दोनों प्रकार के स्नान त्याज्य हैं तथा जलबिन्दुओं का शरीर पर छींटना और पंखे की हवा करना, यह भी निषिद्ध है। इसलिये गरमी के ताप से अपने आत्मा में अणुमात्र भी आकुलता को स्थान न देते हुए उस ताप को समतापूर्वक सहन करना ही साधुचर्या की सच्ची कसौटी है।

(५) दंशमशकपरिषह—

ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा ऋतु का आगमन होता है, यह एक प्राकृतिक नियम है और वर्षा ऋतु में डांस—मच्छरों की अधिकता प्रायः हो ही जाती है, अतः अब दंशमशक नाम के परिषह का वर्णन करते हैं।

पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरे व महामुणी।
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं ॥१०॥

स्पृष्टश्च दंशमशकैः, सम एव महामुनिः।
नागः संग्रामशीर्षे इव, शूरोऽभिहन्यात् परम् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—**पुट्ठो**-स्पर्शित हुआ **य**-च—पादपूरणार्थ में **दंसमसएहिं**-डांस—मच्छरों से **समरे व**-सम भाव वाला **महामुणी**-महामुनि **नागो**-हाथी **संगामसीसे**-संग्राम के मस्तक मे **वा**-जैसे **सूरो**-शूरवीर होकर **परं**-अन्य को **अभिहणे**-जीतता है।

मूलार्थ—दंश मशक आदि जंतुओं के स्पर्श होने पर भी महामुनि सम भाव से रहे और जैसे हस्ती संग्राम में आगे होकर शत्रुओं को जीतता है उसी प्रकार साधु भी परिषहों पर विजय प्राप्त करे।

टीका—दंश मशक आदि जीवों से सताये जाने पर भी साधु अपने समता परिणाम में ही स्थित रहे। जिस प्रकार संग्राम में आगे होकर हस्ती अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है इसी प्रकार संयमशील मुनि भी परिषह संग्राम में अपूर्व सहनशीलता दिखाता हुआ अपने सर्वतोभावी विजय का परिचय देवे। चातुर्मास—वर्षा ऋतु मे दंश मशक आदि काटने वाले जंतुओं का कितना उपद्रव होता है और उनसे बचने के लिए अनेक प्रकार के यत्न किये जाते हैं परन्तु साधु के लिये केवल एक ही उपाय है, वह यह कि साधु सम भाव से इन जीवों द्वारा दिये गये कष्ट को दृढ़तापूर्वक सहन करे। इसी में उसकी शूरवीरता है।

यहां पर गाथा मे जो 'समरे व' पद दिया है, इसमें रेफ को प्राकृत की शैली के अनुसार अलाक्षणिक समझना चाहिये। वास्तव में शब्द तो 'सम एव'

ही है। तथा 'समरेव' शब्द में भी 'समर इव' इस प्रकार का विश्लेष करने से सन्धि द्वारा काम चल सकता है। तव इसका अर्थ हुआ कि 'समर इव'—संग्राम की तरह। फिर 'वा' शब्द जो कि इस गाथा में आया है वह भी 'इव' के अर्थ का ही बोधक है। ऐसा ही वृत्तिकार लिखते हैं—'वाशब्दस्येवार्थस्यात्र सम्वन्धात्'। तथा 'इव' शब्द का नाग और शूर दोनों के साथ सम्वन्ध करने से अन्य अर्थ की कल्पना भी की जा सकती है। तथाहि—जैसे हस्ती संग्रामभूमि में बाण—शर आदि के तीव्र प्रहारों की कुछ भी परवाह न करता हुआ अपने शत्रु के मुकावले में जय प्राप्त करता है और जैसे एक शूरवीर पुरुष रण में अपने शत्रुओं को पराजित कर देता है उसी प्रकार मुनि भी दंश मशक आदि जीवों के परिषह में विजयशील बने।

अब फिर इसी विषय पर कहते हैं—

न संतसे न वारेज्जा, मणं पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे, भुंजंते मंससोणियं ॥११॥

न संत्रसेत् न वारयेत्, मनोऽपि न प्रदूषयेत्।
उपेक्षेत न हन्यात्प्राणिनः, भुञ्जानान्मांसशोणितम् ॥११॥

पदार्थान्वयः—न संतसे-दंश मशक आदि को—त्रास न देवे न वारेज्जा-न हटावे मणं पि-मन से भी न पओसए-द्वेष न करे, उवेहे-उदासीन भाव से रहे पाणे-प्राणियों को न हणे-न हने भुंजंते-खाते हुए मंससोणियं-मांस और रुधिर को।

मूलार्थ—रुधिर और मांस को खाते हुए भी साधु, मच्छर—डांस मक्खी आदि विषैले जंतुओं को न हटावे। उनके काट जाने पर भी उनको किसी प्रकार का त्रास न देवे। मन से भी उन पर किसी प्रकार का द्वेष न करे तथा उनके प्राणों का विघात न करे किन्तु उनके इस व्यवहार को उपेक्षा वृत्ति से देखे।

टीका—इस गाथा में मच्छर मक्खी आदि जंतुओं के प्रतिकार का साधु के लिये निषेध किया है अर्थात् यदि डांस मच्छर आदि जंतु साधु के शरीर को काटें और उसे कष्ट दें तो साधु उनका किसी प्रकार से भी प्रतिकार न करे। उनको रुधिर चूसते और मांस खाते हुए भी उनको न तो किसी प्रकार का

त्रास देवे और न हटावे तथा न क्रोध मे आकर उनका प्राण हरण करे किन्तु उनको यथारुचि अपना काम स्वतंत्रतापूर्वक करने दे तथा उनके द्वारा प्राप्त होने वाले शारीरिक कष्ट को चुपचाप समतापूर्वक सहन करने का ही अभिनन्दनीय उद्योग करे।

इस प्रकार का वीरजनोचित आचरण करने से साधु के हृदय में रागद्वेष के भावों की कमी होकर उनके स्थान पर समता के विशुद्ध भावों की धारा बहने लगेगी, जिससे कि उसकी आन्तरिक कलुषता धोई जाकर उसके स्थान में शुद्ध सात्त्विक भावों का पूर्ण रूप से विकास हो सके।

इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि जिस समय साधु के शरीर को डांस और मच्छर आदि जंतुओं के उपद्रव का सामना करने का प्रसंग आ जावे तो वह उनका किसी प्रकार से भी प्रतिकार न करे किन्तु उनके भयानक उपद्रव को वह उपेक्षा की दृष्टि से देखता हुआ मन में यह सोचे कि जो यह डांस मच्छर आदि जीव मेरे शरीर को अत्यन्त असह्य कष्ट दे रहे हैं इसके सहन करने में ही मेरा कल्याण है। यह शरीर जिसे ये खाते हैं वह तो वास्तव में मैं नहीं हूं। मैं जो आत्मा हूं उसके भक्षण की तो इनमें सामर्थ्य ही नहीं तथा इनको हटाने से इनके आहार में अन्तराय पड़ेगा और इनको मारने अथवा त्रास देने से मेरी अहिंसक वृत्ति में बाधा आवेगी। अतः इनकी जो इच्छा हो, करें। मुझे तो इन जीवों की प्रवृत्ति को उपेक्षा दृष्टि से देखते हुए अपने आपको उसके सहन करने के लिये ही सदा प्रस्तुत रखना चाहिये, इसी में मेरी सर्वतोभावी विजय है।

(६) अचेलपरिषह—

दंशमशकादि के उपद्रव से बचने के लिये वस्त्र आदि की गवेषणा करनी पड़ती है क्योंकि वस्त्रादि के ओढ़ने पर इनका उपद्रव बहुत कम हो जाता है। इसलिये अब अचेल परिषह का वर्णन किया जाता है—

परिजुण्णेहिं वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेले होक्खामि इइ भिक्खू न चिंतए ॥१२॥

परिजीर्णैर्वस्त्रैः भविष्यामीत्यचेलकः ।
अथवा सचेलको भविष्यामि इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—परिजुण्णेहिं–सर्व प्रकार से जीर्ण वत्थेहिं–वस्त्रों से मैं अचेलए–अचेलक—वस्त्ररहित होक्खामि–हो जाऊंगा त्ति–इस प्रकार भिक्षु चिन्तन न करे अदुवा–अथवा सचेले–वस्त्र युक्त होक्खामि–हो जाऊंगा इइ–इस प्रकार भी भिक्खू–साधु न चिंतए–न चिंतन करे ।

मूलार्थ—वस्त्रों के सर्व प्रकार से जीर्ण हो जाने पर मैं वस्त्ररहित हो जाऊंगा, इस प्रकार का अथवा वस्त्रों से युक्त हो जाऊंगा, इस प्रकार का भी साधु कभी चिन्तन न करे ।

टीका—इस गाथा में साधु को वस्त्रों के विषय मे किसी भी प्रकार के ममत्व करने का निषेध किया गया है। संयमशील साधु के लिये शास्त्रकार यह आज्ञा देते हैं कि साधु अपने वस्त्रों के सर्वथा जीर्ण हो जाने पर भी यह विचार कभी न करे कि अब तो मैं वस्त्रों से रहित हो जाऊंगा। अब मुझे और वस्त्र कहां से मिलेंगे तथा अब मैं इन जीर्ण वस्त्रों का परित्याग करके नए वस्त्र पहनूंगा, अर्थात् मेरे इन फटे हुए पुराने वस्त्रों को देखकर कोई न कोई सद्गृहस्थ मुझे नए वस्त्र दे ही देगा, इस प्रकार भी चिन्तन न करे। तात्पर्य कि इस प्रकार का चिन्तन हर्ष शोक की उत्पत्ति का कारण बनता है और हर्ष शोक के निमित्त से मोहनीय कर्म का विशेष बन्ध होता है जो कि किसी प्रकार से भी इष्ट नहीं है। अतः संयमशील साधु को उचित है कि वह वस्त्रों के मिलने पर किसी प्रकार का हर्ष न करे और न मिलने से किसी प्रकार के शोक में मग्न न होवे किन्तु दोनों ही दशाओं मे अपने आपको समता की समान कक्षा मे रखने का ही प्रयत्न करे।

वस्त्रों से यद्यपि शरीर की रक्षा के द्वारा संयम के निर्वाह में भी कुछ न्यूनाधिक सहायता मिलती है तथापि संयम का वास्तविक निर्वाह तो आत्मा के निजी समभाव के परिणामों पर ही निर्भर है। अतः वस्त्रादि के लिये किसी प्रकार के हर्ष वा शोक को अपने हृदय मे कभी स्थान नहीं देना चाहिये।

अब उक्त विषय में और कहते हैं—

एगयाऽचेलए होइ, सचेले आवि एगया।
एयं धम्मं हियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥१३॥

एकदाऽचेलको भवति, सचेलको वाऽपि एकदा।
एतं धर्मं हितं ज्ञात्वा, ज्ञानी नो परिदेवेत ॥१३॥

पदार्थान्वयः—एगया–किसी समय अचेलए–वस्त्र रहित होइ–होता है एगया–किसी समय सचेले आवि–वस्त्र युक्त भी हो जाता है एयं–इस धम्मं–धर्म को हियं–हितरूप नच्चा–जान करके नाणी–ज्ञानी नो परिदेवए–खेद को प्राप्त न होवे।

मूलार्थ—किसी समय में तो—जिनकल्पी आदि अवस्था में तो यह वस्त्र रहित हो जाता है और किसी समय—स्थविरकल्पी अवस्था में वस्त्रयुक्त हो जाता है। अतः इन दोनों ही प्रकार के धर्मों को हितकारक समझ कर ज्ञानी पुरुष कभी खेद को प्राप्त न हो।

टीका—यहां पर गाथा में साधु के जिनकल्प और स्थविरकल्प इन दोनों प्रकार के आचारों को समान कोटि के माना है अर्थात् दोनों ही धर्म आत्महित के साधक और मुमुक्षु पुरुष को यथाशक्ति उपादेय हैं। यह किसी समय अर्थात् जिनकल्पी अवस्था में सर्वथा वस्त्रों के अभाव से वा वस्त्रों के अधिक जीर्ण होने से वस्त्ररहित हो जाता है। तथा कभी स्थविरकल्प अवस्था में वस्त्रयुक्त भी हो जाता है। अतः इन दोनों ही धर्मों—आचारों को हितरूप जानकर विवेकी पुरुष को कभी खिन्नचित्त नहीं होना चाहिये। क्योंकि जिनकल्प और स्थविरकल्प ये दोनों ही साधु के शास्त्रविहित धर्म—आचार हैं, दोनों ही से आत्मा की हितसाधना भली भांति हो सकती है। प्रथम कल्प में प्रमादरहित होकर विचरने वाले साधु को तो प्रत्युपेक्षणादि क्रियाओं के अनुष्ठान की भी स्वल्पता होती है और वह लघुभूत—विश्वासजन्य तप के सम्मुख इन्द्रियों के निग्रह करने वाला होता है तथा दूसरे स्थविर कल्प में वह आरम्भ समारम्भ आदि की सावद्य क्रियाओं से सर्वथा

रहित होकर अपने संयम की वृद्धि करता हुआ और भी अनेक आत्माओं को संयम में स्थिर करने का निमित्त बनता है। इसके अतिरिक्त भगवान् के साधु धर्म की वंशपरम्परा का सूत्रपात भी इसी स्थविरकल्पी के हाथ से ही होता है। इसलिये ये दोनों ही आचार शास्त्रमर्यादा को लिये हुए परम हित के देने वाले हैं।

इस कथन का सारांश यह है कि अचेलक अथवा सचेलक अवस्था में भी गुणों की ही प्रधानता रहेगी। अतः केवल द्रव्य की ओर दृष्टि न रखते हुए भाव शुद्धि की ओर अधिक लक्ष्य देने की आवश्यकता है क्योंकि धर्म वस्त्रों के रखने अथवा उतार देने में नहीं है, धर्म तो आत्मा के विशुद्धतर भावों में निहित है।

इतना भाव इस गाथा का संक्षेप में और समझ लेना चाहिये कि यदि कभी वस्त्रादि के अभाव से शीत आदि की अधिक बाधा होने की सम्भावना में साधु इस प्रकार के दीन और दुर्बल विचारों से अपने आत्मा को पराजित न करे कि यदि मुझे शीत ने सताया तो फिर मैं किस की शरण में जाऊंगा अर्थात् किस के अवलम्बन से मैं इस कष्ट से मुक्त हो सकूंगा किन्तु बलवान् आत्मा की तरह सम्भवनीय आगन्तुक शीत बाधा का सहर्ष स्वागत करने के लिये ही सदा उद्यत रहे, यही उसकी अचेल परिषह पर विजय है।

(७) अरतिपरिषह—

वस्त्रादि के अभाव से शीत आदि की बाधा का उपस्थित होना अनिवार्य है और किसी प्रकार के कष्ट से अरति का उत्पन्न होना भी अवश्यंभावी है। इसलिए अब सातवें अरति नाम के परिषह का वर्णन करते हैं—

गामाणुगामं रीयंतं, अणगारं अकिंचणं।
अरई अणुप्पवेसेज्जा, तं तितिक्खे परीसहं ॥१४॥

ग्रामानुग्रामं रीयमाणं, अनगारमकिंचनम् ।
अरतिरनुप्रविशेत् , तं तितिक्षेत् परिषहम् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—गामाणुगामं–ग्राम अनुग्राम में रीयंतं–विचरते हुए अकिंचणं–अकिंचन अणगारं–साधु को अरई–चिन्ता अणुप्पवेसेज्जा–प्रवेश करे तो तं–उस परीसहं–परिषह को तितिक्खे–सहन करे।

मूलार्थ—ग्राम प्रति ग्राम में विचरते हुए अकिंचन साधु को यदि कोई चिन्ता उत्पन्न हो तो साधु उस चिन्ताजन्य परिषह को समतापूर्वक सहन करे।

टीका—किसी ग्राम के मार्ग में जाते हुए उसी मार्ग में यदि कोई और ग्राम आ जावे तो उसे अनुग्राम कहते हैं। सो ग्रामानुग्राम में विचरते हुए अकिंचन वृत्ति वाले साधु को यदि किसी आगन्तुक कारण से किसी प्रकार की चिन्ता उपस्थित हो जावे तो संयमशील साधु को उचित है कि वह उस चिन्ता से व्याकुल न हो उठे किन्तु धैर्य और विचारपूर्वक उस चिन्ता—अरति को दूर करके मन को स्थिर और स्वस्थ बनाने का प्रयत्न करे। जब कि विवेकशील साधु को जीवन मरण इन दोनों में ही एक प्रकार के परिवर्तन के सिवा और कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता तो फिर चिन्ता किस बात की ?

अब इसी विषय में और जानने योग्य बात कहते हैं—

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए।
धम्मारामे निरारम्भे, उवसन्ते मुणी चरे ॥१५॥

अरतिं पृष्ठतः कृत्वा, विरत आत्मरक्षकः।
धर्मारामे निरारम्भः, उपशान्तो मुनिश्चरेत् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—अरइं-अरति को पिट्ठओ-पीठ किच्चा-करके विरए-हिंसा आदि से रहित आयरक्खिये-आत्मा की रक्षा करने वाला धम्मारामे-धर्म में रमण करने वाला निरारंभे-आरंभ से रहित उवसंते-उपशान्त मुणी-साधु चरे-संयम मार्ग में विचरे।

मूलार्थ—चिन्ता की ओर पीठ करके, हिंसादि दोषों से रहित होकर, आत्मा का रक्षक और धर्म में रमण करने वाला, आरम्भ से रहित और कषायों से उपशांत होकर विवेकशील मुनि संयम मार्ग में विचरे।

टीका—चिन्ता धर्म के आराधन में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित करने वाली है। अतः संयम मार्ग में विचरने वाले मुनि को इसे कभी अपने सम्मुख

नहीं आने देना चाहिये। तथा हिंसा आदि पांच प्रकार के सावद्य व्यापार भी धर्म के पूर्ण घातक हैं। अतः संयमशील को इनसे भी सर्वथा अलग रहना चाहिये। इन्हीं सावद्य व्यापारों के त्याग से साधु विरत कहलाने के योग्य, और आत्मा की यथार्थ रक्षा करने में समर्थ हो सकता है। साधु पुरुष को पतन की ओर ले जाने वाले जितने दोष हैं, उन सब का मूल कारण आरम्भ समारम्भ है। अतः त्यागशील यति को इस आरम्भ समारम्भ से सदा दूर रहना चाहिये तभी वह धर्मरूप वाटिका में रमण कर सकता है। एवं क्रोध आदि कषायों की विद्यमानता में भी आत्मा को कभी शांति का लाभ नहीं हो सकता। इसलिये कषायों को दूर करके आत्मा में परम शांति को स्थापन करने में ही विचारशील मुनि को दत्तावधान होना चाहिये। इस प्रकार से संयम मार्ग में प्रस्थान करने वाला मुनि कभी भी अरति से परिभूत नहीं हो सकता। यही इस गाथा का संक्षिप्त भावार्थ है।

(८) स्त्रीपरिषह—

चिन्तायुक्त मनुष्य को कभी २ कामवासना के जागने की भी सम्भावना हो सकती है। इसलिए अब आठवां स्त्रीपरिषह कहा जाता है—

सङ्गो एस मणुस्साणं, जाओ लोगम्मि इत्थिओ।
जस्स एया परिन्नाया, सुकडं तस्स सामण्णं ॥१६॥

संग एष मनुष्याणां, या लोके स्त्रियः।
येनैताः परिज्ञाताः, सुकृतं तस्य श्रामण्यम् ॥१६॥

पदार्थान्वयः—संगो-संग एस-यह मणुस्साणं-मनुष्यों का जाओ-जो लोगंमि-लोक में इत्थिओ-स्त्रियां हैं जस्स-जिसने एया-इनका संग परिन्नाया-ज्ञानपूर्वक परित्याग दिया है तस्स-उसने सुकडं-अच्छा किया सामण्णं-श्रमणभाव को।

मूलार्थ—लोक में पुरुषों का स्त्रियों के साथ जो संसर्ग है उस स्त्रीसंसर्ग को जिस संयमी पुरुष ने ज्ञानपूर्वक परित्याग कर दिया है उसकी साधुता सफल है।

टीका—जैसे श्लेष्मा के साथ मक्षिकाओं का सम्बन्ध है ठीक उसी प्रकार इस लोक में पुरुषों का स्त्रियों के साथ सम्बन्ध है और जैसे श्लेष्मा की कुत्सित स्निग्धता मक्षिकाओं को अपनी ओर खींच लेती है उसी प्रकार स्त्रियों के हाव भाव मनुष्यों का आकर्षण कर लेते हैं तथा जैसे मक्षिकाएँ उस श्लेष्मा में फँस जाती हैं उसी प्रकार कामी पुरुष भी स्त्रियों के हाव भाव रूप मायाजाल में फँसे विना नहीं रह सकते। परन्तु जिस मुमुक्षु पुरुष ने समझ सोचकर इनके अनर्थकारी संसर्ग का पूर्ण रूप से परित्याग कर दिया है उसी का संयम सुन्दर और निर्मल है, क्योंकि कामवासना के सम्बन्ध से ही प्रायः सावद्य कार्यों में प्रवृत्ति होती है। इसलिये वीतराग देव के मार्ग पर चलने वाले साधु पुरुषों को इनका संसर्ग सदैव त्याज्य है। उनको तो इनका संसर्ग श्लेष्मा की भांति सर्वथा कुत्सित और दुर्गन्धयुक्त ही समझना चाहिये।

यहां पर तृतीया विभक्ति के 'येन तेन' अर्थ में ही 'यस्य तस्य' यह षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

एयमादाय मेहावी, पङ्कभूयाओ इत्थिओ।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा, चरेज्जऽत्तगवेसए ॥१७॥

एवमादाय मेधावी, पंकभूताः स्त्रियः।
नो ताभिर्विहन्येत, चरेदात्मगवेषकः ॥१७॥

पदार्थान्वयः—एयं–इस प्रकार आदाय–ग्रहण करके मेहावी–बुद्धिमान् पंकभूयाओ–कीचड़ स्वरूप इत्थिओ–स्त्रियां हैं ताहिं–उन स्त्रियों से नो विणिहन्नेज्जा–हनन न होवे चरेज्जा–संयम मार्ग में विचरण करे अत्तगवेसए–आत्मा को देखने वाला।

मूलार्थ—बुद्धिमान् पुरुष 'ये स्त्रियां कीचड़ स्वरूप हैं' ऐसा जानकर इन स्त्रियों के द्वारा अपने आपको हनन न करे, किन्तु आत्मगवेषी बन कर दृढतापूर्वक अपने संयम मार्ग में ही विचरण करे।

टीका—संयमी पुरुष को स्त्रियों के संसर्ग में आने से अनेक प्रकार के अनर्थों की संभावना रहती है। साधु पुरुषों के संयम रत्न को चुराने में स्त्रियों से बढ़कर दूसरा कोई चतुर नहीं है। इनके मायाजाल में फँसने वाला साधु अपने संयम व्रत से सदा के लिये हाथ धो बैठता है। जैसे कीचड़ मे फँस जाने वाला पुरुष कभी सूखा नहीं निकल सकता इसी प्रकार स्त्रीरूप कीचड़ के संसर्ग मे आने वाले संयमशील साधु के संयम व्रत मे भी किसी न किसी प्रकार के लांछन के लगने की अवश्य संभावना है। इसलिये संयम मार्ग पर चलने वाला साधु इन बातों के अनर्थकारी परिणामों पर विचार करता हुआ स्त्रीसंसर्ग से अपने आपको सदैव दूर रखने का प्रयत्न करे। इसी प्रकार वीतराग देव के संयम मार्ग पर चलने वाली साध्वी स्त्री सदा पुरुषों के संसर्ग को त्याज्य समझे।

यहां पर इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि मुमुक्षु पुरुष को उसके संयम मार्ग से भ्रष्ट करने वाली कुत्सित कामवासनायें ही हैं। अतः कामवासनाओं को प्रबुद्ध करने वाले जितने भी कारण हैं उन सब का ही संसर्ग संयमी पुरुष के लिये त्याज्य है। अतः कामी पुरुषों का सहवास और कामोद्दीपक साहित्य आदि का वाचन आदि कार्यों को विवेकशील साधु कभी आचरण में न लावे। उक्त गाथा मे जो 'आत्मगवेषक' पद दिया है उसका यही तात्पर्य है क्योंकि पूर्णतया ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये बिना आत्मा की गवेषणा (आत्मा के दर्शन) नहीं हो सकती। इसलिये मोक्षपथगामी साधु पुरुष को उचित है कि वह स्त्रीजनों को कीचड़—दलदल के समान फँसाने वाली और मोक्षपुरी के मार्ग में विघ्नरूप समझ कर इनके संसर्ग का सर्वथा त्याग कर दे, न कि इनमें फँसकर अपने आत्मा का हनन कर दे अर्थात् इनके संग से अपने संयम मार्ग से भ्रष्ट होकर अपने आपका विनाश कर बैठे। सारांश कि आत्मगवेषी साधु स्त्रीजनों के संसर्ग से सदैव दूर रह कर अपने संयम व्रत की आराधना मे ही सदा दृढ़तापूर्वक विचरण करे, यही उसकी सर्वतोभावी विजय है।

(९) चर्यापरिषह—

यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि उक्त परिषह के आने की सम्भावना प्रायः एक ही स्थान में अधिक निवास करने से शक्य हो सकती है। अतः अब चर्यानाम के नौवें परिषह का वर्णन किया जाता है—

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए ॥१८॥

एक एव चरेल्लाढः, अभिभूय परिषहान्।
ग्रामे वा नगरे वापि, निगमे वा राजधान्याम् ॥१८॥

पदार्थान्वयः—एग एव-अकेला ही चरे-विचरे लाढे-प्रासुक आहार से निर्वाह करने वाला अभिभूय-जीत करके परीसहे-परिषहों को गामे-ग्राम में वा-अथवा नगरे-नगर में वा-अथवा निगमे-वणिक् स्थान में वा-अथवा रायहाणिए-राजधानी में वि-अपि-मंडपादि में।

मूलार्थ—अकेला ही साधु, प्रासुक आहार से निर्वाह करता हुआ ग्राम, नगर, वणिक् स्थान और राजधानी तथा अन्य स्थानों में विचरण करे।

टीका—इस गाथा में साधु को एक स्थान में बैठे न रह कर सदा विचरते रहने का आदेश किया गया है। केवल प्रासुक आहार से निर्वाह करने वाला विवेकशील साधु अकेला ही ग्राम नगर आदि मे नियमपूर्वक विचरण करता रहे, और विहार में किसी से किसी प्रकार की भी सहायता की आकांक्षा न करे किन्तु रागादि से रहित होकर अकेला ही अप्रतिबद्ध विहार करे। इसी से उक्त परिषह पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

यहां पर गाथा में जो 'लाढ' शब्द है वह प्रथमान्त है और अध्याहृत मुनिपद का विशेषण है। इसलिये वृत्तिकार ने इसका यही अर्थ किया है कि—'लाढयति-यापयति आत्मानम् एषणीयाहारेणेति लाढो देश्यत्वात् प्रशस्यः' जो प्रासुक आहार से निर्वाह करता है उसे लाढ कहते हैं। अतः यह माहात्म्य नहीं है जिससे कि इसका आम्नायप्रसिद्ध 'देश' अर्थ किया जावे।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

असमाणे चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए ॥१९॥

असमानश्चरेद् भिक्षुः, नैव कुर्यात् परिग्रहम् ।
असंसक्तो गृहस्थैः, अनिकेतनः परिव्रजेत् ॥१९॥

पदार्थान्वयः—असमाणे—अहंकार से रहित होकर चरे—विचरण करे भिक्खू—साधु नेव—नहीं कुज्जा—करे परिग्गहं—परिग्रह को असंसत्तो—असंसक्त गिहत्थेहिं—गृहस्थों से अणिएओ—घर से रहित होकर परिव्वए—परिभ्रमण करे।

मूलार्थ—साधु सदा अहंकार से रहित होकर विचरे, किसी प्रकार के परिग्रह का संचय न करे। गृहस्थों में आसक्त न होवे और किसी प्रकार के घर वार को न रखता हुआ सदा देशभ्रमण करे।

टीका—इस गाथा में साधु को निस्संग होकर देश विदेश में विचरने की आज्ञा की गई है, किसी प्रकार का ममत्व न रखकर और किसी प्रकार के स्थान का बन्ध न रखकर केवल शरीरयात्रा और धर्मप्रचारार्थ ही साधु को भ्रमण करना चाहिये। किसी स्थान अथवा व्यक्ति या वस्तु विशेष पर ममत्व हो जाने से साधु न तो अपने संयम में ही दृढ़ रह सकता है और न उससे किसी प्रकार का उपकार ही हो सकता है। इसलिये संयमशील साधु को उचित है कि वह किसी में भी आसक्त न हो, किसी प्रकार का परिग्रह विशेष न रक्खे और किसी प्रकार का स्थान भी न बनावे किन्तु असंग होकर सदा विचरण करे।

उक्त गाथा में जो साधु के लिये 'अणिएओ' कहा है, उसका यही तात्पर्य है कि साधु कहीं स्थान बनाकर न बैठे अर्थात् मठधारी न बन जावे।

इसके अतिरिक्त गाथा में आये हुए प्रथम 'असमानः' पद का अन्त की 'परिव्रजेत्' क्रिया के साथ सम्बन्ध करके उसका 'न समानः असमानः' अर्थात् जो अन्यतीर्थी साधु के समान न हो, ऐसा अर्थ भी सूत्रकार को अभिप्रेत है। इसका अभिप्राय यह है जैसे बहुधा अन्यमतानुयायी साधु मुनि और परिव्राजक कहलाते हुए कई एक मठों के स्वामी होते हैं और स्थान आदि रखते हुए ही देश विदेश में अमुक प्रकार के द्रव्यादि के लाभ के लिये विचरण करते है, इस प्रकार का संयमशील साधु कभी आचरण न करे क्योंकि उसने वीतराग देव के त्यागप्रधान संयम मार्ग का अनुसरण किया हुआ है। आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार

से सांसारिक पदार्थों का त्याग ही साधु जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इसके लिये सब से प्रथम अभिमान से रहित होना, परिग्रह का त्यागी होना और सर्व प्रकार के कुत्सित संग से सर्वथा दूर रहना परम आवश्यक है। इस प्रकार संयम में दृढ़ रह कर आयु पर्यन्त साधु को विचरते रहना चाहिये।

(१०) नैषेधिकीपरिषह—

जिस प्रकार जीवनपर्यन्त साधु को चर्यापरिषह के सहन करने की शास्त्रकारों ने आज्ञा दी है उसी प्रकार नैषेधिकीपरिषह के लिये भी है। अतः अब नैषेधिकी नाम के दशवे परिषह के विषय मे कहते हैं—

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥२०॥

श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले चैककः।
अकुक्कुचः निषीदेत्, न च वित्रासयेत् परम् ॥२०॥

पदार्थान्वयः—सुसाणे–श्मशान में वा–अथवा सुन्नगारे–शून्य घर में वा–अथवा रुक्खमूले–वृक्ष के मूल में एगओ–अकेला ही अकुक्कुओ–कुचेष्टाओं से रहित निसीएज्जा–बैठे न–नहीं य–और परं–परजीवों को वित्तासए–त्रास देवे।

मूलार्थ—साधु श्मशान में, शून्य घर में या वृक्ष के मूल में किसी प्रकार की भी कुचेष्टा को न करता हुआ राग द्वेष से रहित अकेला ही बैठे और किसी प्रकार से भी अन्य जीवों को त्रास न देवे।

टीका—इस गाथा में साधु को हर प्रकार से अपने आपको संयत रखने का उपदेश दिया गया है अर्थात् श्मशानभूमि मे, शून्यमन्दिर में अथवा किसी वृक्ष के मूल में तात्पर्य कि किसी भी एकान्त स्थान में राग द्वेष से रहित होकर अकेला बैठा हुआ साधु किसी प्रकार भी कुचेष्टा न करे और न किसी जीव को त्रास देवे क्योंकि ऐसा करने से एक तो मानसिक चंचलता की वृद्धि होती है और दूसरे उसकी अहिंसक वृत्ति में भी बाधा पड़ने की सम्भावना है। क्योंकि जीवों को त्रास देना भी उनकी एक प्रकार की विराधना ही है। इसलिये उक्त

9467

निर्जन प्रदेशों में बैठा हुआ साधु समाधियुक्त होकर आत्मचिन्तन में ही प्रवृत्त रहे, और किसी प्रकार की कुचेष्टा से असमाहित और क्षुद्र जीवों की विराधना का भागी कदापि न बने। गाथा में श्मशानभूमि आदि का जो उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि संयमशील साधुओं के लिये प्रायः ऐसे ही स्थानों में निवास करना उनकी संयमरक्षा के लिये उपयोगी है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

तत्थ से अत्थमाणस्स[1], उवसग्गाभिधारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥२१॥

तत्र तस्य तिष्ठतः, उपसर्गानभिधारयेत् ।
शंकाभीतो न गच्छेत्, उत्थायान्यदासनम् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—तत्थ–उन स्थानों में से–उसके अत्थमाणस्स–बैठे हुए को उवसग्गा–उपसर्गों को अभिधारए–सहन करे संकाभीओ–शंकाओं से भयभीत होकर उट्ठित्ता–उठ करके अन्नं–और आसणं–आसन पर न गच्छेज्जा–न जावे।

मूलार्थ—इन उक्त स्थानों में बैठे हुए साधु को यदि कोई उपसर्ग आ जावे तो साधु उनको सहन करे किन्तु किसी प्रकार की शंका से भयभीत होकर वहां से उठकर अन्य स्थान पर न जावे।

टीका—श्मशान आदि निर्जन भूमि मे बैठे हुए ध्यानारूढ़ साधु को यदि किसी देव आदि का उपसर्ग उत्पन्न हो जावे तो ध्यानमग्न मुनि को उचित है कि वह उन उपसर्गों से भयभीत होकर वहां से उठकर किसी अन्य स्थान में चले जाने का संकल्प न करे किन्तु दृढतापूर्वक उस उपसर्ग आदि को सहन ही करे और समतापूर्वक उसका सामना करके उस पर विजय प्राप्त करे। यदि उपसर्ग आदि के भय से डर कर साधु अपने आसन से चलायमान हो जावे तो उसके स्वाध्याय और ध्यान आदि कृत्यों में बड़े भारी विघ्न आने की सम्भावना है। विवेकशील साधु को उचित है कि किसी उपसर्ग के आने पर वह और भी दृढ़ता

१ चिट्ठमाणस्स.

से अपने ध्यानादि में स्थिर रहने का प्रयत्न करे। तथा उन उपसर्गों को अपनी परीक्षा का समय समझ कर उनको तुच्छ समझता हुआ उन पर विजय प्राप्त करे इसी मे उसके संयम की दृढ़ता और उज्ज्वलता है। संयम मे दृढ़ रहने वाले मुनि के आगे सर्व प्रकार की सिद्धियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। इसलिये ध्यानारूढ़ मुनि किसी भी उपसर्ग से भयभीत न होवे।

(११) शय्यापरिषह—

नैषेधिकी के बाद जब साधु स्वाध्याय के निमित्त बस्ती में आता है तो उस समय उसको शय्यापरिषह उपस्थित होता है। इसलिए अब ग्यारहवें शय्या-परिषह का वर्णन करते हैं—

उच्चावयाहिं सेज्जाहिं, तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं विहन्निज्जा, पावदिट्ठी विहन्नई ॥२२॥

उच्चावचाभिः शय्याभिः, तपस्वी भिक्षुः स्थामवान्।
नातिवेलं विहन्यात्, पापदृष्टिर्विहन्यात् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—उच्चावयाहिं–ऊंची व नीची सेज्जाहिं–शय्याओं से तवस्सी–तप करने वाला भिक्खु–साधु थामवं–शक्तिसम्पन्न होवे अइवेलं–समय का अतिक्रमण न–न विहन्निज्जा–करे पावदिट्ठी–पापदृष्टि साधु विहन्नई–समय का उल्लंघन कर देता है।

मूलार्थ—ऊंची नीची शय्या आदि से साधु अपने स्वाध्याय आदि के समय का उल्लंघन न करे किन्तु तपस्वी साधु उक्त परिषह के सहन करने में अपने आपको शक्तिशाली बनावे और पापदृष्टि साधु समय का उल्लंघन कर देता है।

टीका—शय्या का ऊंचापन शीत आदि का निवारक होता है और उसका नीचा होना शीत आदि की बाधा का कारण है परन्तु तपस्वी साधु किसी प्रकार की शय्या के उपलब्ध होने पर भी अपने आपको शीतादि के सहन में समर्थ बनाता हुआ अपने स्वाध्याय के नियत समय का कभी उल्लंघन नहीं करता किन्तु पापदृष्टि साधु शय्या आदि की अनुकूलता को ढूँढता हुआ अपने स्वाध्याय के

अमूल्य समय को यों ही व्यर्थ खो देता है। इसलिये संयमशील साधु को चाहिये कि वह ऊंच नीच शय्या आदि के विचार को सर्वथा छोड़ता हुआ अपने स्वाध्याय के समयविभाग को कभी हाथ से न जाने देवे। तात्पर्य कि शीत उष्ण आदि के बचाव में अपने स्वाध्याय के समय को कभी न खोवे किन्तु इन शय्या आदि की कुछ भी परवाह न करता हुआ अपने स्वाध्याय में ही सदा रत रहे।

यहां पर इतना और स्मरण रखना कि उक्त गाथा मे शय्या के सम्बन्ध मे जो ऊंच नीच शब्द का प्रयोग किया गया है वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से समझ लेना चाहिये। द्रव्य से ऊंचे प्रसाद आदि और भाव से इच्छानुकूल स्थान हैं। इसी प्रकार नीच शय्या के विषय मे भी जान लेना चाहिये। सारांश यह है कि कैसा भी स्थान प्राप्त हो तथा कैसी भी शीत आदि की बाधा उपस्थित हो परन्तु यत्नाशील साधु अपने स्वाध्याय के नियम मे किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न होने देवे।

इच्छानुकूल शय्या के प्राप्त न होने पर साधु को क्या करना चाहिये, अब इस विषय में और भी कहते हैं—

पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणमदुव पावयं।
किमेगराइं करिस्सइ, एवं तत्थऽहियासए ॥२३॥

प्रतिरिक्तमुपाश्रयं लब्ध्वा, कल्याणमथवा पापकम्।
किमेकरात्रं करिष्यति, एवं तत्राधिसहेत ॥२३॥

पदार्थान्वयः—पइरिक्क—स्त्री-पशु-पंडक से रहित उवस्सयं—उपाश्रय लद्धुं—प्राप्त करके कल्लाणं—सुन्दर अदुव—अथवा पावयं—पापरूप—उपाश्रय किं—क्या एगराइं—एक रात्रि प्रमाण काल मे करिस्सइ—करेगा एवं—इस प्रकार तत्थ—वहां पर अहियासए—सुख दुःख सहन करे।

मूलार्थ—स्त्री-पशु-पंडक-नपुंसक रहित कल्याणकारी उपाश्रय को प्राप्त करके अथवा पापरूप उपाश्रय में ठहर कर साधु इस प्रकार का विचार करे कि यह उपाश्रय—स्थान एक रात्रि में मेरा क्या कर लेगा, ऐसा विचार करके वहां पर होने वाले शीत आदि के कष्ट को शांतिपूर्वक सहन करे।

टीका—साधु वृत्ति के अनुकूल स्त्री, पशु और पंडक आदि से रहित जो उपाश्रय है वह चाहे सुन्दर है चाहे असुन्दर है परन्तु इच्छा के अनुकूल नहीं है। उसके मिल जाने पर उस समय साधु यह विचार करे कि एक रात्रि में यह मेरा क्या विगाड़ कर लेगा, इसलिये इसमें जो कुछ भी सुख अथवा दुःख मुझे उपस्थित हो उसे शांतिपूर्वक सहन करना ही मेरा परम धर्म है। ऐसा परामर्श करता हुआ साधु अपने संयम में ही दृढ़ रहने का प्रयत्न करे किन्तु मन में किसी प्रकार की दीनता अथवा शोक सन्ताप न करे।

यहां पर उपाश्रय के विषय मे जो 'कल्याण' शब्द का प्रयोग किया है उसका तात्पर्य केवलमात्र इतना ही है कि यदि नवीन सुन्दर और अलंकृत उपाश्रय मिल जाय तो उसके मिलने से साधु अपने मन में किसी प्रकार का हर्ष न करे और धूलिधूसरित तृणयुक्त अति पुराणा मिल जाय तो मन में किसी प्रकार का शोक उत्पन्न न करे किन्तु जैसा भी मिल जाय उसी में सन्तोष मानता हुआ उसमें आने वाले किसी उपसर्ग को समतापूर्वक सहन करने मे ही अपने संयम की दृढ़ता का परिचय देवे।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में जो एक रात्रि निवास का उल्लेख है वह जिनकल्पी की अपेक्षा है और स्थविरकल्पी तो एक से अधिक रात्रि भी रह सकता है अथवा विहार काल में स्थविरकल्पी के लिये भी इच्छानुकूल स्थान न मिलने से एक रात्रि की कल्पना युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

(१२) आक्रोशपरिषह—

शय्यापरिषह के पश्चात् अब वारहवें आक्रोशपरिषह का वर्णन करते हैं—

अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥२४॥

आक्रोशेत् परो भिक्षुं, न तस्मै प्रतिसंज्वलेत्।
सदृशो भवति बालानां, तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेत् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—परे-दूसरा कोई भिक्खुं-साधु को अक्कोसेज्जा-आक्रोश करे तेसिं-उसके लिये—उसके ऊपर न पडिसंजले-न क्रोध करे क्योंकि बालाणं-

मूर्खों के सरिसो-समान होइ-होता है तम्हा-इसलिये भिक्खू-साधु न संजले-क्रोध न करे।

मूलार्थ—कोई पुरुष साधु की निन्दा करे तो साधु उसके ऊपर क्रोध न करे क्योंकि वह मूर्खों के समान हो जाता है। इसलिये अपने को कोसने वाले पर भी साधु कभी कोप न करे।

टीका—यदि कोई अन्य पुरुष साधु की निन्दा भी करने लगे, उसे कोसने भी लगे तो साधु को उसके ऊपर कभी क्रोध नही करना चाहिये किन्तु शांतिपूर्वक उसे सहन ही कर लेना चाहिये। इस कथन का अभिप्राय यह है कि किसी साधु पुरुष को कोसना—उसकी निन्दा करना केवल मूर्खता का काम है। मूर्ख लोग ही इस प्रकार का जघन्य आचरण किया करते हैं परन्तु साधु भी यदि उनके इस कुत्सित बर्ताव को देखकर अपनी शांति की मर्यादा का भंग करता हुआ उन पर क्रोध करने लग जाय तो वह भी उनके समान ही मूर्खों की पंक्ति में गिना जाने लगेगा। इसलिये साधु पुरुष कभी भी क्रोध के आवेश में न आवे किन्तु कोसने वाले अन्य पुरुष की बालिशता को उपेक्षा की दृष्टि से देखता हुआ अपने समता भाव में ही स्थिर रहने का प्रयत्न करे। इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि यदि कोई क्षुद्र व्यक्ति साधु की भर्त्सना करने लगे तो साधु को उस पर दया लाकर सर्वथा शान्त रहना चाहिये और यदि मेरे में उक्त कोई दोष है तब तो यह सत्य कह रहा है फिर इस पर क्रोध कैसा और यदि यह मिथ्या ही मेरी निन्दा कर रहा है तब यह अपने किये कर्म का फल स्वयं ही भोग लेगा फिर मैं इस पर क्रोध करके अपने आत्मा को क्यों मलिन करूं इत्यादि विचारपरम्परा द्वारा अपने में आये हुए क्रोध के आवेश को शान्त करे किन्तु अपने आत्मा को क्रोध के वशीभूत कभी न होने दे, इसी में उसकी विजय है।

यहां पर आक्रोश शब्द का अर्थ असभ्य भाषा का व्यवहार करना है। जैसे—इसको धिक्कार है, यह यों ही सिर मुंडाये फिरता है, इत्यादि।

इस गाथा में विभक्ति का व्यत्यास प्राकृत के सुप्रसिद्ध नियम से जानना। यथा—'तस्मै' के स्थान में पष्ठ्यन्त 'तेसिं' और 'भिक्षुं' के स्थान पर 'भिक्खू' प्रथमान्त पद का प्रयोग है।

तिरस्कार करने वाले पुरुष के सम्बन्ध में संयमशील साधु का किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिये, अब इस विषय पर और भी कहते हैं—

सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसी करे ॥२५॥
श्रुत्वा परुषाः भाषाः, दारुणाः ग्रामकण्टकाः।
तूष्णीक उपेक्षेत, न ताः मनसि कुर्यात् ॥२५॥

पदार्थान्वयः—सोच्चा–सुन करके णं–वाक्यालंकार में है फरुसा–कठिन भासा–भाषा दारुणा–कठोर गामकंटगा–ग्रामकंटक तुसिणीओ–मौनभाव उवेहेज्जा–धारण करे किन्तु ताओ–उन भाषाओं के बोलने वालों पर मणसी–मन से भी न करे–द्वेषादि न करे।

मूलार्थ—दूसरों की इन्द्रियरूप ग्राम को दारुण और कंटक के समान चुभने वाली अति कठोर भाषा को सुनकर भी साधु मौन ही रहे किन्तु उन कठोर शब्दों को बोलने वालों पर वचन से तो क्या मन से भी द्वेष न करे।

टीका—किसी व्यक्ति के द्वारा कहे गये अति कठोर—दारुण और चुभने वाले शब्दों को सुनकर साधु उनकी ओर ध्यान न दे किन्तु उपेक्षा ही कर देवे, तथा कठोर शब्दों के द्वारा बोलाने पर भी साधु सदा मौन ही धारण किये रहे। एवं कठोर शब्द कहने वाले व्यक्ति के ऊपर किसी प्रकार का मानसिक द्वेष न करे, किन्तु अपने समता भाव में स्थित रह कर आत्मकल्याण की ओर ही ध्यान रक्खे। इसी से वह आक्रोश नाम के परिषह पर विजय प्राप्त कर सकता है, अन्यथा कठोर शब्द कहने वाले पर क्रोध करने से आत्मा में कषाय की वृद्धि से मलिनता के बढ़ने की ही अधिक संभावना है। इसलिये साधु पुरुष को वाणी द्वारा अपकार करने वाले पर अपकार की ही भावना रखनी आवश्यक है।

(१३) वधपरिषह—

जब कोई क्षुद्र व्यक्ति कोसने आदि से तृप्त नहीं होता अर्थात् इतने पर भी उसके मन को विश्राम नहीं मिलता तब वह मारने पीटने पर उतारू हो जाता है। इसलिये अब वध नाम के १३ वें परिषह का वर्णन किया जाता है—

हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए ।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खू धम्मं विचिंतए ॥२६॥

हतो न संज्वलेद् भिक्षुः, मनोऽपि न प्रदूषयेत् ।
तितिक्षां परमां ज्ञात्वा, भिक्षुर्धर्मं विचिन्तयेत् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—हओ–मारा हुआ भिक्खू–साधु न संजले–क्रोध न करे मणंपि–मन से भी न पओसए–उसके ऊपर द्वेष न करे तितिक्खं–क्षमा को परमं–उत्कृष्ट नच्चा–जान करके भिक्खू–मुनि धम्मं–धर्म का विचिंतए–चिंतन करे ।

मूलार्थ—हना हुआ साधु मारने वाले पर मन से भी द्वेष न करे किन्तु क्षमा को उत्कृष्ट जान कर अपने मुनि धर्म का ही चिन्तन करे ।

टीका—इस गाथा में संयमशील साधु को पूर्णरूप से शान्त रहने का उपदेश किया गया है अर्थात् यदि कोई मूर्ख पुरुष साधु को दंडादि से भी ताड़न करे तो साधु वाणी से तो क्या मन से भी उस मारने वाले का अनिष्ट चिन्तन न करे, इसी में उसके उत्कृष्ट क्षमा के आचरण का महत्त्व है । क्षमा ही साधु का सर्वोपरि आचरणीय धर्म है । इसलिये वीतराग देव के धर्म में आरूढ़ होने वाले मुनि को दूसरों के असभ्य और कुत्सित वर्ताव को भी बड़े शान्त भाव से सहन कर लेना चाहिये । इसका तात्पर्य यह है कि किसी दुष्ट पुरुष के जघन्य व्यवहार से साधु को अपने धर्म से विचलित नहीं होना चाहिये क्योंकि ऐसे समय में ही साधु की क्षमावृत्ति और सहनशीलता की परीक्षा होती है । यदि इस प्रकार के परिषह—कष्ट के उपस्थित होने पर साधु अपने क्षमा धर्म से च्युत हो जाय तो उसकी उत्कृष्ट साधुचर्या दूषित हो जाती है और उक्त परिषह पर विजय प्राप्त करने के बदले वह स्वयं पराजित हो जाता है । इसलिये ऐसे समय पर साधु को अपने क्षमाधर्म से अणुमात्र भी विचलित नहीं होना चाहिये, यही उसकी दृढ़ साधुनिष्ठा की सच्ची कसौटी है । यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार शास्त्रकार ने साधु को अपने मुनिधर्म में दृढ़ रहने का आदेश किया है उसी प्रकार उपलक्षणतया

'गिहिधम्मं विचिंतए' के अनुसार गृहस्थ को भी अपने निजी कर्त्तव्य में पूर्णतया सावधान रहने का उपदेश है। तात्पर्य कि किसी आपत्ति के आ जाने पर ब्राह्मण अपने सत्य और सन्तोष धर्म का चिन्तन करे, क्षत्रिय अपने रक्षा धर्म का चिन्तन करे और वैश्य तथा शूद्र आदि शास्त्रविहित अपने धर्म का विचार करे क्योंकि शास्त्रविहित मर्यादा के अनुसार अपने अपने धर्म का पालन करना साधु और गृहस्थ दोनों के लिये समान कर्तव्य है।

अब इसी विषय को प्रकारान्तर से कहते हैं—

समणं संजयं दंतं, हणिज्जा कोइ कत्थई।
नत्थि जीवस्स नासु त्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥२७॥

श्रमणं संयतं दान्तं, हन्यात् कोऽपि कुत्रचित्।
नास्ति जीवस्य नाश इति, एवं चिन्तयेत् संयतः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—समणं–श्रमण संजयं–संयत दंतं–दान्त को कोइ–कोई कत्थई–किसी स्थान पर भी हणिज्जा–मारे जीवस्स–जीव का नास–नाश नत्थि–नहीं होता एवं–इस प्रकार संजए–संयत—साधु पेहेज्ज–विचार करे त्ति–इति पादपूर्त्ति के लिये।

मूलार्थ—इन्द्रियों का दमन करने वाले संयमशील साधु को यदि किसी स्थान पर कोई मारे तो वह साधु इस प्रकार का विचार कर शान्त भाव से रहे कि जीव का तो कभी नाश होता ही नहीं और यह जो शरीर है सो वास्तव में मेरा नहीं है।

टीका—सर्व प्रकार के आरम्भ समारम्भ के त्यागी संयमशील परम तपस्वी साधु को यदि कोई अनार्य—दुष्ट पुरुष ताड़ना करने के अलावा किसी स्थान पर वध करने के लिये भी उद्यत हो जावे तो साधु मुनिराज उसके प्रतिकार करने का कभी संकल्प न करे किन्तु उसके इस अति नीच एवं जघन्यतम व्यवहार को देखकर अपने उत्कृष्ट मुनिधर्म में स्थिर रहकर शान्त भाव से विचारे कि यह व्यक्ति मेरे ज्ञानस्वरूप आत्मा का तो किसी प्रकार भी विनाश नहीं कर सकता अपितु

शरीर को हानि पहुंचा सकता है। सो यह शरीर वास्तव में मेरा है ही नहीं और न इसने ही सदा रहना है, किसी न किसी निमित्त से इसका विनाश अवश्यंभावी है। सम्भव है, इसी व्यक्ति के द्वारा इस विनश्वर शरीर का अन्त होना हो फिर इसमें चिन्ता और शोक किस बात का ? एक न एक दिन तो इसका अंत होकर ही रहना है। इस प्रकार से मुनिधर्मोचित आचार की विशुद्ध भावना से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ साधु उक्त वधपरिषह को दृढ़तापूर्वक सहन करे।

यहां पर गाथा मे जो 'संयत' पद दिया गया है, उसका अर्थ निरन्तर यत्न करने वाला है। सो जो निरन्तर यत्न करने वाला होगा, वही सम्यक् प्रकार से परिषह को सहन करने वाला हो सकेगा, यह अर्थ ध्वनित होता है। तथा जीव का नाश नहीं होता, इस कथन से आत्मा को अजर और अमर बतलाते हुए उत्पत्ति और विनाश को शरीर का धर्म बतलाया है, जिससे कि वधपरिषह की उपस्थिति में मुनि को आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बराबर भान रहे और वह उक्त परिषह पर विजय प्राप्त करने में सफल हो, जैसे कि स्वनामधन्य श्रीगज सुकुमार और प्रदेशी राजा सफल हुए थे।

(१४) याञ्चापरिषह—

वधपरिषह के अनन्तर फिर याञ्चापरिषह की बारी आती है, इसलिए अब याञ्चा नाम के चौदहवें परिषह का वर्णन किया जाता है—

दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं ॥२८॥

दुष्करं खलु भो नित्यम्, अनगारस्य भिक्षोः।
सर्वं तस्य याचितं भवति, नास्ति किंचिदयाचितम् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—भो—हे लोगो ! दुक्करं—दुष्कर है खलु—निश्चय निच्चं—सदा अणगारस्स—अनगार भिक्खुणो—साधु को सव्वं—सब से—उसका जाइयं—मांगा हुआ होइ—है नत्थि—नहीं है किंचि—किंचिन्मात्र अजाइयं—विना मांगा हुआ।

मूलार्थ—हे लोगो ! साधु का आचार बड़ा ही दुष्कर है, उसकी उपकरण आदि सभी वस्तुएं मांगी हुई हैं, विना मांगे हुए उसके पास कुछ भी नहीं है।

टीका—इस गाथा मे साधुचर्या मे होने वाली निरन्तर याञ्चा के द्वारा उसकी—साधुचर्या की दुष्करता का वर्णन किया गया है। साधुवृत्ति इसलिये दुष्कर है कि उसमें याञ्चावृत्ति आयुपर्यन्त बराबर बनी रहती है। साधु के पास संयमनिर्वाहार्थ जितने भी वस्त्र, पात्र आदि उपकरण हैं वे सब गृहस्थों से मांगे हुए हैं, बिना मांगी उसके पास एक भी वस्तु नहीं है। यह याञ्चावृत्ति उसके साथ जीवन पर्यन्त लगी रहेगी। इसी पराधीनता को लेकर साधु धर्म का अनुष्ठान दुष्कर माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि संयमनिर्वाह के लिये प्रतिदिन अथवा कभी २ आवश्यकता पड़ने पर नितान्त उपयोगी पदार्थों की याचना करने मे साधु किसी प्रकार की लज्जा अथवा संकोच न करे।

अब फिर इसी विषय पर कहते है—

गोयरग्गपविट्ठस्स , पाणी नो सुप्पसारए।
सेओ अगारवासुत्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥२९॥

गोचराग्रप्रविष्टस्य , पाणिः न सुप्रसारकः।
श्रेयानगारवास इति, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—गोयरग्गपविट्ठस्स–भिक्षाचरी में प्रवेश किये हुए का पाणी–हाथ नो–नहीं सुप्पसारए–सुखपूर्वक पसारा जाता अतएव सेओ–श्रेय है अगारवास–घर में वसना त्ति–पादपूरणार्थक है इइ–इस प्रकार भिक्खू–साधु न चिंतए–चिन्तन न करे।

मूलार्थ—भिक्षा के निमित्त गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ भिक्षु इस प्रकार का चिन्तन कभी न करे कि इन लोगों के घरों में प्रतिदिन हाथ पसारने की अपेक्षा तो घर में रहना ही अच्छा है।

टीका—इस गाथा में साधु के लिये साधुधर्मोचित भिक्षावृत्ति से ग्लानि न करने का आदेश दिया गया है। वीतराग देव के धर्म मे प्रविष्ट हुए संयमशील साधु का शास्त्रविहित यही धर्म है कि वह अपनी उदरपूर्ति के निमित्त किसी भी प्रकार के आरम्भ समारम्भ में प्रवृत्त न हो किन्तु साधुजनानुमोदित भिक्षावृत्ति से,

निर्दोष आहार का ग्रहण करता हुआ ही अपने संयम का यथावत् पालन करे, इसी में उसके मुनिधर्म की विशिष्टता है। इसलिये भिक्षा के निमित्त किसी परिचित अथवा अपरिचित गृहस्थ के घर में प्रवेश करता हुआ साधु मन में यह कभी विचार न करे कि इन लोगों के सामने नित्यप्रति भिक्षा के लिये हाथ पसारना तो कुछ उचित प्रतीत नहीं होता, इसकी अपेक्षा तो घर में रह कर न्यायपूर्वक अपने हाथ से कमा कर खाना कहीं अधिक अच्छा है।

इसका तात्पर्य यह है कि साधु को इस प्रकार के विचार से अलग रखने का जो शास्त्रों मे विधान है उसके दो हेतु हैं, एक तो साधुचर्या में होने वाली सावद्य प्रवृत्ति का निषेध और उसकी निष्पाप प्रवृत्ति की रक्षा, दूसरे सुपात्रदान से गृहस्थों पर होने वाले उपकार की स्थिरता और मुनिधर्म के उज्ज्वल आचार की प्रतिष्ठा। इन दो कारणों से साधु को अपने मुनिजनोचित भिक्षाचार से कभी भी ग्लानि नहीं करनी चाहिए।

गृहस्थ के प्रवृत्ति धर्म का परित्याग करके सर्वथा निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करने वाला साधु यदि भिक्षा वृत्ति के संकोच से फिर से गृही बनने का संकल्प करे तो उसके निवृत्ति मार्ग का कुछ भी मूल्य नहीं रहता और जिस आरम्भमूलक सावद्य प्रवृत्ति के त्याग की उसने प्रतिज्ञा की है वह भी सर्वथा निस्सार और अर्थशून्य हो जाता है तथा त्यागप्रधान साधुवृत्ति का भी सर्वथा उच्छेद हो जाता है। इसलिये किसी भी गृहस्थ को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाये विना भ्रमर की तरह भिक्षावृत्ति करके केवल शुद्ध आहार से अपने प्राणों का पोषण करने वाला साधु संयम में दृढ़ रहता हुआ स्वयं भी तरता है और भिक्षा देने वाले गृहस्थों को भी तारता है। अतः सर्वविरति—सर्वत्यागी साधु को भिक्षावृत्ति में कभी संकोच नहीं करना चाहिये, यह तो उसका शास्त्रविहित शुद्ध आचार है।

(१५) अलाभपरिषह—

भिक्षा मांगने पर यदि न मिले तो फिर अलाभपरिषह की उपस्थिति हो जाती है। इसलिये अब पन्द्रहवें अलाभ नाम के परिषह का वर्णन किया जाता है—

परेसु घासमेसेज्जा, भोयणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा, नाणुतप्पेज्ज पंडिए ॥३०॥

परेषु ग्रासमेषयेत्, भोजने परिनिष्ठिते।
लब्धे पिण्डे अलब्धे वा, नानुतपेत् पण्डितः ॥३०॥

पदार्थान्वयः—परेसु-गृहस्थों के घरों मे घासं-आहार की एसेज्ञा-गवेषणा करे भोयणे-भोजन परिणिट्ठिए-निष्पन्न होने पर लद्धे पिंडे-आहार के मिलने पर वा-अथवा अलद्धे-न मिलने पर पंडिए-पंडित पुरुष नाणुतप्पेज्ज-पश्चात्ताप न करे।

मूलार्थ—गृहस्थों के घरों में भोजन तैयार हो जाने पर साधु भिक्षा के लिये जावे परन्तु वहां से आहार के मिलने अथवा न मिलने पर विवेकी पुरुष मन में किसी प्रकार का हर्ष अथवा शोक न करे।

टीका—इस गाथा में साधु को समय पर भिक्षा के लिये जाने का तथा भिक्षा की प्राप्ति में हर्ष और अप्राप्ति में विषाद के त्याग का उपदेश दिया गया है। संयमशील साधु को उचित है कि वह समय पर ही गृहस्थों के घरों में गोचरी के लिये जावे। समय से पहले जाने पर सम्भव है कि रागवशात् गृहस्थ साधु के निमित्त किसी सावद्य क्रिया मे प्रवृत्त हो जावे और बाद में जाने पर किसी अमुक प्रकार के अपवाद की सम्भावना का होना भी कोई अस्वाभाविक नहीं। इसलिये साधु को समय पर ही आहार के लिये जाना चाहिये। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये उक्त गाथा मे 'परिणिट्ठिए—परिनिष्ठित' पद का प्रयोग किया है। एवं समय पर जाने से यदि साधु को अच्छा आहार मिल जाय तो वह उसको प्राप्त कर मन में किसी प्रकार की प्रसन्नता प्रकट न करे और न इस बात पर गर्व करे कि इस प्रकार का जो अच्छा आहार मुझ को मिला है यह मेरे पुण्य का प्रभाव है, तथा आहार के न मिलने पर अथवा अच्छे स्वादिष्ठ के न मिलने पर मन मे किसी प्रकार का विषाद न करे किन्तु समय पर जैसा भी स्निग्ध—रूक्ष मिल जाय उसे ही उदरपूर्ति के निमित्त ग्रहण करके अपने संयम का निर्वाह करे। साधु के लिये तो आहार का अच्छापन उसकी प्रासुकता—निर्दोषिता पर ही अवलंबित है। तात्पर्य कि उत्तम आहार वही है जो कि प्रासुक—निर्दोष हो और बुरा आहार वह है जो कि आधा कर्मी आदि दोषों से युक्त है। फिर चाहे वह कितना ही सुन्दर और स्वादिष्ठ क्यों न हो परन्तु साधु के लिये वह कदापि ग्राह्य नहीं है।

अस्तु, समय पर जाने से भी यदि आहार की प्राप्ति न हो सके तो साधु को उस समय पर क्या विचार करना चाहिये, अब इस विषय का वर्णन किया जाता है—

अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥३१॥

अद्यैवाहं न लभे, अपि लाभः श्वः स्यात् ।
य एवं प्रतिसमीक्षेत, अलाभस्तं न तर्जयेत् ॥३१॥

पदार्थान्वयः—अज्जेव–आज अहं–मुझे न लब्भामि–आहार नहीं मिला है तो अवि–सम्भव है कि सुए–कल दिन लाभो–लाभ सिया–हो जाय जो–जो साधु एवं–इस प्रकार पडिसंचिक्खे–विचार करता है तं–उसको अलाभो–अलाभ परिषह न तज्जए–पीड़ित नहीं करता ।

मूलार्थ—आज मुझे आहार नहीं मिला सम्भव है कल को मिल जाय, जो साधु इस प्रकार से विचार करता है उसको अलाभ परिषह कष्ट नहीं देता ।

टीका—इस गाथा में साधु को आहार के न मिलने पर भी वह किसी प्रकार की दीनता का अनुसरण न करे किन्तु आशावादी बनता हुआ अपने संयम में दृढ़ रहने का प्रयत्न करे, इस विषय की चर्चा की गई है ।

अपनी साधुवृत्ति के अनुसार समय पर भिक्षा के लिये जाने पर भी साधु को यदि कहीं से निर्दोष—शुद्ध आहार की प्राप्ति न हो सके तो वह मन में किसी प्रकार से उदास न हो किन्तु धैर्य और स्थिरतापूर्वक इस भाव को मन में रखता हुआ कि आज अगर मुझे आहार नही मिला तो न सही कल मिल जायगा, कल न सही परसों मिल जायगा—वापस आ जावे । इस प्रकार का विचार रखने वाला साधु उक्त अलाभ परिषह से कभी तर्जित नहीं होता । इस सारे कथन का तात्पर्य केवलमात्र इतना ही है कि साधु को आहार के न मिलने पर अथवा पर्याप्त न मिलने पर अपने मन में किसी प्रकार की चिन्ताजनक ग्लानि उत्पन्न नहीं करनी चाहिये किन्तु यथालाभ में सन्तुष्ट रह कर अपने आत्मा को संयम में दृढ़ रखने का

ही प्रयत्न करना चाहिए। तात्पर्य कि आहार के मिल जाने अथवा न मिलने पर भी साधु के शुद्ध परिणामों में किसी प्रकार का अन्तर न आना चाहिये, इसी में उसके त्याग व्रत की सार्थकता है तथा आहार आदि अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति का होना अथवा उसके लिये प्रयत्न करने पर भी उसका न मिलना, यह सब कुछ अपने प्राक्तन कर्म के ही नियम पर अवलम्बित है। इसलिये यदि लाभान्तराय कर्म के उदय से आज आहार नहीं मिला तो कल उसके टूटने पर मिल जायगा, इत्यादि विचारविमर्श से अपने आत्मा को सन्तुष्ट और प्रसन्न रखने वाला साधु महात्मा अलाभपरिषह से कभी भी अपने आत्मा को पराजित नहीं कर सकता, यह स्मरण रक्खें।

(१६) रोगपरिषह—

यदि अलाभपरिषह के उदय से स्वल्पतर अथवा अनिष्ट आहारादि की प्राप्ति हो तो उनके निरन्तर सेवन से रोगादि के उत्पन्न होने की अधिक संभावना हो जाती है। इसलिये अब सोलहवें रोग नाम के परिषह का वर्णन किया जाता है—

नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थ हियासए ॥३२॥

ज्ञात्वोत्पतितं दुःखं, वेदनया दुःखार्दितः।
अदीनः स्थापयेत् प्रज्ञां, स्पृष्टस्तत्राधिसहेत ॥३२॥

पदार्थान्वयः—नच्चा–जान करके उप्पइयं–उत्पन्न हुए दुक्खं–दुःख को वेयणाए–वेदना से दुहट्टिए–दुःखी हुआ अदीणो–दीनतारहित पन्नं–प्रज्ञा थावए–स्थापन करे पुट्ठो–स्पर्शित हुए रोगादि के तब तत्थ–वहां अहियासए–दुःख को सहन करे।

मूलार्थ—उत्पन्न हुए दुःख को जान कर वेदना से दुःखी हुआ साधु अपने आत्मा में दीनतारहित बुद्धि को स्थापन करे और स्पर्शित होने वाले दुःख को समतापूर्वक सहन करे।

टीका—इस गाथा में ज्वर आदि रोगजन्य असह्य वेदना को ,साधु समतापूर्वक सहन करे और उसकी भयंकर वेदना से किसी प्रकार की विह्वलता को धारण न करे, इस बात की चर्चा की गई है। साधु को यदि कोई ज्वर आदि रोग हो जाय अथवा उसके शरीर में कोई तीव्र वेदना युक्त व्रण वा शोथ आदि

किसी भयंकर रोग की उत्पत्ति हो जाय तो संयमशील साधु को चाहिये कि इस रोगजन्य वेदना में वह अपनी बुद्धि को स्थिर रखने का प्रयत्न करे तथा व्रण आदि जन्य वेदना से एक दम घबरा न उठे किन्तु वेदना को अपने प्राक्तन कर्मों का विपाक समझ कर उसे धैर्यपूर्वक सहन करे। इसी प्रकार के सात्त्विक आचरण से रोगपरिषह पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस आत्मा ने कर्मों के प्रभाव से अनेक बार अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्टों का अनुभव किया और करना है तथा वर्तमान समय में जो कष्ट उत्पन्न हो रहा है उसका कारण भी असातावेदनीय कर्म का उदय है। इसलिये संसार में इस जीव को जितनी भी दुःखपरम्परा का अनुभव करना पड़ता है, वह सब इसके अपने ही उपार्जन किये हुए अशुभ कर्मों का विशेष परिणाम है। अतः रोगादिजन्य वेदना को अवश्य भोक्तव्य समझ कर संयमशील साधु इससे कभी व्याकुल न होवे किन्तु समता-पूर्वक सहन करने का प्रयत्न करे, इसी में उसके संयम की दृढ़ता और उज्ज्वलता है। इसी आशय से उक्त गाथा में 'अपीनः स्थापयेत् प्रज्ञां' यह पाठ दिया गया है जिसका तात्पर्य जैसा कि ऊपर बतलाया गया है यही है कि शरीर में कैसा भी भयंकर रोग उत्पन्न हो जाय तो भी साधु उस समय किसी प्रकार की व्याकुलता को धारण न करे किन्तु आलोचना आदि के द्वारा अपने आत्मा की विशुद्धि करने का ही प्रयत्न करे तथा कर्मजन्य परिस्थिति की पर्यालोचना करता हुआ इन रोगादि को अपना उपकारी मानना चाहिये। एवं इन रोगादि को, जरा और मृत्यु का आमंत्रण समझ कर उसके लिये सावधान रहने की कोशिश करनी चाहिये। यही इस गाथा में साधु के लिये शिक्षा दी गई है।

अब रोगादि की वृद्धि हो जाने पर औषधि आदि के विषय में कुछ जानने योग्य बात कहते हैं—

तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खऽत्तगवेसए ।
एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥३३॥

चिकित्सां नाभिनन्देत्, संतिष्ठेदात्मगवेषकः ।
एवं खलु तस्य श्रामण्यं, यन्न कुर्यात् न कारयेत् ॥३३॥

पदार्थान्वयः—तेगिच्छं-चिकित्सा—रोग के प्रतिकार का नाभिनंदेज्ञा-अनुमोदन न करे संचिक्खं-समाधि में रहे अत्तगवेसए-आत्मा के गवेषण करने वाला एवं-यह खु-निश्चय तस्स-उसका सामण्णं-साधु भाव है जं-जो न कुज्ञा-रोगादि का प्रतिकार न करे और न कारवे-न करवावे।

मूलार्थ—आत्मा की गवेषणा करने वाला साधु रोगादि की चिकित्सा का कभी अनुमोदन न करे किन्तु समाधि में रहता हुआ किसी ओषधि के द्वारा न तो स्वयं उसके प्रतिकार करने का यत्न करे और न दूसरों से करावे, यही उसका साधु भाव है अर्थात् इसी में उसकी साधुता का महत्त्व है।

टीका—रोग आदि की वृद्धि पर साधु उसकी किसी प्रकार की चिकित्सा का अनुमोदन न करे। तात्पर्य कि रोगादि के प्रतिकार के लिये वह किसी ओषधि आदि का सेवन करने का प्रयत्न न करे किन्तु इस रोगादि को कर्मजन्य समझ कर समतापूर्वक उक्त कष्ट को भोग लेने में ही अपने आत्मा का कल्याण समझे, तथा चिकित्सा शास्त्र में स्वयं निपुण होने पर भी वह न तो स्वयं किसी प्रकार की चिकित्सा का आरम्भ करे और न किसी दूसरे से अपनी चिकित्सा कराने का प्रयत्न करे अपितु समभाव में स्थित रह कर उक्त रोगादिजन्य कष्ट को भोग लेने में ही अपनी आत्मदृढता का परिचय देवे, इसी में उसके श्रामण्य—साधुभाव का महत्त्व है, इसी में उसकी साधुवृत्ति की विशिष्टता है। तात्पर्य कि रोगादि के निमित्त उपस्थित होने वाले कष्ट की निवृत्ति के लिये साधु किसी प्रकार की चिकित्सा की लालसा में न पड़े किन्तु शांतिपूर्वक उस कष्ट को भोग के द्वारा ही समाप्त करने का यत्न करे। परन्तु यहां पर इतना स्मरण अवश्य रखना चाहिये कि शास्त्रकार ने रोगादि की भयंकर अवस्था में भी साधु को ओषधि आदि के उपचार का जो निषेध किया है वह उत्सर्ग मार्ग है और केवल जिनकल्पी साधु की अपेक्षा से प्रतिपादन किया गया है। अपवाद मार्ग में जिनकल्पी के अतिरिक्त स्थविरकल्पी साधु को तो रोगादि की उपस्थिति में ओषधि आदि के ग्रहण का निषेध नहीं है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि स्थविरकल्पी साधु यदि अधिक बीमार हो जाय तो उसकी चिकित्सा के लिये साधुवृत्ति के अनुसार निरवद्य ओषधि का प्रयोग अल्पप्रमाण में कराया जा सकता है, इसके लिये अपवाद मार्ग में किसी प्रकार का निषेध नहीं

है। यदि स्थविरकल्पी साधु के शरीर में उत्पन्न होने वाले रोगादि की निवृत्ति के लिये किसी प्रकार की निरवद्य ओषधि का उपचार भी त्याग दिया जावे तो संसार में निन्दा के होने की अधिक सम्भावना है। देखने वाले अदीर्घदर्शी अन्य लोग रोगी साधु का किसी प्रकार की चिकित्सा द्वारा उपचार होते न देखकर कह उठेंगे कि ये लोग अपने आपको अहिंसक और दयालु कहते हुए भी एक रुग्ण साधु के साथ कितनी निर्दयता का व्यवहार कर रहे हैं जो कि उसको ओषधि तक भी नहीं देते। इसलिये रुग्ण साधु की उसकी वृत्ति के अनुसार ओषधि आदि के द्वारा चिकित्सा करने में किसी प्रकार का प्रत्यवाय नहीं है। परन्तु ऐसी अवस्था में भी जो साधु अपने रोग की सहसा निवृत्ति के लिये किसी प्रकार की चिकित्सा की अपेक्षा नहीं करता किन्तु अपने ऊपर आने वाले रोगादिजन्य कष्ट को प्रसन्नता से सहन करता हुआ अपने आत्मपरिणामों में किसी प्रकार की विषमता को आने नहीं देता उस तपस्वी का श्रामण्य—साधुता अधिक उज्ज्वल और प्रशंसनीय है, यह इस गाथा का स्पष्ट अभिप्राय है। वही सच्चा साधु है जो कि रोगादि की निवृत्ति के लिए ओषधिबल की अपेक्षा अपने आत्मबल को ही प्राधान्य दे रहा है और उसी आत्मबल के द्वारा उसकी निवृत्ति का इच्छुक है।

(१७) तृणपरिषह—

रोगादि से पीड़ित हुआ साधु तृणादि में शयन करता हुआ तृणादि के परिषह का अनुभव करने लगता है, इसलिए अब सत्रहवें तृण नाम के परिषह का उल्लेख किया जाता है—

अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स, हुज्जा गायविराहणा ॥३४॥

अचेलकस्य रूक्षस्य, संयतस्य तपस्विनः।
तृणेषु शयानस्य, भवेद् गात्रविराधना ॥३४॥

पदार्थान्वयः—अचेलगस्स—वस्त्र से रहित लूहस्स—रूक्ष वृत्ति वाले संजयस्स—संयत तवस्सिणो—तपस्वी को तणेसु—तृणों में सयमाणस्स—शयन करते समय गायविराहणा—शरीर की विराधना हुज्जा—होती है।

मूलार्थ—वस्त्र से रहित और रूक्ष वृत्ति वाले तपस्वी साधु के, तृणों में शयन करते समय शरीर को पीड़ा होती है।

टीका—इस गाथा में वस्त्ररहित और रूक्षवृत्ति वाले तपस्वी मुनि को तृण आदि पर बैठने व सोने पर जिस तृण आदि जन्य कष्ट का उल्लेख किया है वह सब जिनकल्प को लेकर ही किया गया है क्योंकि तृण आदि जन्य सम्पूर्ण परिषह प्रायः उन्हीं को हो सकता है। इसी दृष्टि से उक्त सूत्र में—गाथा मे 'अचेलगस्स'—वस्त्ररहित यह विशेषण दिया गया है। और जो वस्त्र रखने वाले साधु हैं उनको तो तृणादि स्पर्शजन्य परिषह सर्व प्रकार से उपस्थित नहीं हो सकता। अर्थात् वस्त्र वालों को तृणादि का स्पर्श सर्वतोभाव से बाधाकारक नहीं हो सकता तथा रूक्ष वृत्ति के लिखने का अभिप्राय यह है कि जो रूक्षवृत्ति वाला नहीं है वह तृणादि के ऊपर शयन भी नहीं करता। एवं गाथा में दिया गया असंयत शब्द असंयतों—असंयमियों को अपने से पृथक् कर रहा है क्योंकि जो असंयत—गृहस्थ हैं वे तो शुष्क हरित—सूखे और हरे सभी प्रकार के तृणों का ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए उनको तो गात्रविराधना के अनुभव की सम्भावना प्रतीत नहीं होती।

इसका तात्पर्य यह है कि उक्त गाथा में जो कुछ लिखा गया है वह सब जिनकल्पी को लक्ष्य करके लिखा गया है और जो स्थविरकल्पी हैं वे तो शास्त्र की आज्ञा के अनुसार संयमनिर्वाहार्थ अल्पतर वस्त्र रखते हुए इस परिषह को सहन करते हैं क्योंकि उनके पास पर्याप्त वस्त्र नहीं हैं तथा जो है वे भी बहुत जीर्ण हैं। इसलिये उनको भी न्यूनाधिक अंश में तृणादिजन्य परिषह को अवश्य सहन करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त सूत्र की उक्त गाथा के पर्यालोचन से यह ध्वनि भी स्पष्ट निकल रही है कि अपवाद मार्ग में भी संयमशील मुनि को जीर्ण और स्वल्पतर ही वस्त्रों के रखने का आदेश है। जब कि संयमशील मुनि को अपने शरीर के ऊपर किसी प्रकार का ममत्व ही नहीं तो फिर वस्त्रों की अधिक आवश्यकता का प्रश्न ही कहाँ रहा ? अतः अपवाद मार्ग मे प्रवृत्त होते हुए भी उत्सर्ग मार्ग के लक्ष्य को कभी न भूलना चाहिये।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

आयवस्स निवाएण, अउला हवइ वेयणा।
एवं नच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया ॥३५॥

आतपस्य निपातेन, अतुला भवति वेदना।
एवं ज्ञात्वा न सेवन्ते, तंतुजं तृणतर्जिताः ॥३५॥

पदार्थान्वयः—आयवस्स—आतप के निवाएण—निपात से अउला—महती वेयणा—वेदना हवइ—होती है एवं—इस प्रकार नच्चा—जानकर न सेवंति—सेवन नहीं करते तंतुजं—वस्त्र तणतज्जिया—तृण से पीड़ित हुए।

मूलार्थ—आतप—गर्मी के पड़ने से बड़ी भारी वेदना उत्पन्न हो जाती है, ऐसा जानकर तृणों से पीड़ित हुए मुनि वस्त्र आदि का सेवन नहीं करते।

टीका—अत्यन्त गर्मी के कारण बड़ी भारी वेदना उत्पन्न हो जाती है, ऐसा जान कर भी संयमशील मुनि वस्त्रों का ग्रहण नहीं करते किन्तु तृणों से पीड़ित होते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि इस प्रकार की वेदना के सहन करने से ही कर्मों का क्षय होगा। इसी लिये वे वस्त्रों का ग्रहण नहीं करते और परिषह को ही हर्षपूर्वक सहन करने में उद्यत रहते हैं। विचारशील साधु इस बात को खूब जानते हैं। इस प्रकार के संयोगज कष्ट नरकों की भयंकर यातनाओं के आगे कुछ भी मूल्य नहीं रखते, जो वेदनाएँ इस आत्मा ने कई बार अनुभव की हैं। तथा इस सहनशीलता में ही कर्मों की निर्जरा निहित है, जिससे भविष्य में इस आत्मा को अपने विकास की पूरी संभावना है। इस प्रकार के विचारों से तृणपरिषह को शांतिपूर्वक सहन करने में ही वे महात्मा पुरुष अपना अधिक लाभ समझते हैं। और इसी लिये वे किसी प्रकार के कष्ट के उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय पर अटल रहते हैं एवं शूरवीरों की भांति उन कष्टों का सामना करते हैं।

यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि गाथा में आये हुए 'आतप' शब्द का देहलीदीप न्याय से ग्रीष्म और शरद् इन दोनों ऋतुओं—आतपों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिप्रेत है क्योंकि जिनके पास वस्त्र नहीं उनके लिये

दोनों ही ऋतुएं कष्टदायक हैं। इसी हेतु से वृत्तिकार लिखते हैं कि—'जिनकल्पापेक्षं चैतत् स्थविरास्तु सापेक्षसंयमत्वाद् वस्त्रादि सेवन्तेपि'—यह सूत्र जिनकल्पी की अपेक्षा से कहा गया है और स्थविरकल्पी तो प्रमाणपूर्वक अपेक्षित वस्त्रों का सेवन करते ही हैं। अतः शास्त्राज्ञा के अनुसार दोनों ही कल्पों में उक्त परिषह के सहन करने का विधान है। इस सारे कथन का सारांश मात्र इतना ही है कि उक्त परिषह को समतापूर्वक सहन करना चाहिये और उक्त परिषह से घबराकर अपने ग्रहण किये हुए साधु व्रत में किसी प्रकार की भी त्रुटि नहीं आने देनी चाहिये।

(१८) जल्लपरिषह—

तृणों के स्पर्श से और गर्मी के पड़ने से शरीर का मलिन हो जाना एक स्वाभाविक बात है, इसलिये तृणपरिषह के बाद अब जल्लप्रस्वेद नाम के अठारहवें परिषह का वर्णन किया जाता है—

किलिन्नगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा।
घिंसु वा परितावेण, सायं नो परिदेवए ॥३६॥

क्लिन्नगात्रो मेधावी, पङ्केन वा रजसा वा।
ग्रीष्मे वा परितापेन, सातं नो परिदेवेत ॥३६॥

पदार्थान्वयः—किलिन्नगाए-प्रस्वेद से भीगे हुए गात्र—शरीर का मेहावी-बुद्धिमान् पंकेण-कीचड़ से व-अथवा रएण-रज से वा-परस्पर घिंसु-ग्रीष्म के वा-अथवा परितावेण-परिताप से सायं-साता—सुख नो परिदेवए-न चाहे—प्रलाप न करे।

मूलार्थ—प्रस्वेद के कारण शरीर गीला हो गया हो अथवा कीचड़ रूप हो गया हो तथा रज से वा ग्रीष्म और शरद् ऋतु के परिताप से शरीर पर मल जम गया हो तो भी बुद्धिमान् साधु सुख की इच्छा न करे।

टीका—ग्रीष्म और शरद् ऋतु में होने वाले परिताप के कारण शरीर में अधिक प्रस्वेद आ गया हो और उसी के कारण शरीर भीग गया हो तथा उस पर रज के पड़ने से वह कीचड़रूप बन गया हो तो भी बुद्धिमान् साधु उस

समय सुख की अभिलाषा न करे अर्थात् यह शरीर का कीचड़रूप बना हुआ मल कब दूर होगा और कब मुझे सुख की प्राप्ति होगी इस प्रकार की व्यक्त अथवा अव्यक्त भावना को अपने अन्तरात्मा में कभी स्थान न देवे, क्योंकि जिसने शरीर का ममत्व ही त्याग दिया है उसके लिये फिर शरीर पर मल हो तो क्या और प्रस्वेद हो तो क्या, इसमें तो साधु को किसी भी प्रकार का भय नहीं उसने तो शरीर के शृंगार का प्रथम से ही त्याग कर रक्खा है। इसलिये विचारशील साधु को चाहिये कि वह शरीर के ऊपर की मल शुद्धि का अथवा मल के जमने पर होने वाले सहज कष्ट का मन में ज़रा भी विचार न करे और न उसके त्याग से किसी प्रकार के क्षणिक सुख विशेष की इच्छा करे।

इससे यह बात भली भांति सिद्ध होती है कि जिन मुनियों ने संसार से अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ लिया है और गृहस्थों के भी संसर्ग मे जो नहीं आते तथा जिनको जन्म मरण का भी भय नहीं रहा वे मुनिजन भयंकर से भयंकर परिषहकष्ट के उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय से कभी विचलित नहीं होते, उनका मन सुमेरु की तरह सदा अटल रहता है, उनकी इस अखंड दृढ़ता के प्रताप से लौकिक सिद्धियां उनके सामने हाथ जोड़े उपस्थित रहती हैं। परन्तु जिनका मन अभी चंचल है और जो परिषहों के डर के मारे भयभीत हो जाते हैं तथा जिनमे आत्मविश्वास की अपूर्णता है वे ज्ञान और उसके फल से सदा ही वंचित रह जाते है। सारांश यह है कि गर्मी के अधिक परिताप से शरीर मे कितना भी ताप का कष्ट बढ़ जाय तो भी संयमशील साधु अपनी साधु धारणा से चलायमान न हो।

शरीर के मलयुक्त हो जाने के पश्चात् साधु का जो कर्तव्य है, अब उसके विषय में कुछ उल्लेख किया जाता है—

वेएज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्म णुत्तरं।
जाव सरीरभेओत्ति, जल्लं काएण धारए ॥३७॥

वेदयेत् निर्जराप्रेक्षी, आर्यं धर्ममनुत्तरम्।
यावत् शरीरभेद इति, जल्लं कायेन धारयेत् ॥३७॥

पदार्थान्वयः—वेएज्ज–सहन करे निज्जरापेही–निर्जरा को देखने वाला आरियं धम्मं–आर्य धर्म अणुत्तरं–प्रधान है जाव–जब तक सरीरभेओ–शरीर का भेद है त्ति–इस प्रकार तब तक जल्लं–प्रस्वेद को काएण–काया से धारए–धारण करे।

मूलार्थ—कर्मों की निर्जरा को देखने वाला साधु मलपरिषह को शांतिपूर्वक भोगे और जब तक प्रधान आर्य धर्म है और जब तक शरीर का भेद है तब तक शरीर में प्रस्वेद को धारण करे।

टीका—प्रस्वेद आदि के कारण साधु के शरीर पर अगर मल जम गया हो तो निर्जरा की अपेक्षा रखने वाला वह साधु उसके कष्ट को सुखपूर्वक सहन करे, क्योंकि इस प्रकार के कष्टों को भली प्रकार सहन करने से ही कर्मों का शीघ्र क्षय होता है। अतः जिसने श्रुत और चारित्र रूप प्रधान आर्य धर्म का अनुसरण किया है, ऐसा साधु पुरुष जब तक इस शरीर का भेद—स्थिति है तब तक उस प्रस्वेदजन्य मल को वह शांतिपूर्वक धारण किये रहे।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि जिन मुनिजनों का शरीर शीतोष्ण और आतपादि से खिन्न हो रहा है, भूख और प्यास से शोषित है तथा रज और मल से अवगुंठित है वे महात्माजन सम्यक् ज्ञान के न होने से अकाम निर्जरा तो करते हैं परन्तु मोक्ष के लिये उनको किसी गुण विशेष की प्राप्ति नहीं होती, तथा जो समदर्शी साधु उक्त प्रकार के परिषहों को ज्ञानपूर्वक सहन करते हुए अपने शरीर की वैसी दशा बना लेते हैं वे महाकर्मों की निर्जरा करके निःसन्देह सम्यक्-ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं जो कि साक्षात् वा परम्परा या मोक्ष का साधन है। इसलिये ऐसे समय पर साधु शरीरसम्बन्धी मल को धोने की अभिलाषा न करे और नाही मल आदि को दूर करने का प्रयत्न करे। यह शरीर तो हज़ार बार धोने पर भी शुद्ध नहीं हो सकता। इसके नव द्वार तो सदा चलते ही रहते हैं किन्तु इस पर से ममत्व को हटा कर केवल आत्मचिन्तन में ही मग्न रहने का प्रयत्न करे, इसी में उसका सर्वतोभावी कल्याण निहित है।

यहां पर भी यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि यह सब कुछ उत्सर्ग मार्ग में विधान किया गया है। अपवाद मार्ग में तो स्थविरादि के लिये जैसा

शास्त्रकारों ने आदेश किया है उसके अनुसार आचरण करे, उसके विरुद्ध आचरण करने का कभी साहस न करे। जैसे कि विनीत सूत्र मे लिखते हैं कि—

नीरोगी—रोगरहित साधु यदि ओषधि का सेवन करे तो उसको प्रायश्चित्त लगता है। इससे सिद्ध हुआ कि रोगयुक्त साधु आवश्यकता पड़ने पर ओषधि ले सकता है, इसमें उसको कोई प्रत्यवाय नहीं लगता। इसी प्रकार सब जगह पर जान लेना चाहिये।

(१९) सत्कारपरिषह—

मल युक्त साधु यदि किसी अन्य शुद्धिधर्म वाले साधु का सत्कार होते देख कर मन में यह इच्छा करे कि इसी प्रकार से मेरा सत्कार भी होना चाहिये, ऐसी दशा मे मुनि को सत्कार पुरस्कार परिषह उत्पन्न हो जाता है। इसलिये अब उन्नीसवें सत्कार पुरस्कार परिषह का वर्णन करते हैं—

अभिवायणमब्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा निमंतणं।
जे ताइं पडिसेवन्ति, न तेसिं पीहए मुणी ॥३८॥

अभिवादनमभ्युत्थानं , स्वामी कुर्यान् निमंत्रणम्।
ये तानि प्रतिसेवन्ते, न तेभ्यः स्पृहयेन्मुनिः ॥३८॥

पदार्थान्वयः—**अभिवायणं**—अभिवादन **अब्भुट्ठाणं**—सम्मुख उठना **सामी**—राजादि **निमंतणं**—निमन्त्रण **कुज्जा**—करे **जे**—जो **ताइं**—उनको **पडिसेवंति**—सेवन करते हैं **तेसिं**—उनकी इस महिमा की **मुणी**—साधु **न पीहए**—प्रार्थना—इच्छा न करे।

मूलार्थ—किसी अन्य मतानुयायी साधु की, राजा आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति के द्वारा अभिवादन, नमस्कार, अभ्युत्थान—आने पर सामने उठ कर खड़े होना, निमंत्रण—भोजन आदि के लिये घर बुलाना और अन्य सेवा शुश्रूषा आदि रूप प्रतिष्ठा को देखकर संयमशील साधु उसकी कभी स्पर्धा न करे अर्थात् इस प्रकार के सत्कार की कभी इच्छा न करे।

टीका—इस गाथा में साधु को किसी प्रकार के पूजा सत्कार की अभिलाषा करने का निषेध किया गया है। संसार मे साधु कहलाने वाले ऐसे

अनेक व्यक्ति हैं जिनका राजा महाराजा आदि अनेक प्रतिष्ठित पुरुष उनकी योग्यता से बढ़ कर उनका सत्कार करते हैं, उनको घर में बुलाते हैं, आने पर उनका अभ्युत्थान करते हैं तथा द्रव्यादि से भी उनकी सेवा शुश्रूषा करने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखते। सो उन व्यक्तियों की ऐसी प्रतिष्ठा को देखकर वीतरागदेव के मार्ग के अनुयायी साधु को उसकी ओर कभी ललचाना न चाहिये अर्थात् संसार में मेरा भी इसी प्रकार का सत्कार होना चाहिये, मुझे भी इसी प्रकार से लोग मानें इत्यादि विचारों को संयमशील साधु कभी भी अपने अन्तःकरण मे स्थान न देवे।

मुनि का धर्म तो सर्व प्रकार की लौकिक वासनाओं से सर्वथा मुक्त होना है और जो इस प्रकार के सत्कार की इच्छा के जाल में फंसा हुआ है वह वास्तव में मुनि ही नहीं है। मुनि लोग तो एकान्तसेवी और आत्मापेक्षी होते हैं। उनको जो वन्दना नमस्कार करता है वह तो अपने कर्मों का क्षय अवश्य करता है। परन्तु सच्चे मुनिजन उसके इस सत्कार की कभी इच्छा नहीं रखते तथा इतना और भी स्मरण रहे कि जो व्यक्ति संसार में स्ववृत्ति के प्रतिकूल होकर पूजा जाता है, उसका किसी समय अपमान भी अवश्यंभावी है। इसलिए वीतरागदेव के धर्म मे दीक्षित होने वाले मुनि का यह धर्म है कि वह किसी के पूजा सत्कार की कभी इच्छा न करे क्योंकि इससे उसकी आत्मा का अधःपात ही है, उन्नति कदापि नहीं।

अब फिर इसी विषय की चर्चा करते हैं—

अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नवं ॥३९॥

अणुकषायो अल्पेच्छः, अज्ञातैषी अलोलुपः।
रसेषु नानुगृध्येत्, नानुतप्येत् प्रज्ञावान् ॥३९॥

पदार्थान्वयः—अणुकसाई—अल्पकषाय वाला अप्पिच्छे—अल्प इच्छा वाला अन्नाएसी—अज्ञात कुल की भिक्षा करने वाला अलोलुए—लोलुपता से रहित रसेसु—रसों में नाणुगिज्झेज्जा—गृद्धि न करे पन्नवं—प्रज्ञा वाला नाणुतप्पेज्ज—पश्चात्ताप न करे।

मूलार्थ—अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छा वाला, लोलुपता से रहित और अज्ञात कुल में भिक्षा करने वाला ऐसा बुद्धिमान् साधु न तो कभी रसों में मूर्च्छित हो और न उनके लिये कभी पश्चात्ताप करे।

टीका—वीतरागदेव के धर्म पर चलने वाले साधु का धर्म है कि सब से पहले वह स्वल्पकषायी हो अर्थात् उसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय बहुत ही न्यून परिमाण में हों तथा उसकी इच्छाएँ बहुत ही स्वल्प हों। उसको अपने धर्मोपकरणों मे भी किसी प्रकार का ममत्व नहीं रखना चाहिए और उसकी भिक्षावृत्ति भी अपनी जाति और परिचित लोगों को छोड़कर अन्य समुदाय में हो। इसके अतिरिक्त वह रस गृद्धि का भी सर्वथा त्यागी हो अर्थात् भोजनसम्बन्धी सुन्दर और रसयुक्त पदार्थों का भी वह अभिलाषी न हो। इतने ऊंचे त्याग वाले बुद्धिमान् साधु को किसी व्यक्ति के अमुक प्रकार के मान सत्कार को देखकर उस सत्कार की तनिक भी भावना मन मे नहीं करनी चाहिये। यह बात यद्यपि सत्य है कि बड़े २ त्यागी और संयमी पुरुष को भी कभी २ मान—सत्कार की भूख सताने लग जाती है, वे संसार के अन्य सभी पदार्थों को तो तुच्छ समझते हैं और उनका उन्होंने त्याग भी कर रक्खा है परन्तु मान—बड़ाई का मन से त्याग करना इनसे भी कठिन है। इसलिए शास्त्रकार कहते है कि त्यागप्रधान धर्म के अनुयायी भिक्षु को अन्य कषायों के त्याग की भांति मान कषाय का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। इससे बढ़कर मुनिजीवन मे और कोई दुर्बलता नहीं कि किसी के मान—सत्कार को देखकर उसकी ओर ललचाना और मन मे यह निर्बल विचार पैदा करना कि यदि मैं इस सत्कार प्राप्त साधु के धर्म मे दीक्षित हुआ होता तो मुझे भी आज इन लोगों में इसी प्रकार का आदर—मान प्राप्त होता, इत्यादि।

यहां पर गाथा में साधु के लिये प्रज्ञावान् और अल्पकषायी ये दो विशेषण दिये है जिनका अर्थ बुद्धिमान्—विवेकशील और न्यून कषायों वाला है। इसका तात्पर्य भी वही है जिसका कि ऊपर वर्णन किया गया है अर्थात् जो विवेकशील और स्वल्पकषाय वाला होगा वह कभी भी किसी के सत्कार पुरस्कार की इच्छा न करेगा तथा दूसरों के सत्कार को देखकर भी उसका विवेकशील मन उसकी ओर कभी नहीं ललचायेगा। इसलिये संसार के झूठे मान-सत्कार से अपने

आपको अलग रखना ही सच्ची साधुता है, यही वीतरागदेव के धर्म मार्ग पर चलने वाले मुनि का सच्चा आदर्श है।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि ऊपर जो कुछ भी मान सत्कार के विषय में कहा गया है वह सब कुछ अन्वयरूप से कहा गया है। और इसका व्यतिरेक रूप से अभिप्राय यह है कि मुनि का यदि कोई राजा महाराजा आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आदर सत्कार करे तो साधु को अपने मन में किसी प्रकार का अहंकार या पश्चात्ताप के स्थान पर आनन्द न मनाना चाहिये, इत्यादि।

(२०) प्रज्ञापरिषह—

बुद्धिमान् पुरुष का सत्कार तो प्रायः होता ही है परन्तु प्रज्ञाविकल साधु भी किसी प्रकार की चिन्ता न करे, इसके लिये अब बीसवें प्रज्ञा नाम के परिषह का वर्णन किया जाता है—

से नूणं मए पुव्वं, कम्माऽणाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥४०॥

स नूनं मया पूर्वं, कर्माण्यज्ञातफलानि कृतानि।
येनाहं नाभिजानामि, पृष्टः केनाऽपि कस्मिन् ॥४०॥

पदार्थान्वयः—से–अब नूणं–निश्चय मए–मैंने पुव्वं–पहले कम्म–कर्म अणाणफला–अज्ञान फल वाले कडा–किये हैं जेण–जिस करके अहं–मैं नाभिजाणामि–नहीं जानता हूं पुट्ठो–पूछा हुआ केणइ–किसी के कण्हुई–किसी स्थान पर।

मूलार्थ—किसी के द्वारा किसी स्थान पर पूछा हुआ प्रज्ञाविकल साधु "मैंने पूर्वजन्म में अज्ञान फल वाले कर्म किये हैं इसलिये मैं आपके प्रश्न का उत्तर देना नहीं जानता"। अथवा प्रज्ञावान् "मैंने पूर्वजन्म में ज्ञानफल वाले कर्म किये हैं जिससे कि मैं आपके प्रश्न का उत्तर देना जानता हूं", ऐसा कहे।

टीका—प्रज्ञापरिषह दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है—एक अहंकार युक्त और दूसरा निन्दायुक्त। प्रज्ञा की अधिकता और पुष्कल अर्थ ज्ञान से अहंकार का उत्पन्न हो जाना एक स्वाभाविक सी बात है, और प्रज्ञा के अभाव से, बुद्धिमान्

पुरुषों के समान अपने आपको सभ्य समुदाय में सत्कृत होने की अपेक्षा सत्कार रहित देखकर मन मे चिन्ता और खेद का उत्पन्न होना भी कोई नई बात नहीं है। तात्पर्य कि प्रज्ञावान् के लिये अहंकार और प्रज्ञाविकल के लिये चिन्ता ये दोनों ही बाते प्रायः दुर्निवार सी हैं। इसलिये अहंकार और निन्दा इन दोनों पर ही मुनि को विजय प्राप्त करनी चाहिये। प्रज्ञाविकल अथवा हीनप्रज्ञ मुनि को अपनी अज्ञता पर पश्चात्ताप करने की अपेक्षा विचार द्वारा अपने आत्मा को सन्तोष देना ही अधिक श्रेयस्कर है। यथा—मैंने पूर्वजन्म में ज्ञान प्राप्ति के प्रतिबन्धक शास्त्रनिन्दा आदि कोई ऐसे अशुभ कर्म किये हैं जिनका फल स्वरूप मैं इन व्यक्तियों के प्रश्नों का उत्तर देने का अपने में ज्ञान नहीं रखता तथा जीव अजीव आदि पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से भी मैं वंचित हूं।

अतएव यदि कोई पुरुष मुझ से किसी स्थान पर कुछ पूछ बैठता है तो मैं उस समय निरुत्तर सा हो जाता हूं परन्तु मैं विवश हूं, इसमे अब खेद करना व्यर्थ है। यह सब कुछ मेरे ज्ञानप्रतिबन्धक पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के उदय का फल है। जैसे दिवस होने पर भी बादलों से आच्छादित हुआ सूर्य का बिम्ब दिखाई नहीं पड़ता, इसी प्रकार मेरा ज्ञान रूप सूर्य भी उदय मे आने वाले मेरे प्राक्तन अशुभ कर्म रूप बादलों से आच्छादित हो रहा है। इसलिये अपनी अज्ञता की अब चिन्ता करनी व्यर्थ है। इसकी अपेक्षा तो शान्त भाव से आत्म-चिन्तन ही मेरे लिये परम कल्याणप्रद है। इसी प्रकार प्रज्ञावान् को भी विचार विमर्श द्वारा अहंकार के उदय को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। यथा—मैंने पूर्व जन्म में ज्ञानप्रद शास्त्रप्रशंसा आदि किन्हीं शुभ कर्मों का उपार्जन किया है जिससे कि मैं पूछने पर सर्व प्रकार के प्रश्नों का भली भांति उत्तर देने की सामर्थ्य रखता हूं और जीव अजीव आदि पदार्थों का भी मुझे अच्छी तरह से बोध है परन्तु यह सब कुछ मेरे पूर्वोपार्जित ज्ञानप्रद शुभ कर्मों का ही परिणाम है, इसमें मेरी कोई विशिष्टता नहीं। अतः अपने इस प्रज्ञाप्राबल्य का अहंकार करना व्यर्थ है। जिन पुरुषों ने मेरे से भी अधिक ज्ञानप्रद पुण्य कर्मों का पूर्व जन्म में उपार्जन किया है, वे मेरे से भी अधिक प्रज्ञा और बुद्धि बल रखते हैं फिर अहंकार किस बात का ?

परन्तु ऊपर के इस वर्णन में इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि यह वर्णन केवल व्यवहारनय का अवलम्बन करके किया गया है और वास्तव में तो ज्ञान की प्राप्ति कर्मों के क्षय अथवा क्षयोपशम से ही मानी गई है। अपि च—जो कर्म ज्ञान को आवृत करने वाले अर्थात् ढाँपनेवाले हैं उन कर्मों के अनुष्ठान से अज्ञान की वृद्धि और उनके क्षय अथवा क्षयोपशम से ज्ञान का प्रकाश होता है। जैसे सूर्य का प्रकाश बादलों के आवरण से ढंप जाता है और उनके हट जाने से प्रकाशित हो जाता है यही दशा अज्ञान और ज्ञान की है। परन्तु यह कथन भी औपचारिक नय से ही संगत हो सकता है क्योंकि वास्तव में कर्मों का फल ज्ञान नहीं है। कर्मों का फल सादि सान्त होता है और ज्ञान सादि सान्त नहीं है किन्तु आत्मा ही ज्ञानात्मा है इसलिये वह ज्ञान अनादि अनन्त है। यहां पर 'से' शब्द का अर्थ अथ है और वह 'उपन्यास' के अर्थ में आया हुआ है तथा दूसरे अर्थ में 'नाभिजानामि' शब्द में ना–अभिजानामि–ऐसी संधि करके 'नृ' शब्द से बने हुए मनुष्य-वाची 'न' सुबन्त का ग्रहण करना तब उसका अर्थ यह हुआ कि मैं–ना–पुरुष जानता हूं। एवं प्रथम अर्थ में 'नाभिजानामि' में 'न' निषेधार्थक अव्यय का ग्रहण करके 'नाभिजानामि' का 'मैं नहीं जानता' यह अर्थ स्पष्ट ही है। तात्पर्य कि 'नाभिजानामि' इस वाक्य से मैं जानता हूं और मैं नहीं जानता इन दोनों ही अर्थों को संकलित करना इस गाथा की शास्त्रसम्मत व्याख्या है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अह पच्छा उइज्जन्ति, कम्माऽणाणफला कडा।
एवमस्सासि अप्पाणं, नच्चा कम्मविवागयं ॥४१॥

अथ पश्चादुदेष्यन्ति, कर्माणिअज्ञानफलानिकृतानि।
एवमाश्वासयात्मानं, ज्ञात्वा कर्मविपाकम् ॥४१॥

पदार्थान्वयः—अह–अथ पच्छा–पश्चात् उइज्जंति–उदय होंगे कम्मा–कर्म अणाणफला–अज्ञानफल कडा–किये हुए एवं–इस प्रकार अस्सासि–आश्वासन देवे अप्पाणं–आत्मा को नच्चा–जान करके कम्म विवागयं–कर्मों के विपाक को।

मूलार्थ—ज्ञान अथवा अज्ञान रूप फल को देने वाले, मेरे किये हुए वे कर्म उदय में आवेंगे, इस प्रकार कर्मों के विपाक को जान करके अपने आत्मा को आश्वासन देवे।

टीका—प्रज्ञाविकल साधु को अपनी अज्ञानता के विषय में इस प्रकार का विचार करना चाहिये कि—ज्ञान प्रतिबन्धक जिन अशुभ कर्मों का मैंने संचय किया है वे उत्तरकाल में अज्ञानफल को अवश्य देंगे, सो मैंने पूर्व जन्म में ऐसे ही अशुभ कर्म किये थे जिससे कि मुझे इस जन्म में ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिये अब मुझे किसी प्रकार का शोक नहीं करना चाहिये। किन्तु उन अशुभ कर्मों को दूर करने का ही अब यत्न करना चाहिये जिससे कि आगे को मुझे ज्ञान की प्राप्ति हो। इसी तरह प्रतिभाशाली मुनि को भी अपने ज्ञानातिरेक का गर्व न करते हुए इस प्रकार का विचार करना चाहिए कि—जो कर्म किये जाते हैं उनका फल अवश्यमेव होता है, मैंने पूर्व जन्म में ज्ञान की वृद्धि करने वाले शुभ कर्मों का अनुष्ठान किया है जिनका कि ज्ञान प्राप्ति रूप फल मुझे मिला है। इसमें अहंकार करने की कोई आवश्यकता नहीं, यह तो पूर्व जन्म के कर्मों का ही फल है इत्यादि।

इस सारे कथन का सारांश यह है कि मुनि यदि न्यून प्रज्ञा का हो तो उसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये और यदि वह प्रज्ञावान् है तो उसे किसी प्रकार का गर्व नहीं करना चाहिये किन्तु अज्ञान और ज्ञान की इन दोनों ही दशाओं को अपने पूर्व कृत कर्मों का विपाक समझकर शान्ति पूर्वक अपने आत्म चिन्तन में ही निमग्न रहने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी से प्रज्ञापरिषह पर विजय प्राप्त हो सकती है। यहां पर 'अथ' शब्द आनन्तर्य अथवा प्रश्न के अर्थ में आया है, एवं 'उइज्जंति' में लिङ्ग व्यत्यय होने से उसका 'उदेष्यन्ति' यही अर्थ शास्त्रसम्मत है।

(२१) अज्ञानपरिषह—

प्रज्ञा—ज्ञान का विपक्षी अज्ञान है इसलिये प्रज्ञापरिषह के बाद अब इक्कीसवें अज्ञानपरिषह का वर्णन किया जाता है।

निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाणपावगं ॥४२॥

निरर्थकमस्मि विरतः, मैथुनात्सुसंवृतः ।
यः साक्षान्नाभिजानामि, धर्मकल्याणपापकम् ॥४२॥

पदार्थान्वयः—निरट्ठगम्मि–मैं निरर्थक ही विरओ–विरत हुआ हूं मेहुणाओ–मैथुन से–तथा सुसंवुडो–इन्द्रिय और मन के दमन से जो–जो सक्खं–प्रत्यक्ष नाभिजाणामि–मैं नहीं जानता हूं धम्मं कल्लाण पावगं–धर्म-कल्याण-और पाप को।

मूलार्थ—मैंने व्यर्थ ही मैथुनादि से निवृत्ति और इन्द्रियों के दमन का प्रयत्न किया जो कि मैं प्रत्यक्ष से धर्म-कल्याण-अथवा पाप को नहीं जानता।

टीका–इस गाथा में इस बात की शिक्षा दी गई है कि अल्पप्रज्ञ कोई भी साधु अज्ञानपरिषह के वशीभूत होकर इस प्रकार का चिन्तन न करे कि—मैंने तो यह त्यागवृत्ति का निरर्थक ही ढोंग रचा है, और व्यर्थ ही मैथुनादि विषयों से मैं उपराम हुआ हूं तथा मेरा इन्द्रियों और मन का दमन करना भी व्यर्थ ही है क्योंकि मुझे आज तक इस बात का प्रत्यक्षरूप से ज्ञान नहीं हुआ कि धर्म क्या वस्तु है, कल्याण किसे कहते हैं और पाप क्या पदार्थ है, यदि धर्म के साक्षात्कार में और पुण्य तथा पाप की सच्ची परीक्षा हो जाने में इस निवृत्ति मार्ग का अनुसरण ही कारण है तो इतने त्याग और संयम के पश्चात् तथा इतनी तपश्चर्या के पश्चात् मुझे इन धर्मादि पदार्थों का अवश्य साक्षात्कार हो जाना चाहिये था परन्तु आज तक नहीं हुआ इससे सिद्ध होता है कि अज्ञानता की निवृत्ति के लिये यह त्याग कुछ मूल्य नहीं रखता और इन्द्रियदमन तथा ब्रह्मचर्य का पालन भी अज्ञाननिवृत्ति और ज्ञान प्राप्ति में किसी प्रकार की साक्षात् सहायता नहीं करता इत्यादि।

अल्पप्रज्ञ साधु का इस प्रकार का विचार, उसके अज्ञानपरिषह के वशीभूत होने का फल है इसलिये अपनी अज्ञानता को अपने पूर्व कर्मों का विपाक समझ कर साधु को इस प्रकार का जघन्य चिन्तन कभी न करना चाहिये। अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

तवोवहाणमादाय , पडिमं पडिवज्जओ ।
एवंपि विहरओ मे, छउमं न नियट्टई ॥४३॥

तपउपधानमादाय , प्रतिमांप्रतिपद्यमानस्य ।
एवमपि विहरतः मे, छद्मं न निवर्तते ॥४३॥

पदार्थान्वयः—तव–तप उवहाणं–उपधानतप आदाय–ग्रहण करके-वा पडिमं–साधु की प्रतिमा को पडिवज्जओ–ग्रहण करके एवंपि–इस प्रकार से भी विहरओ–विचरने से मे–मेरा छउमं–छाद्मस्थ्यभाव न नियट्टई–निवृत्त नहीं हुआ।

मूलार्थ—तप कर्म और उपधान तप के अनुष्ठान से तथा भिक्षु की प्रतिमा को धारण करने से भी मेरा छद्मस्थ भाव–अज्ञपना दूर नहीं हुआ।

टीका—इस गाथा का भी पहली गाथा के साथ ही सम्बन्ध है, अज्ञान-परिषह के वशीभूत होकर साधु इस प्रकार का कभी चिन्तन न करे कि—मैंने भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा तथा द्वादशभेदी तप का भी अनुष्ठान किया, फिर सूत्रोक्तविधि के अनुसार आचम्लादि तप की भी सम्यग् आराधना की, साथ में साधु की द्वादशविध प्रतिमाओं को भी यथाविधि धारण किया और आज तक देश विदेश मे अप्रतिबद्धविहार का भी आचरण किया परन्तु इतने पर भी मेरा छाद्मस्थ्य-अज्ञपना दूर नहीं हुआ। इससे विदित होता है कि इस प्रकार की सारी की सारी क्रियाये ज्ञानप्राप्ति मे किसी प्रकार का उपयोग नहीं रखतीं अर्थात् इनसे ज्ञान की प्राप्ति अथवा और किसी प्रकार की लौकिकसिद्धि की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है। यदि इस प्रकार की विकट तपश्चर्या से मेरा कोई भी अतिशय बढ़ जाता वा मुझे किसी भी न्यूनाधिक सिद्धि की प्राप्ति हो जाती तब तो मुझे इस पर कुछ न कुछ विश्वास करने का अवसर अवश्य प्राप्त हो जाता परन्तु मैं तो इतने समय की घोर तपश्चर्या के बाद भी वैसे का वैसा ही रहा इससे प्रतीत होता है कि यह सब कुछ कथनमात्र है। इसमें सत्यता का अंश नहीं है इत्यादि।

वास्तव में साधु की यह धारणा, उसका यह विचार केवल अज्ञानपरिषह के वशीभूत होने का ही एक फल विशेष है, क्योंकि किसी प्रकार की लौकिक या

अलौकिक सिद्धि अथवा विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति का होना कर्मों के क्षय अथवा क्षयोपशम पर निर्भर है। जब तक आवरणरूप कर्मों का क्षय अथवा क्षयोपशम नहीं होता तब तक विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति अथवा किसी सिद्धि विशेष की प्राप्ति का होना एक मनोरथ मात्र है, इसलिये साधु को अपने पूर्व जन्मार्जित कर्मों के विपाक का विचार करते हुए अपनी अज्ञता और साधु वृत्ति के अनुसार किये जाने वाले तपोऽनुष्ठान के विषय में किसी प्रकार का खेद प्रगट नहीं करना चाहिये। किन्तु अपने चित्त को शान्त और स्वस्थ रख कर अपनी साधुचर्या मे दृढ़ रहते हुए इस अज्ञानपरिषह को पराजित करने का ही अधिक प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार के आचरण का किसी समय पर भावी परिणाम यह होगा कि उसकी अज्ञानता नष्ट हो जावेगी और ज्ञान ज्योति का उसके हृदय मे प्रकाश होगा तथा उसकी उक्त दुराशायें आशा की ज्योति के रूप में उदय होकर उसको वास्तविक सुख की प्राप्ति में उसकी सहायक बनेंगी। परन्तु यह सब कुछ उसकी सहन शीलता और दृढ़ निश्चय पर ही निर्भर है।

(२२) दर्शनपरिषह—

अब बावीसवें दर्शन नाम के परिषह का वर्णन किया जाता है।

नत्थि नूणं परेलोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओमि त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥४४॥

नास्ति नूनं परोलोकः, ऋद्धिं वापि तपस्विनः।
अथवा वञ्चितोऽस्मि, इति भिक्षुर्नचिन्तयेत् ॥४४॥

पदार्थान्वयः—नूणं–निश्चय से परेलोए–परलोक नत्थि–नहीं है वि–पादपूर्ण में वा–अथवा इड्ढी–ऋद्धि की प्राप्ति तवस्सिणो–तपस्वी को (नही है) अदुवा–अथवा वंचिओमि–मैं छला गया हूं त्ति–समुच्चयार्थ में इइ–इस प्रकार का भिक्खू–साधु न चिंतए–चिन्तन न करे।

मूलार्थ—निश्चय ही परलोक नहीं है और नाही तपस्वी को किसी प्रकार की ऋद्धि की प्राप्ति हो सकती है, मैं तो छला गया, इस प्रकार का भिक्षु-साधु कभी चिन्तन न करे।

टीका—इस गाथा में दर्शन नाम के परिषह का वर्णन किया गया है तत्त्वार्थश्रद्धान अथवा आस्तिक्यबुद्धि का नाम दर्शन है इसके विपरीत विचार रखने वाले व्यक्ति को दर्शनपरिषह की उपस्थिति होती है।

वास्तव में परलोक कोई वस्तु नहीं और नाही उसकी कोई वास्तविक सत्ता है, परलोक की कल्पना एक युक्तिशून्य कल्पना है, इसलिये उसको स्वीकार करना केवल भ्रम और प्रमादमात्र है, तथा जो लोग यह कहते हैं कि तपस्वियों को जंघाचारणादि लब्धियें उत्पन्न हो जाती हैं यह भी उनका मिथ्या प्रलाप है, एवं तपस्वी मुनियों को जो रोगनाशक शक्तियों के उत्पन्न होने का विश्वास दिलाया जाता है वह भी एक प्रकार का दम्भमात्र ही है, तात्पर्य कि यह सब कथन स्वाप्निक प्रपंच की तरह मिथ्या है इसमें सत्यता कुछ नहीं, परलोक तो दृष्टिगोचर है ही नहीं इसके अतिरिक्त मैंने अनेक तपस्वियों को देखा है, उनकी घोरतर तपश्चर्याओं से परिचय प्राप्त कर चुका हूं परन्तु उनके पास न तो कोई लब्धि ही देखी और नाही कोई रोगनाशक चमत्कार ही उनके पास देखने में आया। इससे सिद्ध हुआ कि यह सब कुछ कथनमात्र ही है। मैं तो सचमुच ही छला गया और व्यर्थ ही इस त्यागवृत्ति या मुनिवेश को धारण करके केशलुंचन आदि के द्वारा इस शरीर को घोर कष्ट पहुंचाने का प्रयास किया इत्यादि विचारों को संयमशील और प्रज्ञावान् मुनि कभी भी अपने हृदय में स्थान देने का साधुजन विगर्हित प्रयत्न न करे। क्योंकि इस प्रकार के विचार आत्मा को उन्नतिमार्ग से गिराकर अवनति के गढ़े में गिराने वाले हैं, और आस्तिकता के देदीप्यमान सिंहासन पर से उतार कर नास्तिकता की गहरी खाई मे फैंकने वाले हैं अथवा यूं कहें कि उक्त प्रकार के विचार मनुष्य को आध्यात्मिकता से पराङ्मुख करके केवल भौतिकता की तरफ़ धकेलनेवाले हैं जहां पर कि निविड़ अन्धकार के सिवाय प्रकाश का नामोनिशान भी नहीं है, इसलिये दर्शनपरिषह पर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला प्रज्ञाशील साधु इन ऊपर दिये गये विचारों को अपने पास कभी भी आने न दे। इसी में उसके सम्यक्त्व की उज्ज्वलता और रमणीयता विराजमान है। सम्यक्त्व ही मुनिजीवन का एक सब से अनूठा भूषण है। अस्तु अब यहां पर परलोक आदि की सिद्धि के विषय में कुछ थोड़ा सा लिखा जाता है, जो कि आस्तिकवाद के प्राण हैं। परलोक अथवा जन्मान्तरवाद-पुनर्जन्म-वा पुण्य पाप की सिद्धि आत्मा के

अस्तित्व पर ही अवलंबित है। यदि शरीर के अतिरिक्त आत्मा का स्वतंत्ररूप से अस्तित्व प्रमाणित हो जाय तो परलोक और पुण्य पाप की सिद्धि सुतरां ही हो जाती है, इसलिये प्रथम आत्मा के अस्तित्व आदि पर विचार किया जाता है। संसार में मुख्यरूप से केवल दो ही तरह के पदार्थ देखे जाते है, एक वे जिनमें स्वतंत्ररूप से किसी प्रकार की क्रियाशक्ति या प्रयत्न नहीं देखा जाता, तथा नाही वे अपने अन्दर किसी प्रकार का विशिष्टज्ञान ही रखते हैं, विपरीत इसके दूसरी किसम के जो पदार्थ हैं उनमें स्वतंत्र प्रयत्न, ज्ञान और सुख दुःख के अनुभव करने की शक्ति विद्यमान है। इनमें पहली किसम के पदार्थों को जड़ और दूसरों को चेतन के नाम से पुकारा जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि संसार में जड़ और चेतन ये दो ही मुख्य पदार्थ हैं। ये दोनों ही अपने २ स्वाभाविक गुण धर्मों की अपेक्षा एक दूसरे से भिन्न और स्वतंत्र हैं। जड़ के गुण धर्म उससे चेतन को और चेतन के गुण धर्म उससे जड़ को पृथक् कर रहे हैं। इतने कथन से जड़ और चेतन इन दो पदार्थों का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। अब देखना यह है कि जो आत्मा चेतन और शरीर का अधिष्ठाता माना जाता है उसके विषय में हमारा अबाधित अनुभव क्या है। "मैं हूं" यह अनुभव प्रत्येक मनुष्य को होता है। इस अनुभव के लिये किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं हैं, इससे 'मैं' शब्द बोधित आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि तो असंदिग्ध है, परन्तु कितने एक तार्किकों का कथन है कि 'मैं' शब्द से इस दृश्यमान शरीर का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि 'मैं सुखी हूं' और 'मैं दुःखी हूं और चलता हूं' 'मैं देखता हूं' इत्यादि प्रकार के सारे ही अनुभव शरीर को ही विषय करते हैं, इसलिये 'मैं' शब्दवाच्य आत्मा इस शरीर से पृथक् नहीं यदि होता तो कभी न कभी उसकी उपलब्धि भी अवश्य होती, परन्तु यह कथन सर्वथा भ्रांतिमूलक है। यदि इस शरीर को ही आत्मा मान लिया जावे तो शरीर के कई एक अवयवों के कट जाने पर भी जो 'मैं' बराबर बनी रहती है अर्थात् 'मैं हूं' यह प्रत्यय बराबर होता रहता है वह कदापि न होना चाहिये। तथा 'मैं सुखी हूं' 'मैं दुःखी हूं' इस प्रकार का जो अभेद प्रत्यय है वह भी भ्रांतिमूलक है, अन्यथा मेरा मकान, मेरा घर इत्यादि प्रकार का अनुभव जैसे अपने से मकान और घर को स्पष्ट रूप से अलग बतला रहा है इसी प्रकार से 'मेरा हाथ' 'मेरा पॉव' इत्यादि प्रकार की हाथ और पाँव को अपने से अलग करने वाली

प्रतीति कदापि न होनी चाहिये मगर यह प्रतीति होती है। इससे विदित होता है कि जैसे घर का मालिक घर नहीं हो सकता उसी प्रकार शरीर का अधिष्ठाता भी शरीर नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त इच्छा, प्रयत्न, ज्ञान और सुख दुःख के अनुभव को यदि शरीर का ही धर्म मान लिया जावे तो मृतक शरीर में भी उक्त सभी बातें दृष्टिगोचर होनी चाहिये परन्तु होती नहीं। इससे सिद्ध होता है कि सुख दुःख का अनुभव करने वाली कोई चेतन शक्ति है जो कि शरीर में रही हुई भी उससे सर्वथा स्वतंत्र है, शरीर में जो भी क्रियायें होती हैं, जो भी प्रयत्न देखा जाता है वह सब कुछ उसी की सत्ता और स्वतंत्रता पर अवलंबित है। इसके अलावा कितने एक तार्किक लोग यह भी कहा करते हैं कि शरीर मे उपलब्ध होने वाली चेतनता कोई अलग पदार्थ नहीं किन्तु पृथ्वी आदि पांच भूतों के मेल में से उत्पन्न होने वाली उसी का स्वरूप भूत एक शक्ति विशेष है परन्तु उन महानुभावों को इस बात का भी विचार कर लेना चाहिये कि असत् से सत् की उत्पत्ति कभी नहीं होती और जो शक्ति प्रत्येक मे नहीं वह समुदाय मे कहां से आयेगी ? अगर चेतनाशक्ति जड़ भूतों का ही एक परिणाम विशेष मान ली जाय तो पृथिवी आदि प्रत्येक भूत में उसकी उपलब्धि अवश्य होनी चाहिये परन्तु होती नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि चेतनाशक्ति भूतों का परिणाम नहीं किन्तु वह स्वतंत्र और सदा के लिये अपना अस्तित्व रखने वाला एक अलग पदार्थ है, जो कि इस जड़ शरीर की उत्पत्ति से पहले भी विद्यमान और इसके विनाश के बाद भी विद्यमान रहेगा और तब तक इस भौतिक शरीर के साथ बराबर सम्बन्ध रखेगा जब तक कि अपने कर्म जन्य आवरणों को दूर करके केवलज्ञान के द्वारा सिद्ध गति को प्राप्त न हो जाय। इस सारे विचार से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा है और वह नित्य है। इस शरीर से स्वतंत्र और कर्म के प्रभाव से जन्म मरण की परम्परा का अनुभव करने वाला है, तथा पुण्य कर्म के अनुष्ठान से वह स्वर्गादि पुण्य लोकों को प्राप्त करता है, पाप कर्म के आचरण से उसे नरकादि जघन्य लोकों की प्राप्ति होती है, और मिश्रित कर्मों के अनुष्ठान से इस मनुष्य लोक मे कर्म के विपाक के अनुसार मनुष्यादि की योनि को धारण करता है तथा कर्मों का साधना के द्वारा क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त करता हुआ वह मोक्ष मंदिर में पहुंच जाता है, जहां पर कि वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य वाला होता हुआ फिर इस संसार

में कभी नहीं आता यही परम सत्य है यही परम सिद्धान्त है। इस सारे कथन से परलोक का अस्तित्व तो सिद्ध हो चुका। अब सिद्धियों के विषय पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिये। यद्यपि सम्पूर्ण रूप से सिद्धियों को प्राप्त किये हुए पुरुषों की आज उपलब्धि नहीं होती, (इसमें समय का ही अधिक प्रभाव समझना चाहिये) तथापि थोड़ी बहुत सिद्धियें रखनेवाले तो आज भी कहीं २ पर अवश्य उपलब्ध होते हैं। इससे यह अनुमान करना सहज है कि अतीत काल में सम्पूर्ण सिद्धि वाले महापुरुष भी होंगे और थे, विधि और प्रयत्न की न्यूनता अथवा विगुणता से अगर किसी पुरुष को किसी विषय में कम सफलता प्राप्त होती है तो उसका यह अर्थ कदापि न समझना चाहिये कि सफलता असम्भव है। आज भी महाविदेह क्षेत्र में पूर्ण सिद्धि रखने वाली व्यक्तिएँ विद्यमान हैं। तात्पर्य कि वस्तु की सत्ता का होना अलग बात है और उसका सम्पूर्ण अथवा न्यूनाधिक रूप में प्राप्त करना या न करना अलग बात है। अतः परलोक की भांति सिद्धियों के विषय में भी यत्नशील साधु को विश्वास ही रखना चाहिये। अब रही वंचना या ठगाने की बात, सो यह कथन सर्वथा निर्बल आत्माओं का है, बलवान् आत्माएँ तो इसका स्वप्न में भी संकल्प नहीं करतीं।

विषयजन्य क्षणिक सुख को सुख मानना और उसके परिणाम को न देखते हुए उसकी ओर ललचाना, संयमशील व्यक्ति की इससे अधिक और क्या गिरावट हो सकती है। जिन त्यागशील व्यक्तियों ने विषय भोगों के परिणाम की ओर दृष्टि दी है और जिन्होंने इनके दुःखद परिणाम का अनुभव किया है वे तो इनकी तुच्छता की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते। इसीलिये तमाम आस्तिकवादियों ने विषयजन्य सुख को केवल दुःखरूप बतलाते हुए त्यागी व्यक्तियों को उससे सदा दूर रहने का ही सुवर्णमय उपदेश दिया है। इसलिये वीतराग देव के पवित्र धर्म का अनुसरण करने वाले मुनि को दर्शनशुद्धि के विषय में किसी प्रकार की भी शंका न रखनी चाहिये। किन्तु ज्ञानपूर्वक तपश्चर्या के सम्यग् अनुष्ठान से आवरणभूत कर्म पटल का क्षय करके आत्म दर्शन की ओर बढ़ना चाहिये जिससे कि उक्त सारी की सारी शक्तिएँ उसमें प्रादुर्भूत होकर अपने तेजपुञ्ज से उसे मालामाल कर दें।

अब फिर उक्तविषय का ही वर्णन करते हैं—

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवावि भविस्सई ।
मुसं ते एवमाहंसु, इइ भिक्खू न चिंतए ॥४५॥

अभूवन् जिनाःसन्तिजिनाः, अथवाऽपि भविष्यन्ति ।
मृषा ते एवमाहुः, इतिभिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥४५॥

पदार्थान्वयः—जिणा–जिन भगवान् अभू–हुए जिणा–जिन भगवान् अत्थि–हैं अदुवा–अथवा वि–इसी प्रकार भविस्सई–होंगे ते–जो एवं–इस प्रकार आहंसु–कहते हैं मुसं–झूठ बोलते हैं इइ–इस प्रकार का भिक्खू–साधु न चिन्तए–विचार न करे ।

मूलार्थ—जो लोग यह कहते हैं कि–जिन हुए, जिन हैं, और जिन होंगे, वे झूठ बोलते हैं–इस प्रकार का मुनि कभी चिन्तन न करे ।

टीका—रागादि अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाली वीरात्मा को 'जिन' कहते है, और उन्हीं के–अर्हन्, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर ये दूसरे नाम हैं । सो ऐसे जिन पूर्वकाल में हुए और वर्तमान काल में महाविदेह आदि क्षेत्रों में विद्यमान हैं तथा भविष्य में भी होंगे । जो लोग इस प्रकार से जिनों–तीर्थंकरों–के अस्तित्व को मानते हैं वे झूठ बोलते हैं । वास्तव में उनका अस्तित्व ही नहीं है । शास्त्रकार कहते हैं कि संयममार्ग का अनुसरण करने वाला मुनि इस प्रकार के विचारों को अपने हृदय में स्थान न देवे । क्योंकि जिन–केवली भगवान् का अस्तित्व अनुमानादि प्रमाणों से स्वतः सिद्ध है फिर इसमें आशंका को अवकाश नहीं है । परिमाण के तारतम्य की भांति ज्ञान की तरतमता को देखकर उसकी अंतिम सीमा का अनुमान बड़ी सुगमता से किया जा सकता है, जैसे अणुपरिमाण की परम अवधि परमाणु और महत्परिमाण की चरम सीमा आकाश है, इसी प्रकार ज्ञानवृद्धि की चरम सीमा का कोई न कोई विश्राम स्थान अवश्य मानना चाहिये बस जहां पर वा जिस आत्मा में ज्ञानवृद्धि को निरतिशय स्थान प्राप्त हो गया है वही आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और जिन अथवा तीर्थंकर के नाम से अभिहित है । ऐसी आत्माएँ इस अवसर्पिणीकाल में यद्यपि अनन्तानन्त हो चुकी हैं तथापि जिन आत्माओं ने इस निरतिशय ज्ञान–केवलज्ञान को प्राप्त करके

संसार में धर्म का उपदेश दिया और धर्मरूप तीर्थ की स्थापना की। वे जिन भगवान् तीर्थंकर के नाम से अभिहित हुए हैं और वे श्री ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर स्वामी तक चौवीस हुए हैं जिनका कि आरम्भ से लेकर अन्त तक एक ही प्रकार का उपदेश और आदेश है। इससे जिन–केवली के अस्तित्व की सिद्धि निर्विवाद है।

इसमें इतना और समझ लेना चाहिये कि जिस आत्मा का जितने परिमाण में कर्म क्षय वा क्षयोपशम होगा उसको उतने ही अंश में देश प्रत्यक्ष व सर्वप्रत्यक्ष की प्राप्ति होगी, अपने ज्ञान को अधिकाधिक निर्मल करना यह उसके अपने वश की बात है, आत्मा तो स्वभाव से अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान का भंडार है। उसकी यह दर्शन और ज्ञान की अनन्त शक्ति कर्म के प्रगाढ़ पटलों से आच्छादित हो रही है। उस आवरण शक्ति को जितने २ अंश में दूर किया जायगा उतने ही अंश में आत्मा की ज्ञान शक्ति का विकास होता जायगा। जिस समय उस पर से तमाम कर्मजन्य आवरण दूर हो जावेंगे उस समय आत्मा की उस ज्ञान और दर्शन शक्ति का पूर्ण विकास हो जावेगा फिर संसार का ऐसा कोई भी पदार्थ न होगा जो कि उस निरावरण ज्ञान शक्ति में सम्पूर्ण रूप से झलक के बिना रह सके। बस इसी का नाम सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता है जोकि निरावृत्त आत्मा की पूर्ण और स्वाभाविक ऋद्धि है, इसी ज्ञानऋद्धि को प्राप्त करने वाली आत्मा का नाम 'जिन' अथवा केवली भगवान् है। इस गाथा में जैन प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखने का उपदेश दिया गया है क्योंकि जैनागमों को आप्त वचन कहा गया है सो वीतरागदेव–जिनको दूसरे शब्दों में 'जिन' कहते हैं–के अतिरिक्त और कोई आप्त–यथार्थवक्ता नहीं हो सकता। इसलिये इस पूर्वापर में अविरोध रखने वाली आप्त प्रणीत वाणी पर कभी अविश्वास नहीं करना चाहिये। जो लोग केवली और उसकी वाणी पर विश्वास नहीं करते वे लोग वास्तव में सत्य की अवहेलना करते हैं अतः सर्वज्ञ भाषित धर्म पर आरूढ़ होने वाले मुनि को जिन भगवान् के अस्तित्व में और उनकी वाणी की यथार्थता में कभी सन्देह नहीं करना चाहिये। इसी में उसकी दर्शन शुद्धि और साधुता की प्रतिष्ठा है। यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि ये परिषह हर एक कर्म के उदय से उदय में नहीं आते किन्तु ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और अन्तराय इन

चार कर्मों में इन बावीस परिषहों के उदय का समावेश हो जाता है यथा—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से-प्रज्ञा और अज्ञान परिषह का उदय होता है। तथा अन्तराय कर्म से—अलाभ। चारित्र मोहनीय से-अरति, अचेल, स्त्री, नैषेधिकी, याचना, सत्कार, और आक्रोश परिषह। दर्शन मोहनीय से-दर्शन। वेदनीय से—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, मल, वध, रोग, और तृण स्पर्श परिषहों की उत्पत्ति होती ह। यहां पर अन्त में इतना और भी याद रहे कि दर्शनपरिषह को भली भांति सह लेने से प्रायः अन्य सभी परिषह सुगमता से सहन किये जा सकते हैं। इस बात को यदि आम शब्दों में कहें तो यूं कहा जा सकता है-जिसको वीतरागदेव और उनके धर्म पर पूर्ण विश्वास और श्रद्धा है वह पुरुष अपने ऊपर आये हुए अनेक विध संकटों को भी भली भांति सहन कर सकता है, और उन आने वाले कष्टों को अपनी अपूर्व सहन-शीलता से पराजित करता हुआ अपने अभीष्ट आत्मपदार्थ को शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करने मे सफल मनोरथ हो सकता है। अब अध्ययन की समाप्ति में इनका उपसंहार करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

एए परीसहा सव्वे, कासवेण पवेइया।
जे भिक्खू न विहन्निज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥४६॥
त्ति बेमि।

इति दुइअं परिसहज्झयणं समत्तं ॥२॥

एते परिषहाः सर्वे, काश्यपेन प्रवेदिताः।
यान् भिक्षुर्नविहन्येत, पृष्टःकेनाऽपिकुत्रचित् ॥४६॥
इति ब्रवीमि।

द्वितीयंपरिषहाध्ययनं समाप्तम् ॥२॥

पदार्थान्वयः—एए-ये परीसहा-परिषह सव्वे-सब कासवेण-काश्यप ने पवेइया-प्रतिपादन किये हैं जे-जिनको भिक्खू-साधु (जान करके) न विहन्निज्जा-

पतित न होवे पुट्ठो—स्पर्शित हुए केणइ—किसी प्रकार से कण्हुई—किसी स्थान पर त्ति—समाप्ति बेमि—कहता हूं।

मूलार्थ—ये सब परिषह काश्यप ने प्रतिपादन किये हैं जिनको जानकर साधु अपने संयम से पतित न हो किसी प्रकार से वा किसी स्थान पर भी इनका चाहे स्पर्श हो। यह सब कुछ मैंने भगवान् के उपदेश के अनुसार कहा है इसमें मेरी निजी बुद्धि की कोई कल्पना नहीं है।

टीका—काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी ने इन परिषहों का वर्णन किया है, इनको भली भांति जान कर संयमशील साधु किसी प्रकार से किसी स्थान में इनका स्पर्श हो जाने पर अपने संयममार्ग से पतित न हो जाए किन्तु अपनी संयम सम्बन्धी दृढ़ता से इन पर विजय प्राप्त करे। इसी उद्देश से इनका उल्लेख किया गया है तथा विस्तार से इनके स्वरूप का वर्णन किया गया है। किसी भी अभीष्ट की सिद्धि बिना कष्टों को झेले नहीं हो सकती, इसलिये परमात्मपद प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले मुनिजनों को तो इन बावीस प्रकार के कष्टों का अवश्य सामना करना पड़ेगा तथा अपनी संयममयी दृढ़ धारणा से इन पर विजय भी अवश्य प्राप्त करनी होगी अन्यथा अभीष्ट की सिद्धि दूर से भी दूर हो जाएगी। एतदर्थ ही भगवान् ने अपने ज्ञान के अनुसार इनका वर्णन और इनके साथ शांतिपूर्वक युद्ध करने तथा इनको पराजित करके आत्मविकास करने की आज्ञा दी है, इसलिये विवेकशील साधु को इन सभी परिषहों के स्वरूप का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है, तभी वह परिषह के आने पर अपने संयम को दृढ़ रखता हुआ अपनी सहनवृत्ति द्वारा उसको पराजित कर सकेगा।

इस अध्ययन में कुल ४६ गाथाएँ है। उनमें से पहली गाथा के द्वारा परिषहों का विभाग बतलाया गया है और अंत की गाथा में उन्हीं का उपसंहार किया गया है, इस विषय के उपक्रम और उपसंहार दोनों मे ही भगवान् महावीर स्वामी के नाम का उल्लेख है इस कथन से इस सन्दर्भ की आप्तप्रणीतता भली भांति सिद्ध होती है। एवं बाकी की ४४ गाथाओं में परिषहों के स्वरूप का वर्णन है और प्रत्येक परिषह के वर्णन में दो दो गाथाएँ दी गई हैं, यह विषय कितना रोचक और ग्रहणीय है इसके कथन करने की विशेष आवश्यकता नहीं।

बुद्धिमान् जिज्ञासु पुरुष इसका स्वयं ही अनुभव करलेंगे। तथा इन परिषहों के सम्बन्ध में इतना और ख्याल कर लेना भी ज़रूरी है कि मुनि के उद्देश से ही यद्यपि इनका उल्लेख किया गया है तथापि गृहस्थ के लिये भी समय के अनुसार और अपने अधिकार के मुताबिक इनका सहन करना परम आवश्यक है, यथा- अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री से समागम का परित्याग और स्व स्त्री में भी तिथि पर्व आदि के नियम का पालन करना एवं स्त्री की रुग्णावस्था में तथा गर्भवती होने के समय ब्रह्मचर्य का पालन करना और कामचेष्टा के उत्पन्न होने पर भी अपने ब्रह्मचर्य को दूषित न होने देना तथा अपनी स्वदार सन्तोषरूप प्रतिज्ञा में दृढ़ रहना अथ च हृदय में दीप्त हुई कामाग्नि को शुद्ध विचारों के द्वारा शान्त करने का प्रयत्न करना यह देशविरति श्रावक-गृहस्थ का परिषह सहन करना है। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अन्यान्य परिषहों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इस सूत्र की दीपिका नाम की टीका में लिखा है कि— "इदंहिकर्मप्रवाद नामाष्टमोहि पूर्वस्तस्य सप्तदश प्राभृतं तस्योद्धारलेशंद्वितीयं अध्ययनं उत्तराध्ययनस्य" श्री उत्तराध्ययन सूत्र का यह दूसरा अध्ययन कर्मप्रवाद नामक आठवें पूर्व के सत्तरवें प्राभृत का लेशमात्र उद्धार है। सो यह अध्ययन प्रत्येक मुनि को मनन करने योग्य है। 'त्तिबेमि' का अर्थ तो पूर्व में-प्रथम अध्ययन की समाप्ति में लिख ही दिया है उसी के अनुसार यहां पर भी समझ लेना चाहिये। यथा-श्रीसुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे शिष्य ! जैसे मैंने भगवान् से सुना है वैसे ही मैं तेरे प्रति कथन करता हूं इसमें मेरी अपनी बुद्धि की कोई कल्पना नहीं है।

परिषहाध्ययन समाप्त।

अह तइअं चाउरंगिज्जं अज्झयणं

अथ तृतीयं चातुरङ्गीयमध्ययनं प्रारभ्यते

इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्ययन में परिषहों का वर्णन और उनके सहन करने का उपदेश दिया गया है सो परिषहों के सहन करने में मनुष्य ही साधन है परन्तु मनुष्य को चारों अंगों की प्राप्ति का होना अति कठिन है अतः इस तीसरे अध्ययन मे उन दुर्लभ चारों अंगों का निरूपण किया जाता है। इन चारों अंगों के निरूपण के कारण इस अध्ययन को चातुरंगीय अध्ययन कहते हैं और इसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुइ सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१॥

चत्वारि परमांगानि, दुर्लभानीह जन्तोः।
मनुष्यत्वं श्रुतिः श्रद्धा, संयमे च वीर्यम् ॥१॥

पदार्थान्वयः—चत्तारि–चार परमंगाणि–प्रधान अंग दुल्लहाणि–दुर्लभ हैं इह–इस संसार में जन्तुणो–जीव को माणुसत्तं–मनुष्यत्व सुई–श्रुति श्रवण सद्धा–श्रद्धा य–और संजमम्मि–संयम में वीरियं–वीर्य।

मूलार्थ—संसार में इस जीव को–मनुष्यत्व, श्रुतिधर्म का श्रवण–श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ, इन चार अंगों की प्राप्ति का होना बहुत कठिन है।

टीका—इस संसार चक्र में भ्रमण करते हुए जीव को चारों अंगों का प्राप्त होना बहुत ही कठिन है, क्योंकि ये चारों ही अंग मोक्ष के साधनभूत होने से जीव के लिये बहुत ही उपकारी माने गये हैं।

मनुष्यत्व—यद्यपि अनादि संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए इस जीव को अनेक बार मनुष्य भव, मनुष्य जन्म की प्राप्ति हो चुकी है परन्तु उसमें मनुष्यत्व का प्राप्त होना बहुत ही कठिन है ? क्योंकि मनुष्यत्व उसे कहते हैं जिससे कि मनुष्योचित कर्तव्यपरायणता का बोध और आचरण हो इसलिये वह अत्यन्त दुर्लभ है।

श्रुति—अस्तु पुण्यवशात् किसी प्रकार से मनुष्यत्व की प्राप्ति भी हो जाए परन्तु उसमें फिर श्रुति धर्म के श्रवण का संयोग मिलना तो और भी कठिन है क्योंकि धर्म का श्रवण किये बिना कर्तव्याकर्तव्य का पूर्णतया बोध नहीं हो सकता इसलिये श्रुति का प्राप्त होना मनुष्यत्व से भी अधिक आवश्यक है।

श्रद्धा—कदाचित् श्रुति की प्राप्ति भी किसी पुण्य के विशेष उदय से हो जाए परन्तु उसमें श्रद्धा का प्राप्त होना तो और भी कठिनतर है। बिना श्रद्धा के, बिना दृढ़तर विश्वास के सुना हुआ धर्मशास्त्र भी ऊपरभूमि में बोए हुए बीज की तरह निष्फलप्राय जाता है, और हेयोपादेय के ज्ञान से भी श्रद्धाशून्य हृदय खाली रह जाता है इसलिये मनुष्यत्व और श्रुति के साथ श्रद्धा का होना बहुत ही आवश्यक है।

संयम में पुरुषार्थ—मानो कि मनुष्यत्व और श्रुति के साथ पुण्य संयोग से श्रद्धा की भी प्राप्ति हो गई परन्तु फिर भी धर्मशास्त्रों की शिक्षा के अनुसार यदि संयम में पुरुषार्थ न हुआ तो वह श्रद्धा भी किसी काम की नहीं, इसलिये संयम में वीर्य-पुरुषार्थ का होना और भी दुर्लभ है। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि संसार चक्र में भ्रमण करते हुए इस जीव को बड़े ही पुण्य के प्रभाव से इन उक्त चारों अंगों की प्राप्ति होती है अतः मोक्ष के साधनभूत इन चारों अंगों को प्राप्त करके मनुष्य को अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि इन चारों अंगों की प्राप्ति बार २ नहीं होती। ये तो बड़े ही दुर्लभ हैं। इनका लाभ तो किसी निकटभवी भाग्यशाली पुरुष को ही उसके शुभतर पुण्योदय से हो सकता है। अन्य साधारण को नहीं। यद्यपि १ मनुष्य भव २

आर्यक्षेत्र ३ आर्यजाति ४ आर्यकुल ५ रूप ६ नीरोगता ७ दीर्घायु ८ बुद्धि ९ धर्मश्रवण १० अर्थग्राहकता ११ श्रद्धा १२ तथाभिरुचि १३ और अशठता इत्यादि और भी साधन माने हैं परन्तु इन सबका उक्त चारों ही अंगों में समावेश हो जाता है।

यहां पर गाथा में अंग शब्द के उल्लेख से शास्त्रकार का यह बतलाने का आशय है कि मोक्ष के लिये साक्षात् वा परंपरया उपयोगी ये चारों ही अंग धर्म के प्रधान कारण हैं और इनको जो दुर्लभ बतलाया है उसका तात्पर्य यही है कि ये हर एक को प्राप्त नहीं हो सकते तथा इन्हीं के द्वारा मोक्ष-प्रतिबन्धक घाति-कर्मों का क्षय और क्षयोपशम किया जा सकता है इसलिये इनकी दुर्लभता अनुभव-सिद्ध और युक्तियुक्त प्रतिपादन की गई है।

अब सूत्रकार इन चारों अंगों का नाम निर्देश करते हुए इनमें से प्रथम मनुष्य जन्म की दुर्लभता के विषय में कहते हैं यथा—

समावन्ना णं संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु।
कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभया पया ॥२॥

समापन्नाः संसारे, नानागोत्रेषु जातिषु।
कर्माणि नानाविधानि कृत्वा, पृथग् विश्वभृतः प्रजाः ॥२॥

पदार्थान्वयः—पया-जीव संसारे-संसार में नाणा-नाना प्रकार के गोत्तासु-गोत्रों में जाइसु-जातियों में समावन्ना-प्राप्त हुए णं-वाक्यालंकार में पुढो-पृथक् २ जीव ने विस्सं-जगत् को भया-भर दिया कम्मा-कर्म नाणाविहा-नाना प्रकार के कट्टु-करके।

मूलार्थ—इस संसार में पृथक् २ जीव ने नाना प्रकार के कर्मों के आचरण द्वारा नाना प्रकार के गोत्र और जातियों में जन्म धारण करके इस विश्व को भर दिया है।

टीका—इस अनादि संसार चक्र में जीव नाना प्रकार के त्रस आदि गोत्रों और एकेन्द्रिय आदि जातियों मे प्राप्त हुए हैं। इतना ही नहीं किन्तु एक २

जीव ने ज्ञानावरणीय आदि नाना प्रकार के कर्मों के प्रभाव से जन्म मरण के द्वारा इस सारे विश्व को भर रखा है। इसका अभिप्राय यह है कि इस असंख्यात योजन प्रमाण लोक में ऐसा कोई भी आकाशप्रदेश नहीं है जहां कि प्रत्येक जीव ने अनन्तवार जन्म और मरण को धारण न किया हो! क्योंकि जीव अनादि माना गया है तब उसका उपचार से जन्म मरण भी अनादिकालीन ही मानना युक्तियुक्त है। इसके अतिरिक्त गाथा मे जो गोत्र और जाति शब्द का उल्लेख किया गया है उसके दोनों ही अर्थ होते हैं, त्रस आदि गोत्र और कश्यप आदि गोत्र। एवं एकेन्द्रिय आदि जाति और क्षत्रिय आदि जाति। इसके अलावा 'विस्सं' शब्द पर जो बिन्दु दिया गया है वह अलाक्षणिक है और 'प्रजाः' शब्द से जनसमूह का ग्रहण करना चाहिये।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते है—

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छई ॥३॥

एकदा देवलोकेषु, नरकेष्वप्येकदा।
एकदाऽऽसुरं कायं, यथा कर्मभिर्गच्छति ॥३॥

पदार्थान्वयः—एगया-एक वार देवलोएसु-देवलोकों मे एगया-एकदा नरएसु-नरकों में वि-भी एगया-एकदा आसुरंकायं-असुरकाय में अहाकम्मेहिं-यथाकर्म-कर्मों के अनुसार गच्छई-जाता है।

मूलार्थ—ये जीव अपने २ शुभाशुभ कर्मों के अनुसार कभी देवलोकों में जाते हैं, कभी नरकों में और असुरसमूह में जाते हैं। यहां पर 'अपि' शब्द समुच्चय अर्थ में है।

टीका—अपने शुभ कर्मों के विपाक के अनुसार ये जीव कभी देवलोक मे उत्पन्न होते हैं और अशुभ कर्मों के उदय से कभी रत्नप्रभा आदि नरकों की यातनाएँ भोगते हैं तथा पूर्वजन्मार्जित कर्म के प्रभाव से कभी असुरकुमारों मे जन्म लेते हैं तात्पर्य यह कि जिस २ प्रकार के कर्म का ये जीव आचरण करते हैं उसी के विपाकोदय के अनुसार वैसी ही योनियों मे उनका जन्म होता है।

इस गाथा में कर्मों के फल का प्रदर्शन किया गया है। प्राणी जिस प्रकार का कर्म करते हैं उसी के अनुसार उसका फल भी वे भोगते हैं परन्तु कर्म के करने अथवा भोगने के समय काल-स्वभाव-नियति-कर्म और पुरुषार्थ की कारणता अवश्य मिल जाती है।

यहां पर 'गच्छंति' इस बहुवचन की क्रिया के स्थान में 'गच्छइ' यह एक वचन की क्रिया प्राकृत के नियमानुसार है, और 'काय' शब्द का अर्थ यहां पर समूह का है।

अब फिर उसी विषय का वर्णन करते हैं—

एगया खत्तिओ होइ, तओ चण्डाल बुक्कसो।
तओ कीडपयंगो य, तओ कुन्थु पिवीलिया ॥४॥

एकदा क्षत्रियो भवति, ततश्चण्डालो बोक्कसः।
ततः कीटः पतंगश्च, ततः कुंथुः पिपीलिका ॥४॥

पदार्थान्वयः—एगया-किसी समय खत्तियो-क्षत्रिय होइ-होता है। तओ-उसके पीछे चंडाल-चंडाल-वा बुकसो-बुकस तओ-तदनन्तर कीड-कीट य-और पयंगो-पतंग तओ-उसके बाद कुंथु-कुन्थु पिवीलिया-कीड़ी (होता है)।

मूलार्थ—किसी समय यह जीव क्षत्रिय बनता है और किसी समय चंडाल और बुकस बन जाता है तथा कभी कीट, पतंग, कुंथु और पिपीलिका आदि की योनि में उत्पन्न होता है।

टीका—कर्मों के प्रभाव से संसार चक्र में भ्रमण करता हुआ यह जीव कभी क्षत्रियादि कुल मे उत्पन्न होता है और कभी चण्डाल तथा बुकसादि के रूप मे जन्म लेता है एवं कर्म के प्रभाव से ही वह कीट पतंग कुंथु और कीड़ी आदि की योनि में उत्पन्न होता है। उक्त गाथा मे उल्लेख किये गये क्षत्रिय शब्द से उच्च जाति और चण्डाल, बुकस शब्द से नीच और वर्णसंकर जाति की सूचना दीगई है। तथा कीट पतंग और कुंथु पिपीलिका से समस्त तिर्यग्जाति के जीवों का ग्रहण अभीष्ट है। तात्पर्य यह कि संसार मे उच्च, नीच, देव, मनुष्य और तिर्यग् आदि ऐसी कोई भी जाति अथवा योनि बाकी नहीं जिसमे जीवों ने अपने २ कर्मों के

अनुसार जन्म धारण न किया हो। देव और नरक का उल्लेख तीसरी गाथा में किया गया है एवं मनुष्य और तिर्यग्योनि का कथन इस चौथी गाथा में है। इस प्रकार शास्त्रकार ने चारों ही गतियों का संक्षेप से उल्लेख कर दिया है। इन्हीं चारों गतियों के समुदाय का नाम संसार चक्र है। प्रत्येक जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इन्हीं चार गतियों में अपने जन्म मरण की परम्परा का अनुभव करता रहता है।

तथा गाथा में आये हुए 'बुक्कस' शब्द की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है यथा--ब्राह्मण और शूद्री के संयोग से उत्पन्न होने वाला निषाद कहलाता है, तथा ब्राह्मण और वैश्य की स्त्री से उत्पन्न होने वाली सन्तान को अम्बोष्ठ कहते हैं इस प्रकार निषाद और अम्बोष्ठी के योग से जो सन्तान उत्पन्न हो उसका नाम बुक्कस है, परन्तु यहां पर आया हुआ बुक्कस शब्द समस्त वर्णसंकर जातियों का बोधक है। संक्षेप से ऊपर दिये गए वर्णन का तात्पर्यमात्र इतना ही है कि मनुष्यों तथा पशुओं की उच्च अथवा नीच ऐसी कोई भी जाति नहीं जिसमें इस जीव ने अनेकानेक वार जन्म अथवा मरण को धारण न किया हो।

इस प्रकार निरन्तर भ्रमण करते हुए भी इस जीव को उपरति नहीं होती अब इसी के विषय में कहते हैं—

एवमावट्ट जोणीसु, पाणिणो कम्मकिव्विसा।
न निविज्जन्ति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥५॥

एवमावर्तयोनिषु , प्राणिनः कर्मकिल्विषाः।
न निर्विद्यन्ते संसारे, सर्वार्थेष्विव क्षत्रियाः ॥५॥

पदार्थान्वयः—एवं-इस प्रकार पाणिणो-प्राणी कम्म किव्विसा-दुष्टकर्म करने वाले संसारे-संसार में आवट्ट-आवर्तन करते हुए जोणीसु-योनियों में न निविज्जंति-निवृत्त नहीं होते सव्वट्ठेसु-सर्व अर्थों में व-जैसे खत्तिया-क्षत्रिय लोग।

मूलार्थ—जैसे समस्त पदार्थों की प्राप्ति होने पर भी क्षत्रिय-राजा लोगों को तृप्ति नहीं होती इसी प्रकार संसार में दुष्ट कर्म करने वाले प्राणी नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करते हुए भी निवृत्त नहीं होते।

टीका—जैसे राजा के अधिकार में अनेकानेक देशों के आने पर भी उसकी लालसा की तृप्ति नहीं होती किन्तु और अधिकाधिक अधिकार के लिये लालायित रहती है इसी प्रकार यह जीव भी संसार चक्र में भ्रमण करता हुआ और दुष्कर्म के प्रभाव से नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता हुआ इस संसार में उपराम होने की भावना को अपने अन्तःकरण में जागृत नहीं करता। किन्तु विपरीत इसके उसमें अधिकाधिक खचित ही होता जाता दिखाई देता है।

यहां पर गाथा मे आये हुए क्षत्रिय शब्द से केवल क्षत्रिय जाति में उत्पन्न होने वाली व्यक्ति विशेष का ग्रहण अभिप्रेत नहीं है किन्तु 'क्षतात्–भयात् त्रायते इति क्षत्रियः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा भय से रक्षा करने वाले का नाम क्षत्रिय होने से चाहे किसी भी वर्ण का पुरुष राज्याधिकार में नियुक्त हुआ हो और उसमें राज्य योग्य गुणों की विद्यमानता हो तो गुणों की अपेक्षा से उसे भी क्षत्रिय कह सकते हैं–इस अर्थ में यहां पर क्षत्रिय शब्द का प्रयोग किया गया है।

जो लोग संसार से निवृत्त नहीं होते उन्हें जिस फल की प्राप्ति होती है अब उस विषय का वर्णन यहां पर किया जाता है।

कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥६॥

कर्मसंगैः संमूढाः, दुःखिता बहुवेदनाः।
अमानुषीषु योनिषु, विनिहन्यन्ते प्राणिनः ॥६॥

पदार्थान्वयः—कम्मसंगेहिं–कर्मों के संयोग से, सम्मूढा–निरन्तर मूढ़ हैं दुक्खिया–दुःखित हैं बहुवेयणा–बहुत वेदना से युक्त हैं अमाणुसासुजोणीसु–मनुष्य योनि को छोड़ कर शेष योनियों में पाणिणो–प्राणी विणिहम्मंति–पीड़ा को प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—कर्मों के संयोग से जीव मूढ़ हैं, दुःखी हैं और बहुत सी वेदनाओं से युक्त हैं। मनुष्य योनि को छोड़कर अन्य योनियों में प्राणी अधिक दुःख भोगते हैं।

टीका—इस गाथा में जीवों के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों की फल विचित्रता और फलतः अन्य योनियों की अपेक्षा मनुष्य योनि की श्रेष्ठता का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा—कर्मों के संसर्ग से जीव अतिमूढ़ बने हुए हैं। इसीलिये वे शारीरिक और मानसिक दुःखों से अभिव्याप्त हो रहे हैं। इतना ही नहीं किन्तु शारीरिक और मानसिक वेदनाओं से वे अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं। मनुष्य योनि को छोड़ कर शेष नरक और तिर्यग्-योनियों में जीव दुःख से अधिक पीड़ित होते हैं। यद्यपि मनुष्य योनि में भी जीवों को दुःख की बहुलता देखी जाती है, परन्तु वहां पर इतनी विशेषता है कि यदि उपयुक्त साधन सामग्री मिल जाए तो वे मनुष्य योनि में आए हुए जीव—कर्मों के विकट जाल को तोड़ कर उनसे सदा के लिए पृथक् भी हो सकते हैं लेकिन शेष—तिर्यग् आदि योनियों में यह बात नहीं, वे तो भोगयोनिएँ हैं। वहां पर तो कर्मों का अन्त आ ही नहीं सकता। इसीलिए शास्त्रों में मनुष्य जन्म को अन्य सब की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया गया है। और धर्म—जो कि मोक्ष को समीप में लाने वाला और विकट कर्मबन्धनों को तोड़ने वाला है—के ग्रहण करने की शक्ति मनुष्ययोनिप्राप्त जीव को ही है, अन्य को नहीं। अतएव मनुष्य जन्म की दुर्लभता और विशेषता का गायन किया गया है। अतिमूढ़ता तो पशु आदि योनियों में ही पाई जाती है जोकि दुःख और बन्धन का बलवान् कारण है। इसलिए मनुष्य जन्म को पाकर अपनी विवेक शक्ति के द्वारा चिरसंचित कर्म बन्धनों को तोड़ने की अद्भुत शक्ति अपने में पैदा करना ही मनुष्य जन्म की विशेष सार्थकता का द्योतक है।

तब प्रश्न यह होता है कि—जब मनुष्य जन्म को अत्यन्त दुर्लभ कहा गया तो इसकी प्राप्ति किस प्रकार से हो सकती है अर्थात् इसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? अब सूत्रकार इसी विषय में कुछ कहते हैं—

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥७॥

कर्मणांतु प्रहान्या, आनुपूर्व्या कदाचन।
जीवाः शुद्धिमनुप्राप्ताः, आददते मनुष्यताम् ॥७॥

पदार्थान्वयः—तु-विशेष अर्थ का सूचक अथवा 'एव' अर्थ का बोधक है कम्माणं-कर्मों के पहाणाए-क्षय से आणुपुव्वी-अनुक्रम से कयाइ-कदाचित्-कभी-जीवा-जीव सोहिं-शुद्धि को अणुपत्ता-प्राप्त हुए आययंति-ग्रहण करते हैं मणुस्सयं-मनुष्यता को।

मूलार्थ—कर्मों के क्षय से और अनुक्रम से किसी समय शुद्धि को प्राप्त होकर ये जीव मनुष्य जन्म को धारण करते हैं।

टीका—इस गाथा में सूत्रकार महानुभाव ने मनुष्य जन्म की प्राप्ति के कारण को बतलाने की कृपा की है। मनुष्य गति के प्रतिबन्धक कर्मों का विनाश और शुद्धि की प्राप्ति ही मनुष्य जन्म का कारण है। मनुष्यगति के प्रतिबन्धक अनंतानुबंधी कर्म माने गये हैं। सो जो जीव अपने अखंड पुरुषार्थ के द्वारा इन अनन्तानुबन्धि कर्मों का विनाश करके अनुक्रम से शुद्धता को प्राप्त कर लेता है वही जीव मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है इसलिये प्रतिबन्धक कर्मों का क्षय करना और पुरुषार्थ के द्वारा उन से शुद्धि प्राप्त करना ही जीवका विकासमार्ग अथवा उत्क्रान्ति मार्ग कहा जाता है। यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिये कि इस गाथा में जो 'अनुक्रम' और 'कदाचित्' शब्द आये हैं। इनका अर्थ भवितव्यता या होनहार नहीं किन्तु इनसे अनन्तानुबन्धी कर्मों के क्षय करने के लिये मनुष्य योनि के बिना अन्य योनियों में घोरतम परिश्रम की आवश्यकता है, यह अर्थ अथवा तात्पर्य अभिप्रेत है। इससे प्रमाणित हुआ कि जब कभी जीव अपने गुरुतर पुरुषार्थ के द्वारा उन प्रतिबन्धक कर्मों को अपने से पृथक् करके कुछ विशेष शुद्धि को प्राप्त करते हैं, तभी इनको मनुजभव की प्राप्ति का सौभाग्य होता है।

यहां पर 'आणुपुव्वी' 'आनुपूर्वी' यह तृतीया के अर्थ में जो प्रथमा विभक्ति का प्रयोग देखा जाता है इस को प्राकृत के नियम से समझ लेना।

एवं मनुष्य जन्म के प्राप्त हो जाने पर भी श्रुतिधर्म की दुर्लभता का अब शास्त्रकार वर्णन करते हैं यथा—

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खंति महिंसयं ॥८॥

मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपःक्षान्तिमहिंस्रताम् ॥८॥

पदार्थान्वयः—माणुस्सं मनुष्य का विग्गहं-शरीर लद्धुं-प्राप्त करके धम्मस्स-धर्म की सुई-श्रुति दुल्लहा-दुर्लभ है जं-जिसको सोच्चा-सुन करके तवं-तप खंतिं-क्षमा अहिंसयं-दया पडिवज्जंति-प्राप्त करते हैं।

मूलार्थ—मनुष्य जन्म के प्राप्त होने पर भी धर्म की श्रुति फिर भी दुर्लभ है जिसको कि सुनकर तप, क्षमा और दया के भाव को ये जीव धारण करते हैं।

टीका—पुण्य संयोग से मनुष्य जन्म के मिल जाने पर भी उसमें धर्म की श्रुति—धर्म का श्रवण करना—और भी दुर्लभ है। यह जीव विषयपोषक राग रंग के श्रवण के लिए तो बिना किसी की प्रेरणा के स्वयं ही उद्यत रहता है परन्तु सौभाग्यवश जहां धर्म के श्रवण करने का अवसर आता है वहां पर सुज्ञपुरुषों की प्रेरणा के होते हुए भी इसको प्रमाद—आलस्य आ दबाता है जिसके कारण इसकी उस तरफ़ रुचि ही नहीं होती। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने पर भी धर्म श्रुति का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि यह धर्म श्रुति, तप, क्षमा और अहिंसा आदि सद्गुणों की जननी है, अर्थात् इसी से मनुष्य के हृदय में इन उक्त सद्गुणों का जन्म होता है अतः इसका प्राप्त होना निस्सन्देह दुर्लभ है। अस्तु अब यहां पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि धर्म क्या और किस अर्थ में उसका यहां पर ग्रहण करना चाहिए। और जिनमें इसका प्रतिपादन किया गया है वे धर्मशास्त्र कौन ? जिनके कि द्वारा मनुष्य ने धर्म का श्रवण करना है। इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि धर्म शब्द का सम्बन्ध वशात् अनेक अर्थों में व्यवहार होता है जैसे—ग्रामधर्म, नगरधर्म, देशधर्म और राजधर्म इत्यादि। एवं हर एक मत या सम्प्रदाय में धर्म की अलग अलग व्याख्या मिलती है और हर कोई अपने अपने नियमों या सिद्धान्तों को धर्म के नाम से पुकारते हैं तथा उन नियमों अथवा सिद्धान्तों का जिनमें उल्लेख किया गया हो उनको वे धर्मशास्त्र कहते हैं परन्तु विचार करने से एक दूसरे द्वारा की हुई धर्म की व्याख्या आपस में मेल नहीं खाती तथा एक

दूसरे के सिद्धान्तों में विरोध दिखाई पड़ता है। इसलिये जिज्ञासु के वास्ते इस बात के निर्णय में बहुत ही कठिनता हो जाती है कि वह धर्म सम्बन्धी किसकी व्याख्या को ठीक समझे और किस शास्त्र को वह धर्मशास्त्र के नाम से कहे अथवा माने ? इत्यादि।

उत्तर—धर्म की सामान्य व्याख्या तो यही है कि जो धारण किया जाए अर्थात्—जिसके धारण करने से पतन की ओर जाती हुई यह आत्मा रुक जाए और उसके स्थान में उत्थान की ओर प्रयाण करने लगे, उसका नाम धर्म है। उस धर्म का जिन शास्त्रों में वर्णन किया गया हो उनको धर्मशास्त्र कहते हैं। इसी भाव को हृदय में रखकर हमारे पूज्य सूत्रकार ने धर्मश्रुति के फल का निर्देश करते हुए धर्म और उसके प्रतिपादक धर्मशास्त्रों के विषय में बड़ा ही सारगर्भित निर्वचन कर दिया है। उनके अभिप्राय के अनुसार धर्म का सजीव और आचरणीय स्वरूप तप, क्षमा और अहिंसा है, और इनका प्रतिपादन जिन शास्त्रों में हो वे धर्मशास्त्र हैं। बस यही धर्म और धर्मशास्त्र की सुचारु और ग्रहणीय व्याख्या है। यहां पर तप से द्वादशविध तप, क्षमा से दशविध[1] यतिधर्म और अहिंसा से—साधु के पांचों महाव्रतों का ग्रहण अभिप्रेत है।

इसके अतिरिक्त श्रुतिधर्म की दुर्लभता का एक यह भी कारण है कि—हर एक पदार्थ का ज्ञान श्रवण करने से ही होता है और उसका निश्चित होना भी श्रवण पर ही निर्भर है, इसीलिये श्रुतज्ञान को सबसे अधिक उपकारी माना गया है। अतः श्रुतज्ञान के विषय में मुमुक्षु पुरुष को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

श्रवण करने के पश्चात् श्रद्धा उत्पन्न होती है इसलिए अब श्रद्धा की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परम दुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई॥९॥

कदाचिच्छ्रवणं लब्ध्वा, श्रद्धा परम दुर्लभा।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं, बहवः परिभ्रश्यन्ति॥९॥

---

१ इनसबका उल्लेख इसी सूत्र में अन्यत्र आएगा।

पदार्थान्वयः—आहच्च–कदाचित् सवणं–श्रवण को लद्धुं–प्राप्त करके सद्धा–श्रद्धा परमदुल्लहा–परम दुर्लभ है नेआउयं–न्यायकारी मग्गं–मार्ग को सोच्चा–सुन करके बहवे–बहुत से परिभस्सई–भ्रष्ट हो जाते हैं।

मूलार्थ—कदाचित् धर्म श्रवण को प्राप्त करके भी फिर श्रद्धा का प्राप्त होना और भी दुर्लभ है। न्यायमार्ग को सुन करके बहुत से जीव फिर भी भ्रष्ट हो जाते हैं।

टीका—कदाचित् मनुष्य जन्म और धर्म का श्रवण ये दोनों कारण प्राप्त हो जाएँ तो फिर भी उनमें दृढ़ विश्वास का होना अत्यन्त कठिन है। धर्म में उन्हीं आत्माओं की रुचि हो सकती है जिनका कि संसार चक्र घट गया हो, इसलिए बहुत से जीव न्यायमार्ग को जानकर भी धर्म से भ्रष्ट हो जाते हैं क्योंकि उनका धर्म पर दृढ़ विश्वास नहीं हुआ यदि हो जाता तो वे धर्म मार्ग से पतित कभी न होते, इसलिए धर्मश्रवण के साथ श्रद्धा का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए उक्त गाथा में न्यायमार्ग का उल्लेख किया है। इसका तात्पर्य यह है कि न्याययुक्तमार्ग को श्रवण करके उस पर विश्वास लाना चाहिए सो न्याययुक्तमार्ग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अनुसरण है। इसी को दूसरे शब्दों में मोक्ष का मार्ग कहा है। तथा–काल स्वभाव–नियति–कर्म और पुरुषार्थ इन पांच समवायों से जिस मार्ग की उत्पत्ति होती है उसी को न्यायमार्ग कहते हैं एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से भी न्यायमार्ग की उत्पत्ति की जा सकती है। इस प्रकार न्यायमार्ग को सुन और समझ कर भी बहुत से जीव श्रद्धा के न होने पर धर्म मार्ग से च्युत हो जाते हैं, इसलिए श्रद्धा का होना परम आवश्यक है।

विचार कर देखा जाए तो संसार के जितने भी व्यावहारिक कार्य हैं, वे सबके सब श्रद्धा और विश्वास पर ही अवलम्बित हैं, तब धार्मिक जगत् में श्रद्धा की कितनी आवश्यकता है, यह कहने की ज़रूरत नहीं रहती। इसलिए जिज्ञासु जनों को श्रद्धामय होने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

अब मनुष्यत्व, श्रुति और श्रद्धा के मिल जाने पर भी संयम सम्बन्धी पुरुषार्थ की दुर्लभता के विषय में कहते हैं।

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि, नो य णं पडिवज्जए ॥१०॥

श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च, वीर्यं पुनर्दुर्लभम्।
बहवो रोचमाना अपि, नो एतत्प्रतिपद्यते ॥१०॥

पदार्थान्वयः—सुइं-श्रुति च-और सद्धं-श्रद्धा को लद्धुं-प्राप्त करके वीरियं-पुरुषार्थ पुण-फिर दुल्लहं-दुर्लभ है बहवे-बहुत से रोयमाणावि-रुचि करते हुए भी य णं-इसको नो पडिवज्जए-ग्रहण नहीं कर सकते।

मूलार्थ—मनुष्य जन्म के साथ श्रुति और श्रद्धा के प्राप्त हो जाने पर संयम में पुरुषार्थ का होना फिर भी दुर्लभ है। क्योंकि बहुत से जीव, धर्म में रुचि होने पर भी उसे ग्रहण नहीं कर सकते।

टीका—कदाचित् किसी जीव को मनुष्य जन्म, धर्म का श्रवण और धर्म में पूर्ण अभिरुचि ये तीनों साधन मिल भी जाएँ तो भी इनके साथ वीर्य—पुरुषार्थ—का मिलना और भी कठिन है। अतएव बहुत से जीवों की धर्म में अभिरुचि होते हुए भी वे धर्म का यथार्थरूप से ग्रहण नहीं कर सकते। क्योंकि जीव के संयम विषयक पुरुषार्थ का प्रतिबन्धक चारित्रमोहनीय कर्म है, इसलिए जब तक चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम नहीं होता तब तक इस जीव को चारित्र ग्रहण करने की अभिरुचि पैदा नहीं हो सकती और जब तक चारित्र का ग्रहण नहीं किया जाता तब तक आस्रव के द्वारों—पाप के मार्गों—का बन्द होना कठिन है, और आस्रव के निरोध किए बिना मोक्ष की आशा करना आकाश कुसुम के समान बिलकुल व्यर्थ है। एतदर्थ ही शास्त्रकारों ने वीर्यपुरुषार्थ को परम आवश्यक समझते हुए, दुर्लभ बतलाया है। यद्यपि यहां यह शंका हो सकती है कि उक्त गाथा में केवल वीर्य शब्द का ही उल्लेख किया है जिसकी सरल और सीधी व्याख्या यही हो सकती है कि—वीर्य—पुरुषार्थ अत्यन्त दुर्लभ है, परन्तु इससे यह नहीं समझ में आता कि उसकी दुर्लभता किस विषय में है। इस प्रश्न का या शंका का संक्षेप से उत्तर या समाधान यह है कि शास्त्रकारों ने दो प्रकार से या दो प्रकार के नाम निर्देश से धर्म का वर्णन किया है, एक श्रुतधर्म और

दूसरा चारित्रधर्म, सो श्रुतधर्म का तो ऊपर आठवीं गाथा में उल्लेख आ चुका है और उसकी तो आत्मा को प्राप्ति हो ही चुकी है; अब शेष रहे हुए चारित्र धर्म के विषय मे ही वीर्य–पुरुषार्थ के करने का शास्त्रकार का अभिप्राय है, इसलिए मनुष्य जन्म–श्रुति–और श्रद्धा के साथ संयमविषयक पुरुषार्थ का आचरण करना भी नितान्त आवश्यक है यह बात भली भांति सिद्ध हो गई। तथा इस कथन से यह भी प्रमाणित हो गया कि मोक्ष की उपलब्धि मे श्रुत और चारित्र दोनों ही धर्मों की समानरूप से उपयोगिता है। दो मे से किसी एक के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु दोनों का समुच्चय ही मोक्ष का साधक है। इसीलिए तत्त्वार्थ प्रभृतिशास्त्रों में 'ज्ञानक्रियाभ्यांमोक्षः' ज्ञान और क्रिया दोनों से ही मोक्ष का होना माना है। इस पूर्वापर सन्दर्भ का संक्षिप्त सारांश यह है कि मनुष्य के पर्याय में आने वाले जीव के लिए मनुष्यत्व, धर्म का श्रवण, धर्माभिरुचि और संयम विषयक पुरुषार्थ ये चारों ही बातें अत्यन्त दुर्लभ हैं। किसी बड़े भारी पुण्य कर्म के उदय से ही इनकी प्राप्ति हो सकती है यही इनकी दुर्लभता है।

भाग्यातिरेक से किसी भव्यात्मा को यदि इन चारों ही अंगों की प्राप्ति हो जाए तो उसका जो फल होता है अब उसका वर्णन किया जाता है।

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥११॥

मानुष्यत्वे आयातः, यो धर्मं श्रुत्वा श्रद्धत्ते।
तपस्वी वीर्यं लब्ध्वा, संवृतो निर्धुनोतिरजः ॥११॥

पदार्थान्वयः—माणुसत्तम्मि–मनुष्य के भव मे आयाओ–आया हुआ धम्मं–धर्म को सोच्च–सुन करके सद्दहे–श्रद्धा करता है तवस्सी–तपोनिष्ठ वीरियं–संयम में पुरुषार्थ को लद्धुं–प्राप्त करके संवुडे–आस्रवरहित–संवरयुक्त–होकर रयं–कर्म रज को निद्धुणे–धुन देता है।

मूलार्थ—जो जीव मानव जन्म को प्राप्त करके धर्म का यथाविधि श्रवण करता है और धर्म पर दृढ़तर विश्वास रखता हुआ उसके अनुसार संयम

को ग्रहण करता है ऐसा संवृत–आस्रवरहित–निष्पाप–तपस्वी–तपोनिष्ट आत्मा अपने चिरसंचितकर्म मल को धुन देता है–छिन्न भिन्न कर देता है–अर्थात् उससे अलग हो जाता है।

टीका—इस गाथा मे उक्त चारों अंगों की यथार्थ फल श्रुति का उल्लेख किया गया है। यह बात तो असंदिग्ध ही है कि मोक्ष–सुख की प्राप्ति का आधार ज्ञानावरणीयादि चार प्रकार के घाति–आत्मा के ज्ञान, दर्शन चारित्र और वीर्य आदि गुणों का घात करने वाले–कर्मों के क्षय पर अवलम्बित है, और उन कर्मों का क्षय, निर्जरा और सम्वर (आश्रवद्वारों का निरोध करना) के सम्यग् अनुष्ठान के आश्रित है। एवं सम्वर और निर्जरा के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है तथा श्रद्धा प्राप्ति के निमित्त धर्म के श्रवण की ज़रूरत है और धर्म का यथाविधि श्रवण करना मनुष्यता की अपेक्षा रखता है अतः मनुष्यता से लेकर श्रुति, श्रद्धा तथा चारित्र ग्रहण, सम्वर और निर्जरा तक को प्राप्त करने वाली आत्मा कर्मों के क्षय करने में समर्थ हो जाती है, और कर्म क्षय का अंतिम फल केवल ज्ञान और मोक्ष है। तब इस सारे कथन का सारांश यही निकला कि मनुष्यत्व आदि चारों अंगों को प्राप्त करने वाला जीव कर्म की कठिन बेड़ियों को तोड़ कर अपना पूर्ण विकास कर लेने में समर्थ हो जाता है जिसका अंतिम फल आत्म स्वातंत्र्य या मोक्ष का निरतिशय सुख है।

अब यहां पर इस बात को भी भूल नहीं जाना चाहिए कि मोक्ष के कारणभूत इन चारों अंगों में श्रुति, श्रद्धा और वीर्य ये तीनों अंग तो आधेय हैं और मनुष्य इनका आधार है। इसलिए आधारभूत प्रधान अंग का यह कर्तव्य है कि वह श्रुति, श्रद्धा और पुरुषार्थ के द्वारा अपने विकास मे किसी प्रकार की भी कमी बाकी न रखे। इसी में उसका श्रेय है। कितने एक मूढ लोगों ने धन, धान्य और पुत्र पौत्र आदि परिवार को ही दुर्लभ मान रखा है परन्तु यह उनकी बड़ी भारी भूल है। वास्तव में तो दुर्लभ वस्तु वही है कि जिसके प्राप्त होने पर इस जीव को परम कल्याण की प्राप्ति हो सके और जिसके अप्राप्त होने से इस जीव को जन्म मरण की परम्परा के चक्र में घूमते हुए अधिकतर दुःख का ही अनुभव करना पड़े। इसके अतिरिक्त पुत्र पौत्रादि की प्राप्ति तो इस जीव को

अनेक वार हुई और अनेक वार होगी। इनको दुर्लभ कहना व मानना सिवाय अज्ञानता के और कुछ नहीं है। तब सिद्ध हुआ कि इन सांसारिक पदार्थों की तरफ़ ज़रा भी ध्यान न देकर विवेकशील पुरुष को इन दुर्लभ अंगों के द्वारा अपने परमश्रेय मोक्षरूपसाध्य की सिद्धि की ओर ही झुके रहने का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

अब उक्त चारों अंगों के ऐहिक फल के विषय में कहते हैं—

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तिव्व पावए ॥१२॥

शुद्धिः ऋजूभूतस्य, धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।
निर्वाणं परमं याति, घृतसिक्त इव पावकः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—सोही-शुद्धि उज्जुयभूयस्स-सरल की-होती है धम्मो-धर्म सुद्धस्स-शुद्ध के हृदय में चिट्ठई-ठहरता है निव्वाणं-मोक्ष परमं-प्रधान जाइ-पाता है घयसित्त-घृत से सेचन की हुई व-जैसे पावए-अग्नि।

मूलार्थ—सरल की ही शुद्धि होती है और शुद्ध हृदय में ही धर्म ठहर सकता है अतः धर्मयुक्त शुद्ध हृदय वाला जीव घृतसिक्त अग्नि की भांति देदीप्यमान होता हुआ कल्याणस्वरूप परमशांत जीवन-मोक्ष पद को प्राप्त हो जाता है।

टीका—इस गाथा मे जीवन्मुक्त के स्वरूप का वर्णन किया गया है। जीवन्मुक्त की आत्मा अत्यन्त सरल होती है। उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों का निवास नहीं होता इसलिए वह शुद्ध होती है। इस प्रकार की कषायरहित शुद्ध आत्मा में ही धर्म को स्थान प्राप्त हो सकता है, जो आत्मा कषायों से मलिन हो रही हो उसमें धर्म को ठहरने के लिए जगह नहीं है। क्षमा आदि दशविध यतिधर्म की स्थिति तो निर्मल और शुद्ध हृदय में ही हो सकती है, जैसे मलयुक्त शरीर में बहुमूल्य ओषधि भी निष्फल जाती है अर्थात् उसका कोई असर नहीं होता ऐसे ही कषाययुक्त आत्मा पर भी धर्म के स्वरूप का कोई प्रभाव

नहीं होता इसलिए धर्म की प्रतिष्ठा के लिए कषायनिर्मुक्त शुद्ध आत्मा ही अपेक्षित है। कषायमुक्त-शुद्ध और धर्मयुक्त आत्मा को ही जीवन्मुक्त कहते हैं क्योंकि शुद्ध और धर्मयुक्त आत्मा अपने आत्मगुणों का विकास करता हुआ घृतसिक्त अग्नि की तरह अपने स्वाभाविक तेज से देदीप्यमान होकर इस संसार मे जीता ही मुक्तात्मा की भांति विचरता है और शरीर त्याग के बाद परम शांत और कल्याणरूप मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

इस जगह पर जो घृतसिक्त अग्नि का दृष्टान्त दिया है उसका तात्पर्य यह है कि घृतसिक्त अग्नि मे जितना तेजस्वीपन होता है उतना तृणवर्द्धित अग्नि ज्वाला मे नहीं। तब इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार घृतसिक्त अग्नि अधिक तेजवाली होती है, उसी प्रकार कषायमुक्त और धर्मयुक्त आत्मा के बढ़े हुए तपोबल मे भी वैसी ही उत्कट प्रभापूर्ण तेजस्विता होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि अग्नि के तेज मे दीप्ति के सिवाय उष्णता की अधिकता है और जीवन्मुक्त आत्मा की तेजस्विता में पूर्ण शान्ति विराजमान रहती है। इसी अभिप्राय को लेकर वृत्तिकार लिखते हैं—'तपस्तेजोज्ज्वलितत्येनघृततर्पिताग्निसमानः'। अर्थात् घृततर्पित अग्नि के समान जो अपने तप और तेज से प्रदीप्त हो रहा है।

ऊपर दिए गए विवेचन का सारांश यह है कि प्रत्येक विचारशील पुरुष को सरल, कषायमुक्त और धर्मयुक्त होकर आत्मिक गुणों के विकास द्वारा जीवन्मुक्ति-सदेहमोक्ष का आनन्द लूटते हुए परमनिर्वाणविदेह मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब गुरुजनों का शिष्यके लिए जो हितकर उपदेश है उसके विषयमे कहते हैं—

विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥१३॥

वेविग्धि कर्मणो हेतुं, यशः संचिनु क्षान्त्या।
पार्थिव शरीरं हित्वा, उर्ध्वां प्रक्रामति दिशम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—कम्मुणो—कर्म के हेउं—हेतु को विगिंच—दूर कर जसं—संयम रूप यश को संचिणु—संचित कर खंतिए—क्षमा से पाढवं—पार्थिव सरीरं—

शरीर को हिच्चा-छोड़ करके उड्ढं-ऊंची दिसं-दिशा को पक्कमई-प्राप्त होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य ! कर्म के हेतु को दूर कर और क्षमा से संयमरूप यश का संचय कर-ऐसा करने वाला पुरुष-इस पार्थिव शरीर को छोड़ ऊंची दिशा-स्वर्ग व मोक्ष-को प्राप्त हो जाता है।

टीका—गुरु शिष्य को उपदेश करते हैं कि हे शिष्य ! मिथ्यात्व-अविरति-कषाय-प्रमाद और योग आदि जो कर्म बन्ध के हेतु हैं उनको तू अपने से दूर कर दे और क्षमा के द्वारा संयमरूप यश का संचय कर। जो जीव इस प्रकार का आचरण करता है वह इस दृश्यमान पार्थिव शरीर का परित्याग करके ऊंची दिशा को प्राप्त हो जाता है अर्थात् स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। कर्मों के सर्वथा नष्ट होने से मोक्ष और पुण्य कर्मों के बाकी रहने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

यद्यपि यश शब्द का प्रसिद्ध अर्थ कीर्ति या मान बड़ाई होता है परन्तु शास्त्रकार को यहां पर सूत्र शैली के अनुसार उसका संयम और विनय अर्थ ही अभिप्रेत है तथा उसके संचय के हेतु जो क्षमा और मार्दवादि को बतलाया है वह भी तभी संगत हो सकता है। इस प्रकार जब कर्म बन्ध हेतु मिथ्यात्व कषाय आदि का नाश हो गया और क्षमा आदि के द्वारा कर्मनाशक संयम का संचय कर लिया तो ज़रूरी है कि इस पार्थिव देह के वियोग होने बाद यह जीव स्वर्ग अथवा मोक्ष को जावे। बस इसी उद्देश से शास्त्रकार ने गुरुजनों के व्याज से शिष्य को लक्ष्य रख कर उपदेश देने का यत्न किया है ताकि भव्यजीव अपने कर्तव्य को समझ कर आत्मश्रेय की ओर झुकें।

ऊपर बतलाया गया है कि कर्म का सर्वथा नाश होने से तो मोक्ष और कुछ शुभ कर्म बाकी रह जाएँ तो जीव को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अब उसी स्वर्ग प्राप्त जीव की अवस्था का वर्णन करते हैं।

विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तर उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणच्चवं ॥१४॥

विसदृशैः शीलैः, यक्षाः उत्तरोत्तराः ।
महाशुक्ला इव दीप्यमानाः, मन्यमाना अपुनश्च्यवम् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—विसालिसेहिं-नाना प्रकार के सीलेहिं-शीलों से जक्खा-यक्षदेव उत्तरोत्तरा-प्रधान से प्रधान होते हैं महासुक्का-महाशुक्ल की व-तरह दिप्पंता-प्रकाशमान् होते हुए अपुण-फिर नहीं च्चवं-मृत्यु (ऐसे) मन्नंता-मानते हुए ।

मूलार्थ—जीव नाना प्रकार की शिक्षा और व्रतों के अनुष्ठान के कारण प्रधान से प्रधान देव हो जाते हैं और महाशुक्ल सूर्यादि की भांति प्रकाश करते हुए और अपने च्यवन को भी नहीं मानते हुए, वहां रहते हैं ।

टीका—इस लोक मे जब प्राणी नाना प्रकार की उत्तम शिक्षाओं का पालन करते हैं और नाना प्रकार के शीलव्रत आदि का अनुष्ठान करते हैं तब उसके प्रभाव से वे स्वर्गलोक मे प्रधान से प्रधान देव बनते हैं । अनुत्तर विमान आदि महाविमानों में उत्पन्न होते हैं । वे और उनके विमान सूर्य और चन्द्रमा की तरह प्रकाश करते हैं । क्योंकि उत्तरोत्तर विमान महाशुक्ल ही होते हैं, इसीलिए उनका सूर्य और चंद्रमा की तरह प्रकाश है । इतना ही नहीं किन्तु अति दीर्घायु पल्योपम सागरोपम और अति सुखप्राप्ति के कारण वे अपनी मृत्यु को भी बिलकुल भूल जाते हैं । उन्हे यह भान ही नहीं रहता कि पुण्यकर्मजन्य फल की समाप्ति पर कभी हमारा यहां से च्यवन भी होगा । वे तो अपने को मृत्यु से सदा रहित मानते हुए वहां पर रहते हैं । यहां पर इतना स्मरण रहे कि देवों में इस प्रकार के भाव का होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, उनके कल्पनातीत सुख और आयुसम्बन्धी मान को देखते हुए तो यह कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं और वे तो वैसे भी अमर कहलाते हैं परन्तु इस संसार मे तो ऐसे संख्यातीत मनुष्य निकलेंगे कि जिनका अति स्वल्पसुख और स्वल्पतम आयु के होने पर भी उनको मृत्यु का ज़रा भी ख्याल नहीं है । उनकी प्रवृत्ति को देखते हुए तो वे देवताओं से भी अपने को अधिक अमर माने हुए बैठे हैं । बस आश्चर्य है तो यही है । और यहां पर गाथा में आए हुए 'विसालिसेहिं' शब्द का मागधी भाषा मे विसदृश-

नाना प्रकार—ही अर्थ किया जाता है। और उत्तरोत्तर शब्द के साथ 'तिष्ठंति' क्रिया का अधार कर लेना चाहिए।

ऊपर की गाथा में इस बात का उल्लेख किया गया है कि स्वर्गलोग में रहनेवाले वे देव अपनी मृत्यु को भी नहीं मानते। अब शास्त्रकार उसका कारण बतलाते हैं—

अप्पिया देवकामाणं, कामरूव विउव्विणो।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठन्ति, पुव्वा वाससया बहू ॥१५॥
अर्पिता देवकामान्, कामरूप वैक्रेयिणः।
ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति, पूर्वाणिवर्षशतानि बहूनि ॥१५॥

पदार्थान्वयः—अप्पिया—प्राप्त हुए देवकामाणं—देव कामों को कामरूव—इच्छानुसार विउव्विणो—वैक्रेय करने वाले उड्ढं—ऊंचे कप्पेसु—कल्प विमानों में चिट्ठंति—ठहरते हैं पुव्वा—पूर्व वास—वर्ष सया—सौ बहू—बहुत।

मूलार्थ—देवकामों को प्राप्त हुए, इच्छानुकूल वैक्रेय करने वाले ऊंचे कल्पों—विमानों में सैकड़ों पूर्वों और वर्षों तक—असंख्यात काल पर्यन्त ठहरते हैं।

टीका—पूर्वोपार्जित पुण्य संचय के प्रभाव से देवगति को प्राप्त हुए जीव, ऊंचे से ऊंचे कल्पों—देवलोकों—में जा विराजते हैं, फिर वहां पर उनको अपनी इच्छा के अनुसार रूप बना लेने की शक्ति और नाना प्रकार की वैक्रेय क्रियाओं से यथेष्ट रूप धारण करने की लब्धि प्राप्त हो जाती है, वे जो चाहे बन सकते हैं। यह सब कुछ तप और संयम के फल का चमत्कार है। तथा उनका वहां पर असंख्यात वर्षों तक निवास रहता है। यहां पर वृत्तिकार ने पूर्वों के वर्ष की गणना इस प्रकार दी है 'पूर्वाणिवर्षसप्ततिकोटिलक्षषट्पंचशत्कोटि सहस्रमितानि' अर्थात् ७० लाख करोड़ वर्ष, ५६ हज़ार करोड़ वर्ष ये सब मिलकर एक पूर्व के वर्ष होते है। सो ऐसे असंख्यात पूर्वों तक वे जीव वहां पर स्वर्ग में रहते हैं। इस भाव की सूचना के लिए ही मूल गाथा में 'बहु' शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि यहां पर यह शंका हो सकती है कि अगर सूत्रकार को 'बहु' शब्द का असंख्यात

अर्थ ही अभीष्ट था तो वे 'वहु' के स्थान में असंख्यात शब्द का ही उल्लेख करते। उन्होंने ऐसे अप्रसिद्ध शब्द का क्यों प्रयोग किया। इसका समाधान यह है कि सूत्रकार ने इसलिए 'वहु' शब्द का उल्लेख किया है कि उसने इसके साथ यह भी सिद्ध करना था कि पूर्वों और वर्षों के तप संयम का इतना महान् फल प्राप्त होता है। क्योंकि शास्त्रों में संयम और तप के योग्य पूर्वों और वर्षों की ही आयु बतलाई गई है। पल्योपम और सागरोपम की आयु तप और संयम के योग्य नहीं होती। जैसाकि वृत्तिकार ने लिखा है 'पूर्व वर्ष शतायुषामेव चरण योग्यत्वेन विशेषतो देशनौचित्यमितिख्यापनार्थमित्थमुपन्यासः' सो इसलिए इन शब्दों का ग्रहण किया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि देवों को जो अपनी मृत्यु का भान नहीं होता उसका कारण उनकी इतनी लम्बी स्थिति और उनको कल्पनातीत ऐश्वर्य की प्राप्ति विशेष ही है। इसी से उनको अपनी मृत्यु का कभी स्मरण नहीं होता। अब निम्नलिखित गाथा में इस वात का विचार किया जाता है कि देवायु की समाप्ति होने के बाद जब उनका च्यवन होता है तब वे जीव कहां पर आकर उत्पन्न होते हैं—

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, से दसंगे ऽभिजायए ॥१६॥

तत्र स्थित्वा यथास्थानं, यक्षा आयुःक्षये च्युताः।
उपयान्ति मानुषीं योनिम्, स दशांगो ऽभिजायते ॥१६॥

पदार्थान्वयः—तत्थ–वहां जहाठाणं–यथास्थान ठिच्चा–स्थिति करके जक्खा–यक्ष–देव आउक्खए–आयु के क्षय होने पर चुया–च्यव कर माणुसंजोणिं–मनुष्य योनि को उवेंति–प्राप्त होते हैं से दसंगेऽभिजायए–वे दश अंगों के सहित होते हैं।

मूलार्थ—वे देव उन देवलोकों में यथास्थान ठहर कर आयु के क्षय होने के बाद वहां से च्यव कर मनुष्य की योनि में आते हैं और उनको यहां पर मनुष्योचित सांसारिक कामभोगों के दशों अंगों की प्राप्ति होती है।

टीका—तप संयमादि पुण्यकर्मों के अनुष्ठान से देवगति को प्राप्त हुए जीव वहां पर अपने पुण्य के तारतम्य के अनुसार वहां के सुखों को भोग कर

और आयु के समाप्त होने पर जब वे वहां से च्यवते हैं तब उनका जन्म मनुष्य की योनि में होता है अर्थात् शेष रहे हुए कर्मों के फल को भोगने के लिये वे स्वर्ग से च्यवकर यहां मनुष्यलोक में आते हैं और यहां पर भी उनको दश अंगों की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् सांसारिक सुख भोगने के जो मुख्य दश अंग-साधन माने जाते हैं उनको वे सब यहां पर मिल जाते हैं। जिससे कि वे अन्य साधारण संसारी जीवों की अपेक्षा यहां पर भी अधिक सुखी, अधिक ऐश्वर्य और अधिक प्रभाव रखनेवाले होते हैं।

यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि स्वर्ग से आनेवाले जीवों के लिए जो दशांग प्राप्ति का उल्लेख है यह उत्सर्ग सूत्र है। अपवाद सूत्र से तो नौ और इससे भी न्यून हो जाते हैं क्योंकि इनकी प्राप्ति का आधार शेष रहे हुए कर्मों की इयत्ता पर निर्भर है। अगर शेष कर्म अधिक हैं तो उनके अनुसार अधिक साधनों की प्राप्ति होगी और यदि वे न्यून हैं तो दश मे से कम साधन मिलेंगे, तात्पर्य यह कि जितने अंश में शेष कर्म होंगे उतने ही अंश मे उन्हीं के अनुसार सामग्री की प्राप्ति होगी। इसी अभिप्राय से मूलगाथा मे 'अभिजायए' यह एक वचनान्त क्रिया दी गई है।

इसके अतिरिक्त यहां पर एक बात और स्मरण रखने के योग्य है वह यह कि देवों की इतनी बड़ी आयु और इतनी बड़ी विभूति ! परन्तु फिर भी उसका अन्त हो जाता है और उनको फिर मनुष्य योनि में जन्म धारण करके अपने अभीष्ट को सिद्ध करने का प्रयत्न करना पड़ता है। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य जन्म के समान दूसरा कोई जन्म नहीं और मनुष्य योनि के बिना और किसी योनि से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए देवों को भी स्वर्ग से च्यव कर इसी मनुष्य योनि में जन्म धारण करना पड़ता है। इससे प्रमाणित हुआ कि मनुष्य जन्म एक बड़ा ही दुर्लभ रत्न है। इसको प्राप्त करके भी जो जीव इसकी महर्घता को नहीं समझते वे वास्तव में पशु हैं। इसलिए विचारशील पुरुषों को उचित है कि देव दुर्लभ इस मानव शरीर को प्राप्त करके वे अपने को सांसारिक विषय वासनाओं में ही लिप्त न रखे किन्तु धर्म के आराधन में तत्पर रहते हुए आत्म कल्याण को अपने जीवन का सब से अधिक उद्देश बनावें। इसी में उनके मानव जन्म की सार्थकता है।

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं।
चत्तारि कामखन्धाणि, तत्थ से उववज्जई ॥१७॥

क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च, पशवो दास पौरुषम्।
चत्वारः कामस्कन्धाः, तत्र स उत्पद्यते ॥१७॥

पदार्थान्वयः—खेत्तं-क्षेत्र वत्थुं-प्रासाद हिरण्णं-सुवर्ण आदि पदार्थ च-और पसवो-पशु दास-दास-नौकर पोरुसं-पुरुषों का समूह वा सेना चत्तारि-चार काम खंधाणि-काम के स्कन्ध हैं तत्थ-वहां पर (यह जीव) उववज्जई-उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—क्षेत्र, वास्तुक-हिरण्य, पशु और दास समूह ये चारों काम के स्कन्ध-अंग हैं। ये चारों स्कन्ध जहां पर विद्यमान हों वहां पर देवलोक से आया हुआ जीव जन्म धारण करता है।

टीका—इस गाथा मे देवलोक से च्यवकर आनेवाले जीव किस कुल मे किस स्थान मे और किस विभूति मे जन्म लेते हैं, इस बात का वर्णन किया गया है।

जिस कुल में वा घर मे पहले ही क्षेत्र-ग्राम, नगर, आराम आदि वास्तु-प्रासाद, भूमि, गृह आदि हिरण्य-सोना चान्दी आदि, पशु-अश्व, गो, महिषी आदि, दास-दास दासियों का समूह ये चारों ही प्रकार के ऐश्वर्य विद्यमान हों उसी कुल मे स्वर्गच्युत पुण्यशाली जीव जन्म लेते हैं। ये चारों ही, काम भोग के साधन होने से काम स्कन्ध या कामांग कहे जाते हैं क्योंकि इनके बिना सांसारिक सुख-विषय भोगों-की उपलब्धि नहीं हो सकती अतः क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य, पशु और दास, यह चारों अंग जितना भी सांसारिक सुख है उस सारे के मूल कारण है। इनको स्कन्ध इसलिए कहते है कि ये सभी पुद्गल के स्कन्ध-समूह है। इसलिए इनसे पौद्गलिक सुख की ही प्राप्ति हो सकती है और आत्मिक सुख तो इनसे कोसों दूर है। नेत्रों के द्वारा जो वस्तु का प्रत्यक्ष करना है, वह चाक्षुष ज्ञान कहलाता हुआ भी आत्मिक ज्ञान

है परन्तु वस्तु की मनोज्ञता और अमनोज्ञता यह पुद्गल स्वभावजन्य है। यहां पर इतना और समझ लेना चाहिए कि जो पुण्यात्मा जीव हैं, उनको तो उनके शेष रहे पुण्यकर्मों के अनुसार पौद्गलिक सुखों की बिना ही यत्न किये प्राप्ति हो जाती है। उनको इन सुखों की प्राप्ति के लिए तप आदि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। वे तो निर्जरा के लिए ही सब कर्म करते हैं। यदि उनके समस्त कर्मों की अभी तक निर्जरा नहीं हुई हो तो उनको ये सुख स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं और अन्य साधारण जीवों को उनकी प्राप्ति के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करने की अपेक्षा रहती है। पूर्वोक्त दश अंगों मे से प्रथम अंग का—कामस्कन्धों के रूप में तो वर्णन हो चुका अब बाकी के नव अंगों का वर्णन निम्नलिखित गाथा के द्वारा किया जाता है—

मित्तवं नायवं होइ, उच्चगोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥१८॥

मित्रवान्ज्ञातिवान्भवति, उच्चैर्गोत्रो वर्णवान्।
अल्पातंकः महाप्राज्ञः, अभिजातो यशस्वी बली ॥१८॥

पदार्थान्वयः—मित्तवं–मित्रवान् नायवं–ज्ञातिमान् उच्चगोए–उच्च गोत्र-वाला य–और वण्णवं–वर्ण वाला अप्पायंके–अल्प रोगवाला महापन्ने–महाप्राज्ञ अभिजाए–विनयवान् जसो–यश वाला बले– बल वाला होइ–होता है।

मूलार्थ–स्वर्ग से आया हुआ जीव मित्रोंवाला, ज्ञातिवाला, उच्चगोत्री, सुन्दर वर्णवाला, रोगरहित, महाप्राज्ञ, विनयवान्, यशस्वी और बलवाला होता है।

टीका—इस गाथा में बाकी के नौ अंगों का निर्देश किया गया है। स्वर्ग से आए हुए जीव का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि वह पुण्यात्मा जीव इस संसार में बहुत से मित्रोंवाला होता है। अधिक सम्बन्धियों वाला होता है, तथा ऊंचे कुल में जन्म लेने वाला होता है, उसके शरीर का वर्ण भी बड़ा सुन्दर होता है अर्थात् उसके शरीर का रंग स्निग्ध और गौरादिवर्णयुक्त होता है। तथा

शरीर मे रोग का आक्रमण बहुत ही कम होता है। दूसरे शब्दों मे कहें तो वह नीरोग—रोगरहित होता है। एवं बुद्धिशाली मनुष्यों में अधिक बुद्धि रखने वाला, विनयशील, यशस्वी और बलशाली होता है। ये उक्त गुण उस आत्मा में स्वभाव से ही होते हैं अर्थात् पूर्वार्जित शेष रहे शुभ कर्मों के प्रभाव से ये सब वस्तुएं उस आत्मा को बिना ही यत्न के प्राप्त हो जाती हैं। किसी साधन विशेष के अनुष्ठान की उसे आवश्यकता नहीं होती। शंका—यद्यपि शास्त्रों मे औदारिक शरीर को रोगालय—रोगों का घर कहा गया है। इसलिए औदारिक शरीर रखने वाली कोई भी व्यक्ति सर्वथा रोगरहित नहीं हो सकती तब इस संसार में मनुष्य जन्म में आनेवाली स्वर्गीय व्यक्ति को रोगरहित कहना कुछ असंगत सा प्रतीत होता है। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर गाथा में आए हुए 'अल्पातंक' शब्द के अर्थ का विचार करने से ठीक हो सकता है। अल्प शब्द का अभाव और स्तोक—थोड़ा ये दो अर्थ हैं। इनमें भी स्तोक अर्थ अधिक प्रसिद्ध है, परन्तु स्वर्गीय जीव मे इन दोनों ही अर्थों की संगति हो सकती है। वह इस प्रकार से कि या तो उस पुण्यशाली स्वर्गीय व्यक्ति को किसी रोग से वासता ही नहीं पड़ता अर्थात् उस पर किसी रोग का आक्रमण ही नहीं होता और यदि किसी समय पर उसका थोड़ा बहुत आक्रमण भी हो तो वह आक्रमण उसके पौद्गलिक सुखों मे किसी प्रकार से प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। यही उसके पुण्य की महिमा है। इसके सिवा यश और बल ये दोनों शब्द मतुप् प्रत्ययान्त हैं परन्तु प्राकृत भाषा के नियमानुसार यहां पर प्रत्यय का लोप हो गया है, इसलिए इन दोनों शब्दों का क्रम से—यशस्वी और बलवान्—अर्थ करना किसी प्रकार से असंगत नहीं है।

अब उसके अन्य फल के विषय में कहते हैं—

भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्विं विसुद्ध सद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया ॥१९॥

भुक्त्वा मानुष्कान्भोगान्, अप्रतिरूपान्यथायुषम्।
पूर्वं विशुद्ध सद्धर्मा, केवलां बोधिं बुध्वा ॥१९॥

पदार्थान्वयः—माणुस्सए—मनुष्य के अप्पडिरूवे—उपमारहित भोए—भोगों

को अहाउयं—आयुपर्यन्त भोच्चा—भोग करके पुव्विं—पूर्व विसुद्ध—निर्मल सद्धम्मे—सद्धर्म में बोहिं—बोधि को बुज्झिया—पा करके ।

मूलार्थ—मनुष्य के अनुपम काम भोगों को आयुपर्यन्त भोग करके यह जीव पूर्व की तरह विशुद्ध सद्धर्म में निष्कलंक बोधि को प्राप्त कर लेता है ।

टीका—फिर वह पुण्यात्मा जीव मनुष्य के अनुपम काम भोगों को आयुपर्यन्त भोग करके पूर्व जन्म में अर्जित किए हुए निदानरहित शुद्ध धर्म के अनुसार निष्कलंक बोधि को प्राप्त कर लेता है । निष्कलंक बोधि अरिहंत धर्म की प्राप्ति रूप होती है । एतदर्थ ही सूत्र में केवलं बोधि यह कहा गया है अर्थात् वह जीव अन्त में शुद्ध धर्म की प्राप्तिरूप बोधि को प्राप्त कर लेता है । इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि पुण्यात्मा जीव उदय में उदय होते हैं । जिस प्रकार उन्होंने पूर्व जन्म में इस विशुद्धधर्म को प्राप्त किया था उसी प्रकार वे इस जन्म में भी उसी शुद्ध धर्म को प्राप्त कर लेते हैं । पुण्यात्मा के यह लक्षण हैं कि सांसारिक विषय तो उसका पीछा छोड़ते नहीं परन्तु वही उनको त्यागवृत्ति द्वारा एक दिन छोड़ देता है । इसी हेतु से सूत्र में यथायु—आयुपर्यन्त काम भोगों के भोगने का उल्लेख किया है । शंका—यदि ऐसा ही है तो फिर छोड़ता कब है ? इसका समाधान—यहां पर यथायु शब्द सामान्य अर्थ का बोधक है । इस कथन से तो पुण्यात्मा के सामर्थ्य-मात्र का बोध कराया गया है अथवा जो जीव संयम का ग्रहण नहीं कर सकते ऐसे गृहिजनों की अपेक्षा से यह उल्लेख है क्योंकि उनके रहते हुए उनकी ऋद्धि का विनाश नहीं हो सकता जैसे आनन्द आदि श्रावक। इसलिए पुण्यवान् जीव को फिर बोधि की प्राप्ति हो सकती है । विशुद्धधर्म अथवा बोधि की प्राप्ति के बाद वे पुण्यात्मा जीव क्या करते हैं । अब इस विषय की चर्चा निम्नलिखित गाथा में की जाती है—

चउरंगं दुल्लहं नच्चा, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुय कम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥२०॥

त्ति बेमि ।

इति चाउरंगिज्जं नाम तइअं अज्झयणं समत्तं ॥३॥

चतुरंगं दुर्लभं ज्ञात्वा, संयमं प्रतिपद्य ।
तपसा धूतकर्मांशः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥२०॥
इति ब्रवीमि ।

इति चतुरङ्गीय नाम तृतीयमध्ययनं समाप्तम् ॥३॥

पदार्थान्वयः—चउरंगं-चारों अंगों को दुल्लहं-दुर्लभ नच्चा-जान कर संजमं-संयम को पडिवज्जिया-ग्रहण करके तवसा-तप के द्वारा धूयकम्मंसे-कर्मों के अंश को दूर करने वाला सिद्धे-सिद्ध सासए-शाश्वत हवइ-होता है। त्ति-इस प्रकार बेमि-मैं कहता हूं।

मूलार्थ—चारों अंगों को दुर्लभ समझ कर संयम को ग्रहण करके तप के द्वारा जिसने कर्मों के अवशिष्ट अंश को दूर कर दिया है वह पुण्यशाली जीव शाश्वत सिद्ध गति को प्राप्त हो जाता है। सूत्रकार कहते हैं कि मैं इस प्रकार कहता हूं।

टीका—ऊपर जिन चारों अंगों का वर्णन किया गया है, उनकी प्राप्ति को दुर्लभ जान कर जिस जीव ने संयम को ग्रहण करके तपोऽनुष्ठान के द्वारा कर्मांशों को अपने आत्मा से सदा के लिए पृथक् कर दिया है वह जीव शाश्वत-सदा रहने वाली सिद्धगति-मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसलिए मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा, वीर्य-पुरुषार्थ इन चारों अंगों को दुर्लभ समझ कर जो प्राणी इनका निरन्तर सदुपयोग करता है वही एक न एक दिन मोक्ष मंदिर के दिव्य सिंहासन की शोभा को अवश्य बढ़ाता है। और उससे उतरती हुई स्वर्ग प्राप्ति तो उसके हस्तगत ही होती है। यहां पर सिद्ध के साथ जो शाश्वत विशेषण लगाया है उसका तात्पर्य यह है कि जैन शास्त्रों मे एक जीव की अपेक्षा से सिद्धगति को सादि अनन्त स्वीकार किया है, इसलिए सिद्ध पद के साथ शाश्वत विशेषण का देना ज़रूरी है। इसके अलावा 'त्ति बेमि' शब्द का तात्पर्य पूर्व के अध्ययनों में बतला ही दिया गया है। अब बार २ उसका उल्लेख करना कोई अधिक प्रयोजन नहीं रखता।

चतुरङ्गीय अध्ययन समाप्त।

अह चउत्थं असंखयं अज्झयणं

अथ चतुर्थम् असंस्कृतमध्ययनं प्रारभ्यते

तीसरे अध्ययन में चारों अंगों की दुर्लभता का उपपत्ति सहित बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है, परन्तु भाग्यवशात् यदि किसी जीव को उन चारों अंगों की प्राप्ति हो जाय तो उसके लिए उचित है कि वह धर्म के आचरण में कभी प्रमाद न करे। इस चतुर्थ अध्ययन में इसी बात का अर्थात् प्रमाद के त्याग और अप्रमाद के सेवन का सुन्दर उपदेश किया गया है। सबसे प्रथम, प्रमाद का त्याग किस विचार को लेकर करना चाहिए इस विषय का वर्णन निम्नलिखित गाथा के द्वारा किया जाता है—

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते,
किण्णु विहिंसा अजया गहिंति ॥१॥

असंस्कृतं जीवितं मा प्रमादीः,
जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम्।
एवं विजानीहि जनाः प्रमत्ताः,
किंनुविहिंस्रा अयता ग्रहीष्यन्ति ॥१॥

पदार्थान्वयः—असंखयं–संस्कार रहित जीवियं–जीवन है मापमायए–प्रमाद मत कर हु–जिससे जरोवणीयस्स–जरा के समीप आने पर नत्थि ताणं–कोई रक्षक नहीं है एवं–इस प्रकार विजाणाहि–तू जान (जो) जणे–जन पमत्ते–प्रमादी हैं विहिंसा–नाना प्रकार की हिंसा करने वाले हैं अजया–अजितेन्द्रिय हैं किण्णु–किसका शरण गहिंति–ग्रहण करेंगे।

मूलार्थ—यह जीवितव्य, संस्कार रहित है इसलिए हे शिष्य ! तू प्रमाद मत कर। ज़रा बुढ़ापे के समीप आने पर कोई भी रक्षक नहीं बनता। इस बात को तू समझ। और जो जन प्रमादी हैं, हिंसक हैं और इन्द्रियों के वशीभूत हैं वे किस की शरण में जावेंगे ?

टीका—इस गाथा में प्रमाद के त्याग की शिक्षा बड़ी ही सुन्दरता से दी गई है। गुरू शिष्य को उपदेश करते हुए कहते हैं कि यह जीवन संस्कार रहित अर्थात् चिरस्थायी नहीं, इसलिए तू प्रमाद मत कर। जीवन की क्षण-भंगुरता के विषय में दो मत नहीं हैं। आयु के टूटे हुए बन्धन को कोई नहीं जोड़ सकता। मनुष्य तो क्या इन्द्र, महेन्द्र आदि भी टूटी हुई आयु का सन्धान नहीं कर सकते। संसार की टूटी हुई प्रायः हर एक वस्तु किसी न किसी प्रकार से जोड़ी जा सकती है किन्तु आयु का सन्धान किसी प्रकार के यत्न से भी साध्य नहीं, इस लिए धर्म के अनुष्ठान में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। कितने एक भोले पुरुष वृद्धावस्था को धर्माचरण के लिए संभाल कर रखने का मनोरथ करते हैं और कहते हैं कि वृद्धावस्था के आने पर धर्म का आचरण करेंगे, अभी तो युवावस्था में भोगे जाने वाले विषयों का ही आनन्द लूटना चाहिए परन्तु उनको यह स्मरण नहीं कि वार्द्धिक्य जरावस्था मे उनका कोई रक्षक या सहायक भी होगा कि नहीं, वास्तव में कोई नहीं होगा। आज युवावस्था में जिन कुटुम्बी जनों के लिए आत्मसमर्पण तक किया जाता है और जिन पुत्रादि से अधिक प्यार किया जाता है वृद्धावस्था में वे ही हमारा तिरस्कार करने लग जाते हैं। इसलिए वृद्धावस्था में धर्मानुष्ठान की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है। धर्म के आचरण के लिए तो जितनी शीघ्रता हो सके उतनी ही श्रेष्ठ है। वास्तव में तो जब तक इस शरीर में बल है, जब तक इसमें स्फूर्ति है और जब तक चक्षु आदि इन्द्रियगण

अपना २ काम अच्छी तरह से कर रहे हैं एवं जब तक यह कलेवर जरा राक्षसी से अभिभूत नहीं होता तब तक अर्थोपार्जन की भांति अप्रमत्त होकर धर्म का संचय करना चाहिए। अतः जो जीव प्रमत्त हैं, प्रमादी हैं, हिंसक हैं, सावद्य कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले हैं और अजितेन्द्रियमात्र—इन्द्रियों के वशीभूत हैं वे मृत्यु के समय किस की शरण में जावेंगे? किसका आश्रय ग्रहण करेंगे? इस बात का विवेकी जनों को अवश्य ख्याल रखना चाहिए। सारांश यह कि धर्म के आचरण में समय की प्रतीक्षा कभी नहीं करनी चाहिए अपितु प्रमादरहित होकर शीघ्र से शीघ्र उसमें प्रवृत्त हो जाना चाहिए। इस गाथा में आया हुआ 'हु' शब्द 'यस्मात्' अर्थ का वाचक है और 'जणे पमत्ते' ये दोनों शब्द प्रथमाविभक्ति के बहु वचन के स्थान पर दिये गये सप्तमी के एक वचन के रूप हैं। 'नु' यह वितर्क अर्थ में है। कितने एक अज्ञानी जीव धन को ही सुख का साधन मानते हुए धन के उपार्जन में ही अप्रमत्तता रखने का उपदेश करते हैं और स्वयं भी प्रमाद रहित होकर धन के संचय में प्रवृत्त हैं। ऐसे लोगों के विचार से असहमत होते हुए सूत्रकार उनके उक्त विचार के भयंकर परिणाम का दिग्दर्शन कराने के लिए अब दूसरी गाथा का उल्लेख करते हैं—

जे पावकम्मेहि धणं मणूसा,
समाययन्ती अमइं (अमयं) गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥२॥

ये पापकर्मभि धनं मनुष्याः,
समाददते अमतिं गृहीत्वा ।
प्रहाय ते पाशप्रवर्तिता नराः,
वैरानुबद्धा नरकमुपयान्ति ॥२॥

पदार्थान्वयः—जे—जो मणूसा—मनुष्य पावकम्मेहि—पाप कर्मों से धणं—धन को अमइं—कुमति पूर्वक—वा अमृत के समान जानकर गहाय—ग्रहण करके

समाययंति–अंगीकार करते हैं पहाय–फिर उसी धन को छोड़ कर ते–वे पास–विषय रूप पाश में पयट्ठिए–प्रवृत्त हुए नरे–पुरुष वेराणुबद्धा–निरन्तर वैर से बंधे हुए नरयं–नरक में उवेंति–उत्पन्न होते हैं।

मूलार्थ—जो मनुष्य धनको पाप कर्मों से इकट्ठा करके और अमृत के समान जान कर उसे ग्रहण करते हैं फिर वे विषयरूप पाश में फंस कर तथा अन्य जीवों से वैर भाव को बांधकर नरक में उत्पन्न होते हैं।

टीका—इस गाथा में पापकर्मों के द्वारा एकत्रित किए गये धन के परिणाम विशेषका वर्णन किया गया है। जो लोग पापकर्मों से धनका उपार्जन करके उसे अमृत के तुल्य मान कर स्वीकारते हैं वे ही लोग उस धन को विषयों के निमित्त त्याग कर विषय जन्य सुखों में फंस कर और अन्य जीवों से तन्निमित्तक वैर भाव को बांधकर अन्त को नरक में उत्पन्न होते हैं। यह पाप कर्मों से इकट्ठे किए हुए धन का अन्तिम परिणाम है। इसलिए जो लोग धन संचय से सुख की प्राप्ति मानते हैं वे बड़ी भारी भूल करते हैं। अन्याय मार्ग से उत्पन्न किए गए धन का कभी शुभ परिणाम नहीं हो सकता। यद्यपि धन से अनेक प्रकार के शुभ कार्य–धर्म के कार्य भी हो सकते हैं परन्तु वह धन विचारशील पुरुषों द्वारा न्याय से उपार्जन किया हुआ होता है और ऐसे धर्मानुरागी विचारशील पुरुष संसार में बहुत ही कम हैं। अधिक भाग तो पापात्माओं का ही है। तथा पापिष्ठों का धन कभी शुभकार्य में नहीं लगता किन्तु विषय सेवनादि जघन्य कार्यों में ही उसका उपयोग होता है। पूज्य सूत्रकार ने इसी आशय को लेकर पापकर्मों द्वारा अर्जन किए जाने वाले धन का निर्देश किया है। अतः पापकर्म से उपार्जन किए गए धन का अंतिम परिणाम दुःखवृद्धि के सिवाय और कुछ नहीं। पाप कर्म से उपार्जन किए गये धन से यदि कोई धर्म का कार्य किया जाए अर्थात् उस धन को किसी धर्म सम्बन्धी कार्य में लगाया जाए तो उसका फल नरक नहीं, किन्तु इसमें इतना जान लेना बहुत आवश्यक है कि जो द्रव्य न्याय से उत्पन्न किया गया है वही धर्म के योग्य हो सकता है और चोरी आदि अन्याय से एकत्रित किया हुआ द्रव्य तो अधर्म का ही पोषक होता है।

इस प्रकार पाप से धन–धन से विषयरूप पाश–पाश से अन्य जीवों से

वैरभाव और वैर से नरक की प्राप्ति यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है। इसलिए पाप कर्मों से द्रव्य का उपार्जन करके और उसके द्वारा विषयरूप विषज्वाला को परिवर्द्धित करके उसमें अपने आप को स्वाहा करने का बुद्धिमान् पुरुषों को कभी साहस नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त गाथा मे आये हुए 'अमयं' पद का 'अमृत' अर्थ करने के अलावा 'असइ' पाठ में अमति–कुमति अर्थ भी सूत्रकार को अभिप्रेत है। इसी आशय से वृत्तिकार लिखते हैं कि 'अमतिं नञः कुत्सार्थत्वात् कुमति मुक्तरूपां गृहीत्वा संप्रधार्य' अर्थात् अमति शब्द में होने वाले नञ् समास में नञ् कुत्सा–निन्दा का वाची है इसलिए 'अमइ' के स्थानापन्न 'अमति' शब्द का अर्थ कुत्सित–खोटी बुद्धि समझना चाहिए। तब इसका यह अर्थ निष्पन्न हुआ कि 'जो लोग खोटी बुद्धि से इस अन्यायोपात्त धन का ग्रहण करते हैं वे अन्ततोगत्त्वा नरक के भागी होते हैं।

अब उक्त विषय को अधिक दृढ़, और स्पष्ट करने के लिए फिर कहते हैं—

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥३॥

स्तेनो यथा संधिमुखे गृहीतः,
स्वकर्मणा कृत्यते पापकारी।
एवं प्रजाः प्रेत्येह च लोके,
कृतानां कर्मणां न मोक्षो ऽस्ति ॥३॥

पदार्थान्वयः—तेणे–चोर जहा–जैसे संधिमुहे–संधि के मुख में गहीए–पकड़ा हुआ सकम्मुणा–अपने किए हुए कर्म से किच्चइ–छेदा जाता है एवं–इस प्रकार पावकारी–पापकर्म करने वाला पया–जीव की पेच्च–परलोक च–और इहं–इस लोए–लोक में कडाण–किए हुए कम्माण–कर्मों के फल भोगे विना मुक्ख–मोक्ष न अत्थि–नहीं है।

मूलार्थ—जैसे सन्धि-सन्ह के मुख में सान्ध लगाता हुआ पकड़ा गया चोर अपने किए हुए पाप कर्मों से मारा जाता है। उसी प्रकार ये जीव भी इस लोक तथा परलोक में अपने किए हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं पाते।

टीका—जैसे चोरी करते समय पकड़ा जाने वाला चोर अपने किए हुए पाप कर्म से दुःख पाता है इसी प्रकार पापकर्मों का आचरण करने वाले सभी जीव इस लोक तथा परलोक में दुःख को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह कि कर्मों का भोगना अवश्यंभावी है, बिना भोगे कर्मों से कभी छुटकारा नहीं होता। इसलिए विचारशील पुरुषों को पापकर्मों के बदले पुण्य-शुभकर्मों का ही आचरण करना चाहिए।

कितने एक सज्जन परलोक में विश्वास नहीं रखते, उनके विचारानुसार कर्म का भोग फल भी इसी लोक मे होता है, परन्तु उनका यह कथन शास्त्र और अनुभव के विरुद्ध होने से आदरणीय नहीं है। इसलिए सूत्रकार ने इस लोक के साथ परलोक का भी उल्लेख किया है, तात्पर्य कि अधिकता से कितने एक कर्म ऐसे हैं जिनका फल इस जन्म में न भोगा जाकर दूसरे जन्म मे भोगना पड़ता है। जैसे वृक्ष के मूल में डाले हुए जल का ऊपर के पत्तों तक में परिणमन हो जाता है, ठीक इसी प्रकार इस लोक में इस जन्म में किए गए कर्म दोनों लोकों में फलप्रद हो सकते हैं। परन्तु जिस आत्मा ने इसी जन्म में मोक्ष को प्राप्त हो जाना हो वह तो परलोक में कर्म का भोग नहीं करता क्योंकि मोक्ष हो जाने पर तब उसका कोई कर्मांश बाकी नहीं रहता और जो बद्ध जीव हैं उनके लिए तो इस लोक तथा परलोक दोनों मे ही कर्म का फल भोगना पड़ता है। शंका—सूत्र में पापकर्म का फल दुःख बतलाया है परन्तु यह नहीं बतलाया कि कर्म ही उस दुःख रूप फल को देते हैं इसलिए फलदाता—फल के दिलाने वाला कोई और ही होना चाहिए? समाधान—सूत्रकार ने तो काल—स्वभाव—नियति—कर्म और पुरुषार्थ इन पांच समवायों को हरएक कार्य का कारण स्वीकार किया है। केवल कर्ममात्र को कारण नहीं माना, अतः ये पांचों ही समवाय शुभाशुभ कर्मों के करने और उनका सुख दुःख रूप जो फल होता है उसके भोगने मे उपस्थित रहते हैं। जैसे—कल्पना करो कि किसी ने विष का भक्षण कर लिया हो तो उसको मृत्युरूप फल की प्राप्ति इन पांच समवायों से ही होती है यथा—विष भक्षण का समय—काल, विष

की तीक्ष्ण मारकत्वशक्ति–स्वभाव, आयु के क्षय के समय मे विष का भक्षण करना–नियति, और खाने का उद्योग करना–पुरुषार्थ इस प्रकार कार्यमात्र की सिद्धि में इन पांच समवायों की कारणता विद्यमान रहती है।

यदि कोई कहे कि हम तो अपने बन्धुजनों के लिए कर्म करते हैं वे भी तो धनादि को, विभाग करके भोगते हैं। संभव है उन्हीं के निमित्त से मुक्ति हो जाए, इत्यादि प्रकार के भ्रान्त विचारों का उत्तर नीचे लिखी गाथा के द्वारा दिया जाता है।

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उवेंति ॥४॥

संसारमापन्नः परस्यार्थाय,
साधारणं च यत्करोति कर्म।
कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले,
न बान्धवा बन्धुत्वमुपयान्ति ॥४॥

पदार्थान्वयः—संसारं–संसार को आवन्न–प्राप्त हुआ परस्स–पर–दूसरे के अट्ठा–वास्ते साहारणं–साधारण च–समुच्चय में जं–जो कम्मं–कर्म करेइ–करता है तस्स–उस कम्मस्स–कर्म के वेय काले–भोगने के समय ते–तेरे बंधवा–बन्धुजन बंधवयं–बंधु भाव को न उवेंति–प्राप्त नहीं होते। तु–अपि के अर्थ में है।

मूलार्थ—संसार को प्राप्त हुआ प्राणी अपने लिए अथवा दूसरों के लिए या दोनों के लिए जो कर्म करता है उस कर्म के फल भोगने के समय वे बन्धुजन अपने बन्धुभाव को प्राप्त नहीं होते।

टीका—शास्त्रकार उपदेश करते हैं कि यह प्राणी संसार चक्र में भ्रमण करता हुआ और अनेक विध ऊंच नीच कुलों में जन्म लेता हुआ जब कभी मनुष्य

जन्म को प्राप्त करता है तब जो कर्म उसने, अपने वास्ते अथवा दूसरों के वास्ते या दोनों के वास्ते किए हैं उनके भोगने के समय उसके बन्धुजन किसी प्रकार से भी उसके भागीदार नहीं बनते। किन्तु जीव को अकेले ही वे भोगने पड़ते हैं। तात्पर्य इसका यह है कि जो जीव जिस कर्म के अनुष्ठान करने वाला है उस कर्म के फल भोगने में भी उसी को सन्मुख होना पड़ेगा दूसरे किसी को—चाहे वह आत्मज हो अथवा कोई अन्य सम्बन्धी हो—हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं, हे जीव! अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों का उत्तर-दायित्व भी तेरे ही ऊपर है। तेरे बिना और कोई भी तेरे किए हुए अशुभ कर्म से उत्पन्न होनेवाले दुःख का विभाग नहीं कर सकता, इसलिए तू धर्म के मार्ग के अनुसरण में कभी प्रमाद न कर। तथा उक्त सूत्र में 'कम्मस्स' यह पंचमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग किया गया है। और 'अट्टा' यहां पर क्यप् प्रत्यय का लोप होने से कर्म में पंचमी है यथा अर्थमाश्रित्य। 'च' और 'तु' शब्द समुच्चयार्थक हैं।

यदि कोई यह कहे कि धन तो सहायक होगा क्योंकि संसार में धन से सभी कार्य सिद्ध किए जा सकते हैं, सो अब सूत्रकार निम्नलिखित गाथा में इन विचारों की आलोचना करते हैं—

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥५॥

वित्तेन त्राणं न लभते प्रमत्तः,
अस्मिँल्लोके ऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इवानन्त मोहः,
नैयायिकं दृष्ट्वा अदृष्ट्वेव ॥५॥

पदार्थान्वयः—वित्तेण—धन से ताणं—त्राण—शरण पमत्ते—प्रमादी जन न लभे—प्राप्त नहीं कर सकते इमम्मि—इस लोए—लोक में अदुवा—अथवा परत्था—

परलोक में दीवप्पणट्ठेव–दीपकनष्ट हुए पुरुष की तरह अणंतमोहे–अनंत मोह पूर्वक नेयाउयं–न्यायकारी मार्ग को दट्ठुं–देख करके अदट्ठुमेव–बिना देखे हुए की तरह होता है ।

मूलार्थ—प्रमादी पुरुष को इस लोक तथा परलोक में धन भी पाप-कर्मजन्य फल भोग से सुरक्षित नहीं रख सकता, वह प्रमादी पुरुष दीपक के अभाव से अन्धकार होने के कारण मार्ग को न देखनेवाले पुरुष की भांति अनन्त मोह–अज्ञान के कारण न्यायोचित मार्ग को देखता हुआ भी, नहीं देखता है ।

टीका—भगवान् उपदेश देते हैं कि हे आर्य पुरुषो ! प्रमादीजन अपने किए हुए कर्मों के फल को भोगने के समय धन से अपनी रक्षा नहीं कर सकते, अर्थात् अपने कर्मजन्य दुःख से धन के द्वारा उन्हें छुटकारा नहीं मिल सकता । संसार में अनेक ऐसे असाध्य रोग हैं जो कि लाखों का धन व्यय करने पर भी शान्त नहीं होते और जबकि इस लोक में ही वह धन कर्मजन्य दुःख की निवृत्ति में सफल नहीं होता तब परलोक में तो उससे किसी प्रकार की सहायता की आशा ही करनी व्यर्थ है । इसलिए लोक और परलोक दोनों में ही कर्मजन्य दुःख की निवृत्ति मे धन से किसी प्रकार की भी सहायता नहीं मिल सकती । तथा प्रमादी पुरुष अपने घोर अज्ञान के कारण न्यायोचित मार्ग को भूल कर कुमार्ग का अनुगामी होता हुआ अधिकांश दुःख ही दुःख उठाता है, उसकी वही दशा होती है जो दीपकों के नाश होने से अन्धकारव्याप्त गुफा में पथभ्रष्ट हुए पुरुषों की हुई । शास्त्रों मे एक प्रसंग आता है कि किसी समय पर बहुत से पुरुष हाथों मे दीपक लेकर एक अन्धकारव्याप्त गुफा में प्रवेश कर गये और कितनी एक दूर जाने पर उनके दीपकों मे तेल खतम हो गया और सारे के सारे दीपक बुझ गये । दीपकों के बुझ जाने से उस अन्धकारमयी गुफा मे वे इधर उधर भटकने लगे और कहीं पर भी मार्ग के न मिलने से वे सब के सब वहीं समाप्त हो गये । बस यही दशा इस अज्ञानग्रस्त प्रमादी जीवकी है । सौभाग्यवशात् कभी अच्छे गुरूजनों के सत्संग मे आने से इस जीव के हृदय मे सद्बोध–सद्विचार का कुछ प्रकाश होने लगता है और उसके द्वारा वह सम्यग् मार्ग–न्यायमार्ग को भी जानने

लग जाता है परन्तु अज्ञानरूप वायु के प्रबल झोंकों से जब उसका वह सद्बोध-सम्यग्दर्शनरूप दीपक बुझ जाता है तब वह फिर अन्धकारव्याप्त होने से अपने निर्दिष्ट न्याय पथ से भ्रष्ट होकर इधर उधर कुमार्ग में भटकता हुआ अधिक से अधिक दुःख पाता है। सो गुरुजनों की सत्संगति से प्राप्त हुए पथ प्रदर्शक, सद्बोधरूप दीपक की रक्षा मे सावधान रहने का प्रयत्न न करना, यही उसका प्रमाद है। अतः गुरुजनों के संसर्ग से प्राप्त हुए सद्बोधरूप दीपक को अज्ञान वायु के प्रबल झोंकों से बचाए रखना ही अप्रमादी–प्रमाद रहित विवेक शील पुरुषों का सब से अधिक कर्तव्य है। तथा यहां पर 'दीवप्पणट्ठे' के स्थान में 'पणट्ठदीवे' होना चाहिए था अर्थात् व्याकरण के नियमानुसार 'दीपप्रनष्टः' की जगह पर 'नष्टप्रदीपः' प्रयोग होना चाहिए परन्तु यहां पर जो दीपक शब्द का पूर्वनिपात किया गया है वह प्राकृत के नियमानुसार है। और 'न्याय मार्ग' मोक्षमार्ग का नाम है। उसकी प्राप्ति के साधन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। परन्तु जिस जीव के अनन्तमोहनीय कर्म की प्रकृतियें उदय मे आजाती हैं वह उक्त मार्ग को देखता हुआ भी बिना देखते के समान ही हो जाता है।

जबकि कुटुम्ब, धन और बन्धुजनों में से कर्मभोग के समय पर इसका कोई भी सहायक नहीं बन सकता तो फिर इस जीव का "क्या कर्तव्य होना चाहिए ?" इस विषय का अब निम्नलिखित गाथा के द्वारा वर्णन करते हैं—

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पण्डिए आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खीव चरेऽप्पमत्ते ॥६॥

सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी,
न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञः।
घोराः मुहूर्त्ता अबलं शरीरम्,
भारण्डपक्षीव चरेदप्रमत्तः ॥६॥

पदार्थान्वयः—सुत्तेसु-सोए हुओं में यावी-और भी पडिबुद्धजीवी-जागता हुआ जीवन व्यतीत करने वाला न वीससे-विश्वास न करे पण्डिए-विद्वान् आसुपन्ने-आशुप्रज्ञ-तीक्ष्ण बुद्धिवाला घोरा-भयंकर मुहुत्ता-मुहूर्त हैं अबलं-निर्बल सरीरं-शरीर है भारंडपक्खीव-भारण्ड पक्षी की तरह अप्पमत्ते अप्रमत्त होकर चरे-विचर, विचरे।

मूलार्थ-सोए हुओं में जागता और जागते हुए जीवन व्यतीत करने वाला कुशाग्रबुद्धि पंडित पुरुष, प्रमाद और प्रमादी जनों में कभी विश्वास न करे और समय की भयंकरता तथा शरीर की निर्बलता का विचार करता हुआ भारंड पक्षी की तरह सदा अप्रमत्त रहकर-प्रमादरहित होकर विचरण करे। अथवा, हे शिष्य! तू इस प्रकार विचरण कर।

टीका—इस गाथा में साधु को प्रमादी पुरुषों से सावधान रहने और स्वयं अप्रमत्त रहकर जीवन व्यतीत करने का आदेश किया गया है। निद्रा में प्रमाद और जागरण में अप्रमत्तता है, अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो निद्रा, मृत्यु और जागरण जीवन है। इसलिए द्रव्य और भाव निद्रा में सोए पड़े संसारी जीवों में द्रव्य और भाव से जागने वाला संयमी पुरुष ही वास्तव में अप्रमादी या अप्रमत्त कहा अथवा माना जा सकता है। अतएव शास्त्रकारों का उपदेश है कि सोए हुए प्रमादी जीवों में जागनेवाला और जागते हुए जीवन व्यतीत करनेवाला प्रतिभासम्पन्न संयमी पुरुष, भूलकर भी प्रमाद का सेवन और प्रमादी पुरुषों का संसर्ग न करे अर्थात् इनमें किसी प्रकार का भी विश्वास न करे क्योंकि इनसे हानि के सिवाय लाभ कुछ नहीं होता, तथा आयु के लिए समय-कालचक्र की भयंकरता और उसके समक्ष अपने शरीर की अतिदुर्बलता का विचार करता हुआ अर्थात् काल की विकरालता और शरीर की क्षणभंगुरता का परामर्श करता हुआ भारण्ड पक्षी की तरह सदा अप्रमत्त रहने का ही प्रयत्न करता रहे। तात्पर्य कि जैसे भारण्ड पक्षी ज़रा सा भी प्रमाद करने पर विनाश को प्राप्त हो जाता है अतः वह इसी भय से कभी प्रमाद नहीं करता किन्तु सदा अप्रमत्त रहता है, इसी प्रकार संयमशील पुरुष को भी प्रमाद की सर्व प्रकार से उपेक्षा करते हुए अप्रमत्त रह कर ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसी में उसका कल्याण है। उक्त गाथा में दिए गए निद्रावाची 'सुप्त' शब्द का द्रव्य और भाव दोनों रूपों में ग्रहण है।

इनमे द्रव्यनिद्रा तो शयन क्रिया के रूप में प्रसिद्ध ही है और भावनिद्रा–अज्ञान-मिथ्यात्व–अविवेक रूप में मानी जाती है। सो संसारी लोग प्रायः भाव निद्रा में ही अधिकतया सोए पड़े हैं, इसी कारण से संसार में अधिक अनर्थ, अधिक अन्याय और अधिक झगड़े देखे जाते है।

अपिच–श्री भगवतीसूत्र के बारहवें शतक मे जयन्ती के अधिकार मे लिखा है कि जयन्ती को उत्तर देते हुए भगवान् श्रीमहावीर स्वामी फ़रमाते हैं कि हे जयन्ति ! अधर्मी आत्मा तो सोए हुए ही अच्छे हैं और धर्मात्मा पुरुष जागते हुए श्रेष्ठ हैं। क्योंकि अनेकविध निर्बल और निरपराध प्राणियों को धर्मात्मा पुरुषों के जागने और अधर्मी–पापिष्ठ पुरुषों के सोने में ही अधिक सुख और शांति की प्राप्ति होती है। अतः प्रमाद–आलस्य और अज्ञान के वशीभूत होकर सोनेवाले जीवों मे, सदा जागते रहने वाले संयमशील तपस्वी पुरुष को कभी विश्वास नहीं लाना चाहिए। तथा इस कथन से संयमी पुरुष की द्रव्य निद्रा भी अतिस्वल्प ही प्रमाणित होती है, क्योंकि स्वल्पनिद्रा लेने में ही ज्ञानादि के विकास की अधिक संभावना है। अपि च स्वल्पनिद्रा का होना अल्पाहार पर निर्भर है, अतः अप्रमत्तसंयमी का आहार भी शुद्ध होने के साथ २ अतिस्वल्पमात्रा में ही होना चाहिए। यद्यपि भारण्ड नाम वाला पक्षी आजकल प्रसिद्ध नहीं है और ना ही वह आजकल कहीं पर देखने में आता है परन्तु वृत्तिकार उसका वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखते हैं—'यथाह्येतेऽन्तर्वर्त्तिसाधारणचरणाएकोदराःपृथग्ग्रीवा अन्योन्य फलभक्षिणश्चप्रमादपराविनश्यन्ति, तथा यतिरपि प्रमाद्यन् संयमाद् भ्रश्यति' अर्थात् भारण्ड नाम के पक्षी का और सब आकार तो अन्य पक्षियों की भांति ही होता है परन्तु ग्रीवा–गर्दन उसकी दो होती हैं। वह सदा एक ही मुख से खाता है और यदि कभी प्रमादवश वह दोनों मुखों से खाने लग जाता है तो मर जाता है, इसी प्रकार प्रमाद के वशीभूत हुआ साधु भी अपने संयम से पतित हो जाता है। अतः प्रमादी जनों के संसर्ग से साधु को सदा ही अलग रहने का यत्न करना चाहिए। इसी अभिप्राय से गुरुजन फ़रमाते हैं कि हे शिष्य ! यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो भारण्ड पक्षी की तरह कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं करता हुआ सदा अप्रमत्त होकर ही विचरण कर ! और काल की भयंकरता के सामने इस दुर्बल शरीर की परिस्थिति का ख्याल करता हुआ धर्मानुष्ठान मे कभी प्रमाद

न कर, यही सच्चा श्रेयस्कर मार्ग है। तथा 'चर' यह मध्यम पुरुष का एक वचन है। इसका अर्थ 'चर-विहितानुष्ठानमासेवस्व' ऐसा जानना चाहिए। और 'चरे' पाठ में तो 'चरेत्'-आचरण करे-यह अर्थ स्पष्ट ही है।

अब उक्त विषय को और भी अधिक स्पष्ट करते हैं—

चरे पयाइं परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभंतरे जीविय बूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥७॥

चरेत्पदानि परिशंकमानः,
यत्किञ्चित्पाशमिह मन्यमानः।
लाभान्तरे जीवितं बृंहयित्वा,
पश्चात्परिज्ञाय मलापध्वंसी ॥७॥

पदार्थान्वयः—चरे-विचरे पयाइं-संयमरूप पदों के दोष लगने से **परिसंकमाणो**-शंकाशील बना हुआ **जं**-जो **किंचि**-किंचिन्मात्र दोष है उसको **इह**-संसार में **पासं**-पाशरूप **मण्णमाणो** मानता हुआ **लाभंतरे**-जब तक इस शरीर से लाभ हो सकता है तब तक **जीविय**-जीवन को **बूहइत्ता**-वृद्धि करके **पच्छा**-पीछे **परिण्णाय**-परिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान कर **मलावधंसी**-कर्मरूप मल को दूर करने वाला होवे-अनशन व्रत धारण करे।

मूलार्थ—संयम-पदों में दोष लगने के भय से परिशंकित हुआ २ और लगे हुए यत्किंचित् दोष को भी संसार में पाशरूप मानता हुआ, इस शरीर से जब तक ज्ञानादि का लाभ हो सकता है तब तक इसकी वृद्धि करता हुआ-इसका पोषण करता हुआ संसार में विचरे। इसके अनन्तर ज्ञान के द्वारा इस शरीर के अन्त का निश्चय करके प्रत्याख्यान के द्वारा-अनशन के द्वारा कर्म मल को दूर करने का प्रयत्न करे।

टीका—संयमशील साधु का यह बड़ा ही उत्तरदायित्व पूर्ण आचार है कि वह मूल अथ च उत्तरगुणरूप संयम में लेशमात्र भी दोष न लगने दे। यदि उसमें यत्किंचित् किसी दोष के लग जाने की शंका भी हो जाय तो उसको बन्धन-रूप समझ कर अर्थात् उक्त दोष को संसार के जन्म मरण की वृद्धि का हेतु समझता हुआ भारण्ड पक्षी की तरह उससे अपने आपको, पूर्णतया परिशंकित-पूर्णरूप से सावधान रखने का प्रयत्न करे। तात्पर्य कि अणुमात्र भी प्रमाद न करे। तथा जब तक इस शरीर से ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि सद्गुणों का लाभ होता रहे तब तक तो निर्दोष आहार आदि के द्वारा इसकी रक्षा—इसका पोषण करता रहे और जब इसको अपने परिवर्द्धित ज्ञान के द्वारा इस शरीर का अवसान निकट जान पड़े तब तो फिर इसके अवशिष्ट कर्म मल को अनशन व्रत के द्वारा दूर करने का स्तुत्य प्रयास करे। इसका खुलासा अभिप्राय यह है कि जब यह प्रतीत हो जाय कि अब बुढ़ापा आ गया। शरीर का अस्थिपंजर अब जरा के आक्रमण से जर्जरित होने लगा और साथ ही भयंकर रोग भी आतंक मचाने लगे तथा आयु कर्म की सीमा भी अब बहुत नज़दीक में ही है, सो जब ये सभी कारण इस समय उपस्थित हो रहे हैं और जिनका फल इस शरीर का अवश्यं-भावी अन्त है तथा विशिष्टज्ञान से भी अब इसका अन्त बहुत समीप है तब तो मेरे लिए यही उचित है कि मैं इससे अन्त में भी कुछ और लाभ उठा लूं। ऐसा विचार करके अनशनव्रत के द्वारा इसके कर्म मल का विध्वंस करने का यत्न करे। परन्तु इस कथन का कहीं ऐसा विपरीत आशय न समझ लेना चाहिए कि शास्त्रकारों ने जान बूझ कर मरने की आज्ञा दी है। नहीं, शास्त्रकारों का यह आशय कदापि नहीं है। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा में 'परिण्णा' परिज्ञा शब्द दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि जब तुमको पूर्णरूप से यह ज्ञान हो जाय कि यह शरीर अब नहीं रहेगा। इसका वियोग अब अवश्यंभावी है, उस समय पर संयमशील पुरुष को उचित है कि वह भक्तप्रत्याख्यान आदि अनशनव्रत के द्वारा अपने कर्म मल को दूर करने का साधु प्रयास करे। शास्त्रकारों का यही अभिप्राय है, जो कि ऊपर दर्शाया गया है किन्तु किसी न किसी प्रकार से तुम आत्मघात या आत्महत्या कर लो, यह उनका आशय कभी नहीं। तात्पर्य कि हर एक वस्तु के स्वरूप को प्रथम अच्छी तरह से समझ लेने के बाद उसके प्रत्याख्यान का विचार करना

चाहिए, अन्यथा नहीं। अब उक्त विषय के साथ ही मोक्ष के उपाय का वर्णन किया जाता है—

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं,
आसे जहा सिक्खिय वम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥८॥

छंदोनिरोधेनोपैति मोक्षम्,
अश्वो यथा शिक्षित वर्मधारी।
पूर्वाणि वर्षाणि चरेद्प्रमत्तः,
तस्मान्मुनिः क्षिप्रमुपैति मोक्षम् ॥८॥

पदार्थान्वयः—छंदं–अपने अभिप्राय के निरोहेण–निरोध से मोक्खं–मोक्ष को उवेइ–प्राप्त होता है आसे–घोड़ा जहा–जैसे सिक्खिय–शिक्षित किया हुआ वम्मधारी–कवच के धारण करने वाला पुव्वाइं–पूर्वों तक वासाइं–वर्षों तक चरे–विचरे अप्पमत्तो–प्रमाद से रहित होकर तम्हा–इसलिए मुणी–साधु खिप्पं–शीघ्र मोक्खं–मोक्ष को उवेइ–पाता है।

मूलार्थ—कवच युक्त सुशिक्षित घोड़े की तरह इच्छाओं का निरोध करने वाला मुनि मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और जिस से कि वह पूर्वों और वर्षों तक अप्रमत्त रहकर संयम मार्ग में विचरता है इसलिए वह शीघ्र ही मोक्ष को पा लेता है।

टीका—जो जीव अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करने वाला और गुरुजनों की सेवा में तत्पर रहने वाला, उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाला होता है वह अन्त समय में मोक्ष गति को प्राप्त होता है, क्योंकि इच्छाओं का निरोध और गुरुजनों की सेवा ये दोनों ही काम, कर्मों की निर्जरा के हेतु हैं; इसलिए इनका फल मोक्ष बतलाया है।

जिस प्रकार कवच धारण किए हुए शिक्षित घोड़ा संग्राम में जाकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके संग्राम से छुटकारा पा लेता है और सुखपूर्वक रहता है, उसी प्रकार गुरुजनों की सेवा में रहनेवाला प्रमाद रहित मुनि भी अपनी इच्छाओं के निरोध से मुक्तदशा को प्राप्त कर लेता है। तथा जैसे अशिक्षित और अविनयी घोड़ा अपने स्वामी की इच्छा के प्रतिकूल, संग्राम भूमि में स्वच्छन्द रूप से इधर उधर घूमता फिरता वहीं पर मारा जाता है उसी प्रकार गुरुजनों की आज्ञा के प्रतिकूल चलने वाला स्वेच्छाचारी शिष्य भी संयम मार्ग से भ्रष्ट होकर संसार चक्र में ही भ्रमण करने लग जाता है।

इसी आशय से शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि हे शिष्य! तू पूर्वों और वर्षों तक अप्रमत्त रहकर संयम का आचरण कर। एवं जो मुनि प्रमाद रहित होकर संयम की आराधना करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। सारांश यह है कि इच्छाओं का निरोध और गुरुजनों की भक्ति ये दो ही मुख्य मार्ग हैं जिनका कि मोक्षपुरी के साथ सीधा सम्बन्ध है तथा इन पर चलनेवाला पुरुष शीघ्र से शीघ्र मोक्ष मन्दिर तक पहुंच जाता है।

यहां पर पूर्वों तक जो संयम के पालन करने का आदेश किया गया है इसका अभिप्राय यह है कि संयमवृत्ति का सद्भाव पूर्वों तक है, यह बात प्रमाणित हो सके।

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि अगर इच्छा के निरोध से मोक्ष की प्राप्ति होती है तो इच्छाओं का निरोध हम अन्त समय में कर लेंगे, अब इस विषय पर शास्त्रकार लिखते हैं—

स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासय वाइयाणं।
विसीयई सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥९॥

स पूर्वमेवं न लभेत पश्चात्,
एषोपमा शाश्वत वादिकानाम् ।
विषीदति शिथिले आयुषि,
कालोपनीते शरीरस्य भेदे ॥९॥

पदार्थान्वयः—सपुव्वमेवं-पहिले की तरह पच्छा-पीछे न लभेज्ज-प्राप्त न होवे एसोवमा-यह उपमा सासय-शाश्वत वाइयाणं-वादियों की है विसीयई-खेद पाता है सिढिले-शिथिल आउयम्मि-आयु के होने पर कालोवणीए-काल के समीप आने पर सरीरस्स-शरीर के भेए-भेद होने पर।

मूलार्थ—जैसा पहले लाभ प्राप्त हो सकता है वैसा पीछे नहीं-पीछे भी लाभ प्राप्त कर सकते हैं-यह उपमा-कथन तो शाश्वतवादियों की है। अतः आयु के शिथिल होने पर, काल के निकट आ जाने और शरीर के भेद होने पर फिर वह जीव खेद को प्राप्त होता है।

टीका—धर्म आदि शुभ कृत्यों का लाभ, जैसे पहली अवस्था मे हो सकता है वैसे पीछे की वृद्धावस्था मे नहीं। जो ओज और अंगस्फूर्ति आयु के प्रथम भाग में होती है वैसी आयु के उत्तर भाग मे नहीं होती। तथा जिस जीव ने पहले प्रमाद का अधिक सेवन किया है उसको पीछे से अप्रमादी होना अत्यन्त कठिन है, इससे सिद्ध हुआ कि आत्मनिग्रह आदि की जो शक्ति मनुष्य मे आयु के पहले भाग में होती है वह शक्ति पिछली वय में उपलब्ध नहीं होती। इसके अतिरिक्त 'हम आयु के अंतिम भाग में सब कुछ कर लेगे' यह विचार तो उन लोगों का है जो कि अपनी आयु के परिमाण को ठीक रूप से जानते हैं और निरुपक्रमी होते हैं। वे तो कदाचित् यह कह सकते हैं कि हम धर्म का अनुष्ठान बाद में कर लेगे। अभी तो हमारा आयु इतना शेष रहता है, क्योंकि वे लोग, निरुपक्रमी होने से अपने आत्मा को शाश्वत की भांति मानते हैं। परन्तु जिनका आयु क्षणविनश्वर है तथा उपक्रम युक्त है वे तो आयु के शिथिल हो जाने पर, कालचक्र के निकट आने और शरीर के भेद हो जाने पर अधिकतया खेद को ही प्राप्त होते हैं। अर्थात् शरीर के अन्तिम समय मे उनको

अपने प्रमादी जीवन पर अत्यन्त शोक और परिताप करना पड़ता है यथा— हा! हमने अपने जीवन में कोई भी सुकृत नहीं किया, तथा परलोक की इस भयंकर यात्रा मे उपस्थित होने वाली असह्य वेदनाओं से अपने को सुरक्षित रखने के लिए हमने कोई उपयोगी साधन सामग्री का अर्जन नहीं किया इत्यादि। इसलिए विचारशील पुरुषों को पहले से ही प्रमाद का परित्याग कर देना चाहिए ताकि पीछे से उन्हें अधिक पश्चात्ताप न करना पड़े। क्योंकि आयु के प्रथम भाग में उन्नति के प्रायः सभी प्रकार के संयोगों की उपलब्धि शक्य होती है और अन्तिम भाग मे उनका प्राप्त होना बहुत कठिन है।

तथा—आयु के, निरुपक्रम और सोपक्रम ये दो भेद माने गए हैं। इनमें से बाहिर के शस्त्र आदि निमित्तों से भी जिसका उच्छेद न हो वह निरुपक्रम आयु कही जाती है, एवं जो व्यक्ति बाह्यनिमित्तशस्त्र आदि के तीव्रघात से भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता किन्तु ठीक अपनी बन्धी हुई आयु को समाप्त करके ही जिसकी मृत्यु होती है उसको निरुपक्रमी या निरुपक्रम आयुवाला कहते हैं। इसके विपरीत बाहिर के निमित्तों अर्थात् शस्त्र आदि के घात से (आयुकर्म के शेष रहते हुए भी) जिसका विनाश हो जाय वह सोपक्रम आयु है, ऐसी क्षणिक आयु रखने वाले को सोपक्रमी कहा है। ये दोनों प्रकार के आयु निश्चय और व्यवहार नय से माने जाते हैं। परन्तु वर्तमान समय में अतिशय ज्ञान वाले आत्माओं का तो अभाव है और छद्मस्थ आत्मा को इतना ज्ञान होता नहीं जिससे कि वह अपनी आयु के विषय में किसी प्रकार का निश्चय कर सके। इसलिए विचारशील पुरुषों को उचित है कि वे धर्मकार्यों के अनुष्ठान में किसी प्रकार का प्रमाद न करें। और गाथा में आया हुआ 'एव' शब्द 'इव' के अर्थ में है। यहां पर इतना और स्मरण रहे कि श्री मरुदेवी आदि को जो अन्तकाल में केवल ज्ञान होकर मोक्ष की प्राप्ति हुई है वह अपवादरूप है। सब को ऐसा होना दुर्लभ ही नहीं किन्तु अत्यन्त दुर्लभ है।

यदि कोई शंका करे कि क्या पहिले की तरह पीछे, इच्छाओं का निरोध नहीं किया जा सकता। इस शंका का समाधान निम्नलिखित गाथा में किया जाता है—

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं,
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी,
अप्पाणरक्खी चरेऽप्पमत्तो ॥१०॥

क्षिप्रं न शक्नोति विवेकमेतुं,
तस्मात्समुत्थाय प्रहाय कामान्।
समेत्यलोकं समया महर्षिः,
आत्मानुरक्षी चरेदप्रमत्तः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—खिप्पं-शीघ्र नसकेइ-नहीं समर्थ विवेगं-विवेक को एउं-प्राप्त करने को तम्हा-इसलिए समुट्ठाय-धर्म का आचरण फिर करूंगा इस प्रकार के भावों को पहाय-छोड़ करके व कामे-काम भोगों को (छोड़ करके) समिच्च-विचार करके लोयं-लोक को समया-समभाव से महेसी-महर्षि अप्पाण-रक्खी-आत्मा की रक्षा करता हुआ अप्पमत्तो-अप्रमत्त होकर चरे-विचरे।

मूलार्थ—विवेक की शीघ्र प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिए 'धर्म का अनुष्ठान फिर कर लिया जावेगा' इस प्रकार के भावों और काम भोगादि विषयों का परित्याग करके धर्म के आचरण में प्रवुद्ध रहना चाहिए और समभाव से लोकस्थ प्राणी वर्ग का विचार तथा आत्मा की रक्षा करता हुआ महर्षि-साधु सदा अप्रमत्त रहकर संसार में विचरे।

टीका—इस गाथा के ग्रहणीय उपदेश का अभिप्राय यह है कि जरा और मृत्यु के अति निकट आजाने पर जीव को विवेक शक्ति का शीघ्र प्राप्त होना बहुत कठिन है। उसमें इतनी शक्ति का होना बड़ा दुर्लभ है जिससे कि वह अतिशीघ्र विवेक को प्राप्त कर सके। विवेक के द्रव्य और भाव से दो भेद हैं। बाहर के पदार्थों के संसर्ग का त्याग करना द्रव्य विवेक है और क्रोध, मान, माया आदि कषायों के त्याग को भाव विवेक के नाम से कथन किया है। अतः 'धर्म का आचरण पीछे से कर

लिया जायगा' इस प्रकार के भावों को त्याग देना चाहिए और धर्मानुष्ठान में लग जाना चाहिए। क्योंकि जिस प्राणी ने प्रथम अवस्था में धर्म का कुछ साधन नहीं किया उससे पिछली अवस्था में भी धर्म साधना की कोई आशा नहीं की जा सकती। इसलिए कामभोगादि विषयों का परित्याग करके विवेक को प्राप्त करने में यत्नशील बनना चाहिए। एवं लोकस्थ प्राणी समूह को प्राप्त करके अथवा उसका विचार करके समतावृत्ति से आत्मरक्षा में सावधान रहने वाला महर्षि—साधु सदा अप्रमत्त रहकर अपने संयम मार्ग में विचरण करे। यद्यपि गाथा मे 'समया' यह तृतीयान्त पद दिया गया है तथापि इसका शत्रु मित्र में समानभाव रखता हुआ संयम मार्ग में विचरे, ऐसा अर्थ करना। जब तक शत्रु और मित्र के लिए समान भाव नहीं तब तक संयम मे विचरना भी नहीं हो सकता। इसलिए प्राप्त हुए इस दुर्लभ समय को प्रमाद के वशीभूत होकर खो देने की भूल, विवेकी जनों को कभी न करनी चाहिए किन्तु जहां तक हो सके, शीघ्र से शीघ्र धर्मानुष्ठान में प्रवृत्त हो जाना चाहिए जिससे कि अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में भी शीघ्र ही सफलता मिल सके।

परन्तु प्रमाद का मूल कारण राग और द्वेष हैं इसलिए अब उसके त्याग के विषय मे लिखा जाता है—

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं,
अणेगरूवा समणं चरन्तं।
फासा फुसन्ति असमंजसं च,
न तेसि भिक्खू मणसा पउस्से ॥११॥

मुहुर्मुहुर्मोहगुणान् जयन्तं,
अनेकरूपाः श्रमणं चरन्तम्।
स्पर्शाः स्पृशन्त्यसमंजसं च,
न तेषु भिक्षुर्मनसा प्रदुष्येत् ॥११॥

पदार्थान्वयः—मुहंमुहुं—बार बार मोहगुणे—मोह गुण को जयन्तं—जीतता हुआ समणं—साधु चरंतं—संयम मार्ग में चलता हुआ तथा अणेगरूवा—अनेक प्रकार

फासा–स्पर्श फुसंति–स्पर्शित होते हैं असमंजसं–असाता के उत्पन्न करने वाले च–पादपूर्ति में है तेसि–उनमें मणसा–मन से भिक्खू–साधु न–नहीं पउस्से–द्वेष करे।

मूलार्थ—बार २ मोह गुणों पर विजय प्राप्त करने वाले, और संयम मार्ग पर चलने वाले साधु को कष्ट देने वाले अनेक प्रकार के अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्पर्श, स्पर्शित होते हैं अर्थात् असाता उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के उपसर्गों का साधु को सामना करना पड़ता है परन्तु संयमशील भिक्षु उनके साथ मन से भी द्वेष न करे–शरीर और वाणी की तो बात ही क्या है।

टीका—संयममार्ग पर चलने वाले साधु को, मोह उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध आदि गुणों का स्पर्श होता है। ये सब मोह गुण के नाम से कहे जाते हैं। सो इस गुण स्पर्श पर विजय प्राप्त करने वाला साधु संयम मार्ग में विचरता हुआ इनके अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्पर्श से तथा इनके द्वारा किसी प्रकार की असाता के उत्पन्न होने से उद्वेग को प्राप्त होकर इन पर किसी प्रकार की द्वेषभावना उत्पन्न न करे, किन्तु अपनी स्वभावसिद्ध समता और सहनशीलता से शान्तिपूर्वक इनका स्वागत करे। साधु की संयमवृत्ति का इसी में महत्व है कि वह अनुकूल अथवा प्रतिकूल किसी भी उपसर्ग के उपस्थित होने पर अपनी सहजशांति का कदापि भंग न होने दे।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि इन अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपसर्गों के आने पर मननशील साधु यह विचार करे कि मैंने इन उपसर्गों को सहन करने के लिए ही संयम को ग्रहण किया है, अतः मोहगुणों का शान्तिपूर्वक स्वागत करना मेरा मुख्य कर्तव्य है, यदि मैं इनसे पराजित हो गया तो मुझे अवश्य २ संसार-चक्र में भ्रमण करना पड़ेगा। इन गुणों का स्पर्श निस्सन्देह बुद्धि को व्याकुल और किं कर्तव्य विमूढ़ करनेवाला है, इसलिए वीतरागदेव के संयम प्रधान–साधु धर्म का पर्यालोचन करते हुए इन उपसर्गों के सामने मुझे कभी कायर नहीं बनना चाहिए किन्तु वीर परमात्मा की भांति इनके समक्ष अपनी शान्तमयी धीर वृत्ति का परिचय देकर इन पर विजय प्राप्त करना ही मेरी साधुचर्या का भूषण है। तात्पर्य कि इस प्रकार की अर्थयुक्त विचारधारा से अपने मन को स्वस्थ और सबल बनाकर इन उपसर्गों के प्रति शरीर और वाणी से तो क्या, मन से भी कोई

अनिष्ट चिन्तन न करे। यह तो अनुभव सिद्ध है कि जब किसी व्यक्ति ने आत्मा के स्वरूप को और उसके साथ लगे हुए कर्म फल के सम्बन्ध को भली भांति जान लिया, तो फिर उसका बाह्य की वस्तुओं पर किसी प्रकार का भी द्वेष लेश नहीं रहता।

अब मोहगुणों का कुछ सविस्तर वर्णन किया जाता है—

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा,
तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं,
मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोहं ॥१२॥

मन्दाश्चस्पर्शा बहुलोभनीयाः,
तथा प्रकारेषु मनो न कुर्यात्।
रक्षेत्क्रोधं विनयेत् मानं,
मायां न सेवेत प्रजह्याल्लोभम् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—मंदा-मन्द फासा-स्पर्श बहुलोहणिज्जा-बहुत लोभनीय तहप्पगारेसु-तथा प्रकारों में-वैसों मे मणं-मन न कुज्जा-न करे रक्खिज्ज-दूर करे कोहं-क्रोध को विणएज्ज-टाल देवे माणं-मान को मायं-कपट को न सेवेज्ज-सेवन न करे पहेज्ज-छोड़ देवे लोहं-लोभ को य-समुच्चय में।

मूलार्थ—बुद्धि को मन्द करने वाले और लोभनीय-लुभाने वाले ऐसे-स्पर्शों में साधु अपने मन को न लगावे। एवं क्रोध न करे, मान में न आवे, माया कपट सेवन न करे और लोभ को भी त्याग दे।

टीका—शब्दादि मोहगुण अपने अन्दर बड़ी विलक्षण शक्ति रखते हैं। बड़े २ विवेकशील पुरुष इनके आगे नतमस्तक हो गये हैं। बड़े २ प्रवीण पुरुषों को इन शब्दादि मोहगुणों ने अज्ञानता की गहरी खाई में धकेल दिया। जहां पर

ये विवेक और बुद्धि की सम्पत्ति को हरते हैं, वहां पर इनमें प्रलोभन शक्ति की भी कोई सीमा नहीं है। साधारण की तो बात ही क्या है। बड़े २ विचार और मननशील पुरुषों के चित्तों को भी अपनी मुट्ठी में ले लेना इनके लिए एक साधारण सी बात है। अतः इनकी–शब्दादि अनुकूल स्पर्शों की प्रलोभनता में विचारशील साधु को अपना मन कभी न लगाना चाहिए तथा क्रोध, मान, माया और लोभ का भी परित्याग कर देना चाहिए। क्योंकि शब्दादि गुणस्पर्शों के यही कारण हैं। अगर इन चारों पर विजय प्राप्त कर ली जाय तो शब्दादि मोह गुणों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये शब्दादि गुण तो उन आत्माओं के लिए कष्टप्रद या आकर्षक होते हैं जिनके लिए उक्त चारों कषाय उदय में आए हुए हों। अतः इन चारों कषायों पर विजय प्राप्त कर लेने से मोह के गुणों पर सहज में ही विजय लाभ हो सकता है। और इन पर विजय प्राप्त करने का सहज उपाय सूत्रकार ने यही बतलाया है कि इनके प्रति किसी प्रकार का राग द्वेष मूलक मानसिक क्षोभ नहीं करना चाहिए। राग और द्वेष ये दो ही मुख्य कषाय हैं। क्रोधादि चारों कषाय इन्हीं दो के अन्तर्गत हैं। क्रोध और मान द्वेष के अन्तर्गत हैं एवं माया और लोभ का राग में अन्तर्भाव है। अतः इनको जीत लेने से मोह के सभी गुण और क्रोधादि सभी कषाय सुतरां ही पराजित हो जाते हैं।

अब अन्तिम गाथा में कुछ अधिक जानने योग्य विषय का वर्णन किया जाता है—

जे संखया तुच्छ परप्पवाई,
ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो,
कंखे गुणे जाव सरीरभेउ ॥१३॥

त्ति बेमि।

इति असंखयं चउत्थं अज्झयणं समत्तं ॥४॥

ये संस्कृतास्तुच्छ परप्रवादिनः,
ते प्रेमद्वेषानुगताः परवशाः।
एतेऽधर्मा इति जुगुप्समानः,
कांक्षेत् गुणान् यावच्छरीरभेदः ॥१३॥
इति ब्रवीमि।

असंस्कृतं चतुर्थमध्ययनं समाप्तम् ॥४॥

पदार्थान्वयः—जे-जो संखया-संस्कृत तुच्छ-निःसार परप्पवाई-पर प्रवादी ते-वे पिज्जदोसाणुगया-प्रेम-राग द्वेष के अनुगत परज्झा-परवश एए-ये अहम्मे-अधर्म के हेतु त्ति-इस प्रकार जान कर दुगुंछमाणो-जुगुप्सा करता हुआ कंखे-चाहे गुणे-गुणों को जाव-जब तक सरीरभेउ-शरीर का भेद है।

मूलार्थ—जो तुच्छ-निस्सार संस्कृत के केवल प्रवादी मात्र हैं वे अधर्म के हेतु राग और द्वेष के वश में पड़े हुए हैं। इस प्रकार जानकर उनसे घृणा करता हुआ साधु जब तक शरीर का भेद नहीं हुआ तब तक ज्ञान आदि गुणों की ही अभिलाषा करता रहे।

टीका—इस गाथा मे अधिकतया बाह्य आडंबर के परित्याग की शिक्षा दी गई है। जो प्रवादी—परमतावलम्बी हैं वे वाग्जाल मे बड़े निपुण हैं अथवा संस्कृत भाषा के बोलने में बड़े पटु हैं एवं उन्हों ने अपने शास्त्रों का भी यथारुचि संस्कार किया हुआ है परन्तु यदि उन्हों ने अपने आत्मा को संस्कृत-शुद्ध नहीं किया तो उनका यह सब कुछ कथन व्यर्थ है। केवल वागाडम्बर मात्र होने से निस्सार एवं तुच्छ है। इसलिए ये प्रवादी केवल निस्सार वाणी के बोलनेवाले हैं। क्षणिक वाद के मानने वाले हैं और निर्दय हैं तथा राग द्वेष के वशीभूत होने से ये आत्मदर्शन से कोसों दूर हैं। अतः इनके विचारों को, अनेकान्त शैली के विपरीत, तत्व विद्या से रहित और अधर्म वर्द्धक समझ कर इनसे घृणा करता हुआ संयमशील साधु जब तक शरीर की स्थिति है—जब तक उसका भेद नहीं हुआ तब तक ज्ञानादि गुणों को अधिकाधिक रूप मे सम्पादन करने की उत्कट इच्छा करता रहे।

इस सारे प्रवाद का अभिप्राय यह है कि जो प्रवादी संस्कृत आदि भाषाओं के बोलने और वाद विवाद में तो बड़ी निपुणता प्राप्त किए हुए हैं किन्तु आत्मशुद्धि अथवा तत्त्व विचार मे निरे कोरे हैं, एवं हिंसा मार्ग के अनुगामी और क्षणिक वाद के उपदेष्टा हैं तथा काम शास्त्र के अवलम्बन से केवल ऐहिक विषय वासनाओं मे पड़े हुए अधिकांश मे नास्तिकता की ओर बढ़े हुए हैं सो इनकी रागद्वेष मूलक प्रवृत्ति को अधर्म वृद्धि का हेतु समझ कर इनसे घृणा करता हुआ जब तक शरीर का अन्त नहीं होता तब तक अप्रमत्त भाव से अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप आत्मगुणों को अधिकाधिक विकसित करने में ही प्रवृत्त रहे। यहां पर अन्यमतावलम्बियों से जो घृणा करने का साधु को उपदेश दिया गया है वह किसी द्वेष भाव से नहीं किन्तु मध्यस्थ भाव से ही है तथा साधु की यह घृणा निन्दारूप से नहीं किन्तु आत्मगुणों के विकासरूप से है यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए।

तथा गाथा मे आये हुए 'कांक्षेत्' क्रिया पदका केवल इच्छा करना ही अर्थ नहीं किन्तु इच्छानुकूल प्रवृत्ति करना ही उसका मुख्य तात्पर्य है।

त्तिबेमि। 'इति ब्रवीमि' इस प्रकार मै कहता हूं। इस पद की व्याख्या पूर्व में कर दी गई है अब दो बारा करने की आवश्यकता नहीं है।

असंस्कृतमध्ययन समाप्त।

अह अकाममरणिज्जं पञ्चमं अज्झयणं

अथाकाममरणीयं पञ्चममध्ययनम् प्रारभ्यते

चौथे अध्ययन में—मरण समय पर्यन्त भी इस जीव को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए इस विषय का सविस्तर वर्णन किया गया है सो प्रथम, मरण के भेदों का ज्ञान होना ज़रूरी है क्योंकि विना उसके ज्ञान के बालमरण का त्याग करके पंडित मरण मे पुरुषार्थ होना कठिन है इसलिए अब पांचवें अध्ययन में अकाम और सकाम मृत्यु का वर्णन किया जाता है। इसी उद्देश से इस अध्ययन का नाम 'अकाममरणीय, अध्ययन' रखा गया है उसकी आदिम गाथा यह है—

अण्णवंसि महोहंसि, एगे तिण्णे दुरुत्तरे ।
तत्थ एगे महापन्ने, इमं पण्हमुदाहरे ॥१॥

अर्णवान्महौघात्, एके तीर्णा दुरुत्तरात् ।
तत्रैको महाप्रज्ञः, इमं प्रश्नमुदाहृतवान् ॥१॥

पदार्थान्वयः—अण्णवंसि-संसार समुद्र से महोहंसि-महाप्रवाह वाले से दुरुत्तरे-दुष्कर तैरने वाले से एगे-एक तिण्णे-तर गए एगे-एक महापन्ने-महाबुद्धिमान् इमं-यह प्रत्यक्ष-वक्ष्यमाण पण्हं-प्रश्न को उदाहरे-कहता हुआ।

मूलार्थ—रागद्वेष से रहित हुए कई एक महापुरुष (गौतमादि) इस महाप्रवाह वाले दुस्तर संसार समुद्र से तर गए, उनमें महाप्राज्ञ-अतिशय बुद्धि वाले इस वक्ष्यमाण प्रश्न का इस प्रकार उत्तर देते हैं।

टीका—यह संसार समुद्र बड़ा ही दुस्तर है। इसके जन्म मरण रूप महाप्रवाह में पड़ा हुआ प्राणी भाग्य से ही बाहर निकल सकता है। रागद्वेषरूप अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले कोई २ महापुरुष ही इससे पार हो सकते हैं। अन्य साधारण मे इसके प्रवाह से बाहर निकलने की सामर्थ्य नहीं है। तथा इन पार होने वाले महापुरुषों में भी जो कोई, एक अद्वितीय बुद्धि रखने वाला—तीर्थंकर नाम कर्म वाला है एवं जो एक विजय में एक ही होता है वह इस पूछे हुए प्रश्न का इस प्रकार उत्तर देता है।

इसका तात्पर्य यह है कि रागद्वेष को जीत कर इस दुस्तर संसार समुद्र को पार करने वाले गौतमादि मुनियों में से एक महा बुद्धिमान् केवली या तीर्थंकर मृत्युसम्बन्धी इस प्रश्न का इस प्रकार उत्तर देते हैं। यद्यपि सूत्र में एक वचन में ही एक शब्द का प्रयोग किया गया है तथापि वह सामान्य अर्थ का बोधक होने से सामान्य केवली और तीर्थंकर दोनों का ही ग्राहक है। इसी प्रकार महाप्राज्ञ शब्द का भी अर्थ भेद से सामान्य केवली और तीर्थंकर भगवान् के साथ सम्बन्ध बड़ी सुगमता से किया जा सकता है।

तथा 'अण्णवंसि महोहंसि' इन शब्दों मे पंचमी के स्थान पर सप्तमी का प्रयोग सुप् व्यत्यय से जानना। और सर्वार्थसिद्धि नाम की टीका के कर्त्ता ने तो इनको पञ्चम्यन्त दिखलाते हुए अर्थ करने में इनको सप्तम्यन्त ही माना है। तथा दीपिकाकारने 'एगे' शब्द को प्रथमा का बहुवचन ही माना है।

अब उसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

सन्तिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया।
अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा ॥२॥

स्त इमे च द्वे स्थाने, आख्याते मारणान्तिके।
अकाममरणं चैव, सकाममरणं तथा ॥२॥

पदार्थान्वयः—इमे-ये संति-है दुवे-दो ठाणे-स्थान अक्खाया-कहे गए हैं मारणंतिया-मरण के समीप अकाममरणं-अकाम मरण च-और तहा-तथा सकाममरणं-सकाम मरण।

मूलार्थ—मरणान्त के ये दो स्थान कहे गए हैं एक अकाममरण-मृत्यु दूसरा सकाममरण-मृत्यु।

टीका—तीर्थंकर भगवान् ने मरण के समय, दो स्थान वर्णन किए हैं, एक अकाममृत्यु दूसरा सकाममृत्यु, इन्हीं का दूसरा नाम क्रम से बालमरण और पंडितमरण है। तात्पर्य कि मृत्यु के समय सभी जीव इन दो स्थानों के आश्रित होकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

(१) जो जीव अज्ञान की दशा में अज्ञान के वशीभूत होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं उनकी मृत्यु को बालमृत्यु, बालमरण या अकाममृत्यु कहते हैं (२) और जो जीव ज्ञानपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं उनकी यह ज्ञानगर्भित मृत्यु पंडित-मृत्यु, पंडित मरण या सकाममृत्यु कही जाती है। सूत्रकार ने अकाम और सकाम मरण से बालमृत्यु और पंडितमृत्यु का ही ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त प्राकृत भाषा में द्विवचन का अभाव होने से 'स्तः' इस द्विवचन के स्थान में 'संति' यह बहुवचन का प्रयोग करना ही युक्तियुक्त है।

अब बाल मरण और पंडित मरण की आवृत्ति का वर्णन करते हुए सूत्रकार लिखते हैं कि—

बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे।
पण्डियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥३॥

बालानामकामं तु, मरणमसकृद् भवेत्।
पण्डितानां सकामं तु, उत्कर्षेण सकृद् भवेत् ॥३॥

पदार्थान्वयः—बालाणं—मूर्खों का अकामं—अकाम तु—निश्चय से मरणं—मरण असइं—वार २ भवे—होता है पंडियाणं—पंडितों का सकामं—सकाम मरणं—मरण तु—विशेष में उक्कोसेण—उत्कृष्टता से सइं—एक वार भवे—होता है।

मूलार्थ—मूर्खों का अकाम मरण तो अनेक वार होता है किन्तु पंडितों का सकाम मरण तो उत्कर्ष से एक ही वार होता है।

टीका—जो सदा सद् के विचार से विकल हैं उन मूर्खों की अकाममृत्यु

तो अनेक बार होती है। क्योंकि विषयों के वशीभूत होकर वे बार २ जन्म मरण को प्राप्त करते रहते हैं। तथा सकपायी अथ च विषयानुरागी होने के कारण इच्छा न होते हुए भी उन्हें बार २ संसार चक्र में घूमना पड़ता है। इसके विपरीत जो सद् असत् का विचार करने वाले पंडित पुरुष हैं उनकी सकाममृत्यु उत्कृष्ट रूप से एक ही बार होती है, अर्थात् वे अपने संयमाराधन के प्रभाव से ऐसी मृत्यु को प्राप्त करते हैं जो दोबारा नहीं आती किन्तु मुक्त हो जाने से उनके लिए आगे को मृत्यु का अभाव हो जाता है, यदि उनका फिर दोबारा कहीं पर जन्म हो तब तो उनके लिए मृत्यु की भी कल्पना की जावे परन्तु कर्ममल का विनाश करके मोक्षगति को प्राप्त कर लेने से उनमें तो जन्म और मृत्यु दोनों की कल्पना असम्भव है, इसलिए पंडितों—ज्ञानियों की मृत्यु उत्कृष्टतया केवल एक बार ही होती है। तथा यहां पर इतना और भी समझ लेना चाहिए कि यह एक ही बार की मृत्यु की कल्पना केवल ज्ञानी—केवल ज्ञान प्राप्त किए हुए मुनि की अपेक्षा से है और शेष मुनियों की अपेक्षा से तो जघन्य से जघन्य उसको सात आठ भव करने पड़ते हैं। विचारशील पंडित पुरुषों की सकाममृत्यु के लिए केवल एक बार होने का जो उल्लेख है उसका कारण उनकी दृढ़तर चारित्रनिष्ठा है। क्योंकि वे दर्शन ज्ञान-पूर्वक चारित्र धर्म का सम्यक्तया अनुष्ठान करनेवाले होते हैं उनको मृत्यु का अणुमात्र भी भय नहीं रहता। उनकी सारी क्रियाएं कर्मों की निर्जरा करने वाली होती हैं वे ध्यानारूढ़ होकर केवल आत्मसमाधि में ही लीन रहते हैं, इसलिए अन्त समय में वे अनशन के द्वारा सकाममृत्यु को प्राप्त होते हुए कर्मों के बन्धन से सदा के लिए छूट जाते हैं उनकी यह मृत्यु अन्तिम मृत्यु होती है। इसके अतिरिक्त मृत्यु के समीप आने पर वे पंडित पुरुष बड़े प्रसन्न होते हैं और कायरों की तरह मृत्यु से वे कदापि भयभीत नहीं होते किन्तु शूरवीरों की तरह बड़े चाव से वे मृत्यु देवी का स्वागत करते हैं वास्तव में मृत्यु का भय तो उस आत्मा को होता है जिसने कि आगे के लिए पाथेयरूप किसी सुकृत का संचय न किया हो और जिन भव्य आत्माओं ने अपने जीवन में अधिक से अधिक पुण्य संचित कर रखा हो उनको भय किस बात का ? अतः सकाममृत्यु वाले पंडित पुरुषों के लिए मृत्यु का आगमन एक हर्ष का स्थान होता है। इस गाथा में आए हुए 'तु' शब्दों में से प्रथम का 'तु' निश्चयार्थक और दूसरा विशेषार्थक है।

अब प्रथम स्थान—बालमरण के विषय में कहते हैं—

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
कामगिद्धे जहा बाले, भिसं कूराइं कुव्वई ॥४॥

तत्रत्यं प्रथमं स्थानं, महावीरेण देशितम्।
कामगृद्धः यथाबालः, भृशं क्रूराणि करोति ॥४॥

पदार्थान्वयः—तत्थ-वहां-उन दोनों स्थानों में इमं-यह पढमं-प्रथम ठाणं-स्थान महावीरेण-महावीर स्वामी ने देसियं-प्रतिपदान किया है कामगिद्धे-काम में मूर्छित हुआ जहा-जैसे बाले-बाल भिसं-अतिशय कूराइं-क्रूर कर्म कुव्वई-करता है।

मूलार्थ—इन दोनों स्थानों में यह प्रथम स्थान, श्री महावीर स्वामी ने प्रतिपादन किया है। काम में मूर्छित हुआ २ बाल, जिस प्रकार अतिक्रूर कर्म करता है, उसी प्रकार मूर्ख जीव अकाममृत्यु को प्राप्त करता है।

टीका—अकाम और सकाम इन दोनों प्रकार की मृत्युओं में से प्रथम के अकाममृत्यु का वर्णन भगवान् महावीर स्वामी ने इस प्रकार किया है। जो अज्ञानी जीव काम वासनाओं मे अत्यन्त आसक्ति रखने वाले हैं और हिंसा आदि अतिक्रूर कर्मों का आचरण करने वाले हैं उन्हीं को यह मृत्यु प्राप्त होती है। जैसे अबोध बालक अपने हित और अहित को नहीं जानता उसी प्रकार अज्ञानी—मूर्ख जीव भी अपने हित का कुछ भी विचार न करता हुआ हिंसा आदि क्रूर कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है, जिसका कि फल अकाममृत्यु है। तथा जैसे तंदुल नाम का मत्स्य मन से किए हुए अतिक्रूर कर्म के प्रभाव से सातवें नरक में जाता है उसी प्रकार कामभोगादि विषयों में अत्यन्त आसक्त और निर्दयता के साथ अतिक्रूर कर्म के करने वाला मूर्ख अकाममृत्यु को प्राप्त होता है। यद्यपि गाथा में मृत्यु शब्द का उल्लेख नहीं किया गया तो भी उसका अध्याहार कर लेना आवश्यक है क्योंकि इस गाथा मे दिए गए उपमावाचि यथा शब्द की तभी सार्थकता हो सकती है जब कि उससे सम्बन्ध रखने वाले तथा शब्द का अध्याहार किया जावे और

तथा शब्द अपनी उपयोगिता के लिए अर्थ की संगति मे मृत्यु शब्द के अध्याहार की अपेक्षा रखता है तब इस शृंखला से यह अर्थ निकला कि बाल मूर्ख जिस प्रकार के कर्म करता है उसी प्रकार की उसकी मृत्यु होती है।

अब कामभोगासक्त पुरुष की विचारणा और उसके कर्म विपाक के विषय में कुछ विस्तार से कहते हैं—

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥५॥

यो गृद्धः कामभोगेषु, एकः कूटायगच्छति ।
न मयादृष्टः परलोकः, चक्षुर्दृष्टेयं रतिः ॥५॥

पदार्थान्वयः—जे–जो गिद्धे–मूर्छित कामभोगेसु–काम भोगों मे एगे–कोई एक कूडाय–कूट नरक मे गच्छई–जाता है न–नहीं मे–मैंने दिट्ठे–देखा परेलोए–परलोक चक्खुदिट्ठा–चक्षुदृष्ट इमा–यह रई–रति ।

मूलार्थ—जो पुरुष कामभोगों में आसक्त है वह नरक को जाता है। परन्तु वह कहता है कि परलोक तो मैंने देखा नहीं और यह कामभोगादि विषयक जो रति–आनन्द है वह चक्षुदृष्ट अर्थात् अनुभवसिद्ध है।

टीका—इस गाथा मे कामभोगादि विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखने वाले पुरुष के जघन्य विचारों और उसकी विषयासक्ति के भावी फलोदय का दिग्दर्शन कराया गया है। जो पुरुष, शब्द स्पर्शादि रूप कामभोगों में अत्यन्त मूर्छित है वह नरक को जाता है। क्योंकि विषयों में बढ़ी हुई अत्यन्त आसक्ति के कारण उसके विवेकचक्षु बिलकुल बन्द हो जाते हैं। इसी कारण से उसको न तो कोई परलोक ही नज़र आता है और नाही शुभाशुभ कर्म के फल की ओर ही उसका ध्यान जाता है किन्तु ऐहिक विषय भोगों को ही वह अपने जीवन का एक मात्र सार समझता हुआ उन ही में लीन रहता है। यदि कोई विचारशील आस्तिक पुरुष उसे उपदेश दे कि हे भद्र ! तू इस प्रकार के असाधुजनोचित कर्मों का आचरण करना छोड़ दे। तेरे जैसे भद्र पुरुष को इस प्रकार के अनुचित काम

शोभा नहीं देते । भद्र पुरुषों को तो वे ही काम करने चाहिएं कि जिनका परलोक में सुन्दर फल मिले। इन कर्मों का फल तो नरक है । तब इसके उत्तर में वह कहने लगता है कि परलोक को तो मैंने कभी नहीं देखा । अतः उसको मानना या उस पर विश्वास करना कोरी मूर्खता है, और कामभोगादि विषयों मे जो सुख है वह प्रत्यक्ष है । इस प्रत्यक्ष सिद्ध सुख का परित्याग करके चिरभावी काल्पनिक सुख की आशा करना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है, इसलिए मैं नहीं चाहता कि इस प्राप्त हुए विषयजन्य सत्य सुख को छोड़ कर आपके उपदेश से असिद्ध अथ च अप्रसिद्ध पारलौकिक सुख विशेष की आशा करूं। अगर सच पूछा जाय तो कामभोगादि विषय ही सुख के मूलसाधन हैं। इन्हीं में वास्तविक सुख और आनन्द निहित है । इत्यादि ।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में आए हुए चतुर्थ्यन्त कूट शब्द (कूडाय-कूटाय) से ग्रहण किए जाने वाले कूट पदार्थ के द्रव्य और भाव को लेकर दो भेद किए गए हैं जैसे कि-द्रव्यकूट और भावकूट । इनमें द्रव्यकूट उसको कहते हैं कि जो मांसाहार का लोलुपी होकर हरिण आदि पशुओं के बन्धन का उपाय करता है, और मिथ्या भाषण आदि में प्रवृत्त होना, भावकूट कहलाता है । सो जो व्यक्ति कामभोगादि विषयों में अधिक मूर्छित है-अधिक आसक्ति रखने वाला है उसमें तो ये दोनों प्रकार के कूट निवास करते हैं क्योंकि उसमें मांसाहार की लोलुपता भी है और विषयपूर्ति के लिए मिथ्या भाषण भी । इस प्रकार दोनों कूट वहां पर विद्यमान हैं। इस जघन्य प्रवृत्ति का परिणाम जैसा कि ऊपर बताया गया है-नरक है । और इस सूत्र की दीपिका नाम की टीका में लिखा है कि 'कूडाय-कूटाय यह विभक्ति विपर्यय से द्वितीया के स्थान में चतुर्थी का प्रयोग किया गया है, यथा कूटाय-कूटं गच्छति । कूट उसका नाम है कि जहां पर प्राणी अधिक से अधिक दुःख पाते हैं तात्पर्य-नरकस्थान-नरकभूमि का नाम कूट है, जोकि विषयी, दम्भी, दुराचारी और पापी पुरुषों से ही अधिक परिचय रखता है ।

ऊपर मूल तथा व्याख्या में बतलाए गए कामभोगासक्त मनुष्य के विचारों को अब निम्नलिखित गाथा के द्वारा और भी स्पष्ट करते हैं—

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥६॥

हस्तगता इमे कामाः, कालिका येऽनागताः ।
को जानाति परोलोकः, अस्ति वा नास्ति वा पुनः ॥६॥

पदार्थान्वयः—हत्थागया-हाथ में आए हुए इमे-ये कामा-काम भोग जे-जो अणागया-भविष्य में होने वाले हैं वे कालिया-कालिक हैं, सन्देहयुक्त हैं को-कौन जाणइ-जानता है परेलोए-परलोक अत्थि-है वा-अथवा नत्थि-नहीं वा-परस्पर अर्थ में पुणो-फिर (कौन वर्तमान काल के भोगों को छोड़े ।)

मूलार्थ—काम भोग तो इस समय पर हस्तगत हैं और जो आगामी काल में-भविष्यत् काल में मिलने वाले हैं वे सन्दिग्ध हैं-सन्देहयुक्त हैं । कौन जानता है कि परलोक है अथवा नहीं तो फिर हाथ में आए हुए इनको क्यों छोड़ना चाहिए ?

टीका—इस गाथा में कामादि विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखने वाले पुरुष के स्वार्थसाधक विचारों का वर्णन किया गया है । धर्मपतित विषयी पुरुषों के प्रायः इसी प्रकार के विचार होते हैं जिनका कि इस गाथा में उल्लेख किया गया है । वे कहते हैं कि ये प्रत्यक्षसिद्ध कामभोगादि विषय तो इस समय हमारे हस्तगत हैं—हमारे स्वाधीन और वशीभूत हो रहे हैं, परन्तु जो भविष्य में—आगामी जन्म में मिलने वाले हैं वे संदेहयुक्त हैं । सम्भव है वे मिलें अथवा ना भी मिलें क्योंकि परलोक के विषय में ही अभी तक सन्देह है । कौन जानता है कि परलोक है भी या कि नहीं ? जबकि अभी तक परलोक का निश्चय ही नहीं हुआ तो फिर इन हस्तगत काम भोगों का क्यों त्याग किया जाय ? प्राप्त को छोड़ कर अप्राप्त की आशा करनी कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है । इसलिए वर्तमान काल में प्राप्त हुए कामादि विषयों में आनन्द मान कर रमण करना चाहिए । परलोक आदि की कल्पना का कोई मूल्य नहीं । इसकी सत्ता पर विश्वास करना निरी भूल है । आज तक परलोक से न तो कोई आया और न ही आज तक उसकी किसी ने खबर दी । यह बात सर्वानुभव सिद्ध है कि प्रतिदिन लाखों प्राणी यहां पर मृत्यु को प्राप्त

होते हैं परन्तु उनमें से आज तक एक भी परलोक से वापिस नहीं आया। यदि परलोक होता तो उनमे से कोई न कोई तो अवश्य वापिस आना चाहिए था मगर आया नहीं। इससे प्रतीत होता है कि वास्तव में परलोक कोई है ही नहीं। इसलिए हम अपने आत्मा को सन्देह के गढ़े मे धकेलना नहीं चाहते और ना ही परलोक के चमत्कारी सुखों के प्रलोभन मे पड़ कर, यथेष्टरूप से प्राप्त हुए इस विषयभोगजन्य ऐहिकसुख से वंचित रहना चाहते हैं इत्यादि।

विषयभोगासक्त पुरुषों के यह विचार कहां तक ठीक हैं इसको विस्तृत आलोचना तो कहीं प्रसंगवश अन्यत्र की जावेगी परन्तु यहां पर संक्षेप से इतना विचार कर लेना बहुत ज़रूरी है कि संसार में जो हम भेद देखते हैं इसका कारण क्या है ? मनुष्यों की प्रकृति, मनुष्यों का ऐश्वर्य और उनके सुख दुःख में तरतमता यह सब कुछ किस आधार को लेकर है ? यदि इस पर गम्भीरता पूर्वक कुछ विचार किया जाय तो इस विषमता का मूल कर्मों की विभिन्न विभिन्न प्रकृतियों में निहित है। कर्मों के उच्चावच प्रकृति भेदों में ही इस विश्व की विविधताएं ओतप्रोत हैं। जब यह बात सत्य है तब तो परलोक की सत्ता विना किसी और प्रयत्न के स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य कि जब वर्तमान समय के जीवों में उपलब्ध होने वाली शरीर-ऐश्वर्य और सुख दुःख सम्बन्धी विषमता का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं मिलता और इनका आकस्मिक होना भी प्रमाणसिद्ध नहीं तब इस विषमता का कोई अज्ञात कारण अवश्य होना चाहिए। वह अज्ञात कारण सिवाय 'कर्म प्रकृति' के अन्य कोई बन नहीं सकता अतः सिद्ध हुआ कि संसार की विचित्रता का आधार, इस जीव के साथ अनादि प्रवाह से लगे हुए कर्माणु या कर्म संस्कार हैं। बस इतना कहते अथवा मानते ही परलोक का अस्तित्व अपनी प्रभुता को लिए हुए सामने आ खड़ा होता है। अब रही परलोक दर्शन की बात, सो उसके लिए तो विवेकचक्षु, ज्ञानचक्षु, या दिव्यचक्षुओं की आवश्यकता है। इन चर्मचक्षुओं से उसके दर्शन नहीं हो सकते। तथा जो लोग केवल विषय लालसाओं की पूर्ति को ही अपने मानव जीवन के उद्देश की इतिश्री समझे बैठे हैं उनको परलोक की सत्ता के विषय में सन्देह होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। क्योंकि अज्ञान के प्रगाढ़ पर्दे ने उनके विवेक चक्षुओं को विलकुल ढांप रक्खा है। उनकी सारासार विवेचिनी बुद्धि विलकुल कुंठित हो चुकी है, परन्तु इससे परलोकके-

अस्तित्व में कोई क्षति नहीं पहुंच सकती। उल्लूक को यदि सूर्य का अस्तित्व स्वीकृत नहीं है तो इससे सूर्य का अभाव कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार दिव्यचक्षु-ज्ञानचक्षु रखने वालों के लिए परलोक की सत्ता तो निर्विवाद है, परन्तु केवल चर्मचक्षु रखने वाले विषयलोलुपी पुरुष यदि उसको न देख सकें तो यह उनही का पूर्ण दुर्भाग्य समझना चाहिए। विषयानुरागी पुरुषों को परलोक के अस्तित्व का ज्ञान हो जाने पर भी वे विषयों से विरक्त नहीं होते किन्तु अपनी इस जघन्य प्रवृत्ति का येन केन उपायेन समर्थन ही करते है। निम्नलिखित गाथा में इसी भाव को व्यक्त किया गया है—

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई।
काम भोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥७॥

जनेन सार्धं भविष्यामि, इति बालः प्रगल्भते।
काम भोगानुरागेण, क्लेशं सम्प्रतिपद्यते ॥७॥

पदार्थान्वयः—जणेण-लोगों के सद्धिं-साथ होक्खामि-होऊंगा इइ-इस प्रकार से बाले-मूर्ख पगब्भई-बोलता है कामभोगाणुराएणं-काम भोग के अनुराग से केसं-क्लेश को संपडिवज्जई-प्राप्त होता है।

मूलार्थ—मैं भी लोगों के साथ ही होऊंगा-इस प्रकार से मूर्ख बोलता है और काम भोग के अनुराग से क्लेश को प्राप्त होता है।

टीका—परलोक आदि के विषय में सन्देह रखने या अविश्वास रखने-वाले कामभोगासक्त पुरुष को यदि किसी प्रकार से परलोक का अस्तित्व मनवा भी दिया जाय अर्थात् परलोक की स्वीकृति के लिए वह विवश भी हो जाय तो भी उसकी प्रवृत्ति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त बढ़े हुए विषयानुराग के कारण धृष्टता का अवलम्बन करता हुआ और अपनी बालिशता-मूर्खता का परिचय देता हुआ यूं कहने लगता है कि-इस संसार में कामभोगादि विषयों का निरन्तर सेवन करने वालों और उनसे सर्वथा विरक्त रहनेवालों की संख्या का यदि अवलोकन किया जावे तो विषयों के त्यागी पुरुषों की संख्या

तो अंगुलियों पर गिने जाने लायक भी नहीं किन्तु विपरीत इसके विषयानुरागी पुरुषों की संख्या लाखों और करोड़ों से भी अधिक है। जबकि लाखों और करोड़ों पुरुष इधर ही प्रवृत्त हो रहे हैं तो मुझे भी उन्हीं के साथ रहना चाहिए, और जो गति उनकी होगी वही मेरी भी होजायगी क्योंकि मैं उनके साथ हूं। तथा संसार का प्रत्यक्ष न्याय भी इसी पक्ष का समर्थन करता है अर्थात् जिस ओर मनुष्यों का समुदाय अधिक हो वही पक्ष सत्य एवं युक्तियुक्त माना जाता है तथा सन्देहयुक्त पुरुष को भी उधर ही झुकना पड़ता है इसलिए विषयों से विरक्त रहने वाले इने गिने पुरुषों का साथ देने की अपेक्षा अधिकाधिक संख्या रखने वालों की पंक्ति में ही जाकर बैठना अधिक लाभदायक है इत्यादि । परन्तु इस प्रकार के विचारों का मूल, विषयभोगों मे बढ़ी हुई आसक्ति ही है। इस विषयानुरक्ति के कारण ही वह इस प्रकार के जघन्य और धृष्टतापूर्ण विचारों को प्रस्तुत करने का साहस करता है अगर वास्तव मे देखा जाय तो इस प्रकार के विचार, मनुष्य को निस्सन्देह अधोगति में ले जाने वाले हैं। इनका भावी फल नरक की घोर यातनाओं के सिवाय और कुछ नहीं। विष तो केवल इस जन्म में एक ही दफ़ा मारने वाला है परन्तु विषयरूप विष तो इतना भयंकर है कि वह इस जीव को जन्म २ में मारता रहता है। साधारण जीव अपनी मुग्धता के कारण इस रहस्य को नहीं समझ सकते, और जो विचारशील पुरुष हैं उन्होंने विषयों के भयंकर परिणाम को अच्छी तरह समझ लिया है। अतएव वे इनके सम्बन्ध को सर्वथा हानिकारक समझ कर इनसे सदा दूर रहने का ही प्रयत्न करते हैं। परन्तु ऐसे साधु पुरुष बहुत ही विरले होते हैं। विषयों की स्वभाव सिद्ध प्रवृत्ति को रोकना कोई साधारण सी बात नहीं है। इसके लिए अधिक वीर्य और अधिक पराक्रम की आवश्यकता है। इसलिए धर्म के आचरणीय मौलिक सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने वाले महापुरुषों की संसार में सदा ही न्यून संख्या देखी जाती है, और विषयी पामर पुरुषों से तो प्रायः सारा ही संसार भरा पड़ा है, अतः धर्माचरण के विषय में संख्या के आधिक्य को महत्व देना भी निरी मूर्खता है। लाखों घूक मिल कर भी यदि सूर्य के अभाव की घोषणा करें तो क्या वह माननीय हो सकती है। इसी प्रकार लाखों पामर पुरुषों की तीव्र विषयाभिरुचि से धार्मिक जीवन के उच्चतम आदर्श की कभी अवहेलना नहीं हो सकती। इसलिए जो व्यक्ति

संसार में विषयी जनों की अधिक संख्या को देखकर उनके निन्दनीय आचरणों का अनुसरण करना ही अधिक आनन्दप्रद और जीवन का मुख्यसार मानते हैं वे बिलकुल भ्रांत एवं प्रतिक्षण अधःपतन की ओर जाने वाले हैं। उनकी यह प्रवृत्ति लोक और परलोक दोनों में ही क्लेश के देने वाली है। विषयासक्त कामी पुरुषों को इस लोक में जो नाना प्रकार की विडंबनाएं तथा यातनाएं भोगनी पड़ती हैं उनका अनुभव तो प्रत्यक्ष होने से प्रायः न्यूनाधिक रूप में सभी को है परन्तु परलोक में इनकी नरक सम्बन्धी तीव्र वेदनाओं की तो कल्पना करते हुए भी शरीर कांपने लगता है। अगर सत्य कहा जाय तो सारे पापों का मूलकारण विषय-पिपासा है। इसी के निमित्त से काम क्रोधादि कषायों का उदय होता है और कषायों के उदय होने से मनुष्य अनेक प्रकार के अनर्थ करने में प्रवृत्त होता है, तथा अनर्थ की प्रवृत्ति में ही दुःख का प्रसव होता है अतएव जो विचारशील पुरुष हैं वे इन विषयों को दूर से ही नमस्कार कर देते हैं।

अब विषयलोलुप पुरुषों की प्रवृत्ति का वर्णन किया जाता है—

तओ से दण्डं समारभई, तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगामं विहिंसई ॥८॥

ततः स दण्डं समारभते, त्रसेसु स्थावरेषु च।
अर्थाय चानर्थाय, भूतग्रामं विहिनस्ति ॥८॥

पदार्थान्वयः—तओ–उसके बाद से–वह दण्डं–दंड का समारभई–आरम्भ करता है तसेसु–त्रसों में य–और थावरेसु–स्थावरों में अट्ठाए–अर्थ के लिए य–अथवा अणट्ठाए–अनर्थ के लिए भूयगामं–प्राणी समूह का विहिंसई–विनाश करता है।

मूलार्थ—इसके अनन्तर वह कामभोगासक्त पुरुष त्रस और स्थावर जीवों में दंड का आरम्भ करता है अर्थात् मन, वचन और शरीर के द्वारा त्रस, स्थावर जीवों को दंड देता है, तथा सप्रयोजन और विना प्रयोजन ही प्राणी समुदाय की हिंसा करता है।

टीका—इस गाथा में विषय कामना से प्रेरित हुए मनुष्य की हिंसक प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। कामभोगादि विषयों में अधिक आसक्ति रखने वाला पुरुष मन, वाणी और शरीर के द्वारा त्रस और स्थावर जीवों को दंड देता है, अर्थात् मन के द्वारा, वचन के द्वारा और शरीर के द्वारा उनका वध करता है तथा धन के निमित्त अथवा और किसी प्रयोजन के निमित्त से तथा बिना किसी प्रयोजन के भी प्राणी समूह की हिंसा में प्रवृत्त हो जाता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि कामी–विषयी पुरुषों की हिंसक प्रवृत्ति में अर्थानर्थ का ज़रा भी विचार नहीं होता। वे प्रयोजन होने पर भी हिंसा करते हैं और विना प्रयोजन के भी उनको जीवों के वध में किसी प्रकार की ग्लानि अथवा संकोच नहीं होता, क्योंकि कामभोगादि विषयों में बढ़ी हुई आसक्ति के कारण उनके हृदय से दया के भाव एक दम उठ जाते हैं। और हृदय के दयाशून्य होने से उनके वचन और शरीर भी कठोर हो जाते हैं, और उनकी प्रवृत्ति में दयालुता के स्थान मे घातकता आ जाती है। जिसका कि पारलौकिक फल दुःख के सिवा और कुछ नहीं है।

इस गाथा मे आए हुए 'तस–त्रस' शब्द से दो इन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रिय तक के जीवों का ग्रहण है और थावर–स्थावर शब्द से पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पांचों का ग्रहण है। तथा—'भूयगामं–भूतग्रामः' शब्द का 'भूताः प्राणिनस्तेषां ग्रामः–समूहः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा प्राणिसमूह अर्थ करना उचित है।

अब फिर इसी विषय को अर्थात् विषयी पुरुषों की प्रवृत्ति को कुछ और स्पष्ट किया जाता है—

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥९॥

हिंस्रो बालो मृषावादी, मायी च पिशुनः शठः।
भुञ्जानः सुरां मांसं, श्रेयो इदमिति मन्यते ॥९॥

पदार्थान्वयः—हिंसे–हिंसा करने वाला बाले–मूर्ख मुसावाई–मृषा–झूठ बोलने वाला माइल्ले–मायावी, छल कपट करने वाला पिसुणे–चुग़ली करने वाला

सढे-शठ, धूर्त भुंजमाणे-खाता हुआ सुरं-मदिरा मंसं-मांस को एयं-यह सेयं-श्रेय है ति-इस प्रकार मन्नई-मानता है।

मूलार्थ—हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, छल कपट करने वाला, चुगली करने वाला और धूर्तता करने वाला तथा मदिरा और मांस खाने वाला, मूर्ख-अज्ञानी जीव इन उक्त कामों को श्रेष्ठ-अच्छा समझता है।

टीका—इस गाथा में अकाममृत्यु वाले जीवों के आचारों-कुत्सित आचरणों का दिग्दर्शन कराया गया है। तात्पर्य कि अकाममृत्यु को प्राप्त होने वाला मूर्ख-अज्ञानी जीव हिंसा करता, झूठ बोलता, छल कपट करता, चुगली करता, धूर्तता करता तथा मदिरा और मांस खाता हुआ भी, अपने इन कुत्सित आचरणों को श्रेष्ठ समझता है।

ऊपर दिए गए विवरण का भावार्थ यह है कि मनुष्य जीवन का प्रधान लक्ष्य आत्मशुद्धि है। और आत्मा की शुद्धि का आधार-आहार और व्यवहार की शुद्धि है। जिस प्राणी का आहार और व्यवहार शुद्ध नहीं है उसकी आत्मा का शुद्ध होना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए सूत्रकार ने ऊपर दी हुई गाथा में आहार और व्यवहार सम्बन्धि दोषों का वर्णन रूपान्तर से किया है। जिसका आहार दुष्ट है और व्यवहार भी दोषपूर्ण है उस जीव को अकाममृत्यु की प्राप्ति अवश्यंभावी है। इसके विपरीत आहारशुद्धि के साथ व्यवहार को भी शुद्ध रखने वाला जीव अपने आत्म विकास में उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ एक दिन सकाममृत्यु को प्राप्त कर लेता है। आहार की शुद्धि अथवा अशुद्धि खाद्याखाद्य पदार्थों के चुनाव पर निर्भर है। जो पदार्थ भक्षण किए हुए बुद्धि में सात्विकता पैदा करने वाले हैं वे भक्ष्य हैं और जिनके भक्षण से चित्त में तामसिकता या विकृति पैदा हो वे अभक्ष्य हैं, परन्तु आत्मा पर जिन पदार्थों के भक्षण से दोषपूर्ण अधिक प्रभाव पड़ता है उनमें प्रधानरूप से मदिरा और मांस है। मदिरा और मांस के उपयोग से आत्मा के ज्ञान और चारित्र गुणों पर विरोधी संस्कारों का बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। और उसकी उत्क्रान्ति में अधिक से अधिक रुकावट पड़ती है। वह अधिक शुद्ध और लघु होने के बदले अधिक अशुद्ध और भारी होता जाता है तथा उत्थान के बदले वह पतन की ओर

ही अधिक प्रयाण करने लगता है इसलिए आत्मशुद्धि-की अभिलाषा रखने वाले जिज्ञासु पुरुषों को इन दोषपूर्ण दोनों पदार्थों (मदिरा और मांस) का सर्व प्रकार से परित्याग कर देना चाहिए । आहारशुद्धि के साथ व्यवहारशुद्धि की भी बड़ी भारी आवश्यकता है। आत्मा के अन्तरंग मल को निकालने के लिए व्यवहार-शुद्धि के समान कोई उत्तम क्षार नहीं है। और व्यवहारशुद्धि को यथार्थरूप में समझने के लिए व्यवहारगत दोषों को समझने की अधिक आवश्यकता है। यद्यपि व्यवहारगत दोष अनेक हैं और उन सारों का वर्णन भी अशक्य है तथापि यहां पर संक्षेप से उल्लेख किए गए वे दोष केवल पांच हैं यथा—हिंसा, झूठ, माया, पिशुनता और शठता। इन पांचों में ही प्रायः अन्य सभी दोषों का समावेश शक्य है। हिंसा सारे ही दोषों की जननी है, और झूठ में सारे ही अनर्थों का समावेश हो जाता है। माया–छल कपट मे कोई जघन्य काम बाकी नहीं रहता। एवं पिशुनता (चुगली करना) भी गुप्त दोषों के समूह को आमंत्रण देने में एक ख़ासे विज्ञापन का काम देती है, और अब रही शठता–धूर्तता की बात, सो इसका महत्व तो लोकप्रसिद्ध है। लाखों उपदेश करने पर भी बात वहीं की वहीं ? इसलिए आत्मा के अभ्युदय की इच्छा रखने वाले जिज्ञासु पुरुष को, आत्मा में मलिनता का सम्पादन करने वाले इन उक्त दोषों को दूर करके आहार के साथ व्यवहार की भी शुद्धि करते हुए अपनी आत्मा मे निर्मलता पैदा करनी चाहिए।

यहां पर धर्मात्मा पुरुषों के लिए त्याग करने योग्य, ऊपर बतलाए गए दोषों का शृङ्खलाबद्ध क्रमिक सम्बन्ध भी समझ लेना चाहिए और वह इस प्रकार है। जो हिंसक है वह झूठ भी बोलता है और जो झूठ बोलने वाला है वह मायावी–छल कपट करने वाला भी होता है, तथा जो मायावी है उसका पिशुन-चुगलखोर होना ज़रूरी है और निन्दक, चुगलखोर के लिए धूर्त बनना तो बिलकुल साधारण बात है, अब जब कि धूर्तता का प्रवेश होगया तो फिर खान पान सम्बन्धि मर्यादा को अवकाश कहां ? मर्यादा को तो तभी तक स्थान प्राप्त था जब तक धूर्तता का आगमन नहीं हुआ था बस, अब तो मदिरा और मांस दोनों के व्यवहार में कुछ भी आपत्तिजनक प्रतीत नहीं होता क्योंकि अब किसी से किसी प्रकार की लज्जा नहीं रही, यह इनका क्रमिक सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त गाथा मे आए हुए 'माइल्ले' शब्द मे मायी के अर्थ में 'ल्ल' प्रत्यय आया हुआ है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन किया जाता है—

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागो व्व मट्टियं ॥१०॥

कायेन वचसा मत्तः, वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु ।
द्विधा मलं संचिनोति, शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—कायसा-काया से वयसा-वचन से मत्ते-मत्त है वित्ते-वित्त-धन में य-और इत्थिसु-स्त्रियों में गिद्धे-मूर्छित हैं दुहओ-दोनों प्रकार से मलं-कर्म मल को संचिणइ-संचित करता है व्व-जैसे सिसुणागो-शिशु नाग मट्टियं-मट्टी को ।

मूलार्थ—यह अज्ञानी जीव, मृत्तिका को एकत्रित करने वाले शिशुनाग की तरह दोनों प्रकार से कर्म मल को संचित करता है क्योंकि शरीर और वाणी से वह मत्त है और धन तथा स्त्रियों में वह मूर्च्छित है ।

टीका—इस गाथा में भी उसी अज्ञानी-मूर्ख जीव की प्रवृत्ति का कुछ दिग्दर्शन कराया है । अबोध प्राणी अपनी शारीरिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के द्वारा शिशुनाग की भांति दोनों प्रकार से कर्ममल का संचय करता है । वह अपने शरीर की बलवती शक्ति पर गर्व करता हुआ अपने आप को एक मदोन्मत्त हस्ति के समान समझता है तथा वाणी की प्रगल्भता पर अभिमान करता हुआ अपनी स्तुति से ही तृप्त नहीं होता और मन के विषय में उसकी गरिमा इतनी बढ़ी हुई है कि अपने समान धारणाशक्ति वाला वह और किसी को समझता ही नहीं । इसी प्रकार उसकी धन विषयक आकांक्षा का भी कोई पारावार नहीं तथा कामपूर्ति की साधनभूत स्त्रियों में उसकी बढ़ी हुई आसक्ति का अन्दाज़ा लगाना यदि असम्भव नहीं तो कठिनतर अवश्य है । सो उसकी यह रागद्वेषमूलक प्रवृत्ति दोनों प्रकार—अभिमान और आसक्तिरूप से अष्टविध कर्ममल को संचित करती

१ यह द्वीन्द्रियजाति के जीवों में से है इसको केंचुआ और गंडोया भी कहते हैं । यह जीव चतुर्मास के दिनों में प्रायः अधिक देखने में आता है ।

है। जिस प्रकार शिशुनाग नाम का जीव मृत्तिका को दोनों प्रकार मुख और शरीर से ग्रहण करता है उसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भी दोनों प्रकार से अर्थात् रागद्वेष से कर्ममल को एकत्रित करता है तथा जैसे सूर्य के आताप से शरीर के सूखने पर उसकी—शिशुनाग की मृत्यु हो जाती है उसी प्रकार रागद्वेष के वशीभूत हुआ २ यह जीव अष्टविध कर्मों के मल को संचित करके सूर्याताप के समान, कर्मोदय के समय अत्यन्त दुःख को भोगता है। शिशुनाग नाम के जीव की यह प्रकृति है कि वह मुख से मट्टी को खाने के इलावा अपने शरीर को भी मट्टी से वेष्टित कर लेता है परन्तु सूर्य के अत्यन्त उष्ण ताप से उसका शरीर सूखकर फट जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार प्रमादी मूर्ख जीव भी रागद्वेप की परिणति से कर्ममल को एकत्रित करने के बाद उसके विपाकोदय से पूर्ण दुःखी होता है।

'कायसा' शब्द 'कायेन' का प्रतिरूप है और 'वित्त' शब्द से अदत्त और परिग्रह का भी ग्रहण कर लेना चाहिए तथा हिंसा आदि का उल्लेख, पूर्व गाथा मे कर ही दिया गया है, एवं स्त्री शब्द से कामपूर्ति के सभी साधनों का ग्रहण अभिप्रेत है। तब इसका सारांश यह निकला कि अज्ञानीजीव, हिंसा आदि पांचों आस्रवों के द्वारा द्विविध रागद्वेष की परिणति से कर्ममल को आत्मप्रदेशों में सचित करके, उसके विपाकोदय से दुःख को प्राप्त होता है।

ऐसे व्यक्ति की रोग आदि के आ जाने पर क्या दशा होती है, अब इस विषय का वर्णन किया जाता है—

तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पई।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥११॥

ततः स्पृष्टः आतंकेन, ग्लानः परितप्यते।
प्रभीतः परलोकात्, कर्मानुप्रेक्ष्य आत्मनः ॥११॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर पुट्ठो—स्पर्शित हुआ आयंकेणं—आतंक से, शूल से गिलाणो—रोगी होकर परितप्पई—खेद को पाता है पभीओ—डरता हुआ परलोगस्स—परलोक से अप्पणो—अपने किए हुए कम्माणुप्पेहि—कर्मों को देखनेवाला।

मूलार्थ—उसके अनन्तर वह अज्ञानी जीव किसी आतंकरोग विशेष के स्पर्श से रोगी होकर परिताप-खेद को पाता है, अतएव अपने आचरित कर्मों का अन्वेषण करता हुआ परलोक से भयभीत होता है।

टीका—विषय वासनाओं के उद्रेक से अधिक कर्म मल का संचय करने वाले जीव की रोग आदि के उपस्थित होने पर जो दशा होती है, उसका चित्र इस गाथा में बड़ी ही सुन्दरता से खींचा गया है। उस अबोध प्राणी पर जब कभी किसी प्राणघातक शूल आदि रोग का आक्रमण होता है तो वह उससे रुग्ण होकर बहुत खेद को प्राप्त होता है, इतना ही नहीं किन्तु अपने कर्मों का अवलोकन करता हुआ वह परलोक से भी बड़ा भयभीत होता है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी विकट रोग के आक्रमण से दुःख की मात्रा जब अधिक हो जाती है तब यह प्राणी अपने पूर्वकर्त्तव्य का अवलोकन करता हुआ बहुत पश्चात्ताप करता है, और परलोक सम्बन्धि यातनाओं को स्मरण करके और भी अधिक भयभीत होता है, क्योंकि उसकी पूर्व की जीवनचर्या का पर्यालोचन करने से उसमें दुष्कृत्यों के अतिरिक्त एक भी सुकृतानुष्ठान देखने में नहीं आता। तब वह पश्चात्ताप करता हुआ आर्त्त और गद्गद् स्वर से कहता है कि हा! मैंने अपने इस अमूल्य जीवन को व्यर्थ ही खोया। कामभोगादि विषय वासनाओं की तीव्र अग्निज्वाला मे अपने यौवनकाल की आहुति देकर मैंने बड़ा ही अनर्थ किया। उस समय में यदि मैंने कुछ भी सुकृत कर्म का उपार्जन किया होता तो मुझे आज अवश्य थोड़ा बहुत आश्वासन मिलता तथा अपने पूर्वार्चित दुष्कर्मों का ख्याल आने से वह और भी संत्रस्त होता है। जिस प्रकार एक चोर कठोर राजदंड से अधिक त्रास को प्राप्त होता है ठीक वही दशा, पाप कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले इस जीव की होती है। जब वह अपने किए हुए दुष्ट कर्मों पर दृष्टि डालने के बाद उनके फल विपाक पर विचार करता है तब वह एक दम भयभीत हो जाता है और अपने किए हुए पर भूरि २ पश्चात्ताप करता है। इसलिए सज्जन पुरुषों को चाहिए कि वे अपने इस अमूल्य जीवन को विषय वासनाओं के तर्पण में व्यय करने के स्थान में उसे श्रेयसम्पादक सुकृत कर्मानुष्ठान में लगाने का ही अधिक प्रयत्न करें।

यहां पर सूत्रकार ने रोगावस्था में होने वाले पश्चात्ताप के रूप में अष्टविध

कर्मों के यत्किंचित्-लेशमात्र फल का दिग्दर्शनमात्र करा दिया है जिससे कि पापाक्रान्त आत्मा को इसी जन्म में आगे-परलोक मे जाने से डर रहे।

तथा 'परलोगस्स' यह पंचमी के स्थान मे जो षष्ठी का प्रयोग किया है वह प्राकृत के नियम के आधार पर है। और आतंक उस रोग का नाम है जो सद्यः प्राणों का घात करने वाला हो, जैसे शूल आदि भयंकर रोग हैं। इस प्रकार के भयंकर रोग, शरीर से आत्मप्रदेशों को बहुत जल्दी अलग कर देते हैं।

अब इसी विषय को प्रकारान्तर से कुछ और स्पष्ट किया जाता है—

सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥१२॥

श्रुतानि मया नरकस्थानानि, अशीलानां च या गतिः।
बालानां क्रूर कर्मणाम्, प्रगाढा यत्र वेदना ॥१२॥

पदार्थान्वयः—सुया-सुने हैं मे-मैंने नरए-नरक में ठाणा-स्थान असीलाणं-दुष्टों की च-और जा-जो गई-गति है बालाणं-मूर्खों कूरकम्माणं-क्रूर कर्म वालों को पगाढ़ा-अत्यन्त जत्थ-जहां पर वेयणा-वेदना है।

मूलार्थ—मैंने कुंभीपाक आदि नरक स्थानों को सुना है और शीलरहित दुष्ट पुरुषों की जो गति होती है वह भी सुनी है, जहां पर कि क्रूर कर्म करने-वाले अज्ञानी जीव अत्यन्त वेदना को प्राप्त होते हैं।

टीका—इस गाथा में दुष्ट कर्मों के फलस्वरूप नरक आदि यातनाओं का सामान्यरूप से दिग्दर्शन कराया गया है। किसी भयंकर रोग के आक्रमण से दुःख को प्राप्त हुआ २ जीव अपने किए हुए अशुभ कृत्यों पर पश्चात्ताप करता हुआ यह सोचने लगता है कि मैंने नरकस्थानों-कुंभीपाक, वैतरणी नदी, आसिपत्र और कूटशामली आदि वृक्ष इत्यादि को सुना है और दुष्ट आचार वाले जीवों की जो गति होती है उसका भी मेरे को ख्याल है, जहां पर कि क्रूर कर्मों-हिंसा, चोरी आदि का अनुष्ठान करने वालों को अतिभयंकर उष्ण शीत और वध, ताड़ना आदि की अति कठोर वेदनाओं को सहन करना पड़ता है। सो मैं भी सदाचार से रहित

और हिंसा आदि महाक्रूर कर्मों का आचरण करने वाला हूं। कहीं ऐसा न हो कि मुझे भी उसी स्थान का अतिथि बनना पड़े जहां पर कि दुष्टाचारी पुरुषों को जाना पड़ता है और जाकर दुःखमयी तीव्र यातनाएं सहन करनी पड़ती हैं। इत्यादि सोचने पर उसका हृदय दुःख बहुलता का स्मरण करके एक दम कांप उठता है। इसलिए विचारशील पुरुषों को उचित है कि वे रोग और मृत्यु के आकस्मिक आक्रमण का ध्यान रखते हुए अनार्योचित कर्मों से अपनी आत्मा को सर्वथा अलग रखने की कोशिश करें, ताकि उनको फिर किसी प्रकार के पश्चात्ताप करने का अवसर ही प्राप्त न हो।

अब प्रकारान्तर से फिर इसी विषय की चर्चा करते हैं—

तत्थोववाइयं ठाणं, जहा मेयमणुस्सुयं।
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो, सो पच्छा परितप्पई ॥१३॥

तत्रौपपातिकं स्थानम्, यथा मयानुश्रुतम्।
यथाकर्मभिर्गच्छन्, सः पश्चात् परितप्यते ॥१३॥

पदार्थान्वयः—तत्थ–उस नरक मे उववाइयं–उत्पन्न होने के ठाणं–स्थान जहा–जैसे मेयं–मैंने अणुस्सुयं–सुने हुए हैं आहाकम्मेहिं–कर्मों के अनुसार गच्छंतो–जाता हुआ सो–वह, बाल–अज्ञानी जीव पच्छा–पीछे से परितप्पई–शोक करता है।

मूलार्थ—उस नरक में उत्पन्न होने के स्थान जैसे मैंने सुने हैं-श्रवण के द्वारा निश्चित किए हुए हैं, अपने कर्मों के अनुसार उन स्थानों में जाने-वाला यह अबोध प्राणी, पीछे से शोक करता है।

टीका—नरक में उत्पन्न होने के कुंभी आदि अनेक स्थान हैं। उन स्थानों मे अपने किए अशुभ कर्मों के प्रभाव से नरक में जाकर उत्पन्न होने वाला जीव, आयु के क्षय होने पर इस प्रकार का पश्चात्ताप करता है–हा! मुझे धिक्कार है! मैंने कुछ भी सुकृत नहीं किया, इस दुर्लभ मानव जीवन का मैंने कुछ भी मूल्य न समझा। मैं बड़ा ही मन्दभागी हूं अस्तु अब मैं क्या बना सकता हूं, इत्यादि २ और अन्त समय में नरक की आनुपूर्वी के आने से–नरक की गति का ध्यान आने

से वह अबोध प्राणी, एक दम भयभीत हो उठता है। उसकी आंखों के सामने नरक का सारा दृश्य आकर उपस्थित हो जाता है, उस भयानक दृश्य को देखकर वह तुरंत बोल उठता है कि–अरे छुड़ाओ, और देखो ये मुझे मारते हैं। मुझे डराते हैं, हाय! अब तो इन्होंने मुझे मार ही डाला, इत्यादि प्रलाप करता है, और कभी २ तो मृत्यु समय के उस भयानक दृश्य से अत्यन्त घबरा कर वह ऐसी राट पाड़ने लगता है कि पास में बैठे हुए अन्य लोग भी भयग्रस्त होकर इधर उधर देखने लगते हैं। शास्त्रानुसार यह बात सर्वथा अनुभव सिद्ध है कि कर्मों के अनुसार इस जीव ने जिस गति का बन्ध किया होता है तथा मृत्यु के बाद इस जीव ने जिस गति में जाना है, मृत्यु के समय उस गति की आनुपूर्वी–उस गति का दृश्य-उसके सामने आकर उपस्थित हो जाता है। इसीलिए कई एक प्राणी मृत्यु के समय पर उक्त प्रकार का व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त गाथा में जो 'उववाइयं' औपपातिकम् शब्द दिया है उसका कारण केवल इतना ही है कि नरक में उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त बाद ही नरक सम्बन्धी यातनाओं का आरम्भ हो जाता है, और गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य और पशु आदि को कुछ समय के बाद में वेदना की उत्पत्ति होती है। तथा नारकी जीवों की उत्पत्ति भी कुंभी आदि में ही होती है। नरक कुंभी यह शब्द भी इसीलिए अधिक प्रसिद्ध है कि वह नरकगति में जाने वाले प्राणियों का उत्पत्ति स्थान है।

अब इसी भाव को एक दृष्टान्त के द्वारा स्फुट करते हैं—

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई॥१४॥

यथा शाकटिको जानन्, समं हित्वा महापथम्।
विषमं मार्गमुत्तीर्णः, अक्षेभग्ने शोचति॥१४॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे सागडियो–शकट–गड्डे वाला जाणं–जानता हुआ समं–समतल, भली प्रकार महापहं–राजमार्ग को हिच्चा–त्याग कर विसमं–विषम मग्गं–मार्ग को ओइण्णो–चल पड़ा अक्खे–शकट की धुरी के भग्गम्मि–टूट जाने पर सोयई–सोचता है।

मूलार्थ—जैसे कोई एक गड्डे वाला, राजमार्ग को भली प्रकार से जानता हुआ भी उसको छोड़कर विषममार्ग की ओर चल पड़ा परन्तु उस विषममार्ग से जाने पर उसके गड्डे की धुरी टूट गई। उसके टूट जाने पर वह सोचता है—शोक करता है।

टीका—इस गाथा में सन्मार्ग का परित्याग करके कुमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति की क्या दशा होती है, इस बात को विषम पथगामी शाकटिक के दृष्टान्त से बहुत ही अच्छी तरह पर समझाया गया है। जैसे कोई एक गाड़ीवान जानता हुआ भी कंकर पत्थर आदि से रहित राजमार्ग का परित्याग करके विषम—कंकर पत्थर वाले मार्ग—जो कि गाड़ी आदि के चलने लायक नहीं है—से चलने पर, मार्ग में शकट की धुरी के टूट जाने से शोक को प्राप्त होता है और अपने किए हुए विपरीत काम पर पश्चात्ताप करता है (इसी प्रकार सन्मार्ग का परित्याग करके कुमार्ग पर चलने वाले अबोध प्राणी को भी अन्त में पश्चात्ताप ही करना पड़ता है) इतने कथन का सम्बन्ध अग्रिम गाथा के साथ है।

राजमार्ग से जाने वाला शाकटिक सदा निर्भय रहता है। उसे किसी चोर या लुटेरे आदि का भय नहीं रहता, तथा राजमार्ग से चलने वाले गड्डे भी निरुपद्रव अपने नियत स्थान पर पहुंच सकते हैं और उनके टूटने आदि का भी किंचित् भय नहीं रहता, इसके विपरीत विषममार्ग से जाना एक प्रकार से विपत्तियों को मोल लेना है, उसमें चोर डाकू आदि का भी भय रहता है, गड्डे आदि के टूटने का तो खतरा है ही, इसलिए राजमार्ग को छोड़ कर किसी विकट-मार्ग से जाने वाले को अवश्य कष्ट भोगना पड़ेगा। मार्ग के मध्य में गाड़ी के टूट जाने पर उसके स्वामी को कितना शोक होगा, कितना पश्चात्ताप होगा और कितने कष्ट का सामना करना पड़ेगा इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। विषममार्ग पर चलने के कारण जिस समय उसके—शाकटिक के—गड्डे की धुरा टूट जाएगी उस वक्त उसको अपनी अज्ञता पर कितना विषाद होगा वह अपनी जानबूझ कर की हुई भूल पर अपने आप को कितना धिक्कारेगा तथा भविष्य में अपने इस कटुक अनुभव को जनता के समक्ष वह किस रूप में रखेगा इसका ज्ञान भी सहज ही में हो सकता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि सुमार्ग

का परित्याग करके कुमार्ग में जाने से कार्य की असिद्धि-क्लेश-भय-दुःख और सन्ताप की प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं है। इसलिए सज्जन पुरुषों को किसी दशा में भी सन्मार्ग का परित्याग नहीं करना चाहिए।

अब इसी दृष्टान्त के उपनय का वर्णन करते हैं—

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥१५॥

एवं धर्मं व्युत्क्रम्य, अधर्मं प्रतिपद्य।
बालो मृत्यु मुखं प्राप्तः, अक्षे भग्न इव शोचति ॥१५॥

पदार्थान्वयः—एवं-इसी प्रकार धम्मं-धर्म को विउक्कम्म-छोड़ करके अहम्मं-अधर्म को पडिवज्जिया-ग्रहण करके बाले-अज्ञानी मच्चुमुहं-मृत्यु के मुख को पत्ते-प्राप्त हुआ अक्खे-धुरी के भग्गे-टूटने पर व-अर्थात् गाड़ीवान की तरह सोयई-सोचता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार धर्म को छोड़ और अधर्म को ग्रहण करके, मृत्यु के मुख में पहुंचा हुआ अज्ञानी जीव धुरी के टूट जाने पर गाड़ीवान की तरह शोक-सन्ताप को प्राप्त होता है।

टीका—यहां पर धर्म, राजमार्ग और अधर्म विषममार्ग है, एवं जीव शाकटिक-गाड़ीवान, शरीर गाड़ी और अक्ष-धुरा आयु है, तब इस गाथा का संक्षेप से भावार्थ यह हुआ कि राजमार्ग के त्याग और विषममार्ग के अनुसरण से मार्ग में जैसे अक्ष-धुरा के टूट जाने पर संकट में आया हुआ गाड़ीवान, शोक को प्राप्त होता है उसी प्रकार धर्म के त्याग और अधर्म के अंगीकार से जीवन यात्रा में आयुरूप शकटधुरा के टूट जाने पर मृत्यु के मुख में पहुंचा हुआ अज्ञानी जीव भी निस्सन्देह शोक और सन्ताप को प्राप्त होता है। तात्पर्य कि जिस प्रकार संकट-ग्रस्त गाड़ीवान अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देता हुआ अधिक से अधिक पश्चात्ताप करता है उसी प्रकार मृत्यु के मुख में आने वाले अज्ञानी जीव को भी अपने जघन्य आचरणों का ख्याल करके कल्पनातीत शोक और पश्चात्ताप करना पड़ता है। अपनी विषयभोगों में व्यर्थ खोई हुई युवावस्था को स्मरण में लाने से उसे जो

खेद होता है तथा अपने अतीत कुत्सित आचारों को देखकर उसे जो ग्लानि उत्पन्न होती है उसकी कल्पना कोई अतिशय ज्ञानी ही कर सकता है। इसके अनन्तर उस बालजीव की जो दशा होती है, अब उसका वर्णन करते हैं—

तओ से मरणन्तम्मि, बाले संतस्सई भया।
अकाममरणं मरई, धुत्तेव कलिणा जिए ॥१६॥

ततः स मरणान्ते, बालः संत्रस्यति भयात्।
अकाममरणं म्रियते, धूर्त इव कलिना जितः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—तओ–उसके अनन्तर से–वह बाले–मूर्ख जीव मरणंतम्मि–मृत्यु के समीप आने पर भया–भय से संतस्सई–त्रास को प्राप्त होता है अकाम-मरणं–अकाम मृत्यु से मरई–मरता है धुत्तेव–जुआरी की तरह कलिणा–एक दाव से जिए–जीता हुआ अर्थात् हारा हुआ।

मूलार्थ—उसके अनन्तर वह अबोध प्राणी मृत्यु के आ जाने पर भय से बहुत त्रास पाता है और एक ही दाव में हार जाने वाले जुआरी की तरह शोक-सन्ताप को प्राप्त होता हुआ अकाम मृत्यु से मरता है।

टीका—द्यूत क्रीड़ा में अपनी सारी सम्पत्ति को हार देने से एक जुआरी की जो शोचनीय दशा होती है, उसको अपनी चिरकालार्जित विभूति के लिए जो पश्चात्ताप होता है, तथा अपनी वर्तमानकालीन हीन दशा को देख कर जो ग्लानि होती है, और चिरकाल से चली आने वाली अपनी असाधारण प्रतिष्ठा के खोए जाने से उसके मन में जो खेद होता है, एवं भविष्य के अन्धकारमय जीवन की कल्पना करते हुए जिस भय और त्रास का दृश्य उसके सम्मुख उपस्थित होता है, उसका अनुमान बड़ी सरलता से किया जा सकता है। परन्तु ठीक ऐसी ही चिन्तनीय दशा उस मूढ़ प्राणी की होती है कि जिसने अपने जीवनधन या आत्मविभूति को विषयक्रीड़ा में खो दिया हो। अपने पापों के प्रायश्चित्त में, फल भोगते समय उसे जो पश्चात्ताप होता है तथा मृत्यु के समीप आने पर उसको जिस प्रकार के भय और त्रास का सामना करना पड़ता है, एवं नरकजन्य वेदनाओं के

स्मरण से उसके हृदय में जिस प्रकार की आकुलता का प्रादुर्भाव होता है उसकी कल्पना किसी विशिष्ट ज्ञानी के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। तथा मृत्यु की समीपता के समय में होने वाले भय, त्रास और आर्त्तनाद के कारण से ही उसका अकाममृत्यु से मरण होता है।

यहां पर इतना और भी विचार कर लेना आवश्यक है कि अज्ञानी जीव को जो शोक–पश्चात्ताप होता है वह मृत्यु आने के समय पर होता है या नरकगति में जाने पर होता है। इस प्रश्न का निर्णय इस प्रकार से किया जा सकता है कि सामान्यरूप से तो सूत्रकार का आशय नरक में पश्चात्ताप करने का ही प्रतीत होता है, अर्थात् अज्ञानी जीव नरक में जाकर दुःख को प्राप्त होता हुआ मनुष्य और देवलोक के सुखों का स्मरण करके अत्यन्त खेद को प्राप्त होता है, परन्तु वृत्तिकार के 'शोचन्नेव म्रियते' शोक करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है–लिखने से मृत्यु के समय पर भी शोक का होना ठीक प्रतीत होता है। इसलिए मृत्यु के समय में और नरक की प्राप्ति के बाद दोनों ही स्थानों में शोक का होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। और 'मरणं' यह तृतीया के अर्थ मे द्वितीया का प्रयोग आर्ष होने से समझना चाहिए।

अब उक्त विषय का–अकाममृत्यु का निगमन करते हुए शास्त्रकार सकाममृत्यु के विषय में लिखते हैं—

एयं अकाममरणं, बालाणं तु पवेइयं।
इत्तो सकाममरणं, पण्डियाणं सुणेह मे ॥१७॥

एतदकाममरणं, बालानां तु प्रवेदितम्।
इतः सकाममरणम्, पण्डितानां शृणुत मे ॥१७॥

पदार्थान्वयः—एयं–यह अकाममरणं–अकाममृत्यु बालाणं–अज्ञानी जीवों का पवेइयं–प्रतिपादन किया है इत्तो–इसके अनन्तर पंडियाणं–पंडितों के सकाम-मरणं सकाममरण को मे–मुझ से सुणेह–सुनो ? यहां 'तु' शब्द एवार्थक है।

मूलार्थ—यह अज्ञानी जीवों के अकाममरण का प्रतिपादन कर दिया गया। अब इसके अनन्तर पंडितों के सकाममरण को मुझ से सुनो।

टीका—अकाममृत्यु और सकाममृत्यु का संक्षेप से इतना ही अर्थ है कि

जो मृत्यु विषयों के वशीभूत होकर विना इच्छा के प्राप्त हो उसे अकाम मृत्यु कहते हैं और जो मृत्यु विषयादि से निवृत्त होकर इच्छापूर्वक संलेखनायुक्त और अनशनव्रत के साथ हो उसका नाम सकाममृत्यु है। इसी अभिप्राय से अकाम मृत्यु के साथ बाल और सकाममृत्यु के साथ पंडित शब्द का सम्बन्ध किया गया है, जिसका सीधा अर्थ यह है कि अकाममृत्यु बाल-अज्ञानी जीवों की और सकाममृत्यु पंडितों-संयमशील पुरुषों की होती है। अथवा यूं कहें कि बालजीवों की मृत्यु को अकाममरण और विचारशील पुरुषों की मृत्यु को सकाममरण कहते हैं। सो बालजीवों के अकाममरण का सविस्तर वर्णन तो ऊपर कर दिया है और अब पंडित पुरुषों के सकाममरण का प्रतिपादन आगे की गाथाओं में किया जाता है जिसके श्रवण के लिए शास्त्रकार श्रोताओं को अभिमुख करते हुए कहते हैं कि अकाममृत्यु का जो स्वरूप तीर्थंकर भगवान् और उनके उत्तराधिकारी गणधरों ने प्रतिपादन किया है उसी के अनुसार मैंने वर्णन कर दिया है और अब सकाममृत्यु के स्वरूप को आप लोग सुनें।

अब निम्नलिखित गाथा में पुण्यात्माओं की सकाममृत्यु का वर्णन करते हैं।

मरणंपि सपुण्णाणं, जहा मेयमणुस्सुयं।
विप्पसण्णमणाघायं , संजयाणं वुसीमओ ॥१८॥

मरणमपि सुपुण्यानां, यथामये तदनुश्रुतम्।
विप्रसन्नमनाघातं , संयतानां वश्यवताम् ॥१८॥

पदार्थान्वयः—मरणंपि—मरण भी सपुण्णाणं—पुण्यवानों का जहा—जैसे मेयं—मुझसे उसको—अकाममृत्यु को अणुस्सुयं—श्रवण किया है विप्पसन्नं—प्रसन्नचित्त अणाघायं—आघातरहित संजयाणं—साधुओं का वुसीमओ—इन्द्रियों को वश करने वालों का।

मूलार्थ—जिस प्रकार आप लोगों ने मुझ से अकाममृत्यु को सुना है उसी प्रकार पुण्यात्मा जितेन्द्रिय साधुओं के आघातरहित—हिंसारहित और प्रसन्नचित्त से सम्पादित किये जाने वाले सकाममृत्यु को भी आप लोग सुनें।

टीका—इस गाथा में सकाममृत्यु का स्वरूप और उसके अधिकारी का वर्णन किया गया है। सकाममृत्यु का होना चित्त की प्रसन्नता और हृदय के दयामय

भावों की शुद्धपरिणति पर निर्भर है। इसके लिए पुण्यात्मा जितेन्द्रिय साधु पुरुष ही अधिकतया उपयुक्त—उपयोगी हो सकते हैं। अन्य साधारण व्यक्ति को सकाम-मृत्यु का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। तात्पर्य कि मृत्यु को जो स्वयं आमंत्रित करते हैं, और मृत्यु के समय जिनका चित्त बिलकुल प्रसन्न रहता है, तथा मृत्यु के आने पर जिनका हृदय परमशांत और गम्भीर समुद्र की भांति शांति और दया के भावों की उर्मियों से सदा भरा हुआ रहता है उन पुण्यवान् आत्मनिग्रही साधु महात्माओं को ही इस सकाममृत्यु की प्राप्ति शक्य होती है। कारण कि प्रसन्नचित्तता और दयालुता का सारा निर्भर (दारोमदार) मन के निग्रह करने पर है, इसलिए जिन लोगों ने अपने मन और इन्द्रियों पर काबू पाया हुआ है वे ही महापुरुष इस सकाममृत्यु को संप्राप्त कर सकते हैं क्योंकि मृत्यु के समय पर भी इनके चित्त में किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। मरण के समय आगामी जन्म में प्राप्त होने वाली शुभगति का दृश्य इनके सन्मुख होता है। उसको देखकर ये महापुरुष बड़े प्रसन्न होते हैं। इनका प्रशान्तचित्त पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर समुद्र की भांति मृत्यु का स्वागत करते हुए वलियों उछलने लगता है, अधिक क्या कहें हर्ष के मारे इनका प्रशान्तचित्त मृत्यु के लिए अधीर हो उठता है। यह मृत्यु सकाममृत्यु कहलाती है इसके अधिकारी पुण्यवान् ही हैं अर्थात् पुण्यवानों को ही यह प्राप्त होती है, और किसी को नहीं। जैसे कि शास्त्रकारों का कथन भी है—'काले सुपत्तदाणं, संमत्तविसुद्धि वोहिलाभं च। अंतेसमाहिमरणं अभव्वजीवा न पावंति' अनुकूल समय में सुपात्रदान, सम्यक्त्वपूर्वक बोधिका लाभ, और अंतिम समय में समाधिमरण ये तीनों बातें अभव्य जीवों को प्राप्त नहीं होतीं। और गाथा में आए हुए तत् शब्द से पूर्व प्रकरणकथित अकाममृत्यु का परामर्श करके यह अर्थ बनता है कि जो आपने मुझ से अकाममृत्यु के स्वरूप को सुना है—निश्चित किया है वह बालजीवों की होती है और जो सकाममृत्यु को सुना है वह पुण्यवानों की होती है। यही बात वृत्तिकार ने लिखी है यथा—तदपिप्राक् सूत्रोपात्तमनुश्रुतम-वधरितं भवद्भिरितिशेषः 'इतः सकाममरणमित्युपक्षेपस्तत्रमत्सकाशाद्यन्मरणंभवद्भिः श्रुतं तत्पुण्यानामेवभवतीत्यर्थः'। तथा 'वश्यवतां' के प्रतिरूप में जो वुसीमओ' शब्द का प्रयोग किया है वह आर्ष होने से जानना चाहिए। और पुण्य शब्द का अर्थ 'पवित्रात्मा' है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसु गारिसु।
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो ॥१९॥

नेदं सर्वेषां भिक्षूणां, नेदं सर्वेषां अगारिणाम्।
नानाशीला अगारस्था, विषमशीलाश्च भिक्षवः ॥१९॥

पदार्थान्वयः—इमं–यह सकाममरण सव्वेसु–सभी भिक्खूसु–भिक्षुओं की न–नहीं है इमं–यह मृत्यु सव्वेसु–सभी गारिसु–गृहस्थों की नहीं होती है नाणा–नाना प्रकार के सीला–नियमों वाले अगारत्था–गृहस्थ होते हैं य–और इसके विपरीत विसमसीला–विषमशील वाले भिक्खुणो–भिक्षु हैं।

मूलार्थ—यह सकाममृत्यु सभी भिक्षुओं को प्राप्त नहीं होती और न सब गृहस्थों को प्राप्त होती है क्योंकि नाना प्रकार के नियमों वाले गृहस्थ हैं और उनसे विषम आचार वाले भिक्षु हैं।

टीका—इस गाथा में पंडित मृत्यु के अधिकारियों का विवेचन किया गया है अर्थात् इस मृत्यु को न तो सभी भिक्षु प्राप्त कर सकते हैं और न सब गृहस्थ उसे पा सकते हैं। किन्तु कोई एक भिक्षु और कोई एक भाग्यशाली गृहस्थ प्राप्त कर सकता है। जब कि जैनसिद्धान्त के अनुसार नानाविध व्रत, नियम और प्रत्याख्यान रखने वाले गृहस्थों और उनकी अपेक्षा अत्यन्त विषम आचार रखने वाले साधुओं में भी यह पंडितमृत्यु किसी एक को ही प्राप्त हो सकती है, सब को उसकी प्राप्ति नहीं होती तो फिर अन्यतीर्थियों की–अन्य संप्रदाय वालों की तो बात ही क्या है? जहां पर कि सर्वविरति का ही अभाव है। जब कि गृहस्थों के नियम भी अनेक प्रकार के हैं, और साधुओं के आचार भी विभिन्न प्रकार के हैं तब सभी भिक्षुओं और सभी गृहस्थों को पंडितमृत्यु की समानरूप से प्राप्ति नहीं हो सकती। यद्यपि पांचों महाव्रत–पांचों यम तो सब के सामान्यरूप से एक ही प्रकार के माने जाते हैं तथापि अध्यवसाय और आचार की दृष्टि से वे भी भिन्न २ हो जाते हैं, यथा कई एक भिक्षु निदानपूर्वक तपकर्म का अनुष्ठान करनेवाले होते हैं,

और कई एक जघन्य चारित्र वाले तथा कई एक मध्यम और उत्कृष्ट चारित्र का पालन करने वाले हैं, इत्यादि।

एवं देशविरति गृहस्थों के व्रत, नियमों में भी अध्यवसाय के भेद से या आचार की दृष्टि से तरतमता रहती है। इसलिए देशविरति और सर्वविरति दोनों मे बाह्याचार की समानता होने पर भी अन्तरंग विषमता के कारण पंडित मृत्यु के लिए सब को समान अधिकार की प्राप्ति नहीं होती। अब रही अन्य सम्प्रदाय के गृहस्थ और साधुओं की बात। सो उनके लिए तो पंडितमरण की प्राप्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है। उनके वहां गृहस्थों के लिए यद्यपि अनेक प्रकार की शौचादि क्रियाओं का विधान है तथा भिक्षुओं के लिए भी अनेकविध विषम आचारों का उल्लेख है तथापि सर्वविरति चारित्र का अभाव होने से उन्हें उक्त प्रकार की मृत्यु का प्राप्त होना दुर्घट है। यहां पर 'भिक्खूसु—गारिसु' ये सप्तमी विभक्ति के प्रयोग षष्ठी के अर्थ में समझने चाहिएं।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥२०॥

सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः, गृहस्थाः संयमोत्तराः।
अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—एगेहिं—एक भिक्खूहिं—भिक्षुओं से गारत्था—गृहस्थलोग संजमुत्तरा—संयम मे प्रधान सन्ति—हैं य—और सव्वेहिं—सब गारत्थेहिं—गृहस्थों से साहवो—साधु संजमुत्तरा—संयम मे प्रधान हैं।

मूलार्थ—एक साधुओं से तो गृहस्थों का संयम अच्छा है और सब गृहस्थों से साधुओं का संयम श्रेष्ठ है।

टीका—कई एक कुतीर्थी, भग्नव्रती और निह्नवादि साधुओं की अपेक्षा व्रतनियमादि का पालन करने वाले गृहस्थों को इसलिए प्रधानता दी गई है कि कुतीर्थियों में तो चारित्र के अभाव से संयम का होना दुर्घट है और भग्नव्रती तथा निह्नवादि चारित्र के विराधक हैं, अतः उनमे भी संयम नहीं हैं तब इनकी अपेक्षा

देशचारित्र रखने वाले गृहस्थों के संयम को अवश्य प्रधान मानना पड़ेगा। और जो सर्वविरति साधु हैं उनका संयम इन देशविरति वालों से भी प्रधान है, क्योंकि उनमें द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से इनकी अपेक्षा चारित्र की मात्रा अधिक है। इसका तात्पर्य यह है कि चारित्र की न्यूनाधिकता, चारित्रमोहनीयकर्म के क्षय वा क्षयोपशम पर अवलंबित है सो जितना २ उक्त कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम होता है उतनी २ ही देशव्रत वा सर्वव्रत के रूप में धर्म की प्राप्ति होती जाती है, इसलिए गृहस्थधर्म पर चलने वाले जीवों की अपेक्षा साधुवृत्ति में आरूढ़ होने वाले जीवों में मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का अधिक क्षय होने से उनकी अपेक्षा वे अधिक चारित्रवान् माने जाते हैं क्योंकि इनमे (साधुओं में) सर्वत्याग है और उनमें (गृहस्थों में) आंशिक त्याग है। यदि इस सारे कथन का वास्तविक रूप में सारांश निकाला जाय तो यह है कि जिस जीव का चारित्र, सम्यक्त्व को साथ लिए हुए है वही प्रधान है और सम्यक्त्वरहित द्रव्य चारित्रवान् साधु पुरुष भी प्रधानता प्राप्त करने के योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त जिन जीवों में दर्शन और चारित्र दोनों का ही अभाव है वे तो साधु कहलाते हुए भी वास्तव में धर्म पथ से गिरे हुए हैं। ऐसे जीवों की अपेक्षा तो गृहस्थों का जीवन ही अधिक श्रेष्ठ है।

अब इसी विषय को शास्त्रकार कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में वर्णन करते हैं—

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुण्डिणं
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥२१॥

चीराजिनं नाग्न्यं, जटित्वं संघाटीमुण्डित्वम्।
एतान्यपि न त्रायन्ते, दुःशीलं पर्यायागतम् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—चीराजिणं—वस्त्र और मृगचर्म नगिणिणं—नग्न होना जडी—जटाधारी संघाडि—गोदड़ी मुंडिणं शिर से मुंडित होना एयाणि—ये सब नानाविध वेष न तायंति—रक्षक नहीं होते दुस्सीलं—दुष्टाचारी परियागयं—प्रव्रज्या के ग्रहण करने वाले को।

मूलार्थ—जिस जीव ने दुष्ट प्रव्रज्या का ग्रहण किया हुआ है उसके वस्त्र, मृगचर्म, नग्नता, जटाधारी होना, केवल गोदड़ी रखना और सिर मुँडाकर रखना, इत्यादि नानाविध वेष कभी रक्षक नहीं हो सकते।

टीका—इस गाथा में इस बात का बड़ा ही सुन्दर और मार्मिक विवेचन किया गया है कि कोई भी मत या सम्प्रदाय क्यों न हो परन्तु उस सम्प्रदाय के नियमानुकूल केवल वेषमात्र के धारण करने से किसी जीव का कभी कल्याण नहीं हो सकता। संसार मे अनेक मत वा सम्प्रदाय प्रचलित हैं और उनमे दीक्षित होने वाले साधुओं के वेष भी भिन्न २ प्रकार के हैं। जैसे कोई कषायवस्त्र को धारण करते हैं, कोई मृगचर्म पहरे रहते हैं, तथा कई एक कंथा–लीरों की गोदड़ी ओढ़े रहते हैं एवं कितने एक सर्वथा नग्न ही फिरते हैं, बहुतों ने जटा धारण कर रक्खी हैं, और बहुत से बिलकुल सिर मुंडाए रहते हैं, इत्यादि। परन्तु ये जितने भी वेष हैं, जितने भी साधुपन के चिह्न हैं इनसे अमुक सम्प्रदाय या मत की पहचान किसी प्रकार से भले ही हो जाय किन्तु इन (नाना प्रकार के स्वॉगों) का आत्मा के उद्धार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जो जीव दुष्ट प्रव्रज्या को धारण किए हुए हैं अर्थात् क्रोध मान माया और लोभ से ग्रसे हुए हैं उनका इन उक्त प्रकार के नानाविध वेषों से उद्धार समझना इससे अधिक पागलपन की और कोई बात नहीं हो सकती। इसलिए केवल वेषमात्र से आत्मा का कभी उद्धार नहीं हो सकता। आत्मा को दुर्गति से बचाकर सद्गति में पहुंचाने वाला उसका अन्तरंग शुद्ध आचार है। इस सदाचार या भाव संयम की प्राप्ति से ही इस आत्मा का उद्धार होना है, अन्यथा नहीं। यदि कोई जीव प्रसिद्ध से प्रसिद्ध सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के बाद उस सम्प्रदाय के साधुवेष से अपने आपको अच्छी तरह से सजा लेने के बाद भी अपनी जघन्य प्रवृत्ति में अन्तर नहीं आने देता तो उसका उद्धार यह वेष सहस्रों जन्मों में भी नहीं कर सकता प्रत्युत इसके समान आत्मवंचना का और कोई भी उदाहरण नहीं है। इसलिए जो जीव अपने आत्मा का वास्तविक उद्धार करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे इस द्रव्यलिंग के व्यामोह मे न पड़ते हुए अपने आत्मा को भावचारित्र से रंजित करके वीतरागता की प्राप्ति के लिए ही भगीरथ प्रयत्न करे।

उक्त गाथा मे 'परियायगयं' के स्थान पर 'परियागयं' प्रयोग में 'य' का लोप आर्षवत् समझना चाहिए।

अब इसी विषय में कुछ और जानने योग्य बात कहते हैं—

पिंडोलए व दुस्सीले, नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ॥२२॥

पिण्डावलगोऽपि दुःशीलो, नरकान्न मुच्यते ।
भिक्षादो वा गृहस्थो वा, सुव्रतो क्रामति दिवम् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—व—अप्यर्थक है पिंडोलए—घर २ से मांगकर जीवन व्यतीत करने वाला दुस्सीले—दुराचारी नरगाओ—नरक से न मुच्चई—नहीं छूटता भिक्खाए—भिक्षा से जीवन व्यतीत करने वाला यति वा—अथवा गिहत्थे—गृहस्थ वा—परस्पर अपेक्षा अर्थ में है जो सुव्वए—सुन्दर व्रत वाला है वह दिवं—स्वर्ग को कम्मई—जाता है ।

मूलार्थ—पिंडावलग—दुराचारी नरक से मुक्त नहीं हो सकता । अतः भिक्षु हो या गृहस्थ हो, इनमें जो सुन्दरव्रत वाला है, वही स्वर्ग को जाता है ।

टीका—घर २ से भीख मांगकर खाने और उसी पर अपना जीवन व्यतीत करने वाला भ्रष्टाचारी पुरुष नरक से कभी नहीं छूट सकता, क्योंकि नरक और स्वर्ग की प्राप्ति उसके (जीव के) शुद्ध आचरणों की अपेक्षा रखती है । इसलिए चाहे भिक्षु हो अथवा गृहस्थ हो, जिसके चारित्र में विशुद्धि है वही स्वर्ग को प्राप्त होता है । इसका स्पष्ट भाव यह है कि जिसके नियमव्रत और प्रत्याख्यान आदि आचार श्रेष्ठ हों, सदैव काल आत्मशुद्धि की ओर झुका हुआ है, वही जीव सुगति को प्राप्त होता है, फिर वह चाहे गृहस्थ के वेष मे हो अथवा भिक्षु का वेष धारण किए हुए हो । तात्पर्य कि सुगति की प्राप्ति श्रेष्ठ आचार पर ही अवलम्बित है, किसी बाह्य लिंग पर नहीं ।

अब शास्त्रकार गृहस्थ के उन आचार—नियमों का उल्लेख करते हैं, जिनके अनुष्ठान से वह स्वर्ग को प्राप्त करता है—

अगारि सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥२३॥

अगारी सामायिकांगानि, श्रद्धी कायेन स्पृशति ।
पौषधमुभयोः पक्षयोः, एकरात्रं न हापयेत् ॥२३॥

पदार्थान्वयः—अगारि–गृहस्थ सामाइयंगाइं–सामायिक के अंगों को सड्ढी–श्रद्धावान् काएण–काया से फासए–सेवन करे पोसहं–पौषध दुहओ–दोनों पक्खं–पक्षों में एगरायं–एक रात्रि न हावए–हीन न करे (एक रात्रि का संवर तो अवश्य करे)।

मूलार्थ—श्रद्धावान् गृहस्थ काया से सामायिक के अंगों का सेवन करे, दोनों पक्षों में पौषध करे परन्तु एक रात्रि तो कभी भी हीन न करे।

टीका—गृहस्थों की सामायिक तीन प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसे कि सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक और देशव्रत सामायिक। एवं निःशंकित आदि आठ गुण सामायिक के अंग हैं। सो श्रद्धावान् गृहस्थ इनका अवश्य स्मरण करे। और इसके साथ ही दोनों पक्षों मे पौषधव्रत भी धारण करे। यदि कारण-वशात् पौषधव्रत न भी हो सके तो एक मास में एक रात्रि भर तो संवर रूप से धर्म जागरण अवश्यमेव करे। सूत्र में सामायिक के अंगों से पृथक् करके जो पौषध का कथन किया है वह पौषधव्रत में अधिक आदर रखने के लिए किया है। एवं सामायिक के अंग षड् आवश्यक भी हैं। अतः उनका भी सेवन करना आवश्यक है। और काया से स्पर्श करने का तात्पर्य यह है कि केवल वचनमात्र से ही इनका सेवन नहीं किन्तु शरीर से भी करना चाहिए। पौषध शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ यह है कि 'पोषणं पोषः अर्थात् धर्मस्य तं धत्ते इति पौषधम्' जो धर्म का पोषण करे, अथवा जिस व्रत के द्वारा धर्म का पोषण किया जाय उसे पौषध कहते हैं। सो गृहस्थों को एक मास में दो पौषध तो अवश्य करने चाहिए। यदि दो न हो सकें तो एक तो अवश्यमेव करें।

अब निम्नलिखित गाथा में प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हैं—

एवं सिक्खासमावन्ने, गिहिवासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥२४॥

एवं शिक्षासमापन्नः, गृहिवासेऽपि सुव्रतः ।
मुच्यते छविःपर्वण, गच्छेद् यक्षसलोकताम् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—एवं–इस प्रकार सिक्खासमावन्ने–शिक्षासंयुक्त गिहिवासे–गृहस्थावास में वि–भी सुव्वए–सुन्दर व्रतों वाला मुच्चई–मुक्त हो जाता है छवि–त्वग् पव्वाओ–पर्व से फिर वह जक्खस्स–यक्ष के लोगयं–लोक को गच्छे–जाता है।

मूलार्थ—इस प्रकार शिक्षायुक्त सुव्रती जीव गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी इस औदारिक शरीर को छोड़कर यक्ष के लोक–देवलोक को चला जाता है।

टीका—इस गाथा में पवित्र आचार रखने वाले गृहस्थ को भी स्वर्ग की प्राप्ति का होना बतलाया गया है अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहता हुआ प्राणी अपने अधिकार के अनुसार यदि यथाशक्ति धर्म का सम्यग् आराधन करे तो उसके लिए भी स्वर्ग का द्वार खुला हुआ है। वह अपने उद्योग से इस औदारिक शरीर को छोड़कर स्वर्गीय दिव्य शरीर को प्राप्त करके स्वर्ग के सुखों को पूर्णतया भोग सकता है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि अणुव्रत और शिक्षाव्रतों से युक्त धर्मसेवी पुरुष घर में रहता हुआ भी इस औदारिक शरीर को छोड़कर देवलोक को प्राप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त गाथा में आए हुए 'छवि' पद का अर्थ शरीर की त्वचा और 'पर्व' का अर्थ कूर्पर आदि शरीर के संधिस्थान हैं। इस प्रकार के औदारिक शरीर का त्याग करके स्वर्गीय दिव्य शरीर की प्राप्ति का व्रतशील गृहस्थ के लिए उल्लेख किया गया है। अतः धर्मात्मा सद्गृहस्थों का कर्तव्य है कि वे इस देवदुर्लभ मानवभव को प्राप्त करके अपने आचारनियमों के पालन में सदा सावधान रहने का प्रयत्न करते रहें। यहां पर इतना और भी स्मरण रहे कि शास्त्रकार ने गृहस्थ के व्रतों के वर्णन में प्रसंगप्राप्त बालपंडितमृत्यु की भी चर्चा कर दी है क्योंकि शास्त्रों में गृहस्थ को बालपंडित कहा है। उसके कुछ तो त्याग प्रत्याख्यान होते हैं और कुछ नहीं होते। इसलिए वह बालपंडित कहलाता है, उसको जिस मृत्यु की प्राप्ति होती है उसका नाम बालपंडितमृत्यु है।

अब केवल पंडितमृत्यु के फल विशेष के सम्बन्ध मे कहते हैं—

अह जे संवुडे भिक्खू, दोण्हं अन्नयरे सिया ।
सव्वदुक्खपहीणे वा, देवे वावि महिड्ढिए ॥२५॥

अथ यः संवृतो भिक्षुः, द्वयोरन्यतरस्मिन् स्यात् ।
सर्वदुःखप्रक्षीणो वा, देवो वाऽपि महर्द्धिकः ॥२५॥

पदार्थान्वयः—अह–अथ जे–जो संवुडे–संवर वाला भिक्खु–साधु है, वह दोण्हं–दोनों में से अन्नयरे–कोई एक सिया–हो, होता है या तो सव्वदुक्खप्पहीणे–सर्व दुःख रहित सिद्ध होता है वा–अथवा महिड्ढिए–महाऋद्धि वाला देवे–देव होता है। यहां पर 'व' समुच्चय मे और 'वि' संभावना के अर्थ में है।

मूलार्थ—संवृत-संवरयुक्त साधु दो में से एक गति को अवश्य प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य कि यदि उसके सर्व दुःख चय हो गए हैं तब तो वह सिद्ध हो जाता है अन्यथा महाऋद्धि वाला देव बनता है।

टीका—इस गाथा में पंडितमृत्यु के दो फल बतलाए गए हैं–एक मोक्ष और दूसरा स्वर्ग। यदि आश्रवों के निरोध करने वाले संवृत-संवरयुक्त भिक्षु के कर्मस्वरूप इष्ट अनिष्ट आदि समस्त दुःख प्रक्षीण हो गए हैं तब तो वह सिद्ध–मोक्ष गति को प्राप्त हो जाता है और यदि अभी कुछ बाकी हैं तब वह महान् समृद्धि वाला देव बनता है। इसलिए संयमशील आत्मा को इन उक्त दो–मोक्ष और स्वर्ग गतियों में से एक गति की प्राप्ति अवश्य होती है। उक्त गाथा में जो दुःख शब्द का प्रयोग किया है उसका अभिप्राय यह है कि यावन्मात्र कर्म हैं वे सब वास्तव में दुःख रूप ही हैं। अतः उन कर्मों से सर्वथा छूटना ही सर्व दुःख प्रक्षीणता है। तात्पर्य कि दुःखक्षय और कर्मक्षय ये दोनों एक ही अर्थ के बोधक हैं। तब इस सारे विवेचन का सारांश यह निकला कि सकाममृत्यु या पंडितमृत्यु के स्वर्ग और मोक्ष ये दो सर्वोत्तम फल हैं जो कि मनुष्य जीवन के मुख्य साध्य हैं। इसलिए विचारशील पुरुषों को इनकी प्राप्ति के जो साधन हैं उनके प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक यत्न करना चाहिए।

सकाम मृत्युप्राप्त जीव के कुछ कर्मशेष रह जाने के कारण मोक्ष के बदले उसे देवलोक की उत्कृष्ट ऋद्धि की प्राप्ति होती अर्थात् देवलोक में वह बड़ी भारी समृद्धि रखने वाला देव होता है, इस बात की चर्चा ऊपर के लेख में आ चुकी है। अब भोग की गाथा में देवों के प्रसाद, और उनमें देवताओं के निवास की संख्या आदि के विषय में कहते हैं—

उत्तराइं विमोहाइं, जुइमन्ताऽणुपुव्वसो ।
समाइण्णाइं जक्खेहिं, आवासाइं जसंसिणो ॥२६॥

उत्तराणि विमोहानि, द्युतिमन्त्यनुपूर्वशः ।
समाकीर्णानि यक्षैः, आवासानि यशस्विनः ॥२६॥

पदार्थान्वयः—उत्तराइं—प्रधान से प्रधान विमोहाइं—मोह से रहित जुइमंत—ज्योति वाले—प्रकाशवाले अणुपुव्वसो—अनुक्रम से समाइण्णाइं—व्याप्त हुए जक्खेहिं—देवों से आवासाइं—विमान जसंसिणो—यश वाले।

मूलार्थ—देवलोक, देवता, और उनसे भरे हुए विमान अनुक्रम से उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा अधिक प्रकाश वाले, अधिक यश वाले और स्वल्प मोह वाले होते हैं।

टीका—एक देवलोक से दूसरा देवलोक उत्तर अर्थात् प्रधान है। अतः प्रथम देवलोक से लेकर अनुत्तर विमानपर्यन्त एक की अपेक्षा दूसरा प्रधान है। और अनुत्तर विमान में निवास करने वाले देवगण विमोह कहे जाते हैं क्योंकि उनमें उपशम वेद होता है इसलिए उनको विमोह कहा है। और उनके विमान भी अनुक्रम से अधिक प्रकाश वाले हैं, अधिक यश वाले हैं तथा देवों से आकीर्ण—भरे हुए हैं। यहां पर इतना समझ लेना चाहिए कि पहले देवलोक से लेकर अनुत्तर-विमानपर्यन्त एक से दूसरा अधिक ज्योतिवाला—प्रकाशवाला होता है, और उनमें जिन देवों का निवास होता है वे देव भी उत्तरोत्तर अधिक से अधिक यश और प्रकाशवाले होते हैं। यद्यपि सूत्र में केवल आवास शब्द का ही उल्लेख है परन्तु देवों के आश्रयभूत होने से उसका विमान अर्थ मानना ही समीचीन है। यश

शब्द का कहीं २ पर संयम अर्थ भी होता है तब यहां पर आए हुए यश शब्द का संयम अर्थ मानकर यह फलित निकला कि इस जीव ने जिस प्रकार पूर्वजन्म में संयम पालन किया था उसके अनुसार वह उसी प्रकार के यश और प्रकाशवाले देव वा विमान में उत्पन्न हो गया। यह तप और संयम का प्रसिद्ध फल है।

इन उक्त विमानों में इस जीव का कितने समय तक निवास रह सकता है ? अब इस विषय में कहते हैं—

दीहाउया इड्डिमन्ता, समिद्धा कामरूविणो।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ॥२७॥

दीर्घायुषो ऋद्धिमन्तः, समृद्धाः कामरूपिणः।
अधुनोत्पन्नसंकाशाः, भूयोऽर्चिमालिप्रभाः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—दीहाउया-दीर्घायुवाले इड्डिमंता-ऋद्धिवाले समिद्धा-समृद्धिवाले कामरूविणो-इच्छानुकूल वैक्रेय करने वाले अहुणोववन्नसंकासा-तत्काल उत्पन्न हुए के समान और भुज्जो-बहुत अच्चिमालि-सूर्यों की तरह प्पभा-प्रभा है।

मूलार्थ—उन विमानों में उत्पन्न होने वाले देव दीर्घायुवाले, ऋद्धिवाले, समृद्धिवाले और इच्छानुकूल वैक्रेय करने वाले होते हैं तथा तत्काल उत्पन्न हुए देव के समान और बहुत से सूर्यों के तुल्य उनकी कांति होती है।

टीका—जो जीव पंडितमृत्यु को प्राप्त होकर अनुत्तर विमानों मे उत्पन्न होते हैं उनकी उत्कृष्टि आयु ३३ सागरोपम की होती है। और रत्नादि ऋद्धियों से युक्त होते हैं तथा अतितेजस्वी होते हैं एवं इच्छानुसार वैक्रेय की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। यद्यपि अनुत्तरविमानवासी देवता वैक्रेयरूप धारण नहीं करते तथापि यह शक्ति उनमें सदैव विद्यमान रहती है। और तत्काल के उत्पन्न हुए देव की ज्योति कुछ अधिक प्रचंड होती है वैसी ही ज्योति इन देवों की आयुपर्यन्त रहती है एवं इन देवों की शारीरिक कांति भी अनेक सूर्यों की प्रभा के समान अधिक प्रकाशयुक्त होती है। यह सब कुछ सकाममृत्यु का फल वर्णन किया गया है। वृत्तिकार ने यहां पर २६ और २७ वीं गाथा को युग्म मान कर उनकी व्याख्या की है और दीपिका-

कार महात्मा ने इन दो के साथ तीसरी २८ वीं गाथा को मिलाकर कलंक के रूप में इनकी व्याख्या की है, क्योंकि इनका सम्बन्ध आपस में मिलता है ।

अब इस विषय का उपसंहार करते हैं—

ताणि ठाणाणि गच्छन्ति, सिक्खित्ता संजमं तवं ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे सन्ति परिनिव्वुडा ॥२८॥

तानि स्थानानि गच्छन्ति, शिक्षित्वा संयमं तपः ।
भिक्षुका वा गृहस्था वा, ये सन्ति परिनिर्वृताः ॥२८॥

पदार्थान्वयः—ताणि–उन ठाणाणि–स्थानों को गच्छंति–जाते हैं सिक्खित्ता–अभ्यास करके संजमं–संयम तवं–तप कर भिक्खाए–साधु वा–अथवा गिहत्थे–गृहस्थ वा–समुच्चय जे–जो परिनिव्वुडा–कषायों से रहित संति–हैं ।

मूलार्थ—पूर्वोक्त स्थानों को वे ही साधु अथवा गृहस्थ प्राप्त होते हैं जो कि संयम और तप के अभ्यास से कषायों से रहित हो गए हैं अर्थात् जिनमें काम क्रोध आदि कषाय विद्यमान नहीं रहे ।

टीका—संयम और तप का निरन्तर अभ्यास करके मोक्ष और स्वर्ग आदि स्थानों में जाने वाले जीव साधु हों अथवा गृहस्थ परन्तु उनमें जो क्रोध मान माया और लोभ रूप कषायों से रहित हैं अर्थात् जिन आत्माओं के कषाय शान्त हो गए हैं वे ही आत्मा उक्त स्वर्गादि स्थानों को प्राप्त करते है । इसका अभिप्राय यह है कि कषाययुक्त आत्मा चाहे साधु के वेष में हो और चाहे गृहस्थ के लिंग में हो उसको उक्त स्वर्गादि की प्राप्ति नहीं हो सकती। एवं कषायमुक्त आत्मा साधु रूप में हो अथवा गृहस्थ की दशा मे हो ऐसी आत्मा संयम और तप के द्वारा स्वर्गादिस्थानों को अवश्य प्राप्त कर लेती है । इसलिए स्वर्गादिस्थानों की प्राप्ति का हेतु जीव का किसी प्रकार का बाह्य चिह्न विशेष नहीं है किन्तु सत्रह प्रकार का संयम और बारह प्रकार का तप जो शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है उसका सम्यग् अनुष्ठान और क्रोधादिचतुर्विध कषायों से मुक्त होना ही उक्त स्वर्गादि शुभस्थानों की प्राप्ति का मुख्य हेतु है । यह बात भली भांति सिद्ध हो चुकी। यदि

प्रकारान्तर से कहें तो यों कह सकते हैं कि स्वर्गादिफल का हेतुभूत जो पंडितमृत्यु है उसकी प्राप्ति उन्हीं आत्माओं को होती है जो कि प्रशान्त और कषायमुक्त आत्मा हैं अर्थात् जो शुद्ध आचार रखने वाले और सदा निवृत्तिपरायण हैं। इसके विपरीत जिन जीवों ने इन उक्त पवित्र आचारों से मुख मोड़ा हुआ है उनके लिए इस पवित्र मृत्यु का प्राप्त होना प्रायः असंभव सा ही है। अतः विचारशील पुरुषों को सदाचार के सेवन से कभी भी पराङ्मुख नहीं होना चाहिए। यहां पर मूलगाथा में आए हुए 'भिक्खाए' शब्द का संस्कृत प्रतिरूप 'भिक्षादाः' है जिसके अर्थ 'भिक्षामदन्ति इति भिक्षादाः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा केवल भिक्षावृत्ति से निर्वाह करनेवाले के हैं। इसका पर्यायवाची शब्द भिक्षु या साधु है। तब इसका उपयोगी तात्पर्य यह हुआ कि जो आरम्भ समारम्भ का त्यागी होता हुआ केवल शुद्ध भिक्षा-वृत्ति से जीवन का निर्वाह करे उसे भिक्षा या भिक्षाद कहते हैं और जो घर में रहता है वह गृहस्थ कहलाता है।

अस्तु अब इसी सम्बन्ध में कुछ और अधिक जानने योग्य विषय का शास्त्रकार वर्णन करते हैं—

तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं, संजयाणं वुसीमओ।
न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया ॥२९॥

तेषां श्रुत्वा सत्पूज्यानां, संयतानां वश्यवताम्।
न संत्रस्यन्ति मरणान्ते, शीलवन्तो बहुश्रुताः ॥२९॥

पदार्थान्वयः—तेसिं—उन सपुज्जाणं—सत् पूज्यों संजयाणं—संयतों वुसीमओ—इन्द्रियों के वश करने वालों के स्वरूप को सोच्चा—सुन करके मरणंते—मृत्यु के समीप आने से न संतसंति—त्रास नहीं पाते सीलवंता—चारित्रयुक्त और बहुस्सुया—बहुश्रुत।

मूलार्थ—उन परम पूजनीय संयमशील जितेन्द्रिय पुरुषों के स्वरूप को सुन करके चारित्रयुक्त बहुश्रुत जीव मृत्यु के आने से कभी त्रास को प्राप्त नहीं होते। अथवा वे पूजनीय, संयमशील, जितेन्द्रिय और चारित्रयुक्त बहुश्रुत पुरुष अकाम और सकाम मृत्यु के स्वरूप को सुनकर मृत्यु से कभी सन्त्रसित नहीं होते।

टीका—इस गाथा का ध्यानपूर्वक मनन करने से उसके दो अर्थ प्रतीत होते हैं, एक तो 'तेसिं' आदि पदों को यथावस्थित रूप में षष्ठ्यन्त मानकर और दूसरा इन पदों को विभक्तिव्यत्यास के व्यापक नियम से प्रथमान्त मानकर होता है। सो दोनों ही अर्थ मूलार्थ में बतला दिए गए हैं परन्तु इन दोनों में पहला अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है, जिसका कि तात्पर्य यह है कि जो जीव सकाम-मृत्यु को प्राप्त करने वाले संयमशील आत्मनिग्रही अतएव परम पूजनीय महापुरुषों के स्वरूप को सुन लेता है वह मृत्यु से कभी भयभीत नहीं होता। जैसे स्वनाम-धन्य गजसुकुमाल के जीवन को सुनकर मृत्यु का भय दूर हो जाता है। क्योंकि मृत्यु का भय तो उन्हीं पुरुषों को होता है जिन्होंने पहले अधर्म से सम्बन्ध रक्खा हो परन्तु जिनका केवल धर्म से ही सम्बन्ध है उनके लिए तो यह मृत्युत्रास के बदले आनन्द के ही देने वाला होता है। इसके अतिरिक्त इतना और भी जान रखना चाहिए कि उन पूजनीय साधु पुरुषों के जीवन को सुनकर भी वे ही जीव मृत्युभय से सर्वथा रहित हो सकते हैं जो कि चारित्रवान् और बहुश्रुत हैं, सर्वसाधा-रण नहीं। शीलयुक्त और बहुश्रुत इन दो पदों का एक साथ प्रयोग इसलिए भी सूत्रकार ने किया है कि केवल चारित्र या केवल ज्ञान ही साध्य की सिद्धि का हेतु नहीं हो सकता किन्तु ज्ञान और चारित्र इन दो का समुच्चय ही मेदप्राप्ति का हेतु है, यह प्रमाणित हो सके। वास्तव में ही वे त्यागशील महापुरुष सदा स्मरणीय और वंदनीय हैं जिनको ज्ञान और चारित्र के बल से मृत्यु का भय बिलकुल नहीं रहा तथा जिनके जीवन में भी यह सामर्थ्य है कि वह उसके सुनने वालों को मृत्यु के भय से सुरक्षित रखता है।

इस सारे वक्तव्य को सुनकर बुद्धिमान् का जो कर्तव्य है, अब उसके सम्बन्ध में कहते हैं—

तुलिया विसेसमादाय दयाधम्मस्स खन्तिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी तहाभूएण अप्पणा ॥३०॥

तोलयित्वा विशेषमादाय दयाधर्मस्य क्षान्त्या।
विप्रसीदेन्मेधावी तथाभूतेनात्मना ॥३०॥

पदार्थान्वयः—तुलिया–तोल करके विसेसं–विशेष को आदाय–ग्रहण करके तथा दयाधम्मस्स–दयाधर्म को खंतिए–क्षमा से बढ़ा करके विप्पसीएज्ज–प्रसन्न करे मेहावी–बुद्धिमान् तहाभूएण–तथाभूत अप्पणा–आत्मा से।

मूलार्थ—अकाम और सकाम इन दोनों मृत्युओं को तोलकर इन दो में से विशेष को ग्रहण करके और क्षमा के द्वारा दया धर्म को बढ़ाकर मेधावी–बुद्धिमान् तथाभूत आत्मा से अपने आत्मा को प्रसन्न करे।

टीका—इस गाथा में मेधावी पुरुष को अकाम और सकाम मृत्यु के फल का विचार करके इन दो में से जो विशेष फल के देने वाला है उसके ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। इसलिए मेधावी पुरुष को चाहिए कि वह क्षमा मार्दवादि गुणों से दया धर्म को परिवर्द्धित करके और स्वयं कषायमुक्त होकर अपने आत्मा को सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे। यहां पर दया धर्म से साधुधर्म की सूचना दी गई है, और उस साधुधर्म के पोषक क्षांत्यादि गुण हैं। उनके द्वारा ही आत्मा में प्रसन्नता और निराकुलता का आविर्भाव होता है, और अन्त में वही निराकुलता पंडितमृत्यु का कारण बनती है। तथा आत्मा में क्षोभ और आकुलता पैदा करने वाले कषायों का जब तक समूलोन्मूलन नहीं होता तब तक आत्मा में प्रसन्नता का होना अत्यन्त दुर्घट है, और कषायों के समूलघात के लिए क्षमा आदि दशविध यतिधर्म के आराधन की आवश्यकता है क्योंकि दयाधर्म का पोषण इसके विना कदापि नहीं हो सकता। एवं विना धर्म के पुष्ट हुए मृत्यु के भय से छुटकारा नहीं मिल सकता। अतः विचारशील पुरुष को सकाम मृत्यु की प्राप्ति के कारणभूत इन उक्त उपायों का अवश्य अवलंबन करना चाहिए, जिससे कि वह अपने आत्मा में पूर्ण प्रसन्नता का सम्पादन करके सकाम मृत्यु को प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त अकाम और सकाम मृत्यु में हेय और उपादेय कौन है इसका निर्णय तो बुद्धिमान् के लिए बहुत ही सुकर है, क्योंकि दोनों के ही कटु और मधुर फल उसके सामने उपस्थित हैं अर्थात् अकाम मृत्यु के फलविशेष में जो कटुता है और सकाम मृत्यु के फल में जो माधुर्य है वह भी उसके सामने ही है। इसलिए दोनों की तुलना करनी बहुत ही सरल है। अन्त में शास्त्रकारों की सम्मति का पर्यालोचन करते हुए तो यही कहना अथवा मानना पड़ता है कि क्षमा आदि गुणों के सम्पादन

से आत्मा में धर्माभिरुचि और निष्कषायता प्राप्त करने वाला मेधावी पुरुष सकाम मृत्यु की प्राप्ति में निस्सन्देह सिद्धहस्त हो जाता है ।

इसके अनन्तर उस प्रसन्नात्मा का जो कर्तव्य है, अब उसके विषय में कहते हैं—

तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमन्तिए ।
विणएज्ज लोमहरिसं, भेयं देहस्स कंखए ॥३१॥

ततः काल अभिप्रेते, श्रद्धी तादृशमन्तिके ।
विनयेल्लोमहर्षं , भेदं देहस्य कांक्षेत ॥३१॥

पदार्थान्वयः—तओ-तदनन्तर काले-मरणकाल के अभिप्पेए-प्राप्त होने पर सड्ढी-श्रद्धावान् तालिसं-तादृश अंतिए-गुरु के समीप में विणएज्ज-दूर करे लोमहरिसं-रोमांच को देहस्स-शरीर के भेयं-भेद-विनाश को कंखए-चाहे-अनशन के द्वारा ।

मूलार्थ—तदनंतर श्रद्धावान् पुरुष मृत्यु समय के प्राप्त होने पर अपने गुरुजनों के समीप, रोमांचकारी मृत्युभय को दूर करके अनशन के द्वारा अपने शरीर के भेद की इच्छा करे ।

टीका—यह एक स्वाभाविक सी बात है कि जब मृत्यु का समय अत्यन्त निकट आ जाता है तब मन वचन और काया के योग प्रायः निर्बल हो जाते हैं । इस प्रकार जब कि कषाय शान्त हो गए हों और मृत्यु का समय बिलकुल निकट आ गया हो तब बुद्धिमान् पुरुष अपने गुरुजनों के समीप जाकर और रोमांचकारी मृत्यु के भय को अपने हृदय से सर्वथा दूर करके अर्थात् अणुमात्र भी मृत्यु के भय को अपने हृदय में स्थान न देकर अनशन के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक अपने शरीर को पात करने की आकांक्षा करे, यह उसका सर्वोपरि अंतिम कर्तव्य है । तात्पर्य कि जिस प्रकार दीक्षाग्रहण के समय में उसके आत्मा में आनन्द उत्साह और हर्ष का उद्रेक था उसी प्रकार मृत्यु के समय भी उसके मन में पूर्ण प्रसन्नता, पूर्ण हर्ष और पूर्ण उत्साह होना चाहिए । और ठीक अनशन के द्वारा ही इस शरीर का

प्रसन्नतापूर्वक अन्त होना चाहिए, यह धारणा उसकी बराबर रहनी चाहिए । परन्तु इसमें इतना ध्यान अवश्य रहे कि इस शरीर का वियोग अनशन व्रत के द्वारा हो, यह भावना तो स्तुत्य है किन्तु मृत्यु की इच्छा कभी न करनी चाहिए और न—क्या मैं मर जाऊंगा ? और सचमुच इस शरीर को छोड़ जाऊंगा ? इत्यादि प्रकार के सकाम मृत्यु के साथ प्रतिकूलता रखने वाले विचारों को अपने हृदय में कभी स्थान देना चाहिए । इस सारे विवेचन का सारांश इतना ही है कि मृत्यु का समय निकट आया जानकर, उसके भय का सर्वथा परित्याग करके, उसके स्वागत के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो जाना चाहिए और अनशन व्रत के द्वारा ही यदि इस क्षण-विनश्वर शरीर का भेद होना है तो यह बड़े सौभाग्य की बात है, इत्यादि भावना से बुद्धिमान् पुरुष सकाम मृत्यु को प्राप्त करे ।

अब इस अध्ययन का निगमन करते हैं—

अह कालम्मि संपत्ते, आघायाय समुस्सयं ।
सकाममरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी ॥३२॥
त्ति बेमि ।

इति अकाममरणिज्जं पंचमं अज्झयणं समत्तं ॥५॥

अथ काले संप्राप्ते, आघातयन् समुच्छ्रितम् ।
सकाममरणेन म्रियते, त्रयाणामन्यतरेण मुनिः ॥३२॥
इति ब्रवीमि ।

इति अकाममरणीयं पंचममध्ययनं समाप्तम् ॥५॥

पदार्थान्वयः—अह—अथ कालंमि—काल के संपत्ते—प्राप्त होने पर आघायाय—संलेखना आदि के द्वारा विनाश करता हुआ समुस्सयं—आभ्यन्तरिक और बाह्य शरीर का सकाममरणं—सकाम मृत्यु से मरई—मरे—किन्तु तिण्हं—तीन प्रकार की मृत्युओं में से अन्नयरं—किसी एक मृत्यु के द्वारा मुणी—साधु त्ति बेमि—'त्ति' समाप्ति अर्थ में 'बेमि' मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—काल के सम्प्राप्त होने पर संलेखना आदि के द्वारा शरीर का अन्त करता हुआ साधु मृत्यु के तीन प्रकारों में से किसी एक के द्वारा सकाम मृत्यु को प्राप्त करे ।

टीका—शास्त्रकारों ने तीन प्रकारों से सकाममृत्यु की प्राप्ति का वर्णन किया है । यथा—१ भक्तप्रत्याख्यान २ इंगनीमरण और ३ पादोपगम । जिससे चतुर्विध आहार का परित्याग हो, उसे भक्तप्रत्याख्यान कहते हैं । चार प्रकार के आहार के बाद भूमि का परिमाण निश्चित करना अर्थात् निश्चित की हुई भूमि से बाहर न जाने का प्रण करना इंगनीमरण है । वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह एक ही स्थान में स्थिर पड़े रहने को पादोपगम कहते हैं । सो मृत्यु समय के अतिनिकट आने पर संलेखना आदि के द्वारा औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों का अन्त करता हुआ साधु भक्तप्रत्याख्यानादि में से किसी एक के द्वारा सकाममृत्यु को प्राप्त करे । शास्त्रकारों ने उत्कृष्ट संलेखना की कालमर्यादा १२ वर्ष की रक्खी है । सो यथावसर और यथाशक्ति संलेखना करके सकाममृत्यु को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए । प्रसन्नतापूर्वक प्राप्त किया हुआ यह मृत्यु कर्मों की अनन्त वर्गणाओं के क्षय करने में निमित्त होता है । इसलिए भव्य जीवों को इसकी प्राप्ति का अवश्य उपाय करना चाहिए ।

'मरणं–अन्नयरं' इन दोनों पदों में तृतीया के अर्थ में प्रथमा विभक्ति समझनी । 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले आ ही चुका है ।

अकाममरणीय अध्ययन समाप्त ।

अह खुड्डागनियंठिज्जं छट्ठं अज्झयणं

अथ क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयं षष्ठमध्ययनम्

पांचवें अध्ययन में अकाम और सकाम मृत्यु का सविस्तर वर्णन किया गया है। इनमें सकाम मृत्यु की प्राप्ति प्रायः विरत-निवृत्तिमार्गानुगामी आत्माओं को ही होती है और विरत आत्मा निर्ग्रन्थ ही होते हैं। एवं जो निर्ग्रन्थ हैं वे विद्या और चारित्रयुक्त होते हैं। इसलिए अब छठे अध्ययन में उन्हीं निर्ग्रन्थों का वर्णन किया जाता है। यद्यपि भगवतीसूत्र में पांच ही प्रकार के निर्ग्रन्थों का सविस्तर वर्णन किया है किन्तु यहां पर तो केवल सामान्यतया निर्ग्रन्थों का वर्णन किया गया है। इसी लिए इस अध्ययन का नाम भी 'क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय अध्ययन' रक्खा गया है। अपिच जो निर्ग्रन्थ हैं वे विद्वान् होते हैं, यह बात ऊपर कही गई है तथा जो विद्या से रहित हैं वे इस संसार में नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं। इसलिए शास्त्रकार अब पहले इसी विषय में कहते हैं—

जावन्त ऽविज्ञा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥१॥

यावन्तोऽविद्याः पुरुषाः, सर्वे ते दुःखसंभवाः।
लुप्यन्ते बहुशो मूढाः, संसारे ऽनन्तके ॥१॥

पदार्थान्वयः—जावंत-जितने अविज्ञा-विद्या से रहित पुरिसा-पुरुष हैं

सव्वे-सारे ते-वे दुक्खसंभवा-दुःखों के सम्भव हैं लुप्पंति-दरिद्रादि से पीड़ित होते हैं बहुसो-बहुत बार मूढा-मूढ़ अणन्तए-अनन्त संसारंमि-संसार में।

मूलार्थ—यावन्मात्र अविद्वान् पुरुष हैं वे सब दुःखों के संभव हैं, दुःखों के उत्पादक हैं। वे मूढ़ बहुत वार दुःखों से अनन्त संसार में पीड़ित होते हैं।

टीका—इस गाथा मे इस बात का प्रकाश किया गया है कि इस अनन्त संसार में जितने भी अविद्वान्-सद्विद्या से रहित पुरुष हैं, उनको शारीरिक और मानसिक सब प्रकार के दुःखों का सम्भव होता है। अतएव वे मूढ़ इस संसार में दरिद्रता आदि दुःखों से अधिक-वार २ पीड़ित होते हैं। क्योंकि जो मिथ्यात्व से युक्त हैं वे ही अविद्वान् वा मूर्ख हैं उन्हीं को सत् और असत् का ज्ञान नहीं होता। इसी लिए वे अपने जन्म और मरण की निवृत्ति भी नहीं कर सकते और साथ में सम्यक्त्वरहित होने के कारण वे मूर्ख भी हैं। अतएव वे हित और अहित के ज्ञान से भी शून्य हैं। सूत्र मे पढ़े गए 'अविज्जा-अविद्या' शब्द का तत्त्व विद्या से रहित होना अर्थ ही युक्तिसंगत है। इसलिए उनमें लौकिक विद्या के होने पर भी वे विद्यारहित ही माने जाते हैं। यदि उनमें तत्त्व विद्या होती तो फिर वे इस संसार-चक्र में अनन्त वार तक भ्रमण करने वाले न होते और उनमे जिस लौकिक विद्या का लेश दिखाई देता है वह वास्तव में विद्या नहीं किन्तु अविद्या-कुत्सित विद्या ही है (यहां पर कुत्सा अर्थ में नञ्समास है)। अतएव सूत्रकार ने अविद्या से दुःख और संसारचक्र में बार २ भ्रमण करने का जो उल्लेख किया है वह बहुत ही मार्मिक और हृदयग्राही है। सारांश कि अविद्या समस्त दुःखों की मूल भित्ति है। अतः इसको दूर करके सद्बोध की प्राप्ति करने में उद्यत होना, यह प्रत्येक विचार-शील का कर्त्तव्य होना चाहिए। बहुत सी प्रतियों में 'यावंति' पाठ भी देखा गया है परन्तु अति प्राचीन प्रतियों में 'जावंत' ही पाठ है, और व्याकरण के नियमानुसार अधिक साधुता भी उसी में है, तो भी दीपिकाकार ने 'जावंति' पाठ मानकर ही व्याख्या की है। एवं 'विज्जा' में अकार का लोप किया गया है।

अब सद्विद्या प्राप्त किए हुए पुरुष के कर्त्तव्य के विषय मे कहते हैं—

समिक्ख पण्डिए तम्हा, पासजाइपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥२॥

समीक्ष्य पण्डितस्तस्मात्, पाशजातिपथान् बहून्।
आत्मना सत्यमेषयेत्, मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥२॥

पदार्थान्वयः—समिक्ख–विचार करके पंडिए–पंडित तम्हा–इसलिए पासजाइपहे–पाशरूप जातिपथ बहू–बहुतों को अप्पणा–अपने आत्मा से सच्चं–सत्य को एसेज्जा–गवेषण करे और मिर्त्तिं–मैत्री भूएसु–जीवों में कप्पए–करे।

मूलार्थ—इसलिए पंडित पुरुष एकेन्द्रियादि पाशरूप बहुत प्रकार के जातिपथों का विचार करके अपने आत्मा के द्वारा सत्य का अन्वेषण करे, और समस्त जीवों से मित्रता का सम्बन्ध रक्खे।

टीका—इस सूत्र मे इस बात का दिग्दर्शन कराया गया है कि विद्वान् पुरुष को सब से प्रथम इस बात का विचार करना चाहिए कि संसार में समस्त दुःखों का मूल कारण अविद्या है। जो अविद्वान्–विद्यारहित पुरुष हैं वे ही सब प्रकार के दुःखों के भाजन बनते हैं और वे ही संसार मे सब से अधिक दुःखों से पीड़ित होते हैं। अतः संसार में जीव को पुत्र कलत्रादि पर जो अत्यन्त मोह है उसके कारण से ही पाशरूप एकेन्द्रिय आदि के मार्ग जीवों को प्राप्त होते हैं अर्थात् इन एकेन्द्रिय आदि जाति मे उसका जन्म होता है। इसलिए पंडितपुरुष को चाहिए कि वह उक्त प्रकार की दशा का विचार करता हुआ अपने आत्मा के द्वारा सत्य की–संयम की गवेषणा करे और संसार के समस्त जीवों से सदा मित्रता का व्यवहार करे। यहां पर सत्य शब्द संयम का बोधक है, और संयम की पूर्ति के लिए मैत्री भाव की परम आवश्यकता है। इसलिए संयम का अन्वेषण और मैत्री भाव का आचरण इन दोनों का उल्लेख किया गया है। वास्तव में संयम का सार तो प्राणिमात्र से मित्रता धारण करना ही है। जैसे एक मित्र अपने मित्र के सुख दुःख में सदा सहायक होता है और किसी आपत्ति के आने पर सदा उससे बचाने की कोशिश करता है उसी प्रकार संसार के प्रत्येक जीव को अपना बन्धु समझकर एक सच्चे मित्र की भांति उनसे मैत्रीभाव रक्खे। और छोटे से छोटे जीव की विराधना से भी अपने को बचाने का यत्न करे। इसके अतिरिक्त अवचूरीकार लिखते हैं कि–'अतट्ठा सच्चमेसिज्जा' आत्मा के लिए सत्य की खोज करे। इस कथन से पर के लिए आत्मान्वेषण का विधान नहीं पाया जाता, जिसका तात्पर्य यह है कि जब

तक स्वयं सत्य की खोज करके उसके ऊपर आरूढ़ नहीं होता तब तक दूसरों को उसका उपदेश करना व्यर्थ है। इसलिए स्वयं आत्मान्वेषी बनकर दूसरों को उस सत्य का उपदेश करना चाहिए। तब इस सारे कथन से यह प्रमाणित हुआ कि पंडितपुरुष सांसारिक सम्बन्ध को पाशरूप जानकर और उसके फलस्वरूप एकेन्द्रियादि मार्ग को समझकर आत्मा के लिए सत्य की गवेषणा में प्रवृत्त होता हुआ संसार के समस्त छोटे बड़े प्राणियों से मैत्री का व्यवहार करे, इसी में उसके सदासद् विवेचनरूप पांडित्य की पूर्ण सफलता है।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाए, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥३॥

माता पिता स्नुषा भ्राता, भार्या पुत्राश्चौरसाः।
नालं ते मम त्राणाय, लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥३॥

पदार्थान्वयः—माया-माता पिया-पिता ण्हुसा-पुत्रवधू भाया-भ्राता भज्जा-स्त्री-भार्या य-और पुत्ता-पुत्र ओरसा-औरस ते-वे सब मम-मेरे ताणाए-रक्षण के लिए नालं-समर्थ नहीं हैं लुप्पंतस्स-दुःख पाते हुए को सकम्मुणा-अपने कर्मों से।

मूलार्थ—अपने कर्मों के अनुसार दुःख भोगने के समय माता, पिता, स्नुषा-पुत्रवधू, भार्या तथा औरस पुत्र ये सब मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते अर्थात् कर्मफल के भोग में ये बिलकुल हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

टीका—विवेकशील पुरुष को इस बात का भली भांति विचार करना चाहिए कि माता, पिता, स्नुषा, भ्राता, भार्या और अपने अंग से उत्पन्न हुआ पुत्र इत्यादि जितने भी सम्बन्धी जन हैं वे सब मेरे कर्मजन्य दुःख भोग के समय मेरी किसी प्रकार की भी सहायता नहीं कर सकते अर्थात् मेरे दुःख का न्यूनाधिक रूप में भी विभाग नहीं कर सकते—उसको किसी तरह से भी बांट नहीं सकते। कारण कि जो कर्म जिस आत्मा ने किए हैं उनका फल भी वही आत्मा भोगता है, दूसरा

नहीं। इसलिए इन सब सम्बन्धीजनों से मुझे किसी प्रकार का मोह नहीं रखना चाहिए और यदि कुछ है भी तो उसे भी सर्वथा त्याग देना चाहिए। इसी प्रकार इनके कर्मजन्य दुःख भोग में मैं भी किसी प्रकार की सहायता नहीं पहुंचा सकता अर्थात् इनके दुःख को मैं भी बांट नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक प्राणी अपने २ किए हुए कर्मों का स्वयमेव ही उत्तर देता है। इसमें दूसरे किसी को अणुमात्र भी हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। जब कि यह कर्मसम्बन्धी नियम अटल है तब जो प्राणी इन सम्बन्धी जनों के व्यामोह में पड़कर अपने आत्मा का पतन कर रहा है उससे बढ़कर अज्ञानी और मूर्ख दूसरा कौन हो सकता है। इसलिए विचारशील पुरुषों को उचित है कि वे जहां तक हो सके अपने सांसारिक व्यामोह को त्यागकर आत्मदर्शन की ओर ही अधिक से अधिक झुकने का प्रयत्न करें। क्योंकि आत्मा के विना इसका न कोई रक्षक है और न कोई सहायक ही है।

जब कि परलोक में इस जीव का माता पिता आदि कोई भी सम्बन्धी रक्षक नहीं हो सकता किन्तु अपने कर्म का यह स्वयं ही उत्तरदाता है तब फिर इसको क्या करना चाहिए ? अब इस प्रश्न का निम्नलिखित गाथा में समाधान करते हैं—

एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे।
छिन्दे गेहिं सिणेहं च, न कंखे पुव्वसंथवं ॥४॥

एतमर्थं स्वप्रेक्षया, पश्येत् समितदर्शनः।
छिन्द्याद् गृद्धिं स्नेहं च, न कांक्षेत पूर्वसंस्तवम् ॥४॥

पदार्थान्वयः—एयं-इस अट्ठं-अर्थ को सपेहाए-विचार करके पासे-देखे समियदंसणे-सम्यग्दृष्टि छिंदे-छेदन करे गेहिं-गृद्धिभाव च-और सिणेहं-स्नेह को न कंखे-न चाहे पुव्वसंथवं-पूर्व परिचय को।

मूलार्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष इस पूर्वोक्त अर्थ-विषय को अपनी बुद्धि से विचार करके देखे और अपने पूर्वपरिचय की अभिलाषा न रखता हुआ ममत्व और स्नेहभाव को तोड़ देवे।

टीका—जिसका मिथ्यादर्शन शान्त हो गया है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव इस

पूर्वोक्त विषय को—अपने माता पिता आदि सम्बन्धी जनों की परिस्थिति को विचार-पूर्वक अवलोकन करके उनमें रहे हुए ममत्व और स्नेहभाव को उनसे पृथक् कर देवे अर्थात् उनसे अपनी ममता और प्यार का सम्बन्ध तोड़ देवे। इतना ही नहीं किन्तु उनसे अपने पूर्वपरिचय का दिग्दर्शन भी करावे। जैसे कि तुम और हम एक ही स्थान के रहने वाले हैं, तुम हमारे अमुक सम्बन्धी हो, इत्यादि पूर्वपरिचय की भी इच्छा न करे, क्योंकि जब तक ममता और राग है तब तक तो संसार के सभी सम्बन्ध उपस्थित रहेंगे और ममत्व के परित्याग से—स्नेह के विच्छेद से फिर कोई सांसारिक सम्बन्ध शेष नहीं रहता तथा मन में पूर्वसंस्तव—पूर्वपरिचय की जो लेशमात्र अभिलाषा है उसको त्याग देने से उसमें—स्नेहविच्छेद में और भी प्रबलता आ जाती है। इसलिए सांसारिक विषयों में ममता और स्नेह का त्याग करके मैत्रीभाव के द्वारा प्राणिमात्र पर समभाव रखना चाहिए। यहां पर यह भी अवश्य ध्यान में रहे कि स्नेह और मैत्री में बहुत अन्तर है, स्नेह रागजन्य है और मैत्री समता—समभाव से उत्पन्न होने वाली वस्तु है। इसलिए स्नेह रागजन्य होने से कर्मबन्ध का हेतु है और मैत्री आत्मा की समभावपरिणति की एक अवस्था विशेष होने से कर्मों की निर्जरा का हेतु है।

अब इसकी फलश्रुति का वर्णन करते हैं—

गवासं मणिकुण्डलं, पसवो दासपोरुसं।
सव्वमेयं चइत्ता णं, कामरूवी भविस्ससि ॥५॥

गवाश्वं मणिकुण्डलं, पशवो दासपौरुषम्।
सर्वमेतत् त्यक्त्वा त्वं, कामरूपी भविष्यसि ॥५॥

पदार्थान्वयः—गवासं—गाय, घोड़ा मणि—रत्नादि कुंडलं—कुंडल पसवो—पशु दास—दास—नौकर पोरुसं—पुरुषों का समूह सव्वं—सर्व एयं—यह चइत्ताणं—छोड़ करके कामरूवी—इच्छानुकूल रूप बनाने वाला भविस्ससि—होगा।

मूलार्थ—हे शिष्य! गाय, घोड़ा, मणि, कुंडल, पशु, दास और अन्य पुरुषों के समूह का परित्याग करने पर तू परलोक में यथारुचि रूप बनाने वाला—वैक्रेय करने वाला अर्थात् देवता हो जावेगा।

टीका—इस गाथा मे ऐहिक पदार्थों के त्याग का जो पारलौकिक फल है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। गुरु शिष्य को उपदेश करता है कि हे शिष्य! यदि गाय, घोड़ा, मणि, रत्न और दास दासी आदि पदार्थों का परित्याग कर देगा तो तुझ को इस लोक और परलोक मे ऐसी सिद्धि की प्राप्ति हो जायगी जिससे कि तू अपनी इच्छा के अनुसार रूप कर सकेगा। तात्पर्य कि सांसारिक पदार्थों से सम्बन्धविच्छेद करने के बाद शक्तिशाली मुनि अथवा देवता के रूप को प्राप्त करके तेरे मे वैक्रेय लब्धि का प्रादुर्भाव हो जायगा। उसके प्रभाव से तू यथारुचि रूप आदि को धारण करने वाला हो जायगा। इसलिए इन गो, अश्वादि सांसारिक पदार्थों का परित्याग करके तू संयम को ही ग्रहण कर।

यद्यपि त्याग का वास्तविक फल तो मोक्ष है, परन्तु सराग—रागपूर्वक त्याग का फल तो देवलोक ही बतलाया है। इसके अतिरिक्त गाथा में जो सब से प्रथम 'गो' शब्द का उल्लेख किया है उसका तात्पर्य गोधन की महत्ता को बतलाना है, क्योंकि आर्यभूमि के लोगों का ऐहिक अभ्युदय प्रायः गोवंश पर ही अधिकांश निर्भर है, तथा दूसरी श्रेणी मे अश्व शब्द का उल्लेख किया है। सो यह पशु भी इस देश के लिए अधिक से अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। तथा 'पोरुषं' यह 'पौरुषेयं' का प्रतिरूप है जिसका कि पुरुष समूह अर्थ होता है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

थावरं जंगमं चेव, धणं धन्नं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालंदुक्खाओ मोअणे ॥६॥

स्थावरं जंगमं चैव, धनं धान्यमुपस्करम्।
पच्यमानस्य कर्मभिः, नालं दुःखान्मोचने ॥६॥

पदार्थान्वयः—थावरं—स्थावर—गृहादि जंगमं—जंगम—मनुष्यादि च—पादपूर्त्यर्थक है एव—अवधारणार्थक है धणं धन्नं—धन धान्य उवक्खरं—घर का उपकरण विशेष पच्चमाणस्स—दुःख पाता हुआ कम्मेहिं—कर्मों से न—नहीं है पूर्वोक्त पदार्थ अलं—समर्थ दुक्खाओ—दुःख से मोअणे—छुड़ाने को।

मूलार्थ—घरबार–घर का सामान, धन, धान्य और मनुष्य आदि कोई भी पदार्थ कर्मों द्वारा दुःख पाते हुए जीव को दुःख से छुड़ाने में समर्थ नहीं है।

टीका—जब यह जीव अपने किए हुए कर्मों से दुःख को प्राप्त होता है तब घर–दुकान, मनुष्य, पशु, धन, धान्य तथा अन्य घर की सामग्री आदि कोई भी पदार्थ इसके दुःख को मिटाने या कम करने की शक्ति नहीं रखता। इसलिए इन पदार्थों में सहायक बुद्धि से ममत्व या स्नेह रखना निरी भूल है। ये पदार्थ तो संचित पुण्य के एक फल विशेष हैं। इनसे प्राप्त हुए दुःख के मोचन में किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती। अतः ये सब हेय हैं। 'स्थावर' से स्थिर रहने वाले सुवर्ण और प्रासाद आदि का ग्रहण इष्ट है और जंगम से चलने फिरने वाले मनुष्यादि का। यहां पर यह बात भी विस्मरण करने योग्य नहीं है कि सर्वार्थसिद्धि नाम की वृत्ति के कर्त्ता ने इस गाथा को प्रक्षिप्त माना है। यथा–'अत्रान्तरे थावरेति गाथा प्रक्षेपरूपा ज्ञेया द्वयोष्टीकयोरव्याख्यातत्वात्' परन्तु अन्य गुजराती भाषा के टीकाकारों ने इसे प्रक्षिप्त नहीं माना तथा दीपिकाकार भी इसे प्रमाणभूत मानकर इसकी व्याख्या करते हैं—

अब सांसारिक पदार्थों से सम्बन्धविच्छेद करने वाले सत्यान्वेषी पुरुष का कर्त्तव्य वर्णन करते हैं—

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥७॥

अध्यात्मस्थं सर्वतः सर्वं, दृष्ट्वा प्राणान्प्रियात्मकान्।
न हन्यात्प्राणिनः प्राणान्, भयवैरादुपरतः ॥७॥

पदार्थान्वयः—अज्झत्थं–आत्मा में रहने वाला सुख दुःख सव्वओ–सर्व प्रकार से सव्वं–सर्व दिस्स–देख करके पाणे–प्राणों को पियायए–प्रिय स्वरूपों को न हणे–घात न करे पाणिणो–प्राणी के पाणे–प्राणों को और भय–भय वेराओ–वैर से उवरए–निवृत्त होवे।

मूलार्थ—आत्मा में अर्थात् मन में सर्व प्रकार से सब सुख दुःख आदि रहते हैं और हर एक जीव को अपने प्राण अत्यन्त प्रिय हैं। ऐसा जानकर किसी भी प्राणी के प्राणों का घात न करे तथा भय और वैर से सदा उपरत रहे।

टीका—सर्व प्रकार के विचारों और संस्कारों की उत्पत्ति और स्थिति का आधार मन है। कर्मबन्ध और कर्मनिर्जरा की मूलभित्ति का भी मन के ऊपर ही अवलम्बन है। एवं सुख दुःख आदि का भोग भी मन के ही आश्रित है तथा बन्ध और मोक्ष व्यवस्था भी मन की कलुषितता और विशुद्धि के आधीन है। इसलिए इस दृष्टि से संसार के समस्त व्यापारों को आध्यात्मिक कहा जा सकता है तथा प्रत्येक प्राणी को सुख की अभिलाषा रहती है। हर एक जीव को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। संसार में ऐसा एक भी जीव दृष्टिगोचर नहीं हो सकता कि जिसने कभी भी दुःख की इच्छा की हो। इससे सिद्ध हुआ कि प्रियवस्तु सुख का हेतु है और अप्रिय वस्तु दुःख का कारण है। संसार में जितने भी जीव हैं उनको प्राणों से अधिक और कोई वस्तु प्यारी नहीं है। यावन्मात्र प्राणी हैं वे सब अपने प्राणों की रक्षा के निमित्त और सब कुछ दे देने को तैयार रहते हैं। इसलिए प्राण सब से अधिक प्रियवस्तु है। ऐसा समझ लेने पर किसी प्राणी के प्राणों का कभी भी अपहरण या घात नहीं करना चाहिए तथा घात करने की किसी को प्रेरणा भी नहीं करनी चाहिए। एवं घातक के इस क्रूर कर्म की अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिए।

प्राणिमात्र को अपने समान समझ कर उनकी यथाशक्ति रक्षा करने में ही प्रवृत्त होना चाहिए। अपिच किसी प्राणी के घात न करने के अतिरिक्त किसी जीव को सामान्य भय भी नहीं देना चाहिए और किसी जीव से वैरभाव भी नहीं रखना चाहिए अर्थात् आत्मान्वेषी पुरुष को प्राणवध के अतिरिक्त भय और वैर से भी सदा के लिए उपरत हो जाना चाहिए। स्मरण रहे कि जो प्राणी किसी जीव का वध नहीं करता, किसी को भय नहीं देता और किसी से वैर नहीं करता तथा हर एक जीव के सुख दुःख को अपनी आत्मा का सुख दुःख समझता है, उसी की आत्मा में दिव्य ज्ञान की अलौकिक ज्योति का उदय होता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

आयाणं नरयं दिस्स, नायएज्ज तणामवि ।
दोगुञ्छी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं ॥८॥

आदानं नरकं दृष्ट्वा, नाददीत तृणमपि ।
जुगुप्स्यात्मनः पात्रे, दत्तं भुञ्जीत भोजनम् ॥८॥

पदार्थान्वयः—आयाणं–धन धान्यादि निरयं–नरक का हेतु दिस्स–देख करके नायएज्ज–ग्रहण न करे तणामवि–तृणमात्र भी दोगुञ्छी–आहार के विना निर्वाह नहीं हो सकता। इस प्रकार से आत्मा की जुगुप्सा–निन्दा करने वाला अप्पणो–अपने पाए–पात्र में दिन्नं–गृहस्थ का दिया हुआ भोयणं–भोजन भुंजेज्ज–खावे।

मूलार्थ—धनधान्यादि पदार्थों को नरकप्राप्ति का हेतु समझ कर तृण मात्र भी विना किसी की आज्ञा के ग्रहण न करे। तथा आहार के विना इस शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता, इस प्रकार से आत्मजुगुप्सा–आत्मनिन्दा करता हुआ साधु पुरुष अपने पात्र में किसी गृहस्थ के द्वारा दिए हुए भोजन का आहार करे।

टीका—यह गाथा साधु के विशिष्ट आचार से सम्बन्ध रखती है। इसमें इस बात का उपदेश किया गया है कि धनधान्यादि का ग्रहण करना यह नरक का हेतु है। इसलिए विना आज्ञा के साधु तृणमात्र पदार्थ को भी अंगीकार न करे तथा सदैव काल अपने आत्मा को यह उपदेश करता रहे कि मुझे धिक्कार है जो कि मैं आहार करता हूं परन्तु क्या करूं विना आहार के मैं निर्वाह नहीं कर सकता तथा यह शरीर विना आहार के रह भी नहीं सकता। इसलिए गृहस्थ के द्वारा अपने पात्र में जो भोजन उसे प्राप्त हो उसी का आहार करना चाहिए। यहां पर अपने पात्र में आहार करने की जो आज्ञा दी है उसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई गृहस्थ साधु को अपने पात्र में भोजन करने की आज्ञा भी दे दे तो भी साधु गृहस्थ के पात्र में भोजन न करे। यहां इतना स्मरण रहे कि गृहस्थ के द्वारा प्राप्त

होने वाला भोजन शुद्ध और निर्दोष ही होना चाहिए। प्रथम सत्य की गवेषणा करने का उपदेश दिया गया है, इससे दूसरा महाव्रत प्रमाणित हुआ। फिर किसी भी प्राणी का वध नहीं करना। इससे प्रथम महाव्रत का स्वरूप ज्ञात हुआ। अदत्तादान का प्रत्यक्ष निषेध किया जा रहा है जो कि तीसरा महाव्रत है। एवं 'गवासं' आदि गाथा मे परिग्रह का निषेध है और इसी के अन्तर्गत मैथुन की निवृत्ति है। इस प्रकार व्युत्क्रम रूप से विधि निषेध के द्वारा पांचों ही महाव्रतों का अंगीकार और पांचों आश्रवों—पापद्वारों का निषेध किया गया है।

जो लोग केवल ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं, और उसमें आश्रव-निरोध की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते उनके विचारों की आलोचना शास्त्रकार निम्नलिखित गाथा में करते हैं—.

इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥९॥

इहैके मन्यन्ते, अप्रत्याख्याय पापकम्।
आर्यत्वं विदित्वा, सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यते ॥९॥

पदार्थान्वयः—इहं–इस संसार में एगे–किसी एक मत के अनुयायी उ–फिर मन्नंति–मानते हैं अप्पच्चक्खाय–प्रत्याख्यान किए विना पावगं–पाप के–केवल आयरियं–आचार को–तत्त्व को विदित्ता–जानकर णं–वाक्यालंकार में सव्व–सर्व दुक्खा–दुःखों से विमुच्चई–छूट जाता है।

मूलार्थ—किसी एक मत के अनुयायियों की ऐसी मान्यता है कि आश्रवों–पापद्वारों को बन्द किए विना अर्थात् इनका त्याग किए विना ही केवल अपने कर्तव्यानुष्ठान को जान लेने से आचार को–तत्त्व को समझ लेने से यह जीव सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है–छूट जाता है।

टीका—कितने एक ज्ञानवादियों का ऐसा मत है कि पापकर्मों का प्रत्याख्यान किए विना ही केवल कर्त्तव्यविषय के ज्ञानमात्र से ही यह प्राणी दुःखों से छूट जाता है। इसलिए शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त होने के लिए केवल

ज्ञानमात्र की ही आवश्यकता है। परन्तु उन महानुभावों का यह कथन कुछ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि ओषधि के ज्ञानमात्र से कभी रोग की निवृत्ति होती नहीं देखी गई किन्तु रोग दूर करने के लिए तो उसके अनुकूल रोगप्रतिकारक ओपधि का भक्षण करना ही आवश्यक होता है। तात्पर्य कि जिस प्रकार ओषधि के ज्ञानमात्र से रोग की निवृत्ति नहीं हो सकती किन्तु रोग को समझकर उसके अनुसार रोगनाशक ओषधि का उपयोग करना आवश्यक है इसी प्रकार कर्मजन्य रोग की निवृत्ति भी केवल कर्म के ज्ञानमात्र से नहीं हो सकती उसके लिए तो आश्रव-त्यागरूप चारित्र के अनुष्ठान की आवश्यकता है। दुःख और उसके कारणभूत कर्माश्रवों के ज्ञान के साथ २ उनके त्याग करने रूप चारित्राराधन भी नितान्त आवश्यक है। इसलिए दुःखों से छूटने अथवा मोक्ष को प्राप्त करने के लिए न केवल चारित्र ही अपेक्षित है और न केवल ज्ञानमात्र की ही आवश्यकता है किन्तु ज्ञान और चारित्र दोनों ही अपेक्षित हैं। तात्पर्य कि ज्ञान के साथ चारित्र और चारित्र के साथ ज्ञान इन दो के साथ रहने पर ही दुःख की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति संभव हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसी आशय को ध्यान में रखकर जैन शास्त्रकारों ने 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' इस सूत्र रूप में उक्त सिद्धान्त को स्थिर कर दिया है। अतः ज्ञानमात्र से ही दुःखनिवृत्ति या मोक्षप्राप्ति की मान्यता केवल भ्रान्त कल्पना है जो कि किसी प्रकार से भी विश्वास के योग्य प्रतीत नहीं होती। इसके अतिरिक्त मूल गाथा मे दिए गए 'आयरियं' शब्द के संस्कृतप्रतिरूप आचार्य, आचरित और आर्य ये तीन शब्द बनते हैं। सो यहां पर इन तीनों का अर्थ ज्ञान ही अभिप्रेत है।

अब इसी विषय मे फिर कहते हैं—

भणंता अकरेन्ता य बन्धमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं ॥१०॥

भणन्तो ऽकुर्वन्तश्च बन्धमोक्षप्रतिज्ञिनः ।
वाग्वीर्यमात्रेण समाश्वासयन्त्यात्मानम् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—भणंता—बोलते हुए य—और अकरेन्ता—क्रिया न करते हुए

बन्धमोक्ख–बन्ध और मोक्ष के पइण्णिणो–संस्थापक वाया–वचन विरिय–वीर्य मत्तेण–मात्र से अप्पयं–आत्मा को समासासेंति–आश्वासन देते हैं।

मूलार्थ—अकेला ज्ञान ही मोक्ष का साधक है, इस प्रकार बोलने और तदनुकूल किसी प्रकार की क्रिया का अनुष्ठान न करने वाले ऐसे बन्धमोक्ष के व्यवस्थापकवादी लोग केवल वचनमात्र से ही अपने आत्मा को आश्वासन देते हैं।

टीका—इस गाथा मे ज्ञानवादियों का युक्तिपूर्वक कुछ मीठा सा उपहास किया गया है। शास्त्रकार कहते हैं कि ज्ञानवादी महानुभावों का कथन है कि अकेला ज्ञान ही मोक्षप्राप्ति का प्रधान हेतु है, इसी से मोक्ष की उपलब्धि सुनिश्चित है। अतः चारित्र का आराधन सर्वथा अनावश्यक है। तथा बन्ध और मोक्ष के स्वरूप को जान लेना ही बन्ध की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था–स्थापना करने वाले ये वादी लोग वास्तव मे वचनमात्र से ही अपने आत्मा को आश्वासन देते है किन्तु उनके कथनानुसार मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा नहीं। क्योंकि केवल जान लेने से ही प्राप्तव्य स्थान की उपलब्धि कभी नहीं हो सकती। उसके लिए तो साथ में गमन रूप क्रिया भी अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त ज्ञानवादियों की ओर से यह भी कहा जाता है कि जिस प्रकार घर के अन्दर रहा हुआ वर्षों का अन्धकार दीपक के प्रकाश से उसी क्षण में चला जाता है ठीक उसी प्रकार हृदय में ज्ञान का उदय होते ही दुःख के हेतुभूत सर्व कर्म भाग जाते है, परन्तु यह उनका कथन कुछ सारयुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ज्ञान तो प्रकाशक है, प्रेरक नहीं। इसलिए वह कर्ममल को दूर करने की अपने में शक्ति नहीं रखता। कर्ममल को धोने अथवा दूर करने का सामर्थ्य तो आस्रवनिरोध रूप चारित्र में है। जिस प्रकार घर में प्रकाशित हुए दीपक से घर का अन्धकार तो चला जाता है परन्तु वहां पर पड़े हुए पत्थर, कंकर और कूड़े कर्कट को वह प्रकाश दूर नहीं कर सकता इसी प्रकार हृदयमंदिर मे ज्ञान का उजाला होने पर उससे आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल का दूर होना कठिन है। तथा जिस प्रकार घर के अन्दर रहे हुए कूड़े कचरे को दीपक के प्रकाश से देख भाल कर झाड़ू के द्वारा उसको निकाल कर बाहर फेंक दिया जाता है इसी प्रकार ज्ञानज्योति से आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को देखकर चारित्र के

द्वारा अलग करके बाहर फेंक देने की आवश्यकता है। इसलिए ज्ञान और चारित्र दोनों की ही आवश्यकता है। अकेला ज्ञान तो पंगु पुरुष के समान है, जो कि अपने हित और अहित को देख तो सकता है परन्तु कुछ कर नहीं सकता अर्थात् उसके अनुसार उससे चल कुछ नहीं सकता। इसी प्रकार अकेली क्रिया अन्धे पुरुष के समान है, जिसमें क्रिया तो है परन्तु अपने साध्य स्थान का उसे ज्ञान बिलकुल नहीं है। इसलिए वह इधर उधर भटकता फिरता है। इससे सिद्ध हुआ कि अकेला ज्ञान या अकेली क्रिया दुःखनिवृत्ति या मोक्षप्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं है किन्तु दोनों का समुच्चय ही कार्यसाधक हो सकता है। इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि जो भी क्रिया हो वह ज्ञानपूर्वक होनी चाहिए तभी अभीष्ट की सिद्धि हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

अब उक्त पक्ष का प्रकारान्तर से शास्त्रकार स्वयं निराकरण करते हैं—

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।
विसण्णा पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥११॥

न चित्रा त्रायते भाषा, कुतो विद्यानुशासनम्।
विषण्णाः पापकर्मभिः, बालाः पण्डितमानिनः ॥११॥

पदार्थान्वयः—चित्ता–नाना प्रकार की भासा–भाषा न तायए–रक्षक नहीं है कुओ–कहां से विज्जाणुसासणं–विद्या का सीखना रक्षक होगा–जो विसण्णा–निमग्न हैं पावकम्मेहिं–पापकर्मों में बाला–अज्ञानी पंडियमाणिणो–अपने आपको पंडित मानने वाले।

मूलार्थ—जब कि नाना प्रकार की भाषाएं इस जीव की रक्षा नहीं कर सकतीं तो भला मंत्रादि विद्याओं का सीखना कहां से रक्षक हो सकेगा? इस प्रकार जो जीव पापकर्मों में निमग्न होते हुए अपने आपको पंडित मानते हैं, वे वास्तव में मूर्ख ही हैं।

टीका—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि संस्कृत, प्राकृत आदि आर्य तथा अनार्य भाषाओं का केवलमात्र ज्ञान प्राप्त कर लेने से इस जीव की रक्षा नहीं हो सकती अर्थात् यदि इन भाषाओं में ही ज्ञान की मुख्यता स्वीकार कर ली

जावे तो भी वह पापों से नहीं बचा सकती । जब ऐसा ही है तो सामान्य मंत्र विद्यारोहिणी और प्रज्ञप्ति आदि विद्या तथा न्याय, मीमांसा आदि केवल वा आडंबर-वर्द्धक शुष्क वाद विवाद की विद्या कहां से रक्षक बन सकेंगी ? इसलिए यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिए कि जो जीव नाना प्रकार की भाषाओं का वेत्ता और दार्शनिक विषयों के ज्ञान में निष्णात तथा मंत्रादि विद्या में प्रवीण होने पर भी पापकर्मों मे निमग्न है अर्थात् हिंसा, चोरी, झूठ और व्यभिचार आदि पाप-जनक कृत्यों—व्यापारों का सेवन करता है वह उक्त विद्याओं में प्रवीण होने के कारण अपने को पंडित मानता हुआ भी वास्तव में मूर्ख ही है । वास्तविक पंडित तो सत् और असत् वस्तु के विवेकपूर्वक ग्रहण और त्याग में है, न कि नानाविध भाषाओं के केवल ज्ञानमात्र प्राप्त कर लेने मे । अतः ज्ञान में भी चारित्र को अधिक प्रधानता प्राप्त है, क्योंकि चारित्र बिना ज्ञान प्राणशून्य शरीर की तरह निर्जीव और मृतप्रायः है । वह चारित्र की तरह पापावरोधक और कर्मनिर्जरा का साधक नहीं है । तथा ज्ञानशून्य चारित्र भी अधिक बलवान् नहीं होता । इसलिए मुमुक्षु पुरुष को दोनों का ही सम्पादन करना परम आवश्यक है ।

अब शरीर में अधिक आसक्ति रखने वालों के विषय मे कहते हैं—

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥१२॥

ये केचित् शरीरे सक्ताः, वर्णे रूपे च सर्वशः ।
मनसा कायवाक्येन, सर्वे ते दुःखसंभवाः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—जे—जो केइ—कोई सरीरे—शरीर में सत्ता—आसक्त हैं वण्णे—वर्ण में य—और रूवे—रूप मे सव्वसो—सर्व प्रकार से मणसा—मन से कायवक्केणं—काया और बचन से ते—वे सव्वे—सब दुःखसंभवा—दुःखों के भाजन हैं ।

मूलार्थ—जो जीव मन, वचन और काया के द्वारा सर्व प्रकार से शरीर में और शरीर के वर्ण और रूप में आसक्त हैं वे सब दुःखों के भाजन हैं ।

टीका—जो जीव शरीर मे अर्थात् उसके अवयवों और गुणों मे अधिक आसक्त हैं उनको सब से अधिक दुःख उठाना पड़ता है । क्योंकि उनको औरों की

अपेक्षा इस शरीर की रक्षा और पालनपोषण में अधिक व्यग्र रहना पड़ता है। वे इसको बलवान् और पुष्ट बनाने में रात दिन चिन्तित रहते हैं। उनका मानसिक बल इसी बात के सोचने में व्यय होता है कि किस ओषधि के सेवन से मैं अधिक बलवान् बन सकता हूं और निरन्तर इस विषय में उसकी वैद्यबन्धुओं से चर्चा चलती रहती है, यह वाणी का व्यय है। तथा बहुत से परामर्श के द्वारा प्राप्त की हुई ओषधि आदि के निर्माण और सेवन से वह अपनी कायिकशक्तिविषयक श्रम का परिचय देता है। इस प्रकार उसको अपने शरीर के रूप लावण्य को यथावत् बनाए रखने में ही अधिक से अधिक समय देना पड़ता है जो कि मुमुक्षु पुरुष के लिए सर्वथा अवांछनीय है और वास्तव में ऐसे देहाध्यासी जीव, जितने भी शारीरिक और मानसिक दुःख हैं उन सब के भाजन बनते हैं। क्योंकि उनका बढ़ा हुआ देहाध्यास उनसे अनुचित कार्य करवाने में भी ज़रा संकोच नहीं करता अर्थात् देहाध्यास के व्यामोह में पड़कर वे जघन्य से जघन्य काम करने में भी किसी प्रकार की लज्जा नहीं मानते। उसके परिणाम स्वरूप चाहे उन्हें भयंकर से भयंकर कष्ट का सामना भी क्यों न करना पड़े। अतएव उनकी आधि व्याधि में औरों की अपेक्षा जरूर कुछ न कुछ उत्कर्ष अवश्य होता है। और गाथा में आए हुए 'य—च' शब्द से रूप और वर्ण के अतिरिक्त नाना प्रकार के काम भोगादि विषय विकारों का भी समुच्चय कर लेना जिससे कि विषयासक्ति का भी बोध सुगमता से हो सके। एवं 'सव्वसो—सर्वशः' का अर्थ करना कराना और अनुमोदन करना है जिसका अभिप्राय आसक्ति की आत्यन्तिकता का बोध कराना है। सो इस प्रकार से विचार करके मुमुक्षु जीव को देहाध्यास की बिलकुल उपेक्षा कर देनी चाहिए।

अतः मुमुक्षु पुरुष के लिए जो हितकर है, अब उसका उल्लेख करते हैं—

आवण्णा दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणन्तए।
तम्हा सव्वदिसं पस्सं, अप्पमत्तो परिव्वए ॥१३॥

आपन्ना दीर्घमध्वानं, संसारे ऽनन्तके।
तस्मात् सर्वदिशं दृष्ट्वा, अप्रमत्तः परिव्रजेत् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—आवण्णा–प्राप्त हुआ दीहं–दीर्घ अद्धाणं–मार्ग को अणंतए–

अनन्त संसारंमि—संसार में तम्हा—इसलिए सव्वदिसं—सब दिशाओं को, पस्स—देखकर अप्पमत्तो—प्रमादरहित होकर परिव्वए—चले।

मूलार्थ—अज्ञानी जीव इस अनन्त संसार में जन्म मरण के बड़े लम्बे चक्र में पड़े हुए हैं। इसलिए उनकी सारी दिशाओं का अवलोकन करता हुआ मुमुक्षु पुरुष सदा प्रमादरहित होकर इस संसार में चले-विचरे।

टीका—अज्ञानी जीवों की जन्म मरण परम्परा का चक्र बराबर चलता रहता है, उसका अन्त आना बड़ा ही कठिन है। तथा प्रवाह रूप से अनादि अनन्त इस संसारचक्र पर चढ़ा हुआ जीव जिन २ दिशाओं में घूमता है वे संक्षेप से अठारह प्रकार की हैं। उनका नामनिर्देश इस प्रकार है—१ पृथिवी २ जल ३ अग्नि ४ वायु ५ मूल ६ स्कन्ध ७ बीज ८ पर्वबीज ९ द्वीन्द्रिय १० त्रीन्द्रिय ११ चतुरिन्द्रिय १२ पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च १३ नारकीय १४ देव १५ संमूर्च्छिम १६ कर्मभूमि मनुष्य १७ अकर्मभूमि मनुष्य और १८ अन्तर्द्वीप। तात्पर्य कि प्रमादी जीव इन उक्त अठारह प्रकार की दिशाओं—परिस्थितियों में निरन्तर परिभ्रमण करते रहते हैं। सो इनकी इस दशा का विलोकन करता हुआ विवेकी पुरुष अपने संयम मार्ग में सदा अप्रमत्त रहकर विचरण करे। क्योंकि प्रमाद का फल निस्सन्देह संसारभ्रमण ही है। अतः जो जीव प्रमाद के वश में आकर अपने संयम मार्ग से इधर उधर हो जाते हैं वे फिर जन्म मरण के चक्र पर चढ़ कर संसार में घूमने लग जाते हैं और उनका परिभ्रमण मार्ग बहुत ही लम्बा होता है। इन सारी बातों का विचार करके मुमुक्षु पुरुष कभी भी प्रमाद का सेवन न करे और सदा सावधान रहकर ही अपने संयम मार्ग पर चलता रहे। इसी प्रयोजन से शास्त्रकार लिखते हैं कि—'सव्वउ पमत्तस्स भयं सव्वउ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं' अर्थात् जो प्रमादी पुरुष है उसी को भय है और जो प्रमाद से रहित है उसको किसी प्रकार का भी भय नहीं है।

अब प्रमादरहित पुरुष के आगामी कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं—

बहिया उड्ढमादाय नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे ॥१४॥

बाह्यमूर्ध्वमादाय नावकांक्षेत् कदापि च ।
पूर्वकर्मक्षयार्थम् इमं देहं समुद्धरेत् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—बहिया-संसार से बाहर उड्ढं-ऊंचे को आदाय-ग्रहण करके नावकंखे-विषयादि की इच्छा न करे कयाइवि-कदाचित् भी पुव्वकम्मक्खय-ट्ठाए-पूर्व कर्मों का क्षय करने के लिए इमं-इस देहं-देह को समुद्धरे-पाले-पोपे।

मूलार्थ—मोक्ष-सुख को जन्म मरण-उत्पत्ति विनाश से रहित और सर्वोच्च-सर्वश्रेष्ठ समझ कर मुमुक्षु पुरुष विषयसुख की किसी समय और किसी दशा में भी अभिलाषा न करे किन्तु इस शरीर का पालनपोषण भी केवल कर्मों के क्षय के लिए ही करे।

टीका—मोक्षस्थान सब से ऊंचा, सब से श्रेष्ठ और जन्म मरण अथवा वृद्धि ह्रास से सर्वथा रहित है। अथवा यों कहिए कि मोक्ष का सुख विनाश से रहित और निरतिशय सुख है। अतः उस सुख को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला और उसी के लिए संयम ग्रहण करने वाला साधु विषयों की ओर कभी प्रवृत्त न हो तथा विषयजन्य सुख की किसी समय और किसी दशा मे भी निकृष्ट अभिलाषा न करे। क्योंकि विषयों की अभिलाषा आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाली है। परन्तु यहां पर यदि कोई प्रश्न करे कि अगर विषयों की इच्छा का सर्वथा त्याग ही कर देना है तो फिर इस शरीर को खान पान आदि के द्वारा स्थिर रखने की भी क्या जरूरत है ? इसका समाधान सूत्रकार यों करते हैं कि पूर्व कर्मों के विनाश के लिए इस शरीर का संरक्षण करना परम आवश्यक है। क्योंकि बिना इसके संयमानुष्ठान के द्वारा होने वाला कर्मों का विनाश सर्वथा असम्भव है। तात्पर्य कि धर्मानुष्ठान के लिए ही शरीर रखने की आवश्यकता है न कि अन्नादि के द्वारा पुष्ट करके विषयसेवनार्थ उसको स्थिर रखने की। इस सारे विवेचन में सूत्रकार ने मोक्ष का स्थान, उसके साधन और शरीर के पालन पोषण का उद्देश्य इन तीनों बातों को अच्छी तरह से समझा दिया है। जैसे कि मोक्ष का स्थान सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है, उसका साधन विषयों से सर्वथा निवृत्त होकर संयम का आराधन करना है। तथा निर्दोष भिक्षा के द्वारा शरीर के पोषण करने का तात्पर्य पूर्वसंचित कर्ममल का विनाश करना है। इस प्रकार साधनसम्पन्न मुमुक्षु

जीव एक न एक दिन आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को धोकर आत्मशुद्धि को अवश्य प्राप्त कर लेता है जो कि परम कल्याणस्वरूप निर्वाण का अतिनिकटवर्ती पूर्वरूप है।

अब अप्रमत्त मुनि के अन्य आचार का वर्णन करते हैं—

विगिंच कम्मुणो हेउं, कालकंखी परिव्वए।
मायं पिंडस्स पाणस्स, कडं लद्धूण भक्खए ॥१५॥

विविच्य कर्मणो हेतुं, कालकांक्षी परिव्रजेत्।
मात्रां पिण्डस्य पानस्य, कृतं लब्ध्वा भक्षयेत् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—विगिंच–दूर कर कम्मुणो–कर्म के हेउं–हेतु को कालकंखी–समयज्ञ होकर परिव्वए–संयम मार्ग में चले पिंडस्स–अन्न की पाणस्स–पानी की मायं–मात्रा को जानकर कडं–किया हुआ लद्धूण–प्राप्त करके भक्खए–भक्षण करे।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू कर्म के हेतु को दूर कर और संयमशील साधु को चाहिए कि वह समयविभाग के अनुसार ही अपने आचार का पालन करता हुआ विचरे तथा अन्न और जल की मात्रा–परिमाण का विचार करके गृहस्थों ने अपने लिए जो भोजन तैयार किया है, उसको प्राप्त करके भक्षण करे।

टीका—इस गाथा में कर्मबन्ध के हेतु मिथ्यात्व–अविरति और कषाय आदि को दूर करने का जो उपदेश किया गया है उसका प्रयोजन यह है कि बिना इनके दूर किए अप्रमत्त भाव से संयम का पालन नहीं हो सकता तथा उसकी–संयम की निरतिचारता–शुद्धि के लिए मुनि को यह भी आवश्यक है कि वह अपने उपयोग में लाए जाने वाले अन्न और जल के परिमाण और प्रासुकता–निर्दोषिता का भी पूरा ध्यान रक्खे। इसलिए वह सचित्त जल और आधाकर्मी आदि दोषयुक्त आहार की सदा उपेक्षा करता हुआ गृहस्थ में अपने लिए जो आहार घर में तैयार किया है, उसी को अपनी साधु वृत्ति के अनुसार प्राप्त करके भक्षण करे। सारांश कि इस प्रकार से जब साधु कर्मों के हेतुओं को दूर कर देगा और समयविभाग के अनुसार संयम मार्ग में चलेगा तथा संयम की निर्मलता के लिए निर्दोष आहार का ग्रहण

करेगा तब फिर वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ हो जायगा। यहां पर वृत्तिकार ने 'विगिंच' के स्थान में 'विविच' पाठ मानकर, जिसका संस्कृत प्रतिरूप 'विविच्य' बनता है, व्याख्या की है परन्तु बहुत सी प्रतियों में ऊपर दिया गया पाठ ही देखने में आता है, सो वही पाठ रखकर उपर्युक्त व्याख्या की गई है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ॥१६॥

संनिधिं च न कुर्वीत, लेपमात्रया संयतः।
पक्षी पत्रं समादाय, निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥१६॥

पदार्थान्वयः—संनिहिं–संचय न कुव्वेज्जा–न करे लेवमायाए–लेपमात्र प्रमाण भी संजए–संयत साधु पक्खी पत्तं–पक्षी के पंखों की तरह पात्र को समादाय–ग्रहण करके निरवेक्खो–अपेक्षारहित होकर परिव्वए–संयम मार्ग में विचरे वा भिक्षाचरी में जावे।

मूलार्थ—संयमशील साधु रात्रि में लेपमात्र भी–पात्र के लेपमात्र जितना भी अर्थात् अंशमात्र भी अन्नादि वस्तु अपने पास न रक्खे किन्तु अपेक्षारहित–आशारहित होकर पक्षी की तरह पात्र को लेकर संयम मार्ग में विचरे अथवा भिक्षा के लिए परिभ्रमण करे।

टीका—इस गाथा में साधु को खाने वाले किसी अन्नादि पदार्थ को दूसरे दिन के लिए रखने का निषेध किया गया है अर्थात् भिक्षा द्वारा लाए हुए अन्नादि पदार्थों को दूसरे दिन के लिए यह वस्तु मैं कल को खा लूंगा, इस अभिप्राय से रात्रि में संचित करके न रक्खे। इसलिए साधु को उतना ही आहार लाने की शास्त्रकारों ने आज्ञा दी है जितना कि वह अपने लिए पर्याप्त समझे। अधिक लाकर उसे अगले दिन के लिए रात्रि में सम्भाल कर रखने का सर्वथा निषेध है। अतः साधु किसी खाद्य पदार्थ का अंशमात्र भी संग्रह न करे। संयमशील साधु की अवस्था तो एकपक्षी के समान होनी चाहिए जो कि इधर उधर से प्राप्त किए

अन्नादि कणों का भक्षण करके उड़ जाता है और आगामी दिन के लिए अपने पास किसी भी खाद्य पदार्थ का संग्रह करके नहीं रखता। एवं निरपेक्ष होकर जैसे वह विचरता है उसी प्रकार साधु को संसार में विचरना चाहिए। तथा रात्रि के समय जैसे पक्षिमात्र अपने परों को संभार कर किसी प्रकार की आशा को न रखता हुआ एक स्थान में निश्चिन्त होकर बैठ जाता है उसी प्रकार साधु भी रात्रि में अपने सूखे भिक्षापात्रों को लेकर तथा फिर आहार करने की आशा को छोड़कर निरपेक्ष भाव से एकान्त स्थान में बैठ कर अपने संयम का पालन करे, अपने आत्मा को धर्म ध्यान में स्थापन करे किन्तु आगामी आहार आदि की चिन्ता में निमग्न रहकर रात्रि को व्यतीत न करे। संनिधि उसे कहते हैं जिसके द्वारा यह आत्मा नरक आदि जघन्य गति में अपने आपको स्थापन करता है। इसलिए साधु को चतुर्विध आहार में से किसी आहार का भी संग्रह करके रात्रि को रखना नहीं चाहिए। यहां पर इस बात का भी खयाल रखना कि उक्त गाथा में आए हुए 'पक्षी' के आगे लुप्त 'इव' शब्द का निर्देश है, जिसका 'अर्थ 'पक्षी इव—पक्षी की तरह' किया जाता है।

अब फिर इसी विषय का विवेचन करते हैं—

एसणासमिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिण्डवायं गवेसए ॥१७॥

एषणासमितो लज्जावान्, ग्रामेऽनियतश्चरेत् ।
अप्रमत्तः प्रमत्तेभ्यः, पिण्डपातं गवेषयेत् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—एसणासमिओ—एषणा समिति से युक्त लज्जू—लज्जायुक्त—संयम वाला गामे—ग्राम में अणियओ—अनियत प्रतिबन्धरहित होकर चरे—विचरे अप्पमत्तो—प्रमाद से रहित होकर पमत्तेहिं—गृहस्थ लोगों से पिंडवायं—आहारादि की गवेसए—गवेषणा करे।

मूलार्थ—संयमशील भिक्षु एषणा समिति से युक्त होकर, अनियत रूप—प्रतिबन्धरहित होकर ग्रामादि में विचरे और प्रमादरहित होता हुआ गृहस्थ लोगों से आहार—भिक्षा आदि की गवेषणा करे।

टीका—शुद्ध संयम के पालने वाला भिक्षु एषणासमिति से युक्त होकर ग्राम वा नगरादि में प्रतिबन्धरहित होकर विचरे—विहार करे तथा स्वयं अप्रमत्त रहकर—प्रमाद का परित्याग करके प्रमादयुक्तों—गृहस्थों के घरों से विधिपूर्वक निर्दोष आहार की गवेषणा करे—भिक्षा का ग्रहण करे। यद्यपि यहां पर केवल एषणा समिति का ही उल्लेख किया है तथापि इसको ईर्यासमिति और भाषासमिति आदि का भी ज्ञापक समझ लेना चाहिए। एषणासमिति से तात्पर्य ४२ प्रकार के जो भिक्षा के दोष हैं उनको हटाकर भिक्षा ग्रहण करना है। तथा प्रमादरहित होकर विचरता हुआ साधु प्रमादशील गृहस्थों के घरों से शुद्ध और निर्दोष आहार की गवेषणा करने का जो विधान शास्त्रकारों ने किया है उसका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ लोग प्रायः प्रमादी होते हैं। उनके बार २ के संसर्ग से साधु भी कहीं प्रमाद के वशीभूत न हो जावे किन्तु सदा अप्रमत्त रहकर अपने साधुधर्मोचित आचार के अनुष्ठान मे यथाशक्ति बराबर प्रयत्न करता रहे ताकि उसके संयम में किसी प्रकार का दोष न लगने पावे क्योंकि प्रमाद ही सारे दुःखों की प्राप्ति का मूल हेतु है। यद्यपि निद्रा, विकथा, मद्य, विषय और कषाय ये पांच भेद प्रमाद के बतलाए हैं तथापि मुख्यतया प्रमाद उसी को कहते हैं जो कि आचरणीय धर्म कृत्यों का त्याग करके अधर्ममूलक आचारों का सेवन करना है।

ऊपर निर्ग्रन्थ और संयम का सामान्य रूप से स्वरूप बतलाया गया है। अब निम्नलिखित गाथा मे उसकी आदरणीयता का प्रतिपादन किया जाता है—

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे। अरहा नायपुत्ते भयवं वेसालिए वियाहिए॥

त्ति बेमि।

इति खुड्डागनियंठिज्जं छट्ठं अज्झयणं समत्तं ॥६॥

एवं स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञान्यनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः। अर्हन् ज्ञातपुत्रः भगवान् वैशालिको विख्यातः ॥

इति ब्रवीमि ।

इति क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयं षष्ठमध्ययनं समाप्तम् ॥६॥

पदार्थान्वयः—एवं–इस प्रकार से–वह भयवं–भगवान् उदाहु–कहते हुए–जो अणुत्तरनाणी–प्रधान ज्ञानी हैं अणुत्तरदंसी–प्रधानदर्शी हैं अणुत्तर–प्रधान नाणदंसणधरे–ज्ञान और दर्शन के धरने वाले हैं अरहा–अरिहंत नायपुत्ते–ज्ञात-पुत्र वेसालिए–विस्तीर्ण यश वाले, उन्होंने वियाहिए–व्याख्या की है त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—भगवान् ने इस प्रकार कहा और इस प्रकार से इसकी व्याख्या की है जो भगवान् अनुत्तर–प्रधान ज्ञानी हैं, अनुत्तरदर्शी हैं तथा अनुत्तर ज्ञान और दर्शन के धारक हैं और अरिहंत ज्ञातपुत्र तथा विशेष यश वाले हैं ।

टीका—श्री सुधर्मास्वामी श्री जंबूस्वामी से कहते हैं कि हे जम्बु ! भगवान् ज्ञातपुत्र ने इस प्रकार से उक्त अध्ययन की व्याख्या की है जो कि मैं तुम्हारे प्रति कह चुका हूं । अपिच वह भगवान् सर्वोत्कृष्ट ज्ञान और दर्शन के धारक हैं तथा इन्द्रादि देवों के द्वारा पूजे जाने से अर्हन् कहलाते हैं और ज्ञात-वंशीय महाराजा सिद्धार्थ के पुत्र हैं एवं महाराणी त्रिशला के अंग से उत्पन्न होने वाले हैं अथवा विस्तृत कीर्ति वाले या विस्तारयुक्त शिष्यसमुदाय वाले होने से भी जो वैशालिक कहे जाते हैं । उन्होंने देव और मनुष्यों की सभा में इस निर्ग्रन्थ नामक अध्ययन का वर्णन किया है । तथाच इस गाथा में भगवान् के गुणों का इसलिए कथन किया गया है कि निर्ग्रन्थ धर्म सर्वज्ञभाषित है, मोक्ष का अत्यन्त साधक है । अतएव इसके सम्यग् आराधन से जीव अवश्य मोक्षधाम को प्राप्त कर लेता है । इसके अतिरिक्त ज्ञान और दर्शन का दूसरी बार प्रयोग करने का यह भाव है कि सामान्यग्राही दर्शन है और विशेषावगाही ज्ञान है, तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के युगपत् क्षय होने से ज्ञान और दर्शन की उपलब्धि भी एक ही समय में उत्पन्न हो जाती है परन्तु दोनों का उपयोग एक समय में नहीं होता । तथाच जिस समय ज्ञान का उपयोग है उस समय दर्शन का नहीं और जिस समय दर्शन का उपयोग होता है उस समय ज्ञान का नहीं । अतः एक समय में दो उपयोग नहीं होते । एतदर्थ अर्थात् इन दोनों का भेद

सिद्ध करने के लिए ही शास्त्रकार ने दोनों का पृथक् २ दो बार प्रयोग किया है। तथा ज्ञान के साथ जो अनुत्तर विशेषण दिया है उससे भगवान् के ज्ञान की परिपूर्णता सिद्ध करनी अभिप्रेत है अर्थात् भगवान् का ज्ञान सर्वदेशी है, एकदेशी नहीं। अतएव वे सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हैं। ऐसे भगवान् के द्वारा वर्णन किए जाने से निर्ग्रन्थ धर्म की सर्वश्रेष्ठता किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखती। एवं यह निर्ग्रन्थवृत्ति कोई मूढ़वृत्ति नहीं किन्तु ज्ञान और चारित्र रूप है। इसके अतिरिक्त ज्ञान और क्रिया इन दोनों सहयोग से मोक्ष का अंगीकार करना और प्रत्येक की स्वतंत्रहेतुता का निराकरण करना अनेकान्तवाद का समर्थन और एकान्तवाद का युक्तिपुरस्सर खण्डन है। इस अध्ययन में यह भी स्पष्ट रूप से बतला दिया गया है कि यावन्मात्र दुःख हैं, उन सब का कारण अविद्या है। विद्यारहित—अज्ञानी जीव ही अधिकतया दुःखी होते हैं। इसके विपरीत सद्विद्या की प्राप्ति और सत् क्रिया का अनुष्ठान इस जीव को सर्व दुःखों से रहित करने वाला है। सो श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! जैसे मैंने भगवान् से सुना है वैसे ही मैंने तुम्हारे प्रति वर्णन कर दिया है। इसमें मेरा निजबुद्धिकल्पित कुछ नहीं है।

क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय अध्ययन समाप्त।

अह एलयं सत्तमं अज्झयणं

अथौरभ्रीयं सप्तममध्ययनम्

छठे अध्ययन में संक्षेप से निर्ग्रन्थ का स्वरूप वर्णन किया गया है, जिसको कि दूसरे शब्दों में साधुवृत्ति का नाम दे सकते हैं। परन्तु साधुवृत्ति का यथार्थ रूप से तभी संरक्षण हो सकता है जब कि रसों का परित्याग किया जाय। क्योंकि रसविषयक आसक्ति ही सर्व प्रकार के दुःखों का मूल है। रसों के विषय में अधिक मूर्च्छा—अधिक ममत्व रखने वाले जीव ही संसार में विशेष दुःख के पात्र बनते हैं। अतएव 'उरभ्रीय' नाम वाले इस सातवें अध्ययन मे पांच दृष्टान्तों के द्वारा रसों के कटु परिणाम का वर्णन किया जाता है। यही इसका छठे अध्ययन के साथ परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध है। अब वक्ष्यमाण पांचों दृष्टान्तों में से प्रथम एलक के—बकरे के दृष्टान्त का उल्लेख करते हैं—

जहाऽऽएसं समुद्दिस्स, कोइ पोसेज्ज एलयं।
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्जावि सयङ्गणे ॥१॥

यथादेशं समुद्दिश्य, कोऽपि पोषयेदेलकम्।
ओदनं यवसं दद्यात्, पोषयेदपि स्वकांगणे ॥१॥

पदार्थान्वयः—जहाऽऽएसं—किसी मेहमान आदि के समुद्दिस्स—उद्देश से कोइ—कोई एक मनुष्य एलयं—बकरे को पोसेज्ज—पोषण करे—पाले ओयणं—ओदन

जवसं–जौ–मूंग–माष आदि देज्जा–उसको देवे सयंगणे–अपने घर के आँगन में पोसेज्जा–पोषण करे–पाले वि–संभावना के अर्थ में ।

मूलार्थ—जैसे कोई पुरुष किसी प्राघुणक–मेहमान आदि के निमित्त से अपने घर में बकरे को पालता है और उसको यव आदि अच्छे पदार्थ खाने को देता है ।

टीका—इस गाथा में रसगृद्धि के परिणाम का वर्णन करने के लिए दिए गए वक्ष्यमाण पांच दृष्टान्तों में से प्रथम बकरे का दृष्टान्त देकर उक्त विषय का समर्थन किया है । सूत्रकार कहते हैं कि जैसे कोई अनार्य पुरुष किसी प्राघुणक–मेहमान के वास्ते अपने घर में एक बकरे को पालता है, उसको खूब अच्छा खिलाता पिलाता है, प्यार करता है और अपनी आंखों के सामने रखता है ।

यहां पर गाथा में पोषण का दो बार उल्लेख आया है, जिसका तात्पर्य विशेष रूप से पोषण करना है । तथा घर के आँगन में कहने से दृष्टि के सामने रखना और अत्यन्त स्नेह से पालन पोषण करना अभिप्रेत है । यह समग्र दृष्टान्त इस प्रकार से है, किसी ग्राम में किसी निर्दय–अनार्य पुरुष ने अपने एक चिर परिचित प्रिय मित्र के वास्ते एक बकरे को लाकर पाला और उसको खूब खाना दाना खिलाकर पुष्ट कर दिया । जिस प्रकार अपने पुत्र को अच्छे से अच्छा खाना खिलाया जाता है और बड़े प्यार से उसको रक्खा जाता है उसी प्रकार उस बकरे का भी वह बड़ी अच्छी तरह से पालन पोषण करता था । इसके अतिरिक्त उस घर में एक गाय भी रहा करती थी और उस गाय के एक बछड़ा भी था । जब बछड़े ने उस बकरे के स्नेहपूर्वक किए जाने वाले पालनपोषण को देखा और पालन पोषण से अत्यन्त पुष्ट हुए उसके शरीर को देखा तो वह बछड़ा अपने मन में बड़ी ही चिन्ता करने लगा और उस बकरे की अपेक्षा अपने ऊपर होने वाले निरादरपूर्वक व्यवहार की ओर देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ । उसने कुछ समय विचार करने के बाद ईर्षा में आकर अपनी माता का दूध पीना बन्द कर दिया और घास खाना भी छोड़ दिया । उसके इस व्यवहार को देखकर उसकी माता ने पूछा कि बेटा ! तू कई दिनों से न तो दूध पीता है और न घास ही खाता है किन्तु रात दिन उदास सा होकर पड़ा रहता है । तुम्हारी इस

उदासी का कारण क्या है ? तब उस बछड़े ने अपनी माता से कहा कि मैं इस बकरे को देखकर बड़ा दुःखी हो रहा हूं। देखो ! इस बकरे का कितना अच्छा पालन पोषण हो रहा है । घर का स्वामी इसके साथ कितना सुन्दर प्यार करता है, इसलिए यह बड़ा ही पुण्यशाली है । और मेरे को कोई पूछता तक भी नहीं, न कभी अच्छा घास ही खाने को मिलता है और न कभी अच्छा जल ही प्राप्त होता है, अतः मैं बड़ा मंदभागी हूं। यह सुनकर माता बोली कि बेटा ! तू इसके अच्छे पालन पोषण को देखकर दुःखित न हो । इसके शरीर में पड़े हुए भूषणों को देखकर ईर्ष्या मत कर। इसके साथ जो प्रेम किया जाता है, उस पर भी मत भूल । मुझे इसके ये सारे चिह्न ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे किसी शीघ्र मरने वाले प्राणी के होते हैं । जब किसी रोगी का रोग ओषधियों के द्वारा शान्त करने लायक नहीं रहता किन्तु असाध्य कोटि तक पहुंच जाता है तब वैद्य लोग उस रोगी के लिए यह आज्ञा कर देते हैं कि यह रोगी जो कुछ भी खाने को मांगे उसको वही खाने को दे देना चाहिए । सो जब इस बकरे के मृत्यु के दिन निकट आयेंगे तब तुमने स्वयं इस बात का अनुभव कर लेना और देख लेना कि इसकी क्या दशा होती है । कुछ दिनों के बाद उसका मित्र उसके घर में आया और उसने अपने मित्र के खान पान सम्बन्धी सत्कार के निमित्त, उस पाले हुए बकरे का वध करके उसके मांस से अपने मित्र को तृप्त किया । उस बकरे का इस प्रकार से वध हुआ देखकर वह बछड़ा भी जब अधिक भयभीत हुआ तब उसकी माता ने कहा कि पुत्र ! तुम क्यों भयभीत हो रहे हो ? क्या तुमको मैंने पहले नहीं कहा था कि ये सब चिह्न इसके मरण के दिखाई देते हैं । 'जो खाएंगे गटके' वे ही सहेंगे सटके' अर्थात् जिन्होंने अन्याय का खाना है उन्होंने ही भारी दुःख उठाना है । हम तो सूखा घास खाते हैं और उसके बदले मे दूध देते हैं तथा कृषिसम्बन्धी और काम के सम्पादन में पूरी सहायता देते हैं, इसलिए हमें किसी का भय नहीं है । मृत्यु का भय तो उन्हीं को होता है, जो अन्याय के द्रव्य से अपना पालन पोषण करते हैं ।

इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि जो लोग अधर्माचरण में प्रवृत्त होते हुए रसों में अधिक आसक्ति–अधिक लम्पटता रखते हैं, वे निस्सन्देह नरकादि गति की अशुभ आयु को बाँधते हैं ।

अब मूलकार ही इस दृष्टान्त के अवशिष्ट भाग का उल्लेख करते हुए उस बकरे की आगे की दशा का वर्णन करते हैं—

तओ से पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे।
पीणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए ॥२॥

ततः स पुष्टः परिवृढः, जातमेदो महोदरः।
प्रीणितो विपुले देहे, आदेशं परिकांक्षति ॥२॥

पदार्थान्वयः—तओ–तदनन्तर से–वह–छाग पुट्ठे–पुष्ट परिवूढे–समर्थ जायमेए–बढ़ी हुई मेद–चर्वी वाला महोदरे–महान् उदर वाला पीणिए–तृप्त विउले–विपुल देहे–देह–होने पर आएसं–आदेश को परिकंखए–चाहता है।

मूलार्थ—तदनन्तर अर्थात् भली भांति पालन पोषण होने के बाद उस बकरे का शरीर बड़ा पुष्ट और बलवान् हो गया। चर्बी का भी उसके शरीर में पर्याप्त संचय हो गया और उदर भी बढ़ गया। इस प्रकार परितृप्त और विशालकाय होने पर वह आदेश की आकांक्षा करने लगा अर्थात् जिस मेहमान के लिए उसका पालन पोषण हो रहा है, उसकी प्रतीक्षा करता है।

टीका—बड़े प्रेम और सावधानी के साथ पालन पोषण होने पर उस बकरे के शरीर की जो दिल दहलाने वाली अवस्था हो गई, उसका इस गाथा में निरूपण किया गया है। उसका शरीर मांस आदि की वृद्धि से अत्यन्त पुष्ट हो गया तथा शरीर में रहने वाली दुर्बलता जाती रही, उसके शरीर मे मेद की वृद्धि पर्याप्त रूप में उपलब्ध होने लगी। इसी कारण से उसका पेट भी खूब बढ़ गया तथा यथेष्ट आहार के मिलने से वह पूर्णरूप से तृप्त हो रहा है। इस प्रकार उसके शरीर और अंग प्रत्यंगों में यथेष्ट वृद्धि होने पर, विशालकाय का वह बकरा उस मेहमान की आकांक्षा कर रहा है जिसके निमित्त उसकी इतनी सेवा हुई है। यद्यपि उस बकरे की मरने की इच्छा नहीं और न वह इस प्रकार की इच्छा करता है तथापि अपने स्वामी के आदेशानुसार जिस उद्देश्य से उसका जिस तरह से पालन पोषण हो रहा है उसका अर्थ यही है कि वह उस मेहमान के रूप में मानों अपने काल की

ही प्रतीक्षा कर रहा है। यह भाव गाथा में प्रयुक्त हुए लुप्त 'इव' शब्द से व्यक्त होता है, जो कि साक्षात् न रहने पर भी अपने अर्थ को प्रकाशित कर रहा है। ऐसी जनश्रुति भी है कि अगर कोई परिमाण से अधिक खाता या अधिक काम करता है तो लोग झट कह उठते हैं कि इसके तो मरने के दिन समीप आए हुए हैं।

प्राघुणिक के आने पर उस बकरे की जो दशा होती है, अब उसका वर्णन करते हैं—

जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई ॥३॥

यावन्नैत्यादेशः, तावज्जीवति स दुःखी।
अथ प्राप्त आदेशे, शीर्षं छित्त्वा भुज्यते ॥३॥

पदार्थान्वयः—जाव–जब तक न–नहीं एइ–आता आएसे–आदेश–पाहुना ताव–तब तक जीवइ–जीता है से–वह छाग दुही–दुःखी अह–अथ आएसे–पाहुने के पत्तंमि–प्राप्त होने पर सीसं–मस्तक को छेत्तूण–छेदन करके भुज्जई–खाया जाता है।

मूलार्थ—जब तक घर में पाहुना–मेहमान नहीं आया तब तक वह छाग जीता है और पाहुने के आने पर वह दुःखी सिर छेदन करके खाया जाता है।

टीका—वह छाग तभी तक आनन्द लूटता और खुशी मनाता है जब तक कि घर में पाहुना नहीं आता और पाहुने के आते ही उसका वह आनन्द–वह खुशी शोक और दुःख के रूप में बदल जाते हैं। उस समय उसका सिर धड़ से अलग करके उसके मेदयुक्त मांस से उस पाहुने के साथ घर के सभी लोग तृप्त होते हैं। तात्पर्य कि रसगृद्धि का यह अंतिम परिणाम है। यहां पर इस बात का भी विचार कर लेना चाहिए कि सूत्रकार ने बकरे के जीवित काल में भी उसको दुःखी शब्द से निर्दिष्ट किया है वह भावी दुःख को लक्ष्य में रखकर किया है। वर्तमान काल में यद्यपि वह सुखी है तथापि उसका निकट भविष्य दुःखपूर्ण होने

से उसको दुःखी कहा गया है। आगामी दुःख का वर्तमानकालीन सुख मे उपचार करने से वर्तमान समय के सुख को भी दुःखरूप में किसी नय के अनुसार वर्णन किया जा सकता है।

अब उक्त दृष्टान्त का उपनय करके दिखाते हैं—

जहा से खलु ओरब्भे, आएसाए समीहिए ।
एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं ॥४॥

यथा स खलूरभ्रः, आदेशाय समीहितः ।
एवं बालोऽधर्मिष्ठः, ईहते नरकायुः ॥४॥

पदार्थान्वयः—जहा–जिस प्रकार से–वह खलु–निश्चयार्थक है ओरब्भे–बकरा आएसाए–मेहमान के लिए रक्खा हुआ समीहिए–पाहुने–मेहमान को चाहता है एवं–इसी प्रकार बाले–अज्ञानी अहम्मिट्ठे–अधर्म करने वाला नरयाउयं–नरकायु को ईहई–चाहता है।

मूलार्थ—जिस प्रकार प्राघुणक–मेहमान के लिए रक्खा हुआ बकरा प्राघुणक–मेहमान को चाहता है, उसी प्रकार अधर्म करने वाला अज्ञानी जीव नरक-आयु को चाहता है।

टीका—इस गाथा में अज्ञानी जीव को बकरे से उपमित किया गया है अर्थात् जिस प्रकार पाहुने के लिए कल्पित किया गया वह बकरा पाहुने को चाहता है वैसे ही विवेकशून्य अधर्मी पुरुष नरकायु को चाहता है। यहां पर 'ईहई' क्रिया-पद से 'चाहता है' अर्थ की संगति इस प्रकार से हो सकती है। मनुष्य जिस प्रकार के कर्म मे प्रवृत्त होता है, उसी के अनुरूप उसकी इच्छा बन जाती है। जैसे किसी राजकीय पाठशाला में पढ़ने वाले अनेक विद्यार्थी अपने २ भाव के अनुसार अमुक २ पद के उपासक बनते हैं। यथा–कोई विद्यार्थी तो वकील बनना चाहता है, कोई जज बनने की इच्छा रखता है और कोई डाक्टर या मास्टर बनने की धुन मे है, उसी प्रकार जो जीव जिस योनि के कर्म करते हैं वे उपचार से उसी योनि के चाहने वाले कहे जाते हैं। इसलिए मेहमान के परितोष के लिए पलने वाले बकरे

और अधर्म करने वाले मूर्ख जीव की क्रमशः मेहमान और नरकायु को चाहने की जो धारणा है वह उपचार नय से उपयुक्त एवं युक्तिसंगत है। और जिस प्रकार पाहुने को देखकर वह बकरा दुःखी होता है, उसी प्रकार अधर्म का आचरण करने वाला मूर्ख पुरुष मृत्यु के निकट आने पर दुःखी होता है। इस दृष्टि से इन दोनों की बहुत ही समानता है।

अब अधर्म का आचरण करने वालों के लक्षण कहते हैं—

हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणंमि विलोवए ।
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कं नु हरे सढे ॥५॥

हिंस्रो बालो मृषावादी, अध्वनि विलुम्पकः ।
अन्यादत्तहरः स्तेनः, मायी कन्नु हरः शठः ॥५॥

पदार्थान्वयः—हिंसे—हिंसा करने वाला बाले—अज्ञानी मुसावाई—मृषावादी—झूठ बोलने वाला अद्धाणंमि—मार्ग में विलोवए—लूटने वाला अन्नदत्तहरे—विना दिए वस्तु के उठाने वाला तेणे—चोर माई—छल करने वाला कं—किसको नु—वितर्क में हरे—हरूं ऐसा विचार करने वाला सढे—शठ—धूर्त।

मूलार्थ—हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, मार्ग में लूटने वाला, विना दिए किसी की वस्तु को उठाने वाला, चोरी करने वाला, छल कपट करने वाला और किस की चोरी करूं ऐसा विचार रखने तथा धूर्तता करने वाला ऐसा मूर्ख पुरुष नरक की आयु को बाँधने वाला होता है अर्थात् अज्ञानी-मूर्ख पुरुष के इस प्रकार के जघन्य आचरण उसे नरक में ले जाते हैं।

टीका—इस गाथा में पूर्वगाथोक्त विषय का ही कुछ विस्तार सहित वर्णन किया गया है। जो जीव नरक की आयु को चाहने वाले होते हैं उनके उक्त प्रकार के ही लक्षण अथवा कर्तव्य होते हैं तात्पर्य कि वे सदैव हिंसा, झूठ, चोरी और लूटमार आदि नीच कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं एवं सत्य और न्यायमार्ग के विनाश और असत्यमार्ग का अनुसरण ही उनका मुख्य कर्तव्य होता है। दूसरों से दगा करना, उनके धन को हरना और येन केन उपायेन उनको लूटने का प्रयत्न करना इत्यादि आचरण उनके जन्मसिद्ध अधिकार के समान होते हैं। इसलिए जब

कभी किसी आत्मा के इस प्रकार के दुराचरण हों तो समझ लेना चाहिए कि यह जीव केवल दुर्गति का ही अतिथि-मेहमान बन रहा है। क्योंकि स्वर्ग या नरक गति स्वयं तो किसी को आमंत्रित करती नहीं किन्तु यह जीव जिस गति के योग्य शुभ अथवा अशुभ कर्मों का आचरण करता है, उसी गति की वह आयु बाँध लेता है और तदनुसार ही उसे स्वर्ग अथवा नरक गति का पूर्ण आतिथ्य प्राप्त होता है। अतः सिद्ध हुआ कि जो जीव अपनी अज्ञानता से उक्त प्रकार के जघन्य काम करते हैं, उन्हें अवश्य नरक में जाना होगा, अथवा यों कहिए कि नरक में जाने वाले जीव ही इस प्रकार के अतिनिन्दनीय कामों को करते हैं।

यहां पर 'अध्वन्' शब्द के दो अर्थ हैं—एक मार्ग और दूसरा धर्म। तब इसका अर्थ हुआ—मार्ग में लूटने वाला व धर्म का विध्वंस करने वाला।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

इत्थीविसयगिद्धे य, महारंभपरिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ॥६॥

स्त्रीविषयगृद्धश्च, महारंभपरिग्रहः।
भुञ्जानः सुरां मांसं, परिवृढः परंदमः ॥६॥

पदार्थान्वयः—इत्थीविसयगिद्धे-स्त्री के विषय में मूर्च्छित-आसक्त महारंभपरिग्गहे-महान् आरम्भ और परिग्रह वाला य-और सुरं-सुरा-मद्य मंसं-और मांस को भुंजमाणे-खाता हुआ परिवूडे-समर्थ परंदमे-पर को दमन करने वाला।

मूलार्थ—इस प्रकार का अज्ञानी जीव स्त्रियों में आसक्त, महान् आरम्भ और परिग्रह वाला तथा मदिरा और मांस का सेवन करने वाला, बलवान् होकर दूसरों को दमन करने वाला होता है।

टीका—इस गाथा में भी नरकयोग्य प्राणियों के आचरणों का वर्णन किया गया है। नरकगति मे जाने वाले जीव स्त्री भोग सम्बन्धी विषय विकारों मे अधिक मूर्च्छित होते हैं। उनकी कामभोगादि विषयों मे बहुत तीव्र अभिलाषा रहती

है। फिर उनकी हिंसा आदि दुष्कर्मों मे अधिक प्रवृत्ति रहती है। और वे धन आदि के संचय करने में अधिक व्यग्र रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनका भोजन भी सात्त्विक नहीं होता। वे मद्य और मांस का विना संकोच व्यवहार करते हैं तथा उनका शारीरिक बल भी दूसरों का दमन करने के लिए ही होता है।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिए कि महारंभ और महापरिग्रह ये दोनों ही नरक के हेतु तो हैं परन्तु मांस और मदिरा का व्यवहार तो विशेष रूप से नरकगति का कारण है। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा मे इन दोनों का पृथक् २ प्रयोग किया है। सारांश कि इस प्रकार के दुष्ट कर्म करने वाले अधम आत्माओं की वासनाएं सदैव काल दुष्ट ही रहती हैं। इसी लिए वे आत्मा नरकगति के योग्य बन जाते हैं और स्वयं अनिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए दूसरे भोले जीवों को उस दुष्ट मार्ग पर चलने की प्रेरणा करते, एवं धर्मात्मा पुरुषों की हँसी और अधर्मियों से प्रेम रखते हैं।

अब इसी विषय पर और कहते हैं—

अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए।
आउयं नरए कंखे, जहाऽऽएसं व एलए ॥७॥

अजकर्करभोजी च, तुन्दिलः चितलोहितः।
आयुर्नरकाय कांक्षति, यथाऽऽदेशमिवैडकः ॥७॥

पदार्थान्वयः—अय-अज-बकरे के कक्कर-कर्कर शब्द करने वाले मांस का भोई-भोजन करने वाला तुंदिल्ले-बड़े पेट वाला य-और चियलोहिए-उपचित हो गया है रुधिर जिसका आउयं-आयु नरए-नरक में कंखे-चाहता है जहा-जैसे आएसं-आदेश को एलए-बकरा व-उसी तरह वह नरक को चाहता है।

मूलार्थ—जैसे पुष्ट हुआ वह बकरा अतिथि को चाहता है उसी प्रकार कर्कर करके बकरे के मांस को खाने वाला तथा जिसका पेट रुधिर और मांस के उपचय से बढ़ा हुआ है, ऐसा जीव अपना वास नरक में चाहता है।

टीका—पिछली गाथा में महारम्भ और परिग्रह के साथ २ मांस भक्षण को भी नरक का हेतु बतलाया है। अब उसी को दृढ़ करने के लिए इस गाथा मे

मांसाहार को स्वतंत्र रूप से नरक का कारण बतलाने का प्रयत्न किया गया है। बकरे के स्थूल अंगों का पका हुआ मांस खाते समय कर्र २ या कड़ २ का शब्द करता है। जिस प्रकार चनों को चबाने से मुंह में शब्द होता है उसी प्रकार बकरे के मांस से भी चबाने पर कर्र २ या कड़ २ की आवाज निकलती है, क्योंकि उसमें स्थूल अस्थियों का संयोग अधिक होता है अतः जब वे चबाई जाती हैं तब उनका चनों की भांति शब्द होता है। इस प्रकार बकरे के मांस को खाने वाला और उसके खाने से मांस और रुधिर के अधिक उपचय से जिसका उदर बढ़ गया है ऐसा पुष्ट प्राणी, मेहमान की प्रतीक्षा करने वाले उस हृष्ट पुष्ट बकरे की तरह नरक के जीवन की इच्छा करता है। तात्पर्य कि मांस भोजन के द्वारा अपने शरीर को पुष्ट करने वाला प्राणी नरकगति का भागी होता है। सो इन तीन (५-६-७) गाथाओं में जीव के नरक योग्य कर्मों का दिग्दर्शन कराया गया है। अजमांस अन्य जाति के सभी जलचर, थलचर और खेचर जीवों के मांस का उपलक्षक है और इसका ग्रहण केवल प्रधान होने से किया गया है।

अब शास्त्रकार इस लोकसम्बन्धी पदार्थों के संग्रह और त्याग के निमित्त से होने वाले कष्टों के विषय में कहते हैं—

आसणं सयणं जाणं, वित्तं कामे य भुंजिया।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहुं संचिणिया रयं ॥८॥

आसनं शयनं यानं, वित्तं कामान् भुक्त्वा।
दुःखाहृतं धनं त्यक्त्वा, बहु संचित्य रजः ॥८॥

पदार्थान्वयः—आसणं—आसन सयणं—शयन—शय्या जाणं—यान—सवारी आदि वित्तं—धन य—और कामे—काम भोगों को भुंजिया—भोग करके दुस्साहडं—दुःख से एकत्रित किए धनं—धन को हिच्चा—त्याग करके बहुं—बहुत रयं—कर्मरज संचिणिया—एकत्रित करते।

मूलार्थ—आसन, शय्या, यान, वित्त और कामभोगों को भोग कर तथा दुःख से उपार्जन किए हुए धन का परित्याग और कर्म रज का संचय करके यह प्राणी अपने कर्मों के अनुसार शुभाशुभ योनि को प्राप्त होता है।

टीका—इस आठवीं और नवमी गाथा मे सांसारिक पदार्थों के भोग और उपभोगों की चर्चा के साथ, कष्ट से उपार्जन किए धन आदि का अन्त में त्याग करके परलोक में गमन करने तथा अपने जीवनकाल मे कर्मरज का संचय करने का जो उल्लेख किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि जिन सांसारिक पदार्थों के सम्बन्ध को यह प्राणी क्षण भर के लिए भी छोड़ना नहीं चाहता, समय आने पर उन सब को छोड़कर वह खाली हाथ इस संसार से चला जाता है, परन्तु कर्मों के रज को एकत्रित करके वह अपने साथ अवश्य ले जाता है। तथा अपने अध्यवसाय के अनुसार किए हुए कर्मों के द्वारा वह ऊंच अथवा नीच गति को प्राप्त हो जाता है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि विषयलोलुप यह पामर जीव आसन, शयन—पर्यंकादि, यान—सवारी आदि और नाना प्रकार के धन रत्नादि तथा कामभोगादि विषयों को यथारुचि भोग कर और बड़े कष्टों से उपार्जन किए हुए धन को छोड़कर, एवं कर्मरज को एकत्रित करके यह प्राणी अपने किए हुए कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों मे चला जाता है।

इस गाथा में धन का दो वार प्रयोग किया है, तथा धन प्राप्ति को कष्ट-साध्य बतलाया है। इसका प्रयोजन इतना ही है कि सांसारिक पदार्थों मे धन को अधिक प्राधान्य है। एवं धन प्राप्ति के जो शिल्पकला आदि उपाय हैं वे भी अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए धन का एकत्रित करना बहुत ही कष्टसाध्य है, तथा सांसारिक विषयों की पूर्ति अधिकांश में धन से ही हो सकती है। अतः और सब की अपेक्षा धन का सम्पादन अधिक दुःखों का कारण है।

कर्मरज को एकत्रित कर लेने के बाद उसका जो परिणाम होता है, अब उस विषय में कहते हैं—

तओ कम्मगुरू जंतू, पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अय व्व आगयाएसे, मरणंतम्मि सोयई ॥९॥

ततः कर्मगुरुर्जन्तुः, प्रत्युत्पन्नपरायणः ।
अज इवागत आदेशे, मरणान्ते शोचति ॥९॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर कम्मगुरू—कर्म से भारी जंतू—जीव पच्चु-

पन्न--वर्तमान में परायणे--तत्पर अय व्व--बकरे की तरह आगयाएसे--मेहमान के आने पर मरणंतंमि--मृत्यु के समीप आने पर सोयई--सोचता है।

मूलार्थ—इसके अनन्तर कर्ममल से भारी हुआ १ यह जीव वर्तमान काल के सुखों में तत्पर बकरा जैसे प्राघुणक के आने पर शोक करता है वैसे ही मृत्यु के समीप में आने पर यह सोचता है।

टीका—कर्ममल के संचय से भारी होने वाला आत्मा, वर्तमान काल के सुखों में निमग्न होकर अपने वास्तविक कर्तव्य को बिलकुल भूल जाता है। परन्तु मृत्यु के समीप आने पर उसकी वही दशा होती है जो प्राघुणक (अतिथि—मेहमान) के आने पर उस हृष्ट पुष्ट बकरे की होती है। अर्थात् रसगृद्धि में मग्न हुआ वह बकरा जिस प्रकार अपने भविष्य का बिलकुल चिन्तन नहीं करता और अतिथि के आने पर उसका वह सारा हर्ष शोक के रूप में बदल जाता है ठीक इसी प्रकार से कामभोगासक्त प्राणी को भी मृत्यु के उपस्थित होने पर ही अपने अनुचित कर्तव्य का भान होता है, परन्तु उस समय उसका पश्चात्ताप बिलकुल व्यर्थ होता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को पहले ही से सावधान रहने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त इस गाथा में नास्तिकता के विचारों की भी ध्वनि निकलती है अर्थात् जिस प्रकार नास्तिक लोग पुण्य और पाप के फल का विचार न करते हुए केवल ऐहिक विषय भोगों को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानकर उनमें निमग्न रहने का प्रयत्न करते हैं इसी प्रकार कर्ममल से भारी होने वाला आत्मा भी ऐहिक विषय भोगों मे आसक्त रहते हुए, मृत्यु के समीप आने पर ही पश्चात्ताप करता है। आत्मा को अधोगति मे ले जाने वाले नास्तिकता के विचारों का अनुसरण करने वाले महानुभावों के परलोक तथा पुण्य पाप के सम्बन्ध में जो विचार हैं वे सारशून्य होने पर भी बड़े स्पष्ट हैं। वे कहते हैं—'एतावानेव लोकोयं, यावानिन्द्रियगोचरः। भद्रे! वृकपदं पश्य, यद्वदन्ति बहुश्रुताः॥' अर्थात् जो कुछ इन इन्द्रियों से देखा जा रहा है बस इतना ही यह लोक है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त परलोक तथा पुण्य पाप आदि की जो कल्पना पंडित लोग करते हैं, वह एक डरावामात्र है। वास्तव मे इस लोक के सिवाय अन्य कोई स्वर्ग नरक आदि लोक नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि नास्तिकों के मत में

परलोक कोई वस्तु नहीं और पुण्य, पाप तथा उनके फल भोगने के स्थान-स्वर्ग नरक आदि भी कुछ नहीं। एवं जन्मान्तरवाद भी उनको अभिमत नहीं हैं। इसी कारण से इन नास्तिकों को 'प्रत्युत्पन्नपरायण' कहा जाता है अर्थात् वर्तमानकालीन विषय भोगों मे तत्पर रहना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। परन्तु जब मृत्यु का समय निकट आता है तब वे अपने इन विचारों पर पश्चात्ताप करते और खिन्नचित्त होकर शोक के अगाध समुद्र में डूबने लगते हैं। क्योंकि अब उन्हें परलोक की यात्रा करनी है और उस यात्रा मे जिस पुण्य रूप पाथेय की नितान्त आवश्यकता थी वह तो उनके पास है नहीं जिससे कि वे अपनी यात्रा में कुछ सहायता प्राप्त कर सकें। इसलिए उस समय पर उनको जो खेद होता है, वह उनके इस प्रकार के विचारों का ही अनुरूप फल है। तथा इस गाथा में 'आगयाएसे-आगते आदेशे' में जो 'आगया' शब्द का पूर्व में निपात किया गया है, वह आर्ष होने से समझ लेना चाहिए।

अब उस जीव की भावी गति के विषय में कहते हैं—

तओ आउपरिक्खीणे, चुयादेहा विहिंसगा।
आसुरीयं दिसं बाला, गच्छन्ति अवसा तमं ॥१०॥

तत आयुःपरिक्षीणे, च्युतदेहा विहिंसकाः।
आसुरीं दिशं बालाः, गच्छन्ति अवशाः तमः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर आउ—आयु के परिक्खीणे—परिक्षय होने पर देहा—शरीर के चुया—छूटने पर आसुरीयं—रौद्र कर्म करने वाले नरक दिसं—दिशा को जो तमं—अन्धकार युक्त है अवसा—कर्म के वश होकर गच्छंति—चले जाते हैं जो विहिंसगा—नाना प्रकार की हिंसा करने वाले हैं।

मूलार्थ—इसके अनन्तर वे हिंसादि में प्रवृत्ति रखने वाले बाल—अज्ञानी जीव आयु के क्षय होने से शरीर को छोड़कर कर्मों के आधीन होते हुए अन्धकारयुक्त नरकदिशा—नरकगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—हिंसा आदि क्रूर कर्मों में प्रवृत्त होने वाले वे अज्ञानी जीव आयु के क्षय से शरीर को छोड़ने के अनन्तर अन्धकारयुक्त आसुरी दिशा को प्राप्त होते

हैं। गाथा के इस अभिप्राय के अनुसार वह आसुरी दिशा ही नरकगति है, क्योंकि रौद्र कर्मों के अनुष्ठान से जिस गति की प्राप्ति होती है उस गति को आसुरी दिशा के नाम से कहा गया है। हिंसा आदि रौद्र कर्मों का आचरण करने वाले प्राणी कर्म के आधीन होकर इस गति को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार बकरे के दृष्टान्त का उल्लेख करने के बाद अब शास्त्रकार काकिणी और आम्र फल के दृष्टान्त का निरूपण करते हैं। यथा—

जहा कागिणिए हेउं, सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥११॥

यथा काकिण्या हेतोः, सहस्रं हारयेन्नरः।
अपथ्यमाम्रकं भुक्त्वा, राजा राज्यं तु हारयेत् ॥११॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे कागिणिए—काकिणी के हेउं—हेतु सहस्सं—हज़ार मोहर को नरो—पुरुष हारए—हार देता है अपत्थं—कुपथ्य अंबगं—आम्र फल को भोच्चा—खा करके राया—राजा रज्जं—राज्य को हारए—हार देता है तु—वितर्क अर्थ में है।

मूलार्थ—जैसे काकिणी के लिए कोई अज्ञानी पुरुष हज़ार मोहर को हार देता है और कुपथ्य रूप आम्र के फल को खाकर राजा राज्य को हार देता है (इसी प्रकार अज्ञानी जीव संसार के थोड़े से विषयजन्य सुखों के निमित्त देवलोक के महान् सुख को खो देता है)।

टीका—इस गाथा में दो दृष्टान्तों का वर्णन किया गया है—एक काकिणी का, दूसरा आम्र फल का। इनमें प्रथम काकिणी का दृष्टान्त इस प्रकार है (काकिणी[1] एक रुपए के ८० वें भाग का नाम है)—किसी वणिक् को व्यापार में एक हज़ार मोहर की प्राप्ति हुई। उसने उन मोहरों को एक वासणी में डालकर अपनी कमर में बाँध लिया और अपने मित्रों के साथ अपने नगर के प्रति चलने को तैयार हो गया। रास्ते में खर्च करने के लिए उसने एक रुपए की ८० काकिणी

१ काकिणी रूपकाशीतितमो भाग. इति वृत्तिकारः।

(दमड़ियाँ) खरीद लीं और रास्ते में खर्च करता रहा। इसी प्रकार बहुत सा मार्ग समाप्त कर लेने पर उसने ७९ काकिणी खर्च कर दीं और एक काकिणी जो उसके पास बच रही थी उसे वह कहीं पर रख कर भूल गया। थोड़ी दूर और आगे जाने पर उसको उस भूली हुई काकिणी का स्मरण आ गया तब वह मन में विचार करने लगा कि और दूसरा रुपया भुंजाना पड़े इसकी अपेक्षा तो वहां पर अमुक स्थान मे भूली हुई काकिणी को उठा लाना ही ठीक होगा। इस प्रकार विचार करने के बाद उसने अपने साथियों को वापस जाकर काकिणी उठा लेने के विचार को प्रगट किया। साथियों ने उसको ऐसा करने से बहुत मना किया परन्तु वह न माना। तब साथियों को छोड़कर वह काकिणी लाने को वापस चल पड़ा। रास्ते में उसने विचारा कि मैं अकेला हूं और मोहरे मेरे पास हैं। अतः इस मोहरों की वासणी को किसी एकान्त प्रदेश में बालू में दबा कर काकिणी को वहां से उठाकर वापस आता हुआ इस वासणी को निकाल कर ले जाऊंगा। इस प्रकार विचार करने के अनन्तर उसने किसी निर्जन प्रदेश में जाकर वालुका में उस वासणी को दबा दिया और काकिणी लेने के लिए प्रस्थान कर दिया, परन्तु दैववशात् उस काकिणी को वहां से किसी और मनुष्य ने उठा लिया। जब वह वहां पर पहुंचा तो उसको वह काकिणी नहीं मिली। वह सोच विचार करता हुआ जब वापस वासणी निकालने को आया तो वहां पर उसे वह भी न मिली क्योंकि उसके चले जाने पर किसी तस्कर ने उसे भी निकाल लिया था। जब इस प्रकार उसे काकिणी और मोहरों की वासणी ये दोनों ही उसके हाथ से चली गईं तो घर में आकर वह अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करता हुआ अत्यन्त दुःखी हुआ। और एक दमड़ी के लिए हज़ार मोहरों को खो देने की अपनी मूढ़ प्रवृत्ति पर उसे बहुत ही खेद और पश्चात्ताप होने लगा। इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार एक तुच्छ काकिणी के बदले मे उस मूर्ख वणिक् ने एक हज़ार मोहर को खो दिया इसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भी इस तुच्छ विषय सुख के निमित्त इस अमूल्य मनुष्य जीवन को खो रहा है। अब दूसरे आम्र फल का दृष्टान्त इस प्रकार है—

किसी राजा को अधिक आमों के खाने से बड़ा ही भयंकर रोग उत्पन्न हो गया। वैद्यों ने बड़े परिश्रम से उसको शान्त किया और राजा से निवेदन किया कि अब आगे को आप आम्र फल का कभी भक्षण न करें। यदि करेंगे तो फिर इसी भया-

नक रोग के उत्पन्न हो जाने की संभावना है और सम्भव है कि फिर इसकी चिकित्सा न हो सके। इसलिए आज से लेकर आप कभी आम्र फल का सेवन न करें। राजा ने वैद्यों की इस हित शिक्षा को भली भांति सुना और उसके अनुकूल यहां तक आचरण किया कि अपने देश से आमों के सारे वृक्ष ही कटवा कर फेंक दिए। कुछ समय के बाद एक दिन वह राजा घोड़े पर सवार होकर किसी सुदूर प्रदेश के एक जंगल में जा निकला। वहां पर उसने आम्र फलों से लदे हुए एक सुन्दर आम के वृक्ष को देखा। उस समय बादल गरज रहा था और थोड़ी २ बूँदें पड़ रही थीं। राजा उस वृक्ष को छायासंयुक्त देखकर घोड़े से उतर कर उसके नीचे विश्राम के लिए बैठ गया। इतने में अकस्मात् एक बड़ा सुन्दर आम का फल वायु के वेग से टूट कर नीचे भूमि में राजा के पास आकर गिरा। राजा उस आम को देखकर बड़े विस्मय को प्राप्त हुआ। उस फल को अपने हाथ मे उठाकर वह बार २ देखने लगा, और देखते ही उसका मन एक दम ललचा उठा। साथ में रहने वाले मंत्री आदि मनुष्यों के रोकने पर भी हठात् उसने उस फल को खा लिया। बस, खाने की देर ही थी कि वह फिर उसी पूर्व के रोग से ग्रसा गया और रोग का इतना भयंकर आक्रमण उस पर हुआ कि लाखों प्रयत्न करने पर भी वह उस रोग से मुक्त न हो सका और शीघ्र ही मृत्यु की गोद में जा बैठा। इसी भाव को लेकर शास्त्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार उक्त फल को मृत्यु का कारण जानते हुए भी उस राजा ने उस फल के भक्षण का त्याग नहीं किया किन्तु रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर अपने जीवन को खो डाला इसी प्रकार विषयी पामर जीव भी रसविषयिणी आसक्ति के कारण इन तुच्छातितुच्छ सांसारिक विषयों में पड़ कर अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ में खो रहा है।

अब इस दृष्टान्त की योजना करते हैं—

एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा य दिव्विया ॥१२॥

एवं मानुष्यकाः कामाः, देवकामानामन्तिके ।
सहस्रगुणिता भूयः, आयुःकामाश्च दिव्यकाः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—एवं–इस प्रकार माणुस्सगा–मनुष्य के कामा–काम भोग देवकामाण–देव काम भोगों के अंतिए–समीप भुज्जो–बहुत सहस्सगुणिया–हज़ार गुणा करके आउं–आयु य–और कामा–काम भोग दिव्विया–देवलोकसम्बन्धी तो भी पार नहीं पा सकते।

मूलार्थ—इस प्रकार मनुष्यों के काम भोग देवों के काम भोगों के सामने सहस्रगुण अधिक करने पर भी न्यून ही हैं तथा देवों की आयु पल्योपम और सागरोपम की है एवं उनके काम भोग भी दिव्य हैं।

टीका—यहां गाथा में काकिणी और आम्र फल के समान तो मनुष्यों के काम भोग हैं और उनकी अपेक्षा कई सहस्र गुण अधिक और दिव्य रूप होने से देवों के काम भोग मोहरों और राज्य के समान हैं। इसलिए दोनों में बड़ा भारी अन्तर है। देवों के भोगविलासों और आयु के सामने मनुष्यों के भोगविलास इतने तुच्छ हैं तथा आयु भी इतनी स्वल्प है कि उसके लिए संसार में कोई उदाहरण मिलना कठिन है। बहुत थोड़े अंश में राई और हिमालय पर्वत का दृष्टान्त इनकी लघुता और महत्ता के सम्बन्ध में दिया जा सकता है। यद्यपि सर्वोपरि सुख तो मोक्ष सुख है और वह निरतिशय तथा अनन्त है, उसके समीप तो देवलोक के सुख भी कुछ मूल्य नहीं रखते परन्तु उस सुख का अनुभव तो अध्यात्मवाद की सर्वोच्च दशा पर पहुंचने वाले किसी २ समाधिनिष्ठ महामना महात्मा व्यक्ति में ही दृष्टिगोचर हो सकता है। इसलिए केवल मनुष्यलोक के विषय भोगों में फँसे हुए जीवों के अधिकार को लेकर यहां पर उस मोक्ष सुख का उल्लेख नहीं किया किन्तु विषयलोलुपी जीवों को शास्त्रकार उपालम्भ देते हुए कहते हैं कि देखो, ये जीव कितने विवेकशून्य और मूढ़ हैं जो एक दमड़ी के समान विषय भोगों के बदले में मोहरों के सदृश जीवन को खो रहे हैं, तथा एक तुच्छ आम्र फल के रसास्वाद के समान विषयलालसा के बदले में अपने जीवनसाम्राज्य को नष्ट कर रहे हैं। इसलिए विवेकी जनों को इन लौकिक विषयों की ओर कभी ध्यान नहीं देना चाहिए।

अब शास्त्रकार इस काकिणी और आम्र फल के दृष्टान्त से भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए साथ में देव और मनुष्य की आयु का भी वर्णन करते हैं—

अणेगवासानउया जा सा पण्णवओ ठिई ।
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा ऊणे वाससयाउए ॥१३॥

अनेकवर्षनयुता या सा प्रज्ञावतः स्थितिः ।
यानि जीयन्ते दुर्मेधस ऊने वर्षशतायुषि ॥१३॥

पदार्थान्वयः—अणेग–अनेक वासा–वर्ष नउया–नयुत जा–जो सा–वह पण्णवओ–प्रज्ञावान् की ठिई–स्थिति है जाणि–जिसको दुम्मेहा–दुर्बुद्धि जीयंति–हारते हैं ऊणे–न्यून वाससए–सौ वर्ष की आउए–आयु में ।

मूलार्थ—प्रज्ञावान् की देवलोक में जो अनेकवर्षनयुत की पल्योपम वा सागरोपम की स्थिति है उसको दुर्बुद्धि–मूर्ख जीव कुछ कम सौ वर्ष की आयु में विषयभोगों के वशीभूत होकर हार देते हैं ।

टीका—इस गाथा में आए हुए 'अनेकवर्षनयुत' शब्द का पल्योपम और सागरोपम अर्थ हैं । जो पुरुष प्रज्ञावान् अर्थात् ज्ञान और क्रिया से युक्त हैं उनकी देवलोक में पल्योपम या सागरोपम की स्थिति होती है । नयुत शब्द से वर्षों का प्रमाण इस प्रकार माना गया है–चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है। उसको चौरासी लाख गुणा करने से एक पूर्व बनता है । फिर उस पूर्व को चौरासी लाख गुणा करने से एक नयुतांग होता है । और नयुतांग को चौरासी लाख गुणा करने से एक 'नयुत' होता है । प्रज्ञावान् जीव की ऐसे असंख्यात नत युगों तक देवलोक में स्थिति रहती है अर्थात् जो जीव सांसारिक विषय भोगों का परित्याग करके सम्यग् ज्ञानपूर्वक चरित्र का आराधन करते हैं उनको देवलोक के सुखों की असंख्यात नत युगों तक प्राप्ति बनी रहती है । इसलिए जो बाल जीव कुछ न्यून सौ वर्ष की आयु मे विषय भोगों में पड़कर इन उक्त देवलोक के सुखों को हार देते हैं अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति या देवलोक की प्राप्ति के योग्य सुकृत कर्मों का त्याग करके केवल सांसारिक विषय भोगों में फँसे रहकर अपने स्वल्प जीवन को पूरा कर देते हैं वे मानो काकिणी के बदले मोहरों अथवा आम्र फल के बदले में जीवन सर्वस्व को व्यर्थ ही खो देते हैं । इसी लिए वे दुर्बुद्धि या परम मूढ़ कहे जाते हैं । अत्यन्त दीर्घकाल तक स्थिर रहने वाले देवलोक के सुखों को तो वही आत्मा

प्राप्त कर सकता है जो सांसारिक विषय भोगों की तर्फ से सर्वथा उपराम होकर अपने इस स्वल्पतर जीवन में संयम की आराधना के द्वारा अपने को देवगति के योग्य बना लेवे। अन्यथा अधोगति के योग्य कर्मों का उपार्जन करने वाला दुर्बुद्धि तो देवगति के बदले नरकगति के ही साधनों का संग्रह करके अपने देव दुर्लभ मनुष्य जन्म को हार देता है। यही उसका काकिणी के बदले मोहरों और आम्र फल के बदले राज्य का हारना है। यद्यपि शास्त्रों में पूर्वों की आयु का भी उल्लेख देखने में आता है तथापि कुछ कम सौ वर्ष की आयु के उल्लेख का यह अभिप्राय है कि यदि यह जीव सौ वर्ष की आयु में उक्त देव लोक की स्थिति को हार गया तो फिर इसको वैसा समय मिलना दुर्लभ है। यह सौ वर्ष की आयु बहुत स्वल्प है। अतः इसमें हारे हुए जीव को फिर समय मिलना अत्यन्त कठिन है। अथवा कुछ कम सौ वर्ष की आयु का वर्णन भगवान् महावीर स्वामी के समय को लेकर किया गया समझना चाहिए क्योंकि उनकी आयु सौ वर्ष से कम थी। अतः इस देवदुर्लभ मानव जन्म में विषयजन्य सुखों को काकिणी और आम्र फल के समान तुच्छ जानकर उसके बदले देवलोक की परम स्थिति को बुद्धिमान् पुरुष कभी न हारे। 'वासा'—वर्ष शब्द में सकार को जो दीर्घ हुआ है, वह प्राकृत के नियम को ले करके है।

अब चौथा दृष्टान्त लाभालाभसम्बन्धी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर तीन व्यापारियों का दिया जाता है—

जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥१४॥
एगो मूलंपि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥१५॥

यथा च त्रयो वणिजः, मूलं गृहीत्वा निर्गताः।
एकोऽत्र लभते लाभम्, एको मूलेनागतः ॥१४॥

एको मूलमपि हारयित्वा, आगतस्तत्र वणिक् ।
व्यवहार उपमैषा, एवं धर्मे विजानीत ॥१५॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे तिन्नि–तीन वणिया–व्यापारी लोग मूलं–मूलधन–मूलपूंजी को घेत्तूण–ले करके निग्गया–परदेस को गए अत्थ–उनमें से एगो–एक लाभं–लाभ को लहई–प्राप्त करता है और एगो–एक मूलेण–मूल लेकर आगओ–आ गया य–समुच्चयार्थक है एगो–एक वाणिओ–वणिक्–व्यापारी तत्थ–उनमें से मूलंपि–मूल धन को भी हारित्ता–हार करके आगओ–आ गया ववहारे–व्यवहार में एसा–यह उवमा–उपमा है एवं–इसी प्रकार धम्मे–धर्म में वियाणह–जानना चाहिए ।

मूलार्थ—किसी समय में तीन व्यापारी अपनी २ मूल पूंजी को लेकर व्यापार के निमित्त विदेश में गए। उन तीनों में से एक को तो व्यापार में लाभ हुआ, दूसरा अपनी मूल पूंजी को कायम रखता हुआ घर को आ गया और तीसरा मूल धन को भी खो करके घर को आ गया। यह जैसे व्यावहारिक उपमा है, उसी प्रकार धर्म के विषय में भी समझना ।

टीका—इस गाथा में तीन व्यापारी पुरुषों के दृष्टान्त से एक गम्भीर तत्त्व को बड़ी ही सरलता से समझाने का सूत्रकार ने प्रयत्न किया है। मूल धन को लेकर व्यापार के निमित्त विदेश में जाने वाले तीनों व्यक्तियों में से मूल धन में वृद्धि करने, मूल धन को सुरक्षित रखने और मूल धन का विनाश करने वाले तीनों व्यक्ति क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम कहे जाते हैं। जैसे इन तीनों व्यापारियों में से एक ने तो अपने बुद्धिबल से उस मूल धन को इस रीति से व्यापार में लगाया कि उससे उसको द्विगुण लाभ हुआ और वह अपने धन को संचित करके आनन्दपूर्वक घर को लौटा। दूसरे व्यक्ति ने अपने मूल धन को कुसीद में रखकर उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने दी परन्तु वह उस मूल धन में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं कर सका। अतः केवलमात्र अपने मूल धन को ही लेकर घर में आ गया। इनमें जो तीसरा व्यक्ति था उसको विदेश में जाते ही ऐसे पुरुषों की संगति मिली कि जिसके कारण वह जूआ, मांस, मदिरा और वेश्या आदि नाना प्रकार के दुर्व्यसनों पड़ कर वृद्धि करने के स्थान में अपने मूल धन को ही

सर्वथा खो बैठा। इनमें पहला पुरुष तो निस्सन्देह धन्यवाद का पात्र होने से उत्तम कहा जाता है। दूसरा व्यक्ति जिसने कि उस मूल धन में किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी किन्तु उसे सुरक्षित ही रक्खा वह किसी प्रकार के धन्यवाद अथवा तिरस्कार का पात्र न होने से मध्यमकोटि में गिना जाता है। और तीसरा व्यक्ति जिसने कि व्यसनों में पड़कर अपने सारे मूल धन को खो दिया है, वह तिरस्कार का पात्र होने से अवश्य अधमकक्षा में आता है। यह व्यावहारिक दृष्टान्त है। जैसे व्यवहार में मूल पूंजी में वृद्धि करना, मूल पूंजी को सुरक्षित रखना और मूल पूंजी को खो देना ये उत्तम, मध्यम और अधम कोटि की तीन कक्षाएं हैं इसी प्रकार धर्म के विषय में भी मूल धन को लेकर उसके तीन प्रकार वर्णन किए गए हैं। यद्यपि निश्चयनय के अनुसार लाभ हानि के विषय में अन्तराय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम को ही कारणता है अर्थात् उसी के अनुसार मनुष्य को लाभ अथवा हानि की प्राप्ति होती है तथापि यहां पर व्यवहारकोटि को लेकर ही उक्त लाभालाभ का वर्णन किया गया है।

अब धर्म के विषय में इस उपमा को घटाते हुए शास्त्रकार जिस प्रकार लिखते हैं, उसको दर्शाया जाता है—

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥१६॥

मानुषत्वं भवेन्मूलं, लाभो देवगतिर्भवेत्।
मूलच्छेदेन जीवानां, नरकतिर्यक्त्वं ध्रुवम् ॥१६॥

पदार्थान्वयः—माणुसत्तं-मनुष्यपना भवे-होवे मूलं-मूल धन लाभो-लाभ रूप देवगई-देवगति भवे-होवे मूलच्छेएण-मूल के नाश करने से जीवाणं-जीवों को नरगं-नारकीयपना और तिरिक्खत्तणं-तिर्यक्पना धुवं-निश्चय ही होता है।

मूलार्थ—मनुष्यत्व यह मूल धन है और लाभ के समान देवत्व-देवपन की प्राप्ति है। अतः मूल के नाश होने से इन जीवों को नरकगति और तिर्यञ्च-गति की ही प्राप्ति होती है।

टीका—जीवों का मूल धन-मूल पूंजी मनुष्यत्व है। इसी से स्वर्ग और मोक्ष की उपलब्धि होती है। यदि किसी जीव ने अपने विशेष पुरुषार्थ से देव भव को प्राप्त कर लिया तब तो उसको मनुष्य गति के भोगों की अपेक्षा कई सहस्र गुण अधिक स्थायी और दिव्य स्वर्गीय काम भोगों की प्राप्ति का लाभ हो गया। और यदि उसने केवल ऐहिक विषय भोगों में लगकर अपने मूल धन रूप मनुष्य जन्म को खो दिया तो उसको निश्चय ही नरकगति और पशु आदि की योनि में जाना पड़ेगा। इस सारे विवेचन का सारांश यह है कि इस संसार में मुख्य तीन प्रकार के जीव हैं-(१) जो मार्दवादि गुणों से युक्त हैं, मनुष्य योनि के कर्मों का उपार्जन करते हैं (२) जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त हैं वे सराग संयम अथवा संयमासंयम के अनुष्ठान द्वारा देव योनि के दिव्य सुखों का संग्रह करते हैं (३) जो पांच प्रकार के आश्रवों-पापमार्गों का अनुसरण करते हुए अधिकांश अधर्म में ही प्रवृत्त हैं वे नरक और तिर्यग्योनि के ही दुःखों का संग्रह करने वाले हैं। इन तीनों के अतिरिक्त चौथे प्रकार के वे महापुरुष हैं कि जो अतिचार रहित संयम के सम्यग् अनुष्ठान से कर्म मल से सर्वथा रहित होकर परम सुख और परम कल्याण रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं। परन्तु इन सारे ही उच्चावच गतियों की मूलभित्ति मनुष्यत्व अथवा मनुष्यगति है। इस मनुष्य रूप मूल धन में वृद्धि करने वाला ऊर्ध्वगति में जाता है और इस मूल धन का विनाश करने वाला अधोगति को प्राप्त होता है। इससे भव्य जीवों को सूत्रकार यही शिक्षा देते हैं, तुम मनुष्य हो, तुम इस मूल धन में यथेच्छ वृद्धि कर सकते हो। इसलिए तुम देवगति के योग्य कर्मों का संग्रह करो और अन्त में उन कर्मों का भी अपने पुरुषार्थ के द्वारा क्षय करके परम निर्वाण पद को प्राप्त करने का यत्न करो। इसके विपरीत नरक और तिर्यग्योनि के अनुरूप दुष्ट कर्मों का संग्रह करना तुम्हारे मनुष्य भव के योग्य नहीं है।

अब सूत्रकार फिर इसी विषय को पुष्ट करते हुए कहते हैं—

दुहओ गई बालस्स, आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलयासढे ॥१७॥

द्विधा गतिर्बालस्य, आपद्वधमूलिका ।
देवत्वं मनुष्यत्वं च, यस्माज्जितो लोलताशठः ॥१७॥

पदार्थान्वयः—दुहओ—दो प्रकार की गई—गति बालस्स—बाल की आवई—आपत्तिमूलक और वहमूलिया—वधमूलक देवत्तं—देवपना च—और माणुसत्तं—मनुष्यपना जं—जिससे जिए—हार गया लोलया—मांसादि का लोलुप सढे—धूर्त।

मूलार्थ—धूर्त और मांसलोलुप बाल—अज्ञानी जीव की, जिसने कि देवत्व और मनुष्यत्व को हार दिया है, नरक और तिर्यक् ये दो गतियां होती हैं। इनमें से एक कष्टमूलक और दूसरी वधमूलक है।

टीका—इस गाथा में यह भाव दिखलाया गया है कि जो जीव राग और द्वेष में फँसे हुए हैं और नाना प्रकार के अधर्म कार्यों में प्रवृत्त हैं उन बाल जीवों की दो गतियां प्रतिपादन की हैं—एक नरक और दूसरी तिर्यक्। ये दोनों ही अनेक प्रकार के कष्टों तथा वध बन्धादि नानाविध विपत्तियों का मूल हैं। कारण कि पशुओं के साथ जो अनुचित्त वर्त्ताव होता है वह तो सब को प्रत्यक्ष ही है और नरकगति के भयानक कष्ट अनुमान और आगम प्रमाण से सिद्ध हैं। तथा बालजीव उसी गति में प्रविष्ट होते हैं जहां कि फिर भी कर्मों का अहर्निश बन्ध ही होता रहता है क्योंकि उन्होंने अपने कुत्सित आचरणों से देवत्व और मनुष्यत्व को हार दिया है अर्थात् इन दोनों के अनुरूप वे कोई सुकृत कर्म नहीं करते किन्तु इसके विपरीत नरक और तिर्यग्गति में जाने योग्य जघन्य आचरणों का ही वे सेवन करते हैं। यथा—मांस का सेवन करना, पंचेन्द्रिय जीवों का वध करना इत्यादि, तथा दूसरों से छल करना विश्वासघात करना इत्यादि। इनमें से मांसादि के आहार से तो अज्ञानी जीव देवगति के सुखों को हारता है और छल कपट आदि के द्वारा वह मनुष्य जन्म को हार देता है। इस प्रकार जब मूल धन ही नष्ट हो गया तो फिर उससे वृद्धि की आशा किस प्रकार से की जा सकती है। इसलिए सांसारिक विषय विकारों में फँस कर अपने मूल धन स्वरूप मानवभव को खो देने वाला अज्ञानी जीव निस्संदेह नरक और तिर्यग् योनि में उत्पन्न होकर कष्ट और वध बन्धनादि रूप दुःखपरम्परा का ही अहर्निश अनुभव करने वाला

होता है। क्योंकि दुःख की पराकाष्ठा का मूल इन दोनों ही गतियों में निहित है। इसी लिए गाथा में ये दोनों आपद् और वध का मूल कही गई हैं।

यहां पर बाल जीव की दो गतियों का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने जिस आत्मा को बाल कहा है, वह संसार की दृष्टि से नहीं किन्तु धर्म की दृष्टि से कहा है। संसार की दृष्टि में तो वह अपने कार्यों में बहुत ही निपुण माना जाता है।

अब मूल धन का विनाश करके नीची गति में जाने वाले जीव के विषय में कहते हैं—

तओ जिए सई होइ, दुविहं दुग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि ॥१८॥

ततो जितः सकृद् भवति, द्विविधां दुर्गतिं गतः।
दुर्लभा तस्योन्मज्जा, अद्धायां सुचिरादपि ॥१८॥

पदार्थान्वयः—तओ–तदनन्तर जिए–हारा हुआ सई–सदा होइ–होता है दुविहं–दो प्रकार की दुग्गइं–दुर्गति को गए–गया हुआ दुल्लहा–दुर्लभ है तस्स–उसको उम्मग्गा–उन गतियों से निकलना अद्धाए–बड़े मार्ग में सुचिरादपि–बहुत काल से भी।

मूलार्थ—इसके अनन्तर वह अज्ञानी जीव उक्त दोनों प्रकार की गतियों को प्राप्त हुआ सदा ही हारा हुआ है क्योंकि वहां से प्रभूत काल में भी उसका निकलना कठिन है।

टीका—संसार के तुच्छ विषय भोगों में फंसे रहने के कारण देवत्व और मनुष्यत्व को हार देने के पश्चात् नरक अथवा तिर्यग्गति में प्राप्त हुआ वह अज्ञानी जीव चिरकाल तक जिस प्रकार के कष्टों और नरक यातनाओं को भोगता है, उनकी कल्पना करते हुए भी अन्तःकरण व्याकुल हो उठता है। परन्तु इन दोनों दुर्गतियों में से उसका निकलना चिरकाल तक भी कठिन है, क्योंकि इन दुर्गतियों की कायस्थिति अनन्त काल तक की मानी गई है। यद्यपि नारकी जीवों की भव-स्थिति की उत्कृष्ट मर्यादा असंख्यात काल की कही गई है किन्तु तिर्यग् योनि में

जो वनस्पति है उसकी उत्कृष्ट कायस्थिति तो अनन्त काल की ही मानी गई है। अतः सूत्रकार का यह आशय है कि यदि बालजीव इस पशु योनि के मार्ग में चला गया तो फिर उसको उससे निकलना अति कठिन हो जाता है क्योंकि इसमें लाभ की उत्पत्ति बहुत कम है और कर्मबन्ध के कारण विशेष हैं। यद्यपि बहुत से जीव इस गति में एक भव करके भी मोक्ष चले जाते हैं तथापि ऐसे जीव बहुत ही स्वल्प हैं और परिभ्रमण करने वालों की संख्या तो अनन्त है। अतः शास्त्रकारों ने बालजीवों को उपदेश करते हुए उनकी गतियों का भी वर्णन कर दिया है। तथा उनकी अज्ञानता का जो परिणाम है उसका भी दिग्दर्शन करा दिया है।

अब मूल धन को सुरक्षित रखने वाले जीवों के विषय में जो विचारणीय तत्त्व है, उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

एवं जियं सपेहाए, तुलिया बालं च पण्डियं।
मूलियं ते पवेसन्ति, माणुसिं जोणिमेन्ति जे ॥१९॥

एवं जितं संप्रेक्ष्य, तोलयित्वा बालं च पण्डितम्।
मूलकं ते प्रविशन्ति, मानुषीं योनिं यान्ति ये ॥१९॥

पदार्थान्वयः—एवं–इस प्रकार जियं–हारे हुए को सपेहाए–देख करके तुलिया–बुद्धि से तोल करके बालं–बाल च–और पंडियं–पंडित को मूलियं–मूल धन में ते–वे पवेसंति–प्रवेश करते हैं जे–जो माणुसिं–मनुष्य की जोणिं–योनि में एंति–आते हैं।

मूलार्थ—इस प्रकार हारे हुए को देखकर और बाल तथा पंडित भाव को अपनी बुद्धि से तोल कर जो प्राणी मूल धन में प्रवेश करते अर्थात् मूल धन को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं, वे मनुष्य योनि को प्राप्त कर लेते हैं।

टीका—देवत्व और मनुष्यत्व को हार देने वाले जीव की कैसी दुर्गति होती है, इस बात का विचार करके और अपनी निर्मल बुद्धि के द्वारा पंडित और बाल भाव को तोल कर जो जीव मूल धन में प्रवेश करते हैं, वे मनुष्य योनि को प्राप्त कर लेते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार व्यापार मे प्रवृत्त

होने वाला बुद्धिमान् वणिक् अपने मूल धन को हर प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है अर्थात् यदि उससे उस मूल धन में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हो सकी तथापि वह किसी प्रकार के व्यसनों में पड़ कर उसका विनाश नहीं करता किन्तु ज्यों का त्यों उसे बनाए रखता है, इसी प्रकार जो विवेकशील पुरुष बाल और पंडित भाव के स्वरूप को भली भांति समझ कर अर्थात् इन दोनों के भावी परिणाम का विचार करके येन केन उपायेन अपने मूल धन–मनुष्यत्व को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं वे अवश्य ही मनुष्यभव को प्राप्त कर लेते हैं। पहले कहा जा चुका है कि 'मनुष्यभव' यह मूल धन है। सो जिन आत्माओं ने अपनी बुद्धि के द्वारा बालप्रवृत्ति और पंडितप्रवृत्ति के परिणाम पर विचार कर लिया है वे आत्मा अपने मूल धन को सर्व प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं। यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि यह उपदेश केवल व्यवहार कोटि को लेकर किया गया है अन्यथा यही उपदेश दिया जाता कि तुम मनुष्य योनि को प्राप्त करके भगवान् वीतरागदेव की निरवद्य वाणी पर विश्वास करो क्योंकि वह केवल मोक्ष सुख को ही उपादेय बतलाती है, इत्यादि।

अब उन जीवों के मनुष्य योनि में आने का प्रकार बतलाते हैं—

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२०॥

विमात्राभिः शिक्षाभिः, ये नराः गृहिसुव्रताः।
उपयान्ति मानुषीं योनिं, कर्मसत्याः खलु प्राणिनः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—**वेमायाहिं**–नाना प्रकार की **सिक्खाहिं**–शिक्षाओं से **जे**–जो **नरा**–मनुष्य **गिहि**–गृहस्थ होते हुए **सुव्वया**–सुन्दर व्रत वाले हैं **माणुसं**–मनुष्य की **जोणिं**–योनि को **उवेंति**–प्राप्त होते हैं **हु**–निश्चय ही **कम्मसच्चा**–कर्म सत्य हैं **पाणिणो**–प्राणी के।

मूलार्थ—जो व्रतशील गृहस्थ नाना प्रकार की शिक्षाओं से अलंकृत हैं वे मनुष्य योनि को निश्चय ही प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि प्राणी के कर्म सत्य हैं, जैसे वे किए जाते हैं वैसे ही फल देते हैं।

टीका—जो पुरुष सदाचारसम्बन्धी नानाविध शिक्षाओं से विभूषित हैं—जैसे कि प्रकृति से भद्र, सरलस्वभाव, विनयवान्, दयालु और किसी से ईर्ष्या न करने वाले तथा व्यवहार में सत्य का बर्ताव करने वाले, सत्य व्यापार करने वाले, विश्वासघात के त्यागी, पवित्र कुलमर्यादा का पालन करने वाले और सत् पुरुषों के आचार का अनुसरण करने वाले—वे इस शरीर का त्याग करने के पश्चात् फिर भी मनुष्य योनि को ही प्राप्त होते हैं। तात्पर्य कि किसी नीची योनि में उनका जन्म नहीं होता क्योंकि सत्क्रियाओं का—सदाचरणों का फल सदा शुभ ही होता है। और विपरीत इसके असत् क्रियाएं सदा अशुभ फल देने वाली तथा अशुभ गति का बन्ध करने वाली होती हैं। यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि उक्त गाथा में जो 'सुव्वया—सुव्रताः' शब्द का प्रयोग किया है वह देशव्रत की अपेक्षा से नहीं किया, देशव्रत वाला आत्मा तो केवल देवगति में जाने वाला होता है किन्तु जो व्यक्ति देशव्रत आदि के अंगीकार करने में असमर्थ है और संसार पक्ष में सदाचार से सम्पन्न है वही आत्मा सत् क्रियाओं के अनुष्ठान से मनुष्य योनि को प्राप्त करता है। तथा कर्म सत्य हैं अर्थात् उनका शुभाशुभ फल अवश्य होता है। एवं 'कम्मसच्चा' इसमें प्राकृत के कारण से 'कम्म' शब्द का पूर्व में निपात हुआ है। 'हु' शब्द हेत्वर्थक है।

अब मूलधन में वृद्धि करने वालों के विषय में कहते हैं—

जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवन्ता सवीसेसा, अदीणा जन्ति देवयं ॥२१॥

येषां तु विपुला शिक्षा, मूलकं तेऽतिक्रान्ताः।
शीलवन्तः सविशेषाः, अदीना यान्ति देवत्वम् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—जेसिं—जिन जीवों की विउला—बहुत सिक्खा—शिक्षाएं हैं ते—वे मूलियं—मूल धन को अइच्छिया—अतिक्रमण कर जाते हैं सीलवंता—सदाचारी सवीसेसा—विशेष गुण युक्त अदीणा—दीनता से रहित देवयं—देवभाव को जंति—प्राप्त करते हैं तु—एवार्थ में।

मूलार्थ—और जिन जीवों की शिचाएं अधिक विस्तृत हो गई हैं और जो सदाचारी, विशेष गुणों से युक्त और दीनता से रहित हैं वे मूल धन का अतिक्रमण करते हुए देवलोक में चले जाते हैं।

टीका—इस गाथा में इस भाव को प्रकट किया है कि जिन जीवों की सम्यक्त्व को साथ लिए हुए अणुव्रत व महाव्रत रूप ग्रहण तथा आसेवन शिक्षाएं बढ़ गई हैं वे जीव मूलधन रूप मनुष्य जन्म को अतिक्रमण करके देवभव को प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव शीलवंत–सदाचारी, विशेष गुणों से युक्त और दीनता से रहित होते हुए देवभव को प्राप्त करते हैं। जो जीव अव्रत सम्यग् दृष्टि गुणस्थान–चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर चढ़ कर देशविरति गुणस्थान से अथवा. सर्वविरति रूप प्रमादि संयत गुणस्थान से युक्त हो, उसे शीलवान् या सदाचारी कहते हैं। एवं गुणों में जो उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहा है उसको सविशेष कहते हैं तथा किसी प्रकार के परिषह के उपस्थित होने पर जिसके मन में आकुलता नहीं होती वह अदीन कहा जाता है। अतएव सिद्ध हुआ कि मूल धन का अतिक्रमण करके देव भव को प्राप्त करने वाले जो जीव हैं वे ग्रहण, आसेवनादि शिक्षाओं से विभूषित, सदाचारी, सविशेष और अदीन ही होते हैं या होने चाहिएं। अन्यथा देवलोक की प्राप्ति दुर्लभ ही नहीं किन्तु असम्भव है। यद्यपि इन उक्त क्रियाओं के सतत आचरण से यह आत्मा मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है, करता भी है परन्तु वर्तमान काल में शरीर आदि का इतना विशिष्ट संहनन न होने से तथा उक्त क्रियाओं का सर्वथा निरतिचार रूप से पालन अशक्य होने से मोक्ष की प्राप्ति का होना इस पञ्चम काल में अशक्य है। इसलिए देवलोक की प्राप्ति का कथन किया गया है।

अब इस दृष्टान्त का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार लिखते हैं—

एवमदीणवं भिक्खुं, अगारिं च वियाणिया।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं, जिच्चमाणो न संविदे ॥२२॥

एवमदैन्यं भिक्षुम्, अगारिणं च विज्ञाय।
कथं नु जेतव्यमीदृशं, जीयमानो न संविद्यात् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—एवं-इस प्रकार अदीणवं-दीनता से रहित भिक्खुं-साधु को च-वा अगारिं-गृहस्थ को वियाणिया-जान करके कहं-कैसे णु-वितर्क में जिच्चं-हारा हुआ एलिक्खं-यह प्रत्यक्ष-देवगति रूप लाभ जिच्चमाणो-हारता हुआ न संविदे-नहीं जानता अर्थात् जानता है।

मूलार्थ—इस प्रकार के देवगति रूप लाभ को हारता हुआ जीव दीनता से रहित भिक्षु और गृहस्थ को जान करके क्या हारे हुए पुरुष को नहीं जानता ? अपितु जानता ही है।

टीका—इस प्रकार दीनतारहित साधु वा गृहस्थों को जो देवगति का लाभ होता है उसको जान करके क्या वे उनको नहीं जानते ? जो मनुष्यगति के लाभ को भी विषयकषायों के वशीभूत होकर हार देते हैं अपितु जानते ही हैं। कारण कि जो अपने मूल अथवा लाभ को हार रहे हैं उनको सम्यक् प्रकार से जान कर अपने लाभ के मार्ग में जाना चाहिए। अतएव सूत्र में इस बात को दिखलाया गया है कि लाभ और हानि को ठीक २ समझ कर लाभ के मार्ग में ही जाना उचित है। फिर हारे हुए अपने हारने को भी भली भांति जानते हैं। इसी आशय से 'कहण्णु-कथं नु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार सूत्रकर्त्ता ने उक्त चार दृष्टान्तों का सविस्तर वर्णन कर दिया। अब पाँचवें समुद्र के दृष्टान्त का वर्णन करते हैं—

जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए ॥२३॥

यथा कुशाग्र उदकं, समुद्रेण समं मिनुयात्।
एवं मानुष्यकाः कामाः, देवकामानामन्तिके ॥२३॥

पदार्थान्वयः—जहा-जैसे कुसग्गे-कुशा के अग्रभाग के उदगं-जलबिन्दु को समुद्देण-समुद्र जल के समं-साथ मिणे-मापे एवं-इसी प्रकार माणुस्सगा-मनुष्यों के कामा-काम भोग देवकामाण-देवों के काम भोगों के अंतिए-समीप हैं।

मूलार्थ—मनुष्य के काम भोगों का देवों के काम भोगों से इतना अन्तर है जितना कि कुशा के अग्रभाग में आने वाले जलबिन्दु का समुद्रजल के साथ अन्तर है।

टीका—जैसे कोई मूर्ख पुरुष कुशा के अग्रभाग में स्थित जल के अति सूक्ष्म बिन्दु को देखकर यह निश्चय कर बैठे कि यह बिन्दु प्रमाण में समुद्र के जल के समान है ठीक इसी प्रकार मनुष्यों के काम भोगों को देवों के काम भोगों के समान समझना है। तात्पर्य कि जिस प्रकार कुशाग्र जलबिन्दु और समुद्र जल में महान् अन्तर है उसी प्रकार मनुष्यों और देवों के काम भोगों में भी बड़ा भारी अन्तर है। देवों के काम भोग तो समुद्र जल के समान हैं और मनुष्यों के काम भोग अति क्षुद्र कुशाग्र जलबिन्दु के तुल्य हैं। अतः इन दोनों को समान समझना भ्रांति ही नहीं किन्तु नितान्त मूर्खता है। अपिच मनुष्यसम्बन्धी सब से अधिक और उत्तम काम भोग चक्रवर्ती के होते हैं परन्तु देवों के काम भोगों के समक्ष उनकी भी कुछ गणना नहीं है। उनके सामने तो वे भी कुशाग्र जल कण के ही समान हैं। इसलिए भव्य जीवों को शास्त्रकार उपदेश करते हैं कि हे भव्य जनो! तुम मनुष्यसम्बन्धी तुच्छ काम भोगों में आसक्त होकर अपना परलोक क्यों नष्ट कर रहे हो? अथवा देवगति के लाभ को क्यों हार रहे हो? यह समय बार २ मिलना बहुत कठिन है। और यदि तुम को संसार के ही सुखों की अभिलाषा है तो फिर तुम देवभव को क्यों हारते हो? इसलिए यदि तुम से सर्वविरति धर्म का पालन हो सके तो तुम देशविरति धर्म का ही आराधन करो ताकि तुम्हें दुर्गति में न जाना पड़े।

अब सूत्रकार निगमन करते हुए उपदेश देते हैं—

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउं, जोगक्खेमं न संविदे ॥२४॥

कुशाग्रमात्रा इमे कामाः, सन्निरुद्धे आयुषि।
कस्य हेतुं पुरस्कृत्य, योगक्षेमं न संविद्यात् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—कुसग्गमेत्ता–कुशाग्रमात्र इमे–ये कामा–काम भोग हैं संनिरुद्धंमि–संक्षिप्त आउए–आयु के होने पर कस्स–किस हेउं–हेतु को पुराकाउं–आगे करके जोग–योग–और क्खेमं–क्षेम को न संविदे–नहीं जानता।

मूलार्थ—कुशाग्र जलबिन्दु के समान ये काम भोग हैं और आयु अत्यन्त संक्षिप्त है। तो फिर किस कारण से काम भोगों को आगे रखकर तुम धर्मसम्बन्धी योगक्षेम को नहीं जानते?

टीका—मनुष्यसम्बन्धी ये सब काम भोग केवलमात्र कुशा के अग्रभाग में ठहरे हुए जलबिन्दु के समान अत्यन्त क्षुद्र हैं और आयु भी अत्यन्त स्वल्प है। इसलिए काम भोगों के निमित्त से प्राप्त हुए धर्म और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्ग मोक्ष के सुख की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अप्राप्त की प्राप्ति को योग और प्राप्त हुए का पालन करना क्षेम कहलाता है। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की आयु और समृद्धि बहुत ही स्वल्प है। इस स्वल्पतर समृद्धि और आयु में उसे जो धर्म की प्राप्ति हुई है तथा उस धर्म से जो स्वर्ग और मोक्ष सुख की आशा है उस धर्म की ओर अवश्य दृष्टि रहनी चाहिए अर्थात् तुच्छ विषय भोगों को दृष्टि में रखकर इस धर्म की कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिए, यही जीवन का बहुमूल्य सार है। इस प्रकार इन पांचों दृष्टान्तों से सूत्रकर्त्ता ने मनुष्य के हेयोपादेय तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझाते हुए धर्म के सारगर्भित मर्म को बड़ी अच्छी तरह से निरूपण किया है। यथा—बकरे के दृष्टान्त से–विषयासक्ति से अनर्थ और कष्ट की उत्पत्ति, काकिणी और आम्र फल के दृष्टान्त से भोगों की तुच्छता, वणिकों के दृष्टान्त से आय और व्यय की तुलना, और समुद्र के दृष्टान्त से देवों और मनुष्यों के ऐश्वर्य का अन्तर इत्यादि विषयों का बड़ी सुन्दरता से विवेचन किया गया है, जिसका तात्पर्य काम भोगों से जीवों को निवृत्त कराना है। सूत्रकर्त्ता जीवों के परम हितैषी हैं। इसलिए बार २ उपदेश करते हैं।

धर्मसम्बन्धी योगक्षेम के प्राप्त होने पर भी जो जीव उसका आराधन नहीं करते, अब उनके सम्बन्ध में कहते हैं—

इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई ॥२५॥

इह कामाऽनिवृत्तस्य, आत्मार्थोऽपराध्यति ।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं, यं भूयः परिभ्रश्यति ॥२५॥

पदार्थान्वयः—इह–इस लोक में कामाणियट्टस्स–काम भोगों से अनिवृत्त का अत्तट्ठे–आत्मार्थ–आत्मप्रयोजन अवरज्झई–नाश हो जाता है सोच्चा–सुन कर नेयाउयं–न्याय युक्त मग्गं–मार्ग को भुज्जो–फिर जं–जिससे परिभस्सई–भ्रष्ट हो जाता है–पतित हो जाता है ।

मूलार्थ—इस लोक में काम भोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्मप्रयोजन नष्ट हो जाता है जिससे कि वह मोक्ष मार्ग को सुनकर भी फिर भ्रष्ट हो जाता है अर्थात् उस न्याययुक्त मार्ग से गिर जाता है ।

टीका—इस गाथा में इस बात का दिग्दर्शन कराया गया है कि इस लोक में अथवा जिन धर्म में प्रविष्ट होकर जिस व्यक्ति ने काम भोगों का परित्याग नहीं किया उसने आगामी जन्म में प्राप्त होने वाले अपने पारलौकिक सुखों का विनाश कर दिया है । क्योंकि सम्यक् दर्शनादि रूप मोक्ष मार्ग को सुनकर भी वह उससे गिर रहा है । इसलिए उसने अपने भावी पारलौकिक सुख को विनष्ट कर दिया ।

यहां पर यदि कोई यह कहे कि जब कि जिनधर्म निवृत्ति मार्ग का उपदेष्टा है तो फिर उसको श्रवण करने वाला जीव धर्म मार्ग से पतित ही क्यों होता है ? इसका समाधान यह है कि जिन जीवों ने कर्मों का निविड़बन्ध किया हुआ है वे गुरुकर्मी जीव प्रथम तो इस न्यायपथ को सुनना ही नहीं चाहते, और यदि सुन भी लें तो उसके ग्रहण करने की इच्छा उनको नहीं होती । अस्तु, किसी प्रकार से अंगीकार भी कर लें तो उनसे उसका–न्यायमार्ग का यथावत् पालन नहीं हो सकता । बस, यही कारण उनके धर्मपथ से भ्रष्ट होने का है । 'अपराध्यति' क्रिया का 'नश्यति' अर्थ करना, धातुओं के अनेकार्थ होते हैं, इस नियम के अनुसार है । तथा आत्मार्थ–आत्मप्रयोजन से यहां पर स्वर्गीय सुख विशेष अभिप्रेत है–विवक्षित है ।

अब काम भोगों से निवृत्त होने वाले जीवों के विषय में कहते हैं—

इह कामणियट्टस्स, अत्तट्ठे नावरज्झई ।
पूइदेहनिरोहेणं , भवे देवे त्ति मे सुयं ॥२६॥

इह कामनिवृत्तस्य, आत्मार्थो नापराध्यति ।
पूतिदेहनिरोधेन , भवेद् देव इति मया श्रुतम् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—इह–इस लोक में कामणियट्टस्स–काम भोगों से निवृत्त कर अत्तट्ठे–आत्मार्थ–आत्मप्रयोजन नावरज्झई–नष्ट नहीं होता पूइदेह–औदारिक शरीर के निरोहेणं–निरोध से–पतन से भवे–होता है देव–देवता इति–इस प्रकार मे–मैंने सुयं–सुना है ।

मूलार्थ—इस लोक में काम भोग से निवृत्त जीव का, आत्मार्थ आत्म-प्रयोजन (स्वर्गीय सुख विशेष) नष्ट नहीं होता अपितु वह औदारिक शरीर को छोड़कर देवता बन जाता है, इस प्रकार मैंने सुना है ।

टीका—इस लोक में अथवा जैन धर्म में आकर जिसने काम भोगों का परित्याग कर दिया है वह जीव अपने आत्मा के भावी स्वर्गीय सुखों का विनाश नहीं करता अर्थात् उसके भावी स्वर्गीय सुख विनष्ट नहीं होते, किन्तु इस पूय-रुधिरादि युक्त औदारिक शरीर को छोड़कर वह सौधर्मादि देव लोकों को प्राप्त होकर देवता बनता है और यदि उसके सम्पूर्ण कर्म क्षय हो जावें तो वह सिद्ध-गति–मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । गुरु अपने शिष्यों को कह रहे हैं कि इस प्रकार मैंने भगवान् से श्रवण किया है कि जिस आत्मा ने विषय भोगों की लालसा का सर्वथा परित्याग कर दिया है उसका पारलौकिक सुख कभी विनष्ट नहीं होता अपितु वह विरक्त आत्मा इस औदारिक शरीर को छोड़कर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से मोक्ष और कुछ शेष कर्म रहने पर देवगति को प्राप्त होता है । इससे सिद्ध हुआ कि जो जीव काम भोगों में आसक्त हैं वे अपने भावी आत्मसुखों का विनाश करते और जिन जीवों ने इन काम भोग आदि विषयों का सर्वथा परि-त्याग कर दिया है उनका भावी सुख कभी नाश को प्राप्त नहीं होता । इसलिए विवेकशील पुरुष को उचित है कि वह अपने भावी सुख का विचार रखता हुआ इन कामभोगादि विषयों में आसक्त न होवे ।

कामभोगादि के त्याग करने वालों को इससे अधिक जो कुछ प्राप्त होता है, अब उसके विषय में कहते हैं—

इड्ढी जुई जसो वण्णो, आउं सुहमणुत्तरं।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जई ॥२७॥

ऋद्धिर्द्युतिर्यशो वर्णः, आयुः सुखमनुत्तरम्।
भूयो यत्र मनुष्येषु, तत्र स उत्पद्यते ॥२७॥

पदार्थान्वयः—इड्ढी-ऋद्धि जुई-ज्योति जसो-यश वण्णो-वर्ण आउं-आयु सुहं-सुख अणुत्तरं-प्रधान भुज्जो-फिर जत्थ-जहां मणुस्सेसु-मनुष्यों में तत्थ-वहां से-वह जीव उववज्जए-उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—जहां पर मनुष्यों में ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, आयु और प्रधान सुख हों, वहां पर वह जीव फिर उत्पन्न होता है।

टीका—जब वह पुण्यात्मा जीव स्वर्ग लोक के सुखों को भोग कर फिर मनुष्य लोक मे आता है तब उसका जन्म किस स्थान में और किस रूप में होता है, इसका दिग्दर्शन इस गाथा में किया गया है। स्वर्ग लोक से च्युत होने के पश्चात् मनुष्य लोक में उस पुण्यात्मा जीव का ऐसे स्थान या कुल में जन्म होता है जहां पर विपुल ऋद्धि, विशिष्ट ज्योति, प्रौढ़ यश, सुन्दर वर्ण, दीर्घ आयु और इनमें उत्तरोत्तर प्रधान सुख आदि ऐश्वर्य की सभी प्रधान सामग्री विद्यमान हो। कारण कि अपने शेष पुण्यों को भोगने के लिए ही वह मनुष्य लोक में उत्पन्न होता है।

इस कथन से मनुष्यों की सुगति का भी स्पष्ट बोध होता है। जैसे कि जिन जीवों की आयु दीर्घ है, घर में धन धान्य आदि की समृद्धि भी विद्यमान है, शरीर का तेज भी अपूर्व है, लोक मे यश भी फैला हुआ है और शरीर की कान्ति भी सुन्दर और मोहक है, एवं स्वभाव में गम्भीरता आदि गुण भी विद्यमान हैं तथा घर में सर्वप्रधान सुख सामग्री की भी कमी नहीं है, वे पुण्यात्मा जीव निस्सन्देह सुगति का उपभोग कर रहे हैं। और इसके विपरीत जिनके पास उक्त साधन सामग्री का सर्वथा अभाव है वे दुःखी जीव दुर्गति का अनुभव कर रहे हैं।

यह सब कुछ कामभोगादि विषयों से निवृत्त होकर धर्म का सतत आराधन करने वाले जीवों को प्राप्त होने वाले फल विशेष का निर्देश है, जिसका ज्ञान भी परम आवश्यक है। कामभोगों का जिन जीवों ने परित्याग नहीं किया वे बाल कहे जाते हैं और जिन पुरुषों ने इनका परित्याग कर दिया है उनको पंडित कहते हैं।

अब सूत्रकार बाल और पंडित के विषय में अनुक्रम से जो कुछ वर्णन करते हैं, उसका दिग्दर्शन कराया जाता है—

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जई ॥२८॥

बालस्य पश्य बालत्वम्, अधर्मं प्रतिपद्य।
त्यक्त्वा धर्ममधर्मिष्ठः, नरक उत्पद्यते ॥२८॥

पदार्थान्वयः—बालस्स-अज्ञानी का बालत्तं-अज्ञानपना पस्स-देख अहम्मं-अधर्म को पडिवज्जिया-ग्रहण करके धम्मं-धर्म को चिच्चा-त्याग कर अहम्मिट्ठे-अधर्मी होकर नरए-नरकों में उववज्जई-उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस बाल-अज्ञानी जीव की मूर्खता को देख? जो कि धर्म परित्याग और अधर्म का अंगीकार करने से अधर्मी होकर नरक में उत्पन्न होता है।

टीका—गुरुजन अपने शिष्य को बाल और पंडित के स्वरूप का बोध कराने के लिए प्रथम बाल जीव के विषय मे इस प्रकार कहते हैं—हे शिष्य! तू इस बाल जीव की बालिशता को देख—इस अज्ञ जीव की मूर्खता को देख? क्योंकि यह स्वर्ग और मोक्ष में ले जाने वाले श्रुत और चारित्र रूप धर्म का त्याग और अधोगति में ले जाने वाले आश्रव रूप अधर्म का अंगीकार करने से अधर्मिष्ठ बन कर नरकगति में उत्पन्न होने को प्रस्तुत हो रहा है। इस गाथा में बालभाव का फल बतलाया गया है। बाल वही है जो अपने हित और अहित को नहीं जानता। इसी लिए वह विषयों में आसक्त होकर धर्म मार्ग को छोड़ देता है। धर्म मार्ग के त्याग और अधर्म मार्ग के अनुसरण से वह नरकगति को प्राप्त होता है;

यही उसकी मूर्खता या बालपन है। इसलिए अपना हित चाहने वाले मुमुक्षु जीवों को उचित है कि वे किसी दशा में भी धर्म का त्याग और अधर्म का सेवन न करें।

अब अधर्म का त्याग और धर्म का ग्रहण करने वाले पंडित पुरुष के विषय में कहते हैं—

धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई ॥२९॥

धीरस्य पश्य धीरत्वं, सर्वधर्मानुवर्तिनः ।
त्यक्त्वाऽधर्मं धर्मिष्ठः, देवेषूत्पद्यते ॥२९॥

पदार्थान्वयः—धीरस्स–धीर के धीरत्तं–धीरपने को पस्स–देख–जो सव्व–सर्व धम्माणुवत्तिणो–धर्मों का अनुवर्ती है चिच्चा–छोड़ करके अधम्मं–अधर्म को धम्मिट्ठे–धर्मिष्ठ है देवेसु–देवों में उववज्जई–उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू उस धीर पुरुष के धीरपने को देख! क्योंकि वह सर्व धर्मों–क्षान्त्यादि दशविध धर्मों का अनुगामी होकर अधर्म का त्याग करके धर्मिष्ठ बनता हुआ देवलोकों में उत्पन्न होता है।

टीका—हे शिष्य! जो बुद्धिमान् पुरुष परिषह आदि को भली प्रकार से सहन करते हैं उनके धीरभाव–धैर्य को तू देख कि जिन्होंने मरणान्त कष्टों के आने पर भी अपने धैर्य को नहीं छोड़ा। इसके अतिरिक्त वे क्षान्त्यादि दशविध धर्मों का अनुसरण करने वाले तथा अधर्म का परित्याग करके धर्म का आराधन करने वाले होने से ही देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। यहां पर सर्व धर्म का अर्थ क्षान्त्यादि दशविध धर्म है। इन्हीं धर्मों की आराधना से पवित्र हुआ आत्मा अधर्म का त्यागी बनकर देवगति को प्राप्त होने अथवा विशेष पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष को प्राप्त होने की योग्यता का सम्पादन कर लेता है। तात्पर्य कि यदि उसके सम्पूर्ण कर्म क्षय हो गए हों तब तो उसे सिद्ध पद–मोक्ष पद की प्राप्ति हो जाती है। यह पद सादि अनन्त है। इसको प्राप्त करने वाले आत्मा का इस संसार में

पुनरागमन नहीं होता और यदि कुछ कर्म अभी शेष हैं तो वह स्वर्ग-देवलोक को प्राप्त होता है। स्वर्ग के सुखों का वर्णन तो पीछे आ ही चुका है। यहां पर 'देवेसु' इस पद से ग्रहण किए गए देवलोकों में बहुवचन का प्रयोग इसलिए किया गया है कि एक से दूसरा देवलोक प्रधान है। सो जिस आत्मा ने जिस देव लोक में जाने योग्य कर्म किए हैं, वह उसी में उत्पन्न हो जाता है।

इन दोनों गाथाओं से बाल और पंडित के स्वरूप को जान लेने के बाद इस जीव का आगामी जो कर्त्तव्य है, अब उसका वर्णन करते हैं—

तुलिया ण बालभावं, अबालं चेव पंडिए।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवए मुणि ॥३०॥
त्ति बेमि।

इति एलयज्झयणं समत्तं ॥७॥

तोलयित्वा बालभावम्, अबालं चैव पण्डितः।
त्यक्त्वा बालभावम्, अबालं सेवते मुनिः ॥३०॥
इति ब्रवीमि।

इत्येलकाध्ययनं समाप्तम् ॥७॥

पदार्थान्वयः—तुलिया-तोल कर बालभावं-बाल भाव को च-और अबालं-अबाल भाव को पंडिए-बुद्धिमान् पुरुष-फिर चइऊण-छोड़कर बालभावं-बाल भाव को मुणि-साधु अबालं-अबाल भाव को सेवए-सेवन करे ण-अलंकारार्थ में है त्ति-इस प्रकार बेमि-मैं कहता हूं।

मूलार्थ—पंडित पुरुष बालभाव और अबालभाव को अपनी बुद्धि के द्वारा तोल कर-समझ कर बालभाव का परित्याग करके अबालभाव का सेवन करे, वही मुनि है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

टीका—इस गाथा में बाल और पंडित भाव का स्वरूप बतलाने के बाद इन दोनों का विचार करके बुद्धिमान् पुरुष को किस कोटि में प्रविष्ट होना चाहिए,

इस बात का दिग्दर्शन कराया है। अब बुद्धिमान् पुरुष का यह कर्त्तव्य है कि वह इन दोनों के भावी फल पर विचार करके अपने लिए जो श्रेय हो, उसको ग्रहण करे। सूत्रकार ने तो स्पष्ट शब्दों में वर्णन कर दिया है कि पंडित अथवा मुनि वही है जो कि बालभाव का परित्याग करके अबाल भाव को ग्रहण करे। और पंडित पुरुष के पांडित्य एवं मुनि की मननशीलता का साफल्य इसी में है कि वह बालभाव के सेवन से भविष्य में उत्पन्न होने वाले कष्टों को विचार करके और अबालभाव का अनुसरण करने से भविष्य में उपलब्ध होने वाले सुखसमूह का ध्यान करके इन दोनों में से अपने लिए जो हितकारी मार्ग हो, उसी का दृढ़ता से अनुसरण करे।

इस गाथा के भाव का पर्यालोचन करने से भगवान् वीतराग देव श्री वर्द्धमान स्वामी की दयालुता और जगद्बान्धवता का भी स्पष्ट परिचय मिलता है। उन्होंने संसारी जीवों के कल्याणार्थ ही यह बालभाव के त्याग और पंडित भाव के अनुसरण का परम हितकर सुवर्णमय उपदेश दिया है जो कि भव्य जीवों को सदा ही आचरणीय है। यहां पर 'च' शब्द समुच्चयार्थक है और 'एव' शब्द पर रहने वाले अनुस्वार का प्राकृत के नियमानुसार लोप हो गया है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले लिख दिया गया है। इसलिए अब यहां पर उसके लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

सप्तम अध्ययन समाप्त।

अह काविलीयं अट्ठमं अज्झयणं

अथ कापिलिकमष्टममध्ययनम्

सातवें अध्ययन में विषय त्याग का वर्णन किया है। सो विषयों के त्याग के लिए निर्लोभता का होना परम आवश्यक है। अतः निर्लोभताविषयक इस आठवे अध्ययन में कपिल मुनि का वर्णन किया जाता है। क्योंकि अबोधजनों को इस दृष्टान्त के द्वारा शीघ्र बोध की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए निर्लोभता के विषय को कपिल मुनि के दृष्टान्त से—उसके चरित्र वर्णन से अधिक सुगम और दृढ़ किया गया है। परन्तु उक्त विषय का गाथाओं के द्वारा वर्णन किया जाय, इससे प्रथम कपिल मुनि के चरित्र का संक्षेप से उल्लेख कर देना कुछ विशेष उपयोगी प्रतीत होता है। कपिलाख्यान इस प्रकार है—

कौशांबी नाम की नगरी में जितशत्रु नाम का एक राजा राज्य करता था। उसकी राजधानी मे चतुर्दश विद्याओं का ज्ञाता काश्यप नाम का एक ब्राह्मण रहता था और राजद्वार में वह चिरकाल से लब्धप्रतिष्ठ था। इसी लिए राज्य की ओर से उसकी महती वृत्ति भी नियत थी। तथा राजधानी के अन्य प्रतिष्ठित पंडितों में वह अग्रणी समझा जाता था। उसके यथा नाम वाली पतिपरायणा एक भार्या थी। कुछ समय के बाद उनके घर में एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ। दम्पति ने उस पुत्र का नाम कपिल देव रक्खा जो कि कपिल के नाम से ही संसारविख्यात हुआ। परन्तु समय की गति बड़ी विचित्र है। लक्ष्मी और प्रतिष्ठा सदा एक स्थान में स्थिर नहीं रहती। जो कुछ इस जीव की आज दशा है वह कल को नजर

नहीं आती। यही कारण यहां पर भी हुआ। कुछ दिनों के बाद कपिल देव के पिता राजपंडित काश्यप का अकस्मात् किसी रोग विशेष के कारण देहान्त हो गया। काश्यप के स्वर्ग प्रयाण के पश्चात् अजातशत्रु ने उसके पद पर किसी और विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त कर दिया। राजपंडित के पद को प्राप्त करके वह ब्राह्मण भी काश्यप की तरह राजपुरुषों के द्वारा सत्कृत होता हुआ छत्र चामरादि युक्त अश्वारूढ़ होकर समय २ पर नगर में भ्रमण करने लगा और थोड़े ही दिनों में वह अपने प्रतिभा बल से राजा का पूर्ण विश्वासपात्र बन गया। एक दिन की बात है कि जब वह राज की ओर से लब्धप्रतिष्ठ होकर अपने घर को जा रहा था, तब रास्ते में काश्यप की स्त्री यशा ने उसको देखा। उसकी अद्भुत प्रतिष्ठा को देखकर उसे अपने पिछले ऐश्वर्य का एक दम स्मरण हो उठा और उसके स्मरण होते ही वह फूट २ कर रोने लगी। माता को रोते देखकर कपिल ने पूछा कि माता! तुम क्यों रो रही हो? पुत्र के पूछने पर यशा ने कहा कि पुत्र! देख, जिस प्रकार इस समय राज्य में इस ब्राह्मण की प्रतिष्ठा हो रही है उसी प्रकार तेरे पिता की भी प्रतिष्ठा होती थी। परन्तु उसके मरने और तेरे अविद्वान्-मूर्ख रह जाने के कारण तेरे अधिकार में आने वाला यह राजपंडित का पद इस ब्राह्मण को मिल गया। सो मैं अपने पति के अतीत वैभव का स्मरण करके रोने लग पड़ी हूं। माता के इन वचनों को सुनकर कपिल ने कहा कि माता! तू रो मत। मैं अब विद्या का सम्पादन कर लेता हूं। कपिल के इस कथन का उत्तर देते हुए माता ने कहा कि बेटा! उस राजपंडित ब्राह्मण के भय से तुझे इस नगरी में तो कोई पढ़ाएगा नहीं किन्तु एक काम कर। तू श्रावस्ती नाम की नगरी में जा। वहां पर तेरे पिता का मित्र इन्द्रदत्त नाम का एक विद्वान् ब्राह्मण रहता है, वह तुमको पढ़ाएगा। कपिल ने माता के इस आदेश को विनयपूर्वक स्वीकार किया और वहां से चल दिया। श्रावस्ती मे पहुंचने के बाद जब वह इन्द्रदत्त के घर में आया तब इन्द्रदत्त ने कपिल को अपरिचित व्यक्ति जानकर पूछा कि तू कौन है? कहां से और किस लिए आया है? यह सुन कपिल ने अपना परिचय देते हुए और आगमन का कारण बतलाते हुए 'अथ' से 'इति' तक अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। उस पंडित ने अपने मित्र का पुत्र समझ कर कपिल का उचित सत्कार किया और अपने पास बिठला कर उसे विद्याभ्यास कराने का वचन

दिया। अब कपिल विद्याभ्यास करने लगा और विद्वान् इन्द्रदत्त भी उसे बड़े प्रेम से अभ्यास कराने लगा। परन्तु इन्द्रदत्त जितना बड़ा विद्वान् था उतनी ही बड़ी उस पर दरिद्रनारायण की कृपा भी थी। घर में खाने का ठिकाना नहीं। अपने कुटुम्ब का ही निर्वाह बड़े कष्ट से होता था। अब कपिल की और फिकर पड़ गई ? तब वह सोचने लगा कि कपिल के लिए विद्याभ्यास की तो कुछ कमी नहीं किन्तु इसके लिए भोजन का प्रबन्ध होना कठिन है। इन्द्रदत्त अभी सोच ही रहा था कि इतने में उसकी उसी नगर के शालिभद्र नाम के एक धनी मानी प्रतिष्ठित वैश्य व्यक्ति से भेंट हो गई। इन्द्रदत्त ने शालिभद्र से कहा कि यह मेरे एक मित्र का पुत्र है और विद्याभ्यास के लिए मेरे पास आया है। परन्तु इसके भोजन का कोई योग्य प्रबन्ध अभी तक नहीं हो सका। यदि आप कृपा करके इसके भोजन का कोई उचित प्रबन्ध कर दें तो यह विद्या का अभ्यास सुगमता से कर सकेगा। शालिभद्र ने पंडित जी की बात को आदरपूर्वक स्वीकार करके कपिल के भोजन का अपने यहां पूरा प्रबन्ध कर दिया। अब तो कपिल का विद्याभ्यास आनन्दपूर्वक होने लगा और पंडित जी भी उसे निश्चिन्त होकर पढ़ाने लगे। परन्तु कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। इसका लोहा कंगाल से लेकर चक्रवर्ती राजा तक सब को मानना पड़ता है। भावी के वश से उस शालिभद्र नाम के सेठ के घर में एक दासी रहा करती थी। परन्तु दासी होने पर भी उसके रूपलावण्य में प्रकृति ने अपनी ओर से सुन्दरता प्रदान करने में कोई कमी बाकी नहीं रक्खी थी। इधर कपिल भी युवावस्था में अपने ब्रह्मचर्य के तेज से देदीप्यमान हो रहा था। होनहार ! प्रतिदिन के अधिकाधिक परिचय से युवक और युवती दोनों की आंखें एक दूसरे के सामने हो गईं ! बस, फिर क्या था ? धीरे २ एक दूसरे के हृदयगत भावों की व्यक्ति होने लगी। तात्पर्य कि दोनों ही एक दूसरे के प्रेमजाल—मोहजाल में फँस गए। अब तो कपिल वह विद्यार्थी कपिल नहीं रहा। अब तो उसका पाठ्य विषय पुस्तकगत विषय के बदले दासी के हाव भाव का चिन्तन है। तात्पर्य कि कपिल अपने पठन पाठन को छोड़कर सर्वदा दासी में ही अपना मानसिक अनुराग रखने लगा। कपिल के विद्याव्यसन में आलस्य और उपेक्षा की ओर जब कुछ गम्भीरता से विद्वान् इन्द्रदत्त ने ध्यान दिया तो उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसको तो विद्याव्यसनी कपिल अब दासीसेवक प्रतीत होने लगा। कपिल की आराध्य

देवी अब विद्या नहीं रही किन्तु वह दासी देवी का पुजारी बना हुआ है। गुरु को कपिल के विद्याभ्यास में उपस्थित होने वाले इस भयंकर उत्पात को देखकर बहुत दुःख हुआ। उसने कपिल को बहुत समझाया, बहुत कुछ कहा परन्तु सब व्यर्थ। क्योंकि भोला कपिल कामदेव के जिस मायाजाल में फँस रहा था उसको तो बड़े २ चतुर और प्रवीण पुरुष भी तोड़ने में असमर्थ हैं। इसलिए दासी के त्याग के बदले में कपिल ने विद्याभ्यास को ही तिलांजलि दे दी। कुछ समय व्यतीत होने के बाद उस दासी के गर्भ रह गया। तब उसने कपिल से कहा कि हे स्वामिन्! अब तो मैं तुम्हारी पत्नी और तुम मेरे पति हो गए। क्योंकि मेरे उदर में तुम्हारा गर्भ विद्यमान है। अब तो आपको ही मेरे भरणपोषण का प्रबन्ध करना पड़ेगा। यह बात सुनकर कपिल को बहुत चिन्ता हुई। इसी विचार में उसे रात्रि भर निद्रा नहीं आई। तब दासी ने कहा कि प्यारे! तुम चिन्ता मत करो? मैं तुम को एक उपाय बतलाती हूं। सुनो, इस नगर में एकधन नाम का सेठ रहता है। वह बड़ा दानी है। उसका एक नियम है। वह यह कि कोई भी ब्राह्मण प्रातःकाल सब से प्रथम उसके पास जाकर उसको बधाई दे तो वह उसे दो मासे सोना देता है। इसलिए आप प्रातःकाल सब से पहले उसके पास जाइए और दो मासे सोना वहां से ले आइए? कपिल ने दासी के इस आदेश को स्वीकार कर लिया और तदनुसार वहां प्रातःकाल जाने की मन मे ठान ली। परन्तु दो मासे सोने की लालसा से उसके मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि कोई पुरुष मेरे से पहले जाकर स्वर्ण न ले आवे। इसलिए वह प्रातःकाल की भ्रान्ति से अर्द्ध रात्रि में ही घर से चल पड़ा। कुछ दूर जाने पर उसको चोर समझ कर पुलिस के सिपाहियों ने पकड़ लिया और रात भर उसको अपने पास रक्खा। प्रातःकाल होते ही उसको न्यायमंदिर में राजा के सामने उपस्थित किया गया। तब राजा ने उसको आधी रात के समय घर से बाहर निकलने और अपना पूरा परिचय देने के लिए कहा। कपिल ने राजा की आज्ञा को सुनकर अपना नाम, ग्राम और घर से आधी रात के समय में निकलने का प्रयोजन आदि सारा ही सत्य वृत्तान्त कह सुनाया। कपिल की सारी बातों को सुनकर और उन पर विश्वास करके उसे बन्धनों से मुक्त कर दिया तथा उसकी दरिद्रावस्था को देखकर उस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा कि हे ब्राह्मण! तू जो कुछ माँगना चाहता है, मांग ले।

यह सुनकर कपिल ने उत्तर दिया कि महाराज ! कुछ सोच विचार के मॉगूंगा। तब राजा ने कहा कि अच्छा यह समीप में हमारी एक वाटिका है, तुम वहां चले जाओ। वहां जाकर जो कुछ तुमको मॉगना हो, उसके बारे में विचार कर लो। राजा के आदेश से कपिल वहां चला गया और एक वृक्ष के नीचे बैठ कर मॉगने के बारे में निम्नलिखित विचार करने लगा। तथाहि—यदि मैं अब दो मासे सोना ही मांगता हूं तो उससे तो घर वाली की अकेली धोती भी मुशकिल से आवेगी। अस्तु, एक हज़ार मुद्रा मांग लेता हूं। परन्तु एक हज़ार मुद्रा से तो संभवतः घर वाली के आभूषण ही बन सकेंगे। चलो, दस हज़ार मॉग लेते हैं। परन्तु इतने से केवल निर्वाहमात्र ही हो सकेगा, हाथी घोड़े आदि तो नहीं रखे जावेंगे तो फिर एक लाख मॉग लेता हूं परन्तु यह भी पर्याप्त नहीं होगा। क्योंकि हाथी और घोड़ों के साथ सुन्दर महल और दास दासियों का रखना भी आवश्यक है। इसलिए एक करोड़ मांग लेना चाहिए। इत्यादि विचार तरंगों के प्रवाह में बहते हुए कपिल के मन ने एक दम पलटा खाया और प्रबुद्ध पुरुष की भांति वह सोचने लगा—अहो ! तृष्णा की विचित्रता ! कहां दो मासे स्वर्ण और कहां यह एक करोड़ मोहर ! कितना अन्तर ! फिर भी तृप्ति नहीं। तृष्णे देवि ! तुझे बार २ नमस्कार। बार २ प्रणाम। जिस जीव पर तेरी कृपा हो जाती है वह लाखों और करोड़ों का धनी होते हुए भी सदा दरिद्र और कंगाल बना रहता है। धिक्कार है, ऐसी तृष्णा वृद्धि पर ! कुछ और विचार करने पर, ओहो ! कितनी भयानकता ! कितनी यातना ? दो मासे स्वर्ण के लिए मैंने रात्रि भर कष्ट भोगा, राजकर्मचारियों की भर्त्सनाएं सहीं, राजपुरुषों के द्वारा बांधा गया और एक चोर की स्थिति से राजसभा में उपस्थित होना पड़ा ! इतना कष्ट दो मासे सोना मांगने के उपलक्ष्य में हुआ। यदि एक करोड़ मोहर मॉग ली गई तो न मालूम कितनी कल्पनातीत यातनाएं भोगनी पड़ेंगी। यह सब कुछ तृष्णा राक्षसी का ही कौतुक है। धिक्कार है मुझे, जो कि मैं एक उत्तम कुल में पैदा होकर इसके जाल में फॅस कर इस हीन दशा को प्राप्त हुआ। इत्यादि विचारपरम्परा में निमग्न होते हुए कपिल को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। तब उसने वहां पर ही केशों का लोच

१ इति भावयन् जातिस्मृत्याऽबुध्यत, स्वयंकृतलोचनसाधुलिंगं देवतादत्तमग्रहीत्। (सर्वार्थसिद्धिटीका)।

करके साधु वृत्ति को स्वीकार कर लिया। और उस समय शासन देवता ने उसे साधु का वेष भी दे दिया जिसको कि उसने ग्रहण कर लिया।

इसके बाद वह कपिल द्रव्य और भाव से पूर्णतया साधु बनकर राजा के पास से होकर जब जाने लगा तो राजा ने उससे कहा कि क्या तुमने अब तक मांगने के विषय में निश्चय कर लिया है या नहीं ? राजा के इस वचन को सुनकर कपिल मुनि बोले—राजन्! जहां पर लाभ है वहां पर ही लोभ है। क्योंकि लाभ से ही लोभ की वृद्धि होती है। देखो, इस तृष्णा की विचित्रता! जो कि दो मासे स्वर्ण से बढ़ती २ करोड़ों तक पहुंचने पर भी पूरी नहीं हो सकी। इसलिए इसका सर्वथा त्याग कर देना ही मैंने अपने लिए परम श्रेय समझा है। अब तो मुझे न लाख की आवश्यकता है, न करोड़ की। मेरी दृष्टि में तो अब लाख और राख में तथा कौड़ी और करोड़ में कुछ भी अन्तर नहीं है। अतः हे राजन्! मुझे अब किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं ? ऐसा कह कर कपिल मुनि आगे को चल दिए। और संयम की सतत आराधना में लगे हुए स्वतंत्रता-पूर्वक विचरने लगे। इस प्रकार विचरते हुए कपिल मुनि के छः मास बीत गए। छः मास के बाद चारों घाति कर्मों का क्षय होने के बाद कपिल मुनि को केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। अब वह कपिल मुनि केवली हो गए और कपिल केवली के नाम से ही संसार में विख्यात हुए। किसी समय श्रावस्ती नगरी के अन्तराल में बसने वाली पांच सौ चोरों की एक टोली को प्रतिबोध देने के लिए कपिल केवली ने श्रावस्ती की ओर विहार किया। वहां पहुंचने पर जब उनकी उस टोली से भेंट हुई तब चोरों ने उनको पकड़ कर मारना आरम्भ किया। इस प्रकार अपने साथियों के हाथ से कपिल केवली मुनि को पीड़ित होते हुए देख उनके सरदार बलभद्र ने उनको ऐसा अनर्थ का काम करने से रोका और कहा कि इनको कुछ मत कहो, इनके पास कुछ नहीं है, ये तो निर्ग्रन्थ साधु हैं, इनको तो किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाना बहुत ही अनर्थ का कारण है। इसलिए आओ, इनसे कोई सुन्दर गीत सुनने की प्रार्थना करें। अपने नायक बलभद्र के इस आदेश को सुनकर उन चोरों ने कपिल केवली को छोड़ दिया और उनसे गीत सुनाने के लिए प्रार्थना करने लगे। उनकी प्रार्थना को स्वीकार करके कपिल केवली मुनि ने उन पांच सौ चोरों की टोली के मध्य में बैठ कर जो गीत उनको सुनाया था वह यही आठवां

अध्ययन है अर्थात् इस आठवें अध्ययन को ही उन्होंने गीत के रूप में उनको सुनाया। जब उनके मध्य में बैठकर कपिल केवली ने इस अध्ययन की गाथाओं को संगीत के रूप में उनको सुनाना आरम्भ किया तो उनमें से कोई पहली गाथा से प्रतिबोध को प्राप्त हो गए, कोई दूसरी, और कोई तीसरी। बीसवीं गाथा के सुनाने तक सारे के सारे चोर प्रतिबोध को प्राप्त हो गए। इस प्रकार प्रतिबोध करने के अनन्तर भगवान् कपिल केवली उनको दीक्षा देकर अपने साथ लेकर चल दिए। यह कपिलाख्यान है। सो इस अध्ययन मे जिन गाथाओं को कपिल केवली ने उन चोरों के प्रति गाकर सुनाया था, उन्हीं का नीचे उल्लेख किया जाता है। उनमें से प्रथम की गाथा इस प्रकार है—

अधुवे असासयंम्मि, संसारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा ॥१॥

अध्रुवेऽशाश्वते , संसारे दुःखप्रचुरे।
किं नाम तद् भवेत्कर्मकं, येनाहं दुर्गतिं न गच्छेयम् ॥१॥

पदार्थान्वयः—अधुवे–अध्रुव असासयंमि–अशाश्वत संसारंमि–संसार में दुक्खपउराए–दुःखप्रचुर में तं–वह किं नाम–कौन सा कम्मयं–कर्म होज्ज–होवे–है जेण–जिससे अहं–मैं दुग्गइं–दुर्गति को न गच्छेज्जा–न जाऊं।

मूलार्थ—इस अध्रुव, अशाश्वत और दुःखबहुल संसार में ऐसा कौन सा कर्म है–कौन सा क्रियानुष्ठान है जिससे कि मैं दुर्गति में न जाऊं?

टीका—जिस समय पांच सौ चोरों की टोली भगवान् कपिल केवली के सामने गीत सुनने को बैठ गई तब उन्होंने उनकी ओर लक्ष्य करके इस प्रकार से उपदेश का आरम्भ किया–यह संसार अध्रुव है, इसमें कोई भी वस्तु सदा स्थिर रहने वाली नहीं है। तथा पर्याय रूप से इसकी हर एक वस्तु समय २ पर उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है। इसलिए यह अशाश्वत है। अपिच इसमें शारीरिक और मानसिक अनेक प्रकार के दुःख भरे हुए हैं। अतः यह दुःख प्रचुर भी है। तब इस प्रकार के अध्रुव, अशाश्वत और दुःखमय संसार में वह ऐसा कौन सा

क्रियानुष्ठान है कि जिसके अवलम्बन से मैं दुर्गति को न जाऊं ? इसका अभिप्राय यह है कि यह संसार दुःखों का घर है और इसमें प्रचुर दुःख भरे पड़े हैं और साथ में अस्थिर अथच विनश्वर भी है। तब वह कौन सा कर्मानुष्ठान है कि जिसके प्रभाव से यह जीव दुर्गति को प्राप्त न हो सके ?

यद्यपि भगवान् कपिल केवली को न तो कोई संशय है और न वे दुर्गति में जाने वाले हैं, तब यहां पर जो उत्तम पुरुष की क्रिया का प्रयोग किया है उसका उद्देश्य केवल उन चोरों को प्रतिबोध करना है। और नाम शब्द यहां पर अलंकारार्थक है।

अब इस उक्त प्रश्न का उत्तर भगवान् कपिल मुनि इस प्रकार से देते हैं—

विजहित्तु पुव्वसंजोयं, न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा ।
असिणेह सिणेहकरेहिं, दोसपओसेहि मुच्चए भिक्खू ॥२॥

विहाय पूर्वसंयोगं, न स्नेहं क्वचित् कुर्वीत ।
अस्नेहः स्नेहकरेषु, दोषप्रदोषेभ्यो मुच्यते भिक्षुः ॥२॥

पदार्थान्वयः—विजहित्तु—छोड़ कर पुव्वसंजोयं—पूर्व संयोग को फिर सिणेहं—स्नेह कहिंचि—किसी वस्तु में भी न कुव्वेज्जा—न करे असिणेह—स्नेह रहित सिणेहकरेहिं—स्नेह करने वालों में दोस—दोष और पओसेहिं—प्रदोषों से भिक्खू—साधु मुच्चए—छूट जाता है।

मूलार्थ—पूर्वसंयोग को छोड़कर फिर कहीं पर भी स्नेह न करे। स्नेह करने वालों में स्नेह रहित होकर दोष और प्रदोषों से साधु छूट जाता है।

टीका—उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कपिल मुनि कहते हैं कि माता पिता और स्त्री पुत्र आदि के सम्बन्ध को छोड़कर अर्थात् छोड़ देने के बाद साधु फिर किसी वस्तु पर भी स्नेह न करे। अपितु जो स्नेह करने वाले गृहस्थ लोग हैं, उनमें भी स्नेहरहित होकर विचरने वाला साधु सम्बन्धी जनों के वियोग से मन में उत्पन्न होने वाले दुःख सन्ताप आदि से तथा परलोक में दुर्गति को प्राप्त करने पर उत्पन्न होने वाले कष्टों से छूट जाता है।

संसार में इस जीव को जितने भी कष्ट उत्पन्न होते हैं उन सब का मूल कारण स्नेह है। इसलिए भिक्षु को सांसारिक सम्बन्धों का विच्छेद कर देने के बाद फिर किसी वस्तु मे भी स्नेह नहीं रखना चाहिए। और स्नेह का परित्याग कर देने के बाद भिक्षु को इस लोक तथा परलोक में किसी प्रकार का भी दुःख नहीं होता किन्तु दोष प्रदोष रूप सर्व प्रकार के दुःखों से वह मुक्त हो जाता है। तब इस उत्तर का सारांश यह निकला कि दुर्गति से बचने के लिए स्नेह का परित्याग करना परम आवश्यक है क्योंकि स्नेह के कारण से ही यह जीव दुर्गति में ले जाने वाली क्रियाओं का अनुष्ठान करता है। अतः सिद्ध हुआ कि स्नेहरहित जो कर्मानुष्ठान है, वही दुर्गति से इस जीव को बचाने वाला है।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

तो नाणदंसणसमग्गो, हियनिस्सेसाए सव्वजीवाणं।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, भासइ मुणिवरो विगयमोहो ॥३॥

ततो ज्ञानदर्शनसमग्रः, हितनिःश्रेयसाय सर्वजीवानाम्।
तेषां विमोक्षणार्थं, भाषते मुनिवरो विगतमोहः ॥३॥

पदार्थान्वयः—तो—तदनन्तर नाण—ज्ञान दंसण—दर्शन समग्गो—समग्र—संयुक्त हिय—हित निस्सेसाए—मोक्ष के लिए सव्वजीवाणं—सब जीवों को—तथा तेसिं—उन चोरों को विमोक्खणट्ठाए—मोक्ष के वास्ते मुणिवरो—मुनिश्रेष्ठ केवली भगवान् जो विगयमोहो—विगतमोह है भासइ—कहते हैं।

मूलार्थ—तदनन्तर वे मुनिप्रवर (कपिल केवली), जो केवल ज्ञान और केवल दर्शन वाले और मोह से रहित हैं, सब जीवों के हित और कल्याण के लिए तथा उन पांच सौ चोरों के प्रतिबोध के लिए इस प्रकार कहने लगे।

टीका—केवल ज्ञानी, केवलदर्शी और विगतमोह मुनिप्रवर कपिल ने सर्व जीवों के हित और कल्याण के लिए तथा उन पांच सौ चोरों के कर्मबन्धन को तोड़ने के लिए इस प्रकार से उपदेश दिया। इस वाक्यसन्दर्भ में मुनिवर शब्द के साथ जो विगतमोह विशेषण दिया है उसका तात्पर्य उनमें यथाख्यात चारित्र का

बोधन करना है। अथवा केवल ज्ञानयुक्त वीतरागता के प्रतिपादन से उनमें आप्तता या उनके इस उपदेश को आप्तोपदेश सिद्ध करना है। एवं हित शब्द यद्यपि द्रव्य अर्थ में ही प्रायः आता है परन्तु यहां पर तो वह भावरूप में आरोग्यादि के लिए ही गृहीत हुआ है। जिस समय कोई पवित्र आत्मा किसी भव्य जीव को उपदेश देने के लिए प्रवृत्त होता है तो उस समय उसके आत्मा में उपदिश्यमाण जीव का हित और कल्याण की ही भावना जागृत होती है।

प्राकृत में यद्यपि चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग होता है तथापि तादर्थ्य में चतुर्थी के एकवचन का प्रयोग भी किया जाता है। जैसे इसी गाथा में 'निस्सेसाय—विमोक्खणट्ठाए' ये चतुर्थी के एकवचनान्त के प्रयोग दिए गए हैं, परन्तु चतुर्थी के बहुवचन के स्थान पर तो षष्ठी का बहुवचन ही आता है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में उपदेष्टा मुनि के विशेषणों द्वारा जो ऊपर गुण वर्णन किए हैं उसका अभिप्राय उक्त उपदेश को केवली भगवान् का उपदेश प्रमाणित करना है।

अब भगवान् कपिल केवली के उपदेश वर्णन करते हैं—

सव्वं गंथं कलहं च, विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।
सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पई ताई ॥४॥

सर्वं ग्रन्थं कलहं च, विप्रजह्यात् तथाविधं भिक्षुः।
सर्वेषु कामजातेषु, प्रेक्ष्यमाणो न लिप्यते त्रायी ॥४॥

पदार्थान्वयः—सव्वं–सब गंथं–धन कलहं–कलह क्रोध आदि च–और विप्पजहे–छोड़ देवे तहाविहं–तथाविध कर्मबन्ध का हेतु भिक्खू–साधु सव्वेसु–सर्व कामजाएसु–कर्म जात में पासमाणो–देखता हुआ ताई–आत्मा की रक्षा करने वाला न लिप्पई–लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—सर्व प्रकार के धन और कलह आदि को कर्मबन्ध का हेतु जानकर साधु उसे छोड़ दे, क्योंकि सर्व प्रकार के काम भोगों में कटु परिणाम को देखने वाला आत्मरक्षक साधु कर्मों से लिप्त नहीं होता।

टीका—भगवान् कपिल ने कर्मों से छूटने का यह उपाय बतलाया है कि

भिक्षु सर्व प्रकार के आभ्यन्तर और बाह्य धन को तथा मिथ्यात्व आदि आन्तरिक परिग्रह को एवं क्रोध, मान, माया और लोभ को कर्मबन्ध का हेतु जानकर इनको, छोड़ देवे। तथा सर्व प्रकार के रूप रस गन्ध और शब्द स्पर्शादि विषयों के कटु परिणाम को देखता हुआ उनका भी परित्याग कर देवे। इस प्रकार दुर्गति से आत्मा की रक्षा करने वाला भिक्षु कर्मों से कभी लिप्त नहीं होता। 'त्रायी' शब्द का अर्थ है दुर्गति से आत्मा की रक्षा करने वाला। 'त्रायते रक्षति आत्मानं दुर्गतेरिति त्रायी' यहां पर तथाविध शब्द से कर्मबन्ध के हेतुभूत परिग्रह के त्याग का जो उपदेश दिया गया है उसमें साधु के उपकरणों का समावेश नहीं है क्योंकि साधु के उपकरण किसी प्रकार का परिग्रह नहीं है, वे तो धर्म साधन के करण हैं, अर्थात् धर्मसाधना के अत्यन्त साधक हैं।

वस्तु की हेयोपादेयता के विषय में उसके फलाफल का विचार होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी अभिप्राय से गाथा में 'पाससाणो-प्रेक्ष्यमाणः' शब्द का उल्लेख किया गया है।

जो जीव ग्रन्थ आदि को नहीं छोड़ते किन्तु उनमें अनुरक्त ही रहते हैं, अब उनकी दशा का वर्णन करते हैं—

भोगामिसदोसविसन्ने , हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥५॥

भोगामिषदोषविषण्णः , हितनिःश्रेयसबुद्धिविपर्यस्तः ।
बालश्च मन्दो मूढः, बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥५॥

पदार्थान्वयः—भोगामिस-भोग रूप आमिष दोस-वही दोष-उसमें विसन्ने-निमग्न हिय-हित निस्सेयस-मोक्ष-उसमें बुद्धि-बुद्धि वोच्चत्थे-विपरीत बाले-अज्ञानी य-और मंदिए-मन्द मूढे-मूढ मच्छिया-मक्षिका की व-तरह खेलंमि-श्लेष्मा में-नाक और मुख के मल में बज्झई-बाँधा जाता है।

मूलार्थ—भोग रूप आमिष-दोष में निमग्न, हित और मोक्ष के विषय में विपरीत बुद्धि रखने वाला अज्ञानी, मन्द और मूर्ख जीव श्लेष्मा में फँसने वाली मक्षिका की भाँति कर्म जाल में बँध जाता है।

टीका—विषय भोग रूप आमिष आत्मा के लिए अहितकर होने से अत्यन्त दोष रूप है। उसमें आसक्त होने वाला आत्मा भी दुष्ट हो जाता है। अतएव विषय भोगों में निमग्न रहने वाला जीव अत्यन्त बाल—मूर्ख और महा जड़ है। उसको अपने हिताहित का कुछ भी भान नहीं होता। इसी लिए वह शास्त्रकारों के हित मित वचनों में और मोक्ष मे विपरीत विचार रखने वाला होता है। और विषय भोगों में प्रचुर आसक्ति रखने के कारण उसकी वही दशा होती है जो कि दुर्गन्ध में आसक्त होने से श्लेष्मा में फंसी हुई मक्षिका की होती है अर्थात् जैसे वह मक्षिका श्लेष्मा की दुर्गन्ध से आकर्षित होकर वहां जाकर फंस जाती है ठीक उसी प्रकार रागद्वेष के कारण विषय भोगों से खींचा हुआ यह जीव भी कर्मों के जाल में फंस जाता है। एवं उस श्लेष्मा में से जैसे मक्षिका के लिए निकलना दुस्तर हो जाता है उसी प्रकार इस पामर जीव का भी कर्मों के जाल से निकलना अत्यन्त कठिन है।

हिताहित के ज्ञान से शून्य जीव को बाल कहते हैं। एवं धर्म के अनुष्ठान में उद्योगशून्य पुरुष मंद या मंदमति कहलाता है तथा धर्म से उपरति और अधर्म में प्रीति रखने वाला जीव मूढ़ कहा जाता है।

रूप, रस और शब्द स्पर्शादि विषय आमिषरूप हैं अर्थात् मांस के समान हैं। जैसे मांसाहारी को अन्य भोज्य पदार्थों की अपेक्षा मांस अधिक प्रिय होता है उसी प्रकार विषयी पुरुष को अन्य धर्म कार्यों की अपेक्षा शब्द स्पर्शादि विषय भोग विशेष प्रिय होते हैं। इसी अभिप्राय को लेकर सूत्रकार ने उक्त गाथा में 'भोगामिष' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे कि विषय भोग और मांस में समानता का बोध सुगमता से हो सके। जैसे मांसाहारी की बुद्धि में तमोगुण की प्रधानता के कारण विपरीतता आ जाती है उसी प्रकार विषयभोगानुरागी पुरुष भी बुद्धिविपर्यय को प्राप्त कर लेता है, जिसके कारण से उसको मोक्ष के विषय में विपरीत ज्ञान ही रहता है। सारांश कि यह सब कुछ विषय भोगानुरक्ति की विलक्षण शक्ति का ही प्रभाव है जो कि मुमुक्षु जनों के लिए सर्वथा त्याग कर देने योग्य है। परन्तु इसका त्याग करना कुछ सहज नहीं है।

अब इसके त्याग की कठिनता के विषय में कहते हैं—

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया व ॥६॥

दुष्परित्यजा इमे कामाः, नो सुत्यजा अधीरपुरुषैः ।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः, ये तरन्त्यतरं वणिज इव ॥६॥

पदार्थान्वयः—दुप्परिच्चया-दुःख से त्यागे जाते हैं इमे-ये कामा-काम भोग नो-नहीं सुजहा-सुत्याज्य अधीरपुरिसेहिं-अधीर पुरुषों के द्वारा अह-अथ सुव्वया-सुव्रती साहू-साधु संति-हैं जे-जो तरंति-तैरते हैं अतरं-दुस्तर वणिया-वणिक् की व-तरह (समुद्र को)।

मूलार्थ—ये काम भोग दुस्त्यज हैं। अधीर पुरुषों के द्वारा सुखपूर्वक त्यागे नहीं जाते। जो सुव्रती साधु हैं वे वणिक् की तरह इस विषय रूप समुद्र को तैर जाते हैं।

टीका—ये काम भोग अधीर पुरुषों से सुख पूर्वक त्यागे नहीं जाते। इसलिए ये दुस्त्यज हैं। तथा जो सुन्दर वृत्ति—सुन्दर आचार वाले साधु हैं वे इस विषय भोग रूप दुस्तर संसार समुद्र को इस प्रकार तैर जाते हैं जिस प्रकार व्यापारी—वणिक् जहाज के द्वारा समुद्र को तैर जाता है। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जो पुरुष अल्पसत्त्व वाले हैं उनके लिए ये काम भोग दुस्त्यज हैं और जो महासत्त्व वाले तथा धैर्यादि गुणों से युक्त हैं वे इन काम भोगादि विषयों का त्याग करके अपने संयम के द्वारा इस संसार समुद्र से इस प्रकार पार हो जाते हैं जैसे जहाज के द्वारा कोई व्यापारी—वणिक् समुद्र को पार कर लेता है। तब इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो कायर पुरुष हैं उनको तो इन विषमिश्रित मधु रूप कामभोगादि का त्याग करना कठिन है, और जो धीर पुरुष हैं वे तो इनका सहज ही में परित्याग कर सकते हैं। तथा जिस प्रकार एक व्यापारी पुरुष समुद्र को पार करने के लिए जहाज का आश्रय लेता है उसी प्रकार धीर पुरुष को इस संसार समुद्र को पार करने के वास्ते संयम का सहारा है।

इस गाथा में 'व' शब्द 'इव' के अर्थ में है और 'साहू' (साधु) शब्द,

प्राकृत के नियम से बहुवचनान्त (साधवः) समझना, तभी गाथा में आए हुए 'संति' इस क्रियापद से उसका सम्बन्ध उपयुक्त हो सकता है।

अब नाम मात्र के साधुओं के विषय में कहते हैं—

समणा मु एगे वयमाणा, पाणवहं मिया अयाणन्ता।
मन्दा नरयं गच्छन्ति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥७॥

श्रमणाः स्मः (वयम्) एके वदन्तः, प्राणवधं मृगा अजानन्तः।
मन्दा नरकं गच्छन्ति बालाः, पापिकाभिर्दृष्टिभिः ॥७॥

पदार्थान्वयः—समणा–साधु मु–हम हैं एगे–कोई २ वयमाणा–बोलते हुए पाणवहं–प्राण वध को अयाणंता–न जानते हुए मिया–मृगवत्–अज्ञानी मंदा–मंद नरयं–नरक को गच्छंति–जाते हैं बाला–अज्ञानी पावियाहिं–पापकारी दिट्ठीहिं–दृष्टियों से–अभिप्रायों से।

मूलार्थ—'हम साधु हैं' इस प्रकार बोलने वाले, किन्तु प्राण वध के फल को न जानते हुए मृग की भांति अज्ञानी और मूर्ख जीव अपनी पापकारी दृष्टियों से नरक को जाते हैं।

टीका—कोई २ मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार बोलते हैं कि हम साधु हैं परन्तु वे प्राण वध के फल और प्राणियों के स्वरूप के ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। दुराग्रह रोग से ग्रसित और विवेक से विधुर हैं। इतना ही नहीं किन्तु उनकी आत्माएं पापमयी प्रवृत्तियों से सर्वथा मलिन हो रही हैं इसी कारण वे नरकगति की यात्रा के लिए अपने आपको प्रस्तुत कर रहे हैं। उनकी दृष्टि में प्राणियों की हिंसा करना दोषावह नहीं है अतएव वे ब्रह्मणे ब्राह्मणमिन्द्राय क्षत्रियं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रमालभेत–इत्यादि वैदिक वाक्यों[1] के द्वारा अपनी पापमयी प्रवृत्ति का समर्थन करते हुए अपने आपको साधु कहलाने का गौरव प्राप्त करते हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो उनकी यह जघन्य हिंसक प्रवृत्ति उनको साधुता की कोटि से बहुत नीचे गिरा रही है।

१ ब्रह्म के लिए ब्राह्मण, इन्द्र के लिए क्षत्रिय, मरुत् के लिए वैश्य और तप के लिए शूद्र का वध करे।

तथा–गाथा में आए हुए 'मु' पद को 'वयं' के स्थान में ग्रहण करना। ऐसा दो वृत्तिकारों का मत है और एक वृत्तिकार इसको 'स्मः' क्रिया का स्थानापन्न मानते हैं। परन्तु 'वयं' के लिए अधिक सम्मतिएं हैं और मिया–मृगाः शब्द के आगे रहने वाले 'इव' का लोप हुआ है यथा मृगा इव मृगाः।

अब सूत्रकार इस विषय में जानने योग्य कुछ और कहते हैं—

न हु पाणवहं अणुजाणे,
मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं।
एवं आयरिएहिं अक्खायं,
जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ॥८॥

न खलु प्राणवधमनुजानन्,
मुच्येत कदाचित्सर्वदुःखैः।
एवमाचार्यैराख्यातं,
यैरेष साधुधर्मः प्रज्ञप्तः ॥८॥

पदार्थान्वयः—पाणवहं–प्राण वध का अणुजाणे–अनुमोदन करता हुआ कयाइ–कदाचित् भी सव्वदुक्खाणं–सर्व दुःखों से हु–निश्चय ही न मुच्चेज–नहीं छूटता एवं–ऐसा आयरिएहिं–आचार्यों ने अक्खायं–कहा है जेहिं–जिन्होंने इमो–यह साहुधम्मो–साधु धर्म–पन्नत्तो–प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ—जिन आचार्यों ने इस साधु धर्म का वर्णन किया है वे आचार्य कहते हैं कि प्राणवध की अनुमोदना करने वाला कभी भी दुःखों से नहीं छूट सकता।

टीका—जो जीव हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप आस्रवों का स्वयं सेवन करते हैं, दूसरों से कराते हैं और करने वालों का अनुमोदन करते हैं वे शारीरिक और मानसिक दुःखों से कदाचित् भी मुक्त नहीं हो सकते। इस प्रकार से साधु धर्म का प्रतिपादन करने वाले आचार्यों ने कहा है। पांचों आस्रवों की

निवृत्ति रूप ही साधु धर्म है यह आचार्यों का कथन है तब जहां पर इन पांचों की निवृत्ति नहीं किन्तु प्रवृत्ति है वहां पर साधु धर्म भी नहीं है। इस प्रकार साधु धर्म और असाधु धर्म दोनों का ही अर्थतः निरूपण हो जाता है तथा दुःखों की निवृत्ति का यदि कोइ प्रधान कारण है तो वह साधु धर्म ही है। उसी का सम्यग् अनुष्ठान करने से यह जीव दुःखों से मुक्त हो सकता है, यह भाव भी भली भांति सुव्यक्त हो जाता है। यहां पर गाथा में आए हुए आचार्य शब्द से सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् का ही ग्रहण अभिप्रेत है, किसी साधारण आचार्य का नहीं क्योंकि वास्तविक रूप में वे ही धर्म के प्ररूपक अथवा स्थापक हो सकते हैं। यद्यपि कपिलदेव स्वयं भी केवली अर्थात् केवल ज्ञान से युक्त हैं तथापि उन पांच सौ चोरों को प्रतिबोध करने और ज्ञानपद को बहुमान देने के निमित्त से ही ऐसा वर्णन किया गया है तथा 'सव्वदुःखाणं' यह तृतीया के स्थान में षष्ठी है।

अब साधुजनोचित कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं—

पाणे य नाइवाएज्जा, से समीय त्ति वुच्चई ताई।
तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥९॥

प्राणान् यो नातिपातयेत्, स समित इत्युच्यते त्रायी।
ततोऽथ पापकं कर्म, निर्यातीत्युदकमिव स्थलात् ॥९॥

पदार्थान्वयः—पाणे-प्राणों का नाइवाएज्जा-अतिपात-विनाश न करे य-और मृषावाद आदि का सेवन न करे से-वह समीयत्ति-इस प्रकार समिति वाला वुच्चई-कहा जाता है ताई-रक्षा करने वाला तओ-तदनन्तर से-अथ-उससे पावयं-पाप कम्मं-कर्म निज्जाइ-निकल जाता है उदगं-उदक व-जैसे थलाओ-स्थल से।

मूलार्थ—जो पुरुष किसी प्राणी का वध न करे और मिथ्याभाषण आदि भी न करे वह समित अर्थात् समिति वाला कहलाता है फिर उससे पाप कर्म इस प्रकार चला जाता है जिस प्रकार स्थल से पानी चला जाता है—गिर जाता है।

टीका—जो पुरुष जीवों का स्वयं घात न करे, और दूसरों से न करावे तथा घात करने वालों को भला भी न समझे। एवं इसी प्रकार झूठ और चोरी आदि से भी उपराम रहे अर्थात् अन्य स्तेय मैथुनादि का भी त्यागी हो वह जीव समित अर्थात् समिति युक्त होने से त्रायी अर्थात् रक्षक या रक्षा करने वाला हो जाता है, तब उस आत्मा से पाप कर्म ऐसे चले जाते हैं जैसे स्थल से-ऊंचे स्थान से पानी चला जाता है। तात्पर्य कि इस प्रकार समिति युक्त आत्मा से पाप कर्म पृथक् हो जाते हैं।

यहां पर इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उक्त गाथा में जो केवल पाप कर्मों के पृथक् करने के कारणों का निर्देश किया है उसका तात्पर्य, सांसारिक अवस्था में रहे हुए जीवों की धर्म कार्यों में विशेष रुचि, उत्पन्न करने का है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए तो पुण्य और पाप दोनों के ही क्षय करने की आवश्यकता है। क्योंकि जब तक पुण्य और पाप ये दोनों ही कर्म सर्वथा क्षय नहीं हो जाते अर्थात् इन दोनों से ही आत्मा पृथक नहीं हो जाता तब तक मोक्ष का प्राप्त होना असंभव है।

तथा जैसे पाप कर्मों का अनुष्ठान नरकगति का हेतु है उसी प्रकार पुण्य कर्म का संचय मात्र स्वर्ग प्राप्ति का साधन है। और इन चोरों की जो पाप कर्म में प्रवृत्ति है वह दूर होकर धर्म की ओर-पुण्य की ओर अभिरुचि बढ़ जावे तथा अन्त में दोनों ही प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से निवृत्त होकर ये मोक्ष के सुख को प्राप्त कर सकें इसी अभिप्राय से उक्त उपदेश दिया गया है। जैसे पांचों आस्रव बन्ध के कारण हैं वैसे ही पांचों सम्वर मोक्ष के हेतु हैं, सो जब यह जीव सम्वर और निर्जरा में प्रविष्ट होता है तब इसके पुण्य और पाप कर्म, जैसे ऊंचे स्थान से पानी बह जाता है उसी प्रकार इस संवृत्त आत्मा से शुभाशुभ कर्म रूप जल निकल जाता है और यह आत्मा शुद्ध हो जाता है।

अब फिर इसी विषय को अधिक स्पष्ट और ग्रहणीय रूप में वर्णन करते हैं—

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥१०॥

जगन्निश्रितेषु भूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च।
न तेषु दण्डमारभेत, मनसा वचसा कायेन चैव ॥१०॥

पदार्थान्वयः—जग–लोक में निस्सिएहिं–आश्रित भूएहिं–जीवों में तसनामेहिं–त्रसों में च–और थावरेहिं–स्थावरों में तेसिं–उन्हों में दंडं–दंड का नो आरभे–आरम्भ न करे–दंड न देवे मणसा–मन से वयसा–वचन से कायसा–काया से च–अर्थात् सब अंगों से एव–अवधारणार्थक है।

मूलार्थ—लोकाश्रित जो त्रस और स्थावर जीव हैं उनको मन, वचन और काया से–तथा अन्य किसी प्रकार से भी दंड न देवे।

टीका—इस लोक में जितने भी जीव हैं वे सब त्रस और स्थावर इन दो राशियों में विभक्त हैं। इनमें जो चलते फिरते हैं इनकी त्रस संज्ञा है और जो स्थिर रहने वाले, पृथिवी आदि पाँच स्थावर हैं उनको स्थावर कहते हैं। त्रस नाम कर्म के उदय से जिन जीवों को त्रस रूप की प्राप्ति होती है वे त्रस कहे जाते हैं और स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावरता को प्राप्त होने वाले जीवों को स्थावर कहा है। इस प्रकार लोक में रहने वाले त्रस और स्थावर सभी जीवों को मन, वचन और काया से विचारशील पुरुष कभी दंड न देवे। तात्पर्य कि अपने आत्म–परिणामों को किसी भी जीव के प्रतिकूल धारण न करे। इस प्रकार से आचरण करने पर ही यह जीव समिति वाला माना जा सकता है। इसके प्रतिकूल अर्थात् जीवों के प्रति अशुभ भाव रखने वाला कभी समिति युक्त नहीं हो सकता। तथा 'चकार' से यावन्मात्र हिंसा के भंग–प्रकार हैं उन सबकी निवृत्ति अभीष्ट है। और मूल गाथा में सप्तमी के स्थान में जो तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है वह प्राकृत नियम के अनुसार समझना।

इस प्रकार सूत्रकर्त्ता ने अथवा यूं कहिए कि कपिल केवली ने मूल गुणों का वर्णन करके दिखा दिया, अब वे उत्तर गुणों का वर्णन करते हैं। उसमें प्रथम एषणा समिति के विषय में कहते हैं—

सुद्धेसणाउ नच्चाणं, तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं।
जायाए घासमेसेज्जा, रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ॥११॥

शुद्धैषणां ज्ञात्वा, तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम् ।
यात्रायां ग्रासमेषयेत्, रसगृद्धो न स्याद् भिक्षादः ॥११॥

पदार्थान्वयः—सुद्धेसणाउ-शुद्ध एषणा को नच्चा-जान करके तत्थ-उसमें भिक्खू-साधु अप्पाणं-आत्मा को ठवेज-स्थापन करे जायाए-संयम यात्रा के लिए घासं-ग्रास की एसेज्जा-गवेषणा करे भिक्खाए-साधु रसगिद्धे-रस में मूर्च्छित न सिया-न होवे णं-वाक्यालंकार में ।

मूलार्थ—साधु, शुद्ध एषणा को जानकर उसी में अपने आत्मा को स्थापन करे और संयम यात्रा के निर्वाहार्थ ही ग्रास की गवेषणा करे परन्तु मुनि, रस में मूर्च्छित न होवे ।

टीका—इस गाथा में साधु की एषणा समिति का वर्णन किया गया है । जैसे कि उद्गमन और उत्पातन आदि जो दोष हैं उनसे रहित-शुद्ध भिक्षा को जानकर उसमें अपने आत्मा को स्थापन करे अर्थात् दोष रहित भिक्षा का ग्रहण करे, और उस निर्दोष भिक्षा का स्वीकार भी केवल संयम निर्वाहार्थ ही करे किन्तु शरीर को पुष्ट और बलवीर्य युक्त बनाने के लिए आहार का ग्रहण न करे । तथा शुद्ध निर्दोष आहार के मिल जाने पर भी साधु उसके स्वादिष्ट रस आदि में मूर्च्छित भी न होवे किन्तु जैसे शकट का धुरा को भली भांति चलाने के लिए तेल आदि चिकने पदार्थों को लगाते हैं और व्रण आदि पर किसी ओषधि विशेष का लेप करते हैं उसी प्रकार केवल शरीर को धर्म साधनार्थ टिकाए रखने के उद्देश से स्वल्प आहार करे अर्थात् मनोहर आहार के मिल जाने पर उसमें मूर्च्छित होता हुआ अधिक आहार न करे । तात्पर्य इसका यह है कि साधु को एषणा-गवेषणा-रसैषणा, आहार की शुद्धि को देखना, फिर लेना फिर खाना इन तीनों में यत्न रखना चाहिए । इसी प्रकार अन्य उत्तर गुणों के विषय में भी समझ लेना । आहार की शुद्धि होने पर अन्य अशुद्धियें भी ठीक हो सकती हैं । इसके अतिरिक्त इतना और समझ लेना, कि जिस प्रकार रस गृद्धि के त्याग का उपदेश है उसी प्रकार रसों में द्वेष करने का भी निषेध है, तात्पर्य कि जिस प्रकार राग का त्याग करना, उसी प्रकार द्वेष का भी परित्याग कर देना ।

रस विषयक आसक्ति के त्यागने के अनन्तर साधु, किस प्रकार के पदार्थों

का ग्रहण करे। अब इसके सम्बन्ध में कहते हैं—

पन्ताणि चेव सेवेज्जा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु बुक्कसं पुलागं वा, जवणट्ठाए निसेवए मंथुं ॥१२॥

प्रान्तानि चैव सेवेत, शीतपिण्डं पुराणकुल्माषान्।
अथ बुक्कसं पुलाकं वा, यापनार्थं निषेवेत मन्थुम् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—पंताणि–नीरस आहार च–प्राग्वत् इव–पूर्ववत् सेवेज्जा–सेवन करे सीयपिंडं–शीत आहार पुराण–पुराने कुम्मासं–कुल्माषों का आहार करे अदु–अथवा बुक्कसं–मूंग उड़द आदि का आहार वा–अथवा पुलागं–असार आहार जवणट्ठाए–संयम यात्रा के निर्वाहार्थ मंथुं–बदरी फलों के चूर्ण को निसेवए–सेवन करे।

मूलार्थ—नीरस आहार, शीत आहार, पुराने कुल्माषों का आहार, मूंग उड़द आदि पदार्थों का आहार, असार आहार, बदरी फलों के चूर्ण के आहार का संयम निर्वाह के लिए सेवन करे।

टीका—इस गाथा में संयम शील साधु को किस प्रकार का आहार करना चाहिए, इस बात का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया गया है, यथा–साधु का जो आहार हो वह नीरस अर्थात् रूक्ष हो, कारण कि स्निग्ध आहार के सेवन से मोहनीय कर्म का शीघ्र उदय होता है इसलिए साधु को अन्त और प्रान्त आहार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त साधु शीत पिंड का आहार करे, क्योंकि उष्ण आहार भी प्रायः बाधाकारक ही होता है। तथा बहुत काल के पुराने कुल्माषादि धान्य भी नीरस हो जाते हैं अतः उन कुल्माषादि का आहार करना चाहिए। अथवा साधु बुक्कस आहार का सेवन करे। जिस धान्य का रस निकाल लिया गया हो उसे बुक्कस कहते हैं। अथवा मूंग और उड़द आदि एकत्रित किए हुए पदार्थों का आहार करे। तथा निस्सार पदार्थों का सेवन करे। एवं बदरी फल के चूर्ण का आहार करे, वह भी नीरस ही होता है। तात्पर्य कि साधु को स्निग्ध और स्वादिष्ट भोजन नहीं करना चाहिए तथा वह आहार भी केवल संयम यात्रा के निर्वाहार्थ ही

करना चाहिए, और वह भी रागद्वेष के भाव से रहित होकर ही करना उचित है।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि आहार विषयक यह जो कुछ भी लिखा गया है वह सब उत्सर्ग मार्ग को लेकर तथा जिनकल्प को लेकर लिखा गया है। अपवाद में तो उक्त प्रकार के आहार से यदि साधु की संयम यात्रा में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित हो अथवा वायु आदि के किसी रोग का उपद्रव दिखाई पड़ता हो तो साधु उष्ण और स्निग्ध आहार का भी सेवन कर सकता है। स्थविर-कल्पी साधु के लिए संयम यात्रा के निमित्त इन स्निग्ध आदि पदार्थों का सेवन, अपवाद मार्ग को लेकर दोषप्रद नहीं किन्तु जो जिनकल्पी है उसके लिए तो उक्त प्रकार के नीरस पदार्थों के आहार का ही विधान है कारण यह है कि जिनकल्पी के लिए स्निग्ध आहार का सर्वथा निषेध है। इस प्रकार उक्त गाथा में ध्वनि रूप से जिनकल्पी और स्थविरकल्पी के स्वरूप का भी वर्णन आ जाता है। परन्तु इन दोनों ही कल्पों मे एषणा समिति की तो पूर्ण आवश्यकता है, इसलिए संयमशील साधु को एषणा समिति के विषय में पूर्ण रूप से सावधान रहना चाहिए।

अब शास्त्रविहित साधुचर्या के विरुद्ध आचरण करने वालों के विषय में कहते हैं—

जे लक्खणं च सुविणं, अङ्गविज्जं च जे पउंजंति।
न हु ते समणा वुच्चंति, एवं आयरिएहिं अक्खायं ॥१३॥

ये लक्षणं च स्वप्नम्, अंगविद्यां च ये प्रयुञ्जन्ति।
न खलु ते श्रमणा उच्यन्ते, एवमाचार्यैराख्यातम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—जे–जो लक्खणं–लक्षण च–और सुविणं–स्वप्न अंगविज्जं–अंगविद्या का च–(पादपूरणार्थ में) जे–जो पउंजंति–प्रयोग करते हैं ते–वे हु–निश्चय ही समणा–साधु न वुच्चंति–नहीं कहे जाते एवं–इस प्रकार आयरिएहिं–आचार्यों ने अक्खायं–कहा है।

मूलार्थ—जो साधु लक्षण विद्या, स्वप्नविद्या, तथा अंगस्फुरण–विद्या का प्रयोग करते हैं वे निश्चय ही साधु नहीं कहे जाते, ऐसा आचार्यों ने प्रतिपादन किया है।

टीका—इस गाथा में साधु को सामुद्रिक, स्वप्न और अंगस्फुरण आदि लौकिक शास्त्रों के उपयोग का निषेध किया गया है। यदि साधु इनका प्रयोग करता है तो शास्त्रकारों की दृष्टि में वह साधु नहीं है क्योंकि वह तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध आचरण कर रहा है। इसलिए संयम-शील साधु इन विद्याओं का कभी प्रयोग न करे।

लक्षणविद्या—स्त्री पुरुषों के लक्षणों–चिह्नों को देखकर उनका फल वर्णन करना, यथा—'पद्म, वज्रांकुश, छत्र, शंख, मत्स्यादयस्तले पाणिपादेषु दृश्यन्ते यस्यासौ श्रीपतिर्भवेत्' अर्थात् जिसके हाथ और पैर में पद्म, वज्र, अंकुश, छत्र, शंख और मत्स्यादि के चिह्न हों वह लक्ष्मी का पति होता है इत्यादि।

स्वप्नविद्या—स्वप्न का शुभाशुभ फल कहना, यथा—'दहि छत्त हेम चामर वत्थ फलं च दीव तं बोल संख ज्झाउय वसहो दिट्ठो धणं देइ ॥१॥ पढमंमि वास फलया, बीए जामंमि होंति छम्मासा। तइयंमित्ति सफला वरसे सज्ज फला होंति ॥२॥ अर्थात् स्वप्न में दही, छत्र, स्वर्ण, चामर, फलयुक्त वृक्ष, दीपक, ताम्बूल, शंख, ध्वजा और वृषभादि के देखने से धन की प्राप्ति होती है इत्यादि। तथा–रात्रि के प्रथम पहर में देखा हुआ स्वप्न एक वर्ष मे फल देता है, दूसरे में देखा हुआ छः मास में, तीसरे पहर का तीन मास में और चौथे पहर में देखा हुआ स्वप्न तत्काल में फल देने वाला होता है।

अंगविद्या—शरीर के अंगों के स्फुरण का शुभाशुभ फल कथन करना, जैसे 'सिर फुरणे किर रज्जं, पियमेलो होइ बाहु फुरणंमि। अच्छि फुरणंमि य पियं, अहरे पिय संगमो होइ ॥ अर्थात् सिर के फुरने से राज्य की प्राप्ति होती है, भुजाओं के फुरने से प्रिय का मिलाप होता है आंखों के स्फुरण से प्रिय वस्तु के दर्शन होते हैं और अधरों के स्फुरण से प्रिय का समागम होता है इत्यादि। इन उक्त प्रकार की लौकिक विद्याओं का प्रयोग करने वाला साधु वास्तव में साधु कहलाने के योग्य नहीं है क्योंकि ये सब क्रियाएं साधु धर्म से सर्वथा बाहर हैं अतः इन कर्मों से साधु को सर्वथा पृथक् रहना चाहिए।

उक्त क्रियाओं का अनुष्ठान करने वाले को किस फल की प्राप्ति होती है अब इस विषय में कहते हैं—

इह जीवियं अणियमेत्ता, पब्भट्ठा समाहिजोएहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काए ॥१४॥

इह जीवितं अनियम्य, प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभ्यः ।
ते कामभोगरसगृद्धाः, उपपद्यन्ते आसुरे काये ॥१४॥

पदार्थान्वयः—इह–इस मनुष्य जन्म में जीवियं–जीवितव्य को अणियमेत्ता–विना वश किए पब्भट्ठा–भ्रष्ट होकर समाहिजोएहिं–समाधि योगों से ते–वे कामभोग–कामभोग और रस–रस में गिद्धा–गृद्ध आसुरे–आसुर काए–काय मे उववज्जंति–उत्पन्न होते हैं ।

मूलार्थ—काम भोग और रसों में मूर्च्छित होते हुए वे उक्त साधु इस मनुष्य जन्म में असंयम जीवन को, बिना वश किए समाधि योगों से भ्रष्ट होकर असुर कुमारों में उत्पन्न होते हैं ।

टीका—जिन जीवों ने साधुवृत्ति को ग्रहण करके भी अपने असंयम जीवन को बारह प्रकार के तप के द्वारा वश में नहीं किया, वे कामभोगों के रस में मूर्च्छित होते हुए समाधियोगों से सर्वथा भ्रष्ट होकर असुरकाय में उत्पन्न होते हैं । इस कथन का अभिप्राय यह है कि जिन मनुष्यों ने मन, वचन और काया के योगों को, तप संयम के द्वारा वश में नहीं किया, उनका आत्मा भी इसी कारण से अनियंत्रित हो रहा है तथा जो समाधि मार्ग से भी पतित हो रहे हैं वे यत्किंचित् तपोऽनुष्ठान के बल से असुर कुमारों की श्रेणी में उत्पन्न हो जाते हैं । यदि उनका आत्मा तप और संयम के द्वारा भली भांति नियंत्रित होता तब वे सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने पर मोक्ष को जाते, अथवा कुछ शेष कर्म रहने पर कल्पादि देवलोकों में उच्च कोटि के देव बनते । परन्तु विपरीत इसके उन्होंने तो असंयम जीवन की वृद्धि की है इसलिए वे उच्चकोटि के देव नहीं हुए । क्योंकि संयम धारण करने पर भी उनकी रुचि कामभोगों के रसास्वाद में लगी हुई है और इसी हेतु से वे अपने समाधि मार्ग से च्युत हो गए हैं, उनमें चित्त की निराकुलता का अंश बिलकुल नहीं रहा, अतएव साधु की प्रत्येक क्रिया में उनकी

शिथिलता बढ़ गई है। आत्मध्यान का नाम समाधि है, अस्तु अब असुर कुमारों से च्युत होने पर उनको जिस फल की प्राप्ति होती है, उसके विषय में कहते हैं—

तत्तो वि य उवट्टित्ता, संसारं बहुं अणुपरियडन्ति ।
बहुकम्मलेवलित्ताणं , बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ॥१५॥
ततोऽपि च उद्धृत्य, संसारं बह्वनुपर्यटन्ति ।
बहुकर्मलेपलिप्तानाम् , बोधिर्भवति सुदुर्लभा तेषाम् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—तत्तोवि-वहां से भी उवट्टित्ता-निकल करके बहु-बहुत संसारं-संसार में अणुपरियडन्ति-परिभ्रमण करते हैं य-और बहु-बहुत कम्म-लेवलित्ताणं-कर्म लेप से लिप्तों को बोहि-धर्म की प्राप्ति सुदुल्लहा-अति दुर्लभ होई-होती है तेसिं-उन्हों को-जिन्होंने उक्त क्रियाएं की थीं।

मूलार्थ—वे जीव-जिन्होंने उक्त क्रियाओं का अनुष्ठान किया है, असुर-कुमारों से निकल कर बहुत संसार में परिभ्रमण करते हैं। कर्मों के लेप से अधिक लिप्त होने पर उनको जिनधर्म की प्राप्ति बहुत दुर्लभ हो जाती है।

टीका—उक्त प्रकार की लक्षण स्वप्नादि लौकिक विद्याओं का उपयोग करने वाले जीव, असुर कुमारों से निकल कर इन चौरासी लाख जीव योनियों में बहुत काल तक परिभ्रमण करते रहते हैं। उनके आत्मा पर कर्मों का अधिक लेप रहता है, इसलिए उनको अत्यन्त दुर्लभ इस बोधि धर्म की प्राप्ति का होना बहुत कठिन हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि लक्षण आदि विद्याओं के प्रयोग से उत्तर गुणों की विराधना होती है, और उत्तर गुणों की विराधना से असुर कुमारों में जाकर फिर संसार का भ्रमण करना पड़ता है। इस अवस्था में उनको संसार के अन्यान्य पदार्थों की तो प्राप्ति हो जाती है परन्तु सत्पथ के प्रदर्शक जैन धर्म की प्राप्ति का होना कठिन है इसलिए मुमुक्षु पुरुष को उत्तर गुणों की शुद्धि का अवश्य ध्यान रखना चाहिए जिससे कि संसार परिभ्रमण का कारण नष्ट हो जावे। जब इस प्रकार चारित्र की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाएगा तब इस जीव को यथार्थ बोध की शीघ्र ही प्राप्ति हो जाएगी तथा कर्मों के लेप से रहित होकर यह आत्मा संसार के बन्धन से जल्दी छूट जावेगा।

अब यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब उन्होंने संसार का सम्बन्ध ही छोड़ दिया तो फिर वे उक्त प्रकार की लक्षणादि विद्याओं का प्रयोग ही क्यों करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि वे उक्त प्रकार की क्रियाओं का अनुष्ठान केवल यश कीर्ति और मान बड़ाई आदि के लोभ से करते हैं उनका आत्मा लौकिक मान बढ़ाई के लोभ में आकुल हो रहा है। इसलिए अब उनकी आत्मसम्बन्धी असन्तुष्टता के विषय में कहते हैं—

कसिणंपि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥१६॥

कृत्स्नमपि य इमं लोकं, प्रतिपूर्णं दद्यादेकस्मै ।
तेनापि स न संतुष्येत्, इति दुष्पूरकोऽयमात्मा ॥१६॥

पदार्थान्वयः—कसिणंपि-संपूर्ण भी इमं-यह लोयं-लोक पडिपुण्णं-धन धान्यादि से भरा हुआ जो-जो-सुरेन्द्रादि दलेज्ज-दे देवे इक्कस्स-किसी एक को तेणावि-उससे भी से-वह नसंतुस्से-सन्तोष को प्राप्त नहीं होता इइ-इस प्रकार दुप्पूरए-दुःख से पूर्ण करने योग्य है इमे-यह आया-आत्मा।

मूलार्थ—धन धान्य से भरा हुआ सम्पूर्ण लोक भी यदि कोई किसी को दे देवे, इससे भी लोभी जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं होता, इसलिए यह आत्मा दुष्पूर है अर्थात् इसकी तृप्ति होनी अत्यन्त कठिन है।

टीका—इस गाथा में तृष्णा की दुष्पूरता का वर्णन किया गया है। यदि सारे संसार की धन धान्यादि सामग्री से भी इसको सन्तुष्ट करना चाहें, तो भी इसका सन्तुष्ट होना कठिन है ! यदि कोई महासमृद्धिशाली देवता, किसी पुरुष को प्रसन्न करने के उद्देश से सारे विश्व की विभूति भी दे डाले तो भी लोभग्रस्त आत्मा की सन्तुष्टि मे कुछ न्यूनता ही रह जाती है, वह इससे भी अधिक की इच्छा करता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा को लगा हुआ यह तृष्णा का रोग इन पदार्थ-रूप औषधों के द्वारा कभी शान्त नहीं हो सकता ! इसकी औषध तो एक मात्र सन्तोष ही है। अतः यह आत्मा बाह्य पदार्थों के लाभ से कभी तृप्ति को प्राप्त

नहीं हो सकता। कहा भी है—नवह्निस्तृणकाष्ठेषु, नदीभिर्वा महोदधिः। नचैवात्माऽर्थसारेण शक्यस्तर्पयितुं क्वचित्—अर्थात्—जिस प्रकार अग्नि, तृण काष्ठ आदि से तृप्त नहीं होती, और समुद्र नदियों से तृप्त नहीं होता उसी प्रकार यह आत्मा भी धन आदि बाह्य पदार्थों से कभी तृप्ति को प्राप्त नहीं होता। इसलिए अपने आत्मा को सन्तुष्ट करने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु को ज्ञान का आराधन करना चाहिए। ज्ञानशक्ति ही आत्मा को सर्वथा सन्तुष्ट कर सकती है। 'इक्कस' यह चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी है।

यह आत्मा, संसार के पदार्थों से क्यों सन्तुष्ट नहीं होता? अब इस बात का विचार करते हैं—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥१७॥

यथा लाभस्तथा लोभः, लाभाल्लोभः प्रवर्धते।
द्विमाषकृतं कार्यं, कोट्याऽपि न निष्ठितम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—जहा—जिस प्रकार लाहो—लाभ होता है तहा—उसी प्रकार लोहो—लोभ हो जाता है लाहा—लाभ से लोहो—लोभ पवड्ढई—बढ़ता है दोमासकयं—दोमासे से होने वाले कज्जं—कार्य कोडीए वि—क्रोड़ों से भी ननिट्ठियं—निष्ठित—निष्पन्न नहीं हुए।

मूलार्थ—जैसे लाभ होता है वैसे ही उसके साथ लोभ हो जाता है, क्योंकि लाभ से लोभ बढ़ता है अतएव दोमासे स्वर्ण से होने वाले कार्य, क्रोड़ों से भी निष्पन्न न हो सके।

टीका—इस गाथा में भगवान् कपिल केवली ने अपने निजी वृत्तान्त का उदाहरण देकर आत्मा की, दुष्पूर्णता—अतृप्ति—का अच्छा चित्र खींचा है। लाभ से लोभ होता है अर्थात् जैसे लाभ होता जाता है वैसे २ लोभ की मात्रा में अधिकता होती जाती है। उदाहरण के लिए जैसे कपिल केवली। यथा दासी का कार्य मात्र दो मासे सोने से भली भांति हो सकता था परन्तु करोड़ों तक की सम्पत्ति

से भी वह निष्पन्न न हो सका। तात्पर्य यह है कि कपिलदेव कहते हैं कि मैं दासी कृत कार्य के निमित्त केवल दो मासे स्वर्ण लेने के वास्ते गया था परन्तु राजा के प्रसन्न होने पर करोड़ों की प्राप्ति होते हुए भी मेरी तृष्णा का निरोध नहीं हुआ। विपरीत इसके वह तो आगे से आगे बढ़ती ही चली गई। अतः जो आत्मा यथा-लाभ में सन्तोष मानकर निश्चिन्त रहते हैं वे ही वास्तव में सुखी हैं इसलिए मुमुक्षु पुरुष को उचित है कि वह अपने आत्मा में कभी भी लोभ का उदय न होने दे। परन्तु यहां पर इतना ध्यान अवश्य रहे कि यह लोभ का निषेध, सांसारिक पदार्थों के सम्बन्ध को लेकर है और ज्ञानप्राप्ति के विषय में तो जितना भी लोभ किया जावे उतना कम है। क्योंकि आत्मा को अनन्त सुख की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है। अतः उसकी वृद्धि में तो जितना भी अधिक प्रयत्न किया जावे उतना ही प्रशंसनीय है।

यह तृष्णा क्यों शान्त नहीं होती ? इसका उत्तर तो यह है कि जब तक विषयों की आसक्ति दूर नहीं होती तब तक तृष्णा का शान्त होना असम्भव है। और विषयासक्ति में सबसे प्रधान स्त्री और उसका संसर्ग है, इसलिए अब इसी के विषय में कहते हैं—

नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा, गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लन्ति जहा व दासेहिं ॥१८॥

न राक्षसीषु गृध्येत्, गण्डवक्षस्स्वनेकचित्तासु ।
याः पुरुषं प्रलोभ्य, क्रीडन्ति यथा वा दासैः ॥१८॥

पदार्थान्वयः—नो–नहीं रक्खसीसु–राक्षसियों में गिज्झेज्जा–मूर्च्छित होवे, गंडवच्छासु–कुच हैं जिनके हृदय में अणेगचित्तासु–अनेक चित्त वालीं जाओ–जो स्त्रियां पुरिसं–पुरुष को पलोभित्ता–प्रलोभन देकर–फिर खेल्लंति–क्रीड़ा करती हैं जहा–जैसे व–निश्चय (वा इव अर्थ में है) दासेहिं–दासों से।

मूलार्थ—जिनके हृदय में कुच हैं और अनेक जिनके चित्त हैं तथा जो पुरुषों को मोहित करके फिर उनसे दासों के समान क्रीड़ा करती हैं, ऐसी राक्षसी–स्त्रियों में मूर्च्छित न होवे।

टीका—इस गाथा में स्त्री सहवास से अलग रहने का उपदेश दिया गया है। स्त्री को राक्षसी कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार राक्षसी, रुधिर को पीकर जीवन का विनाश कर देती है उसी प्रकार यह स्त्री भी आत्मा के ज्ञान आदि जीवन को हरने वाली है। तथा जिसके उरःस्थल में—छाती में दो बड़ी २ मांस की गांठें हैं, जिनको कुच या स्तन कहते हैं। यद्यपि कामी पुरुषों ने इन कुच रूप मांस ग्रंथियों को स्वर्णकलश के समान वर्णित किया है अर्थात् इनको सोने के घड़ों से उपमित किया है तथापि विरक्त पुरुषों के लिए तो यह मांस की गांठें ही हैं। एवं इनके अनेक विध चित्त अर्थात् अनेक मानसिक संकल्प हैं। अथवा ये अनेक पुरुषों की चाहना का स्थान हैं, या जिनका अनेक पुरुषों में चित्त है ऐसी स्त्रियों में विचारशील प्राणी को कभी मूर्च्छित—आसक्त नहीं होना चाहिए। ये स्त्रियें कई प्रकार के प्रलोभनों से—मेरी तो आप ही पर प्रीति है, आप ही का मेरे को आश्रय है, आपके बिना तो मैं कभी भी जीवित नहीं रह सकती इत्यादि स्नेहयुक्त वचनों से कामी पुरुषों को अपने ऊपर मोहित करके फिर उनके साथ दासों का सा वर्त्ताव करती हैं! तात्पर्य है कि जैसे—इधर आओ! इधर जाओ! यह करो! वह करो! तुम बड़ा ही अनुचित काम कर रहे हो! इत्यादि हलके—तुच्छ शब्दों का व्यवहार एक दास—नौकर के साथ किया जाता है। उसी प्रकार यह संमोहग्रस्त कामी पुरुषों से करती हैं। इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को इनके जघन्य-सहवास से सदा दूर ही रहना चाहिए। इस गाथा के द्वारा सूत्रकर्त्ता ने स्त्रियों के शरीर मन और वाणी का वर्णन करने के साथ, उनमें—स्त्रियों में—आसक्त होने वालों पर उनकी वाणी तथा व्यवहार का जो प्रभाव पड़ता है तथा उससे प्रभावित होते हुए वे किस दशा का अनुभव करते हैं, इस बात का भी दिग्दर्शन करा दिया है। अपि च स्त्री को राक्षसी के समान कहने का एक यह भी तात्पर्य है कि संयमशील साधु पुरुषों को इससे सदा ही भयभीत रहना चाहिए। इसी में उनका श्रेय है।

अब फिर इसी विषय को पुष्ट करते हैं—

नारीसु नोवगिज्झेज्जा, इत्थी विप्पजहे अणागारे।
धम्मं च पेसलं णच्चा, तत्थ ठवेज्ज भिक्खु अप्पाणं ॥१९॥

तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति,
तेहिं आराहिया दुवे लोग ॥२०॥
त्ति बेमि।

इति काविलीयं अट्ठमं अज्झयणं ॥८॥

इत्येष धर्म आख्यातः,
कपिलेन च विशुद्धप्रज्ञेन।
तरिष्यन्ति ये तु करिष्यन्ति,
तैराराधितौ द्वौ लोकौ ॥२०॥
इति ब्रवीमि।

इति कापिलिकमष्टममध्ययनम्।

पदार्थान्वयः—इइ-इस प्रकार एस-यह धम्मे-धर्म अक्खाए-कहा है कविलेणं-कपिल भगवान् ने विसुद्धपन्नेणं-निर्मल प्रज्ञा वाले ने तरिहिंति-तर जावेंगे-संसार समुद्र से जे-जो काहिंति-करेंगे-धर्म को तेहिं-उन्होंने आराहिया-आराधन कर लिए दुवे-दोनों लोग-लोक च-उ-ये दोनों पाद पूर्त्यर्थ में हैं त्ति बेमि-इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—इस प्रकार यह धर्म, निर्मल प्रज्ञा वाले-केवल ज्ञानी कपिल भगवान् ने प्रतिपादन किया है जो इस धर्म का सेवन करेंगे वे संसार समुद्र से तर जावेंगे, उन्होंने दोनों लोकों का आराधन कर लिया। इस प्रकार मैं कहता हूं।

टीका—इस प्रकार यति धर्म का स्वरूप केवली भगवान् कपिल ने वर्णन किया है। क्योंकि केवली भगवान् के अर्थागम-आत्मागम ही होता है इसलिए उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि जो इस धर्म का आचरण करेंगे वे संसार समुद्र से तर जावेंगे। इतना ही नहीं किन्तु उन्हों के द्वारा दोनों ही लोकों की आराधना हो गई। जैसे-इस लोक में तो वे महान् पुरुषों के द्वारा पूजे जाते हैं

अह णवमं नमिपवज्जा णामज्झयणं

अथ नवमं नमिप्रव्रज्यानामाऽध्ययनम् ।

उक्त आठवें अध्ययन में निर्लोभता विषयक विवेचन किया गया है सो जो पुरुष लोभरहित होता है वह देव और देवराज—इन्द्र आदि का भी पूज्य बन जाता है। अतः इस नवमें अध्ययन में इसी आशय को लेकर नमिराजर्षि के साथ देव-राज—इन्द्र के जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उनका कुछ विस्तृत वर्णन किया जाता है। इन्द्र ने राजर्षि नमि को देवलोक से आकर बड़े भाव से वंदन किया और उनसे इच्छानुसार कई एक प्रश्न किये तथा राजर्षि से उनका यथार्थ उत्तर प्राप्त करके बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। इस नवमें अध्ययन का उक्त आठवें अध्ययन से यही पूर्वापर सम्बन्ध है।

अपि च नमिराजर्षि का पूर्व वृत्तान्त भी प्रसंगवश यहां लिखते हैं—



बूद्वीप के भारतवर्ष के अंवन्ती देशान्तर्गत सुदर्शन नामक नगर मे मणिरथ नाम का राजा राज्य करता था। वह किसी समय अपने छोटे भाई युगबाहु की स्त्री मदनरेखा पर मोहित हो गया। एक दिन उसने मदनरेखा को अपना मनोगत प्रेमभाव जताने के लिए एक दासी के द्वारा नाना भाँति के सुन्दर पदार्थ भिजवाये। मदनरेखा ने दासी को समझा बुझा कर विसर्जन कर दिया। मणिरथ अपनी इच्छा को सफल न देखकर, कामपीड़ित होकर अतीव व्याकुल हुआ।

एक दिन युगबाहु निज प्रिया सहित वन में क्रीडा करने गया। रात्रि हो जाने से उसने वहीं शयन किया। मणिरथ ने उसके उद्यान में शयन करने के वृत्तान्त को जान कर और ऐसा विचार कर कि युगबाहु की मृत्यु के पश्चात्, मदनरेखा को मेरे अधीन होना ही पड़ेगा, खड्ग लेकर उद्यान में गया और युगबाहु पर बलपूर्वक प्रहार किया। 'कोई देख न ले' इस अपयश—भय से भयभीत होकर अन्धकार होने के कारण भागा और उसका पैर एक महाभयंकर अजगर पर पड़ा। उसके द्वारा दंशित होकर मृत्यु पाई और नरकगति को प्राप्त हुआ।

इधर मदनरेखा अपने पति को घायल देखकर और मृत्यु समीप जानकर, धर्म की शरण देने लगी। चार प्रकार का आहार तथा अठारह पापों का प्रत्याख्यान कराया। इस प्रकार युगबाहु विधिपूर्वक अनशन करके, धर्मानुरक्तिपूर्वक मर कर देवलोक में उत्पन्न हुआ। मदनरेखा गर्भयुक्ता थी, तो भी अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए वन में चली गई। वहीं उसने एक पुत्र को जन्म दिया और उसके हाथ अपने पति की नामाङ्कित मुद्रिका पहिना कर, किसी वस्त्र की झोली में उसे स्थापित कर एक वृक्ष की शाखा पर उस झोली को रखकर, अपने शरीर की शुद्धि करने के लिए किसी जलाशय पर गई। वहाँ एक जलहस्ति ने अपनी सूंड से उसे आकाश में उछाल दिया। उसी समय मणिप्रभ नामक विद्याधर आकाश में जा रहा था। मदनरेखा को गृहीत कर उसने अपने विमान में विठा लिया और उस पर मोहित होकर वापिस घर की तरफ लौटा। मदनरेखा ने पूछा कि आप आगे न जाकर पीछे को क्यों लौट रहे हैं ? तब विद्याधर बोला कि हे भद्रे ! मैं अपने पिता जी, जिन्होंने कि साधुवृत्ति धारण करली है, उन्हीं के दर्शनार्थ जा रहा था। किन्तु मार्ग में तुझ जैसी वल्लभा स्त्री के मिलने पर घर की तरफ लौट रहा हूं। तुझे घर छोड़ कर पुनः मुनिदर्शनार्थ आऊंगा। मदनरेखा ने कहा कि मुझे भी मुनिदर्शन की अभिलाषा है अतः मुझे भी साथ ले चलें। तदनुसार वह विद्याधर, मदनरेखा के साथ ही मुनिदर्शनार्थ गया। वहां पर परिषद् में बैठकर धर्मोपदेश सुनने लगा। मुनि ने अपने ज्ञान से सर्व वृत्तान्त जानकर उस समय ब्रह्मचर्य और स्वदारा सन्तोष पर हृदयग्राही उपदेश सुनाया। मणिप्रभ का हृदय परिवर्तित हुआ और उसने पर स्त्री सेवन तथा वेश्यागमन व्यसन के परित्याग का नियम धारण किया।

तत्पश्चात् मदनरेखा ने जङ्गल में छूट गए हुए अपने पुत्र का वृत्तान्त मुनिवर से पूछा। मुनि ने मनःपर्यवज्ञान के बल से कहा कि हे श्राविके! मिथिला नगरी का राजा पद्मरथ उस वन में क्रीड़ा करने आया था, वही तेरे पुत्र को ले गया है और पालनपोषणार्थ अपनी रानी को सौंप कर उसने समस्त नगर में उसका जन्ममहोत्सव कराया है। सती ने पूछा--हे भगवन्! उस कुमार का उस राजा से पूर्वभव का क्या सम्बन्ध है? तब मुनि बोले--हे धर्मप्रिये! इसी जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में मणितोरण नामक नगर में अमितयश राजा राज्य करता था। पुष्पावती नाम की उसकी रानी के पुष्पसिंह और रत्नसिंह नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। क्रमशः आयु बढ़ने पर राज्यभार उन्हें सौंप कर चक्रवर्ती मुनि अवस्था को प्राप्त हुए। वे दोनों ८४ लाख पूर्व तक राज्यसुख भोग, पश्चात् संयम पालकर मृत्यु के अनन्तर १२ वे देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यवकर धातकी खण्ड में हरिषेण नामक वासुदेव की रानी समुद्रदत्ता के सागरदेव और सागरदत्त नामक पुत्र हुए। युवावस्था के व्यतिक्रान्त होने पर दोनों ने ११ वें दृढ़सुव्रत तीर्थङ्कर के पास दीक्षा ग्रहण की। किन्तु काल की विचित्र लीला है। दीक्षा के तीसरे ही दिन उन पर आकाश से अकस्मात् विद्युत् पड़ी। समाधिमरणपूर्वक सातवें शुक्र देवलोक में देवता हुए। वहां से च्यवकर एक तो मिथिला का राजा पद्मरथ और एक तेरा पुत्र उत्पन्न हुआ।

तेरे पुत्र को जब से वह पद्मरथ राजा नगर में लेगया है, तब से ही बहुत से शत्रु राजा स्वयं ही नम्रित होगए हैं। अतः तेरे पुत्र का नाम 'नमि' रक्खा जायगा। इस तरह हे धर्मप्रिये पद्मरथ और तेरा पुत्र पूर्वभव के बन्धु हैं।

इस वार्ता की समाप्ति के अनन्तर ही एक देव अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ वहाँ आया और प्रथम मदनरेखा को प्रणाम कर पुनः मुनि को नमस्कार किया। यह विपरीत कार्य देखकर मणिप्रभ विद्याधर हंसने लगा। तब मुनि बोले हे मणिप्रभ! यह देव मदनरेखा का पूर्वभव का पति है और इसी की कृपा से देवता हुआ है। तदनन्तर देवता ने पूर्वभव का सर्व वृत्तान्त कहकर मदनरेखा से वाञ्छित अर्थ की याचना करने को कहा। तथैव मदनरेखा के कथनानुसार उसे सुव्रता नामा आर्या के पास दीक्षित करा दिया। और स्वयं स्वर्ग को चला गया।

इधर मुनि के कथनानुसार ही उस कुमार का नाम 'नमिकुमार' रक्खा गया। युवा होने पर, तदनंतर १०८ कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। तदनन्तर राज्य के भारवहन में समर्थ जानकर, पद्मरथ राजा ने उसे राज्यसिंहासन पर स्थापित किया और स्वयं दीक्षा धारण करली।

कुमार भी सुखशान्तिपूर्वक राज्य करने लगे। एक दिन कुमार का सुभद्र-जाति का श्वेतहस्ती मदान्ध होकर भाग गया। दूर निकल जाने पर चन्द्रयश राजा के सुभट उसे पकड़ कर अपने राजा के पास ले आए। नमिराजा ने चन्द्रयश के पास दूत भेजकर समाचार कहलाया कि हाथी को वापिस लौटा दो। परन्तु चन्द्रयश ने यह कह कर कि 'नमिराजा राजनीति से अनभिज्ञ है। जो वस्तु जिसके हस्तगत हो जाती है, वह उसी की हो जाती है' दूत को वापिस कर दिया। दूत के द्वारा यह समाचार सुनकर नमिराजा चतुरंगिणी सेना लेकर युद्धार्थ चला। इधर चन्द्रयश भी पूरी तैयारी के साथ सम्मुख आ डटा, घोर संग्राम होने लगा।

आर्या मदनरेखा ने जब यह समाचार सुना तो वह गुरु की आज्ञा लेकर वहां आई। नमिराजा ने विधिपूर्वक नमस्कार किया और पधारने का कारण पूछा। आर्या ने सर्व पूर्व वृत्तान्त सुनाकर कहा कि चन्द्रयश तुम्हारा बड़ा भाई है। अतः उससे युद्ध योग्य नहीं, तत्पश्चात् चन्द्रयश को भी इसी प्रकार समझाया। तब तो दोनों भाई बड़े प्रेम से गले मिले। चन्द्रयश अपने छोटे भाई (नमिराजा) को राज्यभार सौंप कर स्वयं दीक्षित हुए और कर्म निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त किया।

नमिराजा सुखपूर्वक दोनों देशों का राज्य करने लगे। किसी समय राजा के शरीर में भयंकर दाहज्वर उत्पन्न हो गया। वैद्यों से उपचार न हो सका। अंत में वैद्यों ने कहा कि बावनगोशीर्ष चन्दन के लेप से यह ज्वर शान्त होगा। रानियां तत्क्षण ही गोशीर्षचन्दन घिसने लगीं। घिसते समय रानियों के हाथों के कङ्कण शब्दायमान हो रहे थे। आकुलता के कारण राजा को वह शब्द न रुचा और रानियों को कहा कि इस शब्द को बन्द करो। आज्ञानुसार रानियों ने सौभाग्य का चिह्न जानकर एक २ कङ्कण तो पहने रक्खा और शेष को उतार दिया। शब्द होना बन्द हो गया। तब राजा ने पूछा यह शब्द बन्द कैसे हो गया? रानियां बोलीं—महाराज अब हाथों में एक एक ही कङ्कण है, शब्द कैसे हो? तब राजा को

वैराग्य भाव का उदय हुआ और विचारने लगे कि वास्तव में ही जीवन तो एकाकी ही सुखी है। समूह में तो इन कङ्कणों के शब्द की तरह मनुष्य कोलाहल-ग्रस्त आकुलता की अवस्था में पड़ा रहता है। क्या ही अच्छा हो कि मैं दीक्षा धारण करूं ? इसी विचारमग्न अवस्था में वे निद्रागत हुए। और स्वप्नावस्था में सातवें स्वर्ग का दृश्य देखने लगे। निद्रा से मुक्त हुए तो जातिस्मरण ज्ञान द्वारा अपने पूर्व जन्म को हस्तामलक देखने लग गए। जिसका वर्णन अत्र सूत्रकार आगामी गाथाओं के द्वारा कर रहे हैं—

चइऊण देवलोगाओ, उववन्नो माणुसम्मि लोगम्मि।
उवसन्तमोहणिज्जो , सरई पोराणियं जाइं ॥१॥

च्युत्वा देवलोकात्, उपपन्नो मानुषे लोके।
उपशान्तमोहनीयः , स्मरति पौराणिकीं जातिम् ॥१॥

पदार्थान्वयः—चइऊण-च्यव करके देवलोगाओ-देवलोक से उववन्नो-उत्पन्न हुआ माणुसम्मि-मनुष्य लोगम्मि-लोक में उवसंतमोहणिज्जो-उपशांत हो गया है मोहनीय कर्म जिसका पोराणियं-पुराणी जाइं-जाति को सरई-स्मरण करता है।

मूलार्थ—वह देवलोक से च्यवकर इस मनुष्यलोक में उत्पन्न हुआ और मोहनीयकर्म के उपशान्त होने से उसको अपने पिछले जन्म का स्मरण हो उठा अर्थात् वह अपने पूर्व जन्म का स्मरण करने लगा।

टीका—इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि जिस जीव का दर्शन मोहनीय कर्म उपशान्त हो जाता है—उपशम को प्राप्त हो जाता है—वह आत्मा अपने पिछले जन्मों को ज्ञान के द्वारा देख लेता है, परन्तु जिस जीव के दर्शन मोहनीय का उदय होता है वह पिछले जन्म को तो क्या, इस जन्म के किए हुए कार्यों को भी भूल जाता है। एवं साथ में सूत्रकर्ता ने यह भी बतला दिया कि उच्चकोटि के देवता अपने स्वर्ग स्थान से च्यव कर मनुष्ययोनि में ही आते हैं, पशुयोनि में नहीं। इसके अतिरिक्त, 'पौराणिकी जाति' का उल्लेख करने से नास्ति-कता के विचारों का भी परिहार कर दिया गया। क्योंकि इस कथन से जीवका

परिभ्रमण और जन्मान्तर ग्रहण, स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है। इसलिए सातवें, शुक्र देवलोक के पुष्पोत्तर विमान से च्यव कर इस मनुष्यलोक में उत्पन्न होने के अनन्तर दर्शन मोहनीयकर्म के उपशान्त होने से वह अपने पिछले–देवलोक में होने वाले–जन्म का स्मरण करने लगा। एवं यहां पर 'सरई–स्मरति' यह जो वर्तमानकाल की क्रिया दी गई है वह उसी काल की अपेक्षा से जाननी चाहिए। अस्तु, जाति स्मरण के वाद फिर क्या हुआ ? अव इसी विषय में कहते हैं।

जाइं सरित्तु भयवं, सयंसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे।
पुत्तं ठवेत्तु रज्जे, अभिणिक्खमई नमी राया ॥२॥

जातिं स्मृत्वा भगवान्, स्वयंसंबुद्धोऽनुत्तरे धर्मे।
पुत्रं स्थापयित्वा राज्ये, अभिनिष्क्रामति नमिराजा ॥२॥

पदार्थान्वयः—जाइं–जाति को सरित्तु–स्मरण करके भयवं–बुद्धिमान् सयं-संबुद्धो–संबुद्ध हुआ अणुत्तरे–सर्वोत्कृष्ट चारित्र रूप धम्मे–धर्म में पुत्तं–पुत्र को रज्जे–राज्य में ठवेत्तु–स्थापन करके नमीराया–नमिराजा अभिणिक्खमई–दीक्षा के लिए निकलता है।

मूलार्थ—जाति को स्मरण करके, स्वयं वोध को प्राप्त होकर, प्रधान धर्म में बुद्धिमान् वह नमिराजा, पुत्र को राज्य में स्थापन करके दीक्षा के लिए निकलता है–तय्यार होता है।

टीका—वह नमिभगवान् अपनी पिछली जाति को स्मरण करके अपने आप ही प्रतिवोध को प्राप्त हो गया! अर्थात् सर्वोत्कृष्ट जो चारित्र रूप धर्म है उसके धारण करने की उसमें स्वयमेव रुचि उत्पन्न हो गई! अतः पुत्र को राज्यपद में स्थापन करके स्वयं दीक्षा के लिए उद्यत हो गया! तात्पर्य कि संसार का परि-त्याग करके संन्यास व्रत के ग्रहण करने के लिए कटिवद्ध हो गया। जो दीक्षा वोध-पूर्वक ग्रहण की जाती है वही फलवती होती है, विना वोध के दीक्षा का ग्रहण करना अभीष्ट फल को नहीं देता।

यहां 'स्वयं' के स्थान पर 'सयं' आदेश किया गया है। 'भगवान्' का

अर्थ बुद्धिमान् है। 'अभिणिक्खमई' यह लट् का प्रयोग तत्काल की अपेक्षा से किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

सो देवलोगसरिसे, अन्तेउरवरगओ वरे भोए।
भुंजित्तु नमी राया, बुद्धो भोगे परिच्चयई ॥३॥

स देवलोकसदृशान्, अन्तःपुरवरगतो वरान्भोगान्।
भुक्त्वा नमिराजा, बुद्धो भोगान् परित्यजति ॥३॥

पदार्थान्वयः—सो-वह देवलोगसरिसे-देवलोक सदृश अन्तेउरवर-रानियों के साथ गओ-प्राप्त हुआ वरे-प्रधान भोए-भोगों को भुंजित्तु-भोगकर नमीराया-नमिराजा बुद्धो-प्रबुद्ध होकर भोगे-भोगों को परिच्चयई-परित्याग करता है।

मूलार्थ—अपनी रानियों के साथ देवसमान भोगों को भोगता हुआ वह नमिराजा प्रतिबोध को प्राप्त होकर उन भोगों को छोड़ देता है-उनका परित्याग कर देता है।

टीका—नमिराजा देवलोक के समान श्रेष्ठ राजमहिलों में प्राप्त होकर, प्रधान से प्रधान कामभोगों को भोग करके पश्चात् अपने आप प्रतिबोध को प्राप्त होकर उन कामभोगों का परित्याग कर देता है। तात्पर्य यह है कि जब नमिराजा ने तत्त्व को समझ लिया तो फिर उसको कामभोगों के वास्तविक रहस्य का भी पता लग गया अतः उनकी असारता और कटु परिणाम को देखकर उसने उनका परित्याग कर दिया। जब तक मनुष्य किसी पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं जान लेता तब तक उसके ग्रहण अथवा त्याग की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती। अतः उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हो गया कि देवलोक सदृश कामभोग भी सर्वथा दुःख रूप ही हैं इसलिए नमिराजा ने राज्य प्राप्त होने पर भी उसका त्याग कर दिया।

यहां पर दूसरी वार जो भोगों का ग्रहण किया गया है वह मूढ़ पुरुषों की स्मृति के लिए है, क्योंकि मूढ़ पुरुष ही वार २ कामभोगों का स्मरण किया करते हैं। वे भी इनको त्याग देवें एतदर्थ ही इनका ग्रहण है। यहां पर वर शब्द परनिपात

प्राकृत के नियम से जानना, तथा च वृत्तिकार,—वरशब्दस्य प्रकृतत्वात् परनिपातः ॥ क्या नमिराजा ने केवल कामभोगों का ही परित्याग किया या और और भी कुछ छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की ? अब इसी विषय मे कहते हैं—

मिहिलं सपुरजणवयं, बलमोरोहं च परियणं सव्वं ।
चिच्चा अभिनिक्खन्तो, एगन्तमहिट्ठिओ भयवं ॥४॥

मिथिलां सपुरजनपदां, बलमवरोधं च परिजनं सर्वम् ।
त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तः, एकान्तमधिष्ठितो भगवान् ॥४॥

पदार्थान्वयः—मिहिलं—मिथिला नगरी सपुरजणवयं—नगर और देश के साथ बलं—चतुरंगिणी सेना ओरोहं—अन्तःपुर च—और परियणं—परिजन सव्वं—सबको चिच्चा—छोड़ कर अभिनिक्खन्तो—घर से निकल कर—दीक्षाग्रह की एगंतं—एकान्त—मोक्ष मे अहिट्ठिओ—अधिष्ठित हुआ भयवं—भगवान् ।

मूलार्थ—मिथिलानगरी, नगर, देश, सेना, अन्तःपुर और परिजन आदि सर्व को छोड़ कर भगवान्—धैर्यादिगुण सम्पन्न—नमिराजा घर से निकल, दीक्षा धारण करके—मोक्ष मार्ग में अधिष्ठित हो गए ।

टीका—नमिराजर्षि ने मिथिलानगरी के अन्य सारे जनपद का भी त्याग कर दिया, इतना ही नहीं किन्तु चारों प्रकार की सेना, अन्तःपुर, अभिजन—दास दासी आदि को छोड़ करके वे दीक्षित हो गए । अपिच दीक्षाग्रहण करने के बाद एकान्त एक उद्यान में जा बैठे । इस प्रकार द्रव्य रूप से एकान्त में बैठने के बाद भावरूप से एकान्त होने के लिए वे निम्नलिखित विचार करने लगे—'मैं अकेला हूं, न मै किसी का हूं और न कोई मेरा है, संसार के जितने भी भोगविलास हैं तथा सांसारिक पुरुषों से जितना भी सम्बन्ध है वह सब अनर्थ का कारण है, मुझे तो केवल आत्मा की खोज करके उसी मे रमण करना चाहिए इत्यादि' इस प्रकार से विचार करने के अनन्तर वह राजर्षि सम्यग्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना करते हुए मोक्ष के मार्ग मे प्रवृत्त हो गए । ये तीनों—ज्ञा, नदर्शन, चारित्र—मोक्ष के मार्ग हैं इनका सम्यक्तया आराधन ही भावरूप एकान्तता है ।

भगवान् शब्द का अर्थ, यहां पर धैर्यादिगुण संयुक्त है। क्योंकि जब तक साधक में धैर्यादि गुणों की विद्यमानता न हो तब तक वह द्रव्य और भाव से एकान्त नहीं हो सकता और जब इन उक्त गुणों को साधक प्राप्त कर लेता है तब उससे कोलाहल में नहीं रहा जाता, इसलिए घर बार और राज्यपद आदि सब प्रकार की सम्पत्ति का परित्याग करके स्वयं बुद्ध, नमिराजा दीक्षाग्रहण करके एकान्त उद्यान में जा बैठे। अब उनका मिथिलानगरी या अन्य राज्यसम्पत्ति में किसी प्रकार का भी ममत्व नहीं रहा, उनके लिए उद्यान और राजमहल में अब कोई अन्तर नहीं। क्योंकि जब तक ममत्व रहता है तब तक ही वस्तुओं में न्यूनाधिकता अथवा भले बुरे का विचार रहता है, और जिस समय पदार्थों पर से मूर्च्छा हट जाती है उस समय विचारशील के लिए कोई भी वस्तु अपनी अथवा पराई नज़र नहीं आती, उस समय तो उसका दृष्टिवैषम्य समता या समानता के रूप में परिणत हो जाता है। अतः ममत्व का त्याग करने वाले मुमुक्षु पुरुष द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से ही एकान्तसेवी होते हैं। तथा जिनका ममत्व नहीं गया वे द्रव्य रूप से एकान्त में रहते हुए भी भाव से एकान्तवास करने वाले नहीं होते। परन्तु राजर्षि-नमि तो द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार से एकान्त हो गए अर्थात् राज्यपद को छोड़ कर दीक्षित होते हुए एकान्त में जाकर रत्नत्रय के आराधन में प्रवृत्त हो गए।

अब नमिराजर्षि के चले जाने के बाद का वृत्तान्त लिखते हैं—

कोलाहलगभूयं , आसी मिहिलाए पव्वयन्तम्मि।
तइया रायरिसिम्मि, नमिम्मि अभिणिक्खमन्तम्मि ॥५॥

कोलाहलकभूतम् , आसीन्मिथिलायां प्रव्रजति (सति)।
तदाराजर्षौ नमौ, अभिनिष्क्रामति ॥५॥

पदार्थान्वयः—कोलाहलगभूयं-कोलाहल भूत शब्द आसी-हुआ मिहिलाए-मिथिला में पव्वयन्तम्मि-दीक्षा लेने के समय तइया-उस समय रायरिसिम्मि-राजर्षि नमिम्मि-नमि के अभिणिक्खमन्तम्मि-घर से निकलने पर।

मूलार्थ—नमिराजर्षि के घर से निकलने पर मिथिलानगरी में बड़ा भारी कुहराम मच गया जब कि वह दीक्षा के लिए घर से निकले।

टीका—नमिराजर्षि के दीक्षा के निमित्त घर से निकल कर उद्यान की तरफ़ प्रयाण करने पर मिथिला में कुहराम सा मच गया! लोग, हा तात! 'हमें छोड़ कर कहां जा रहे हो' इस प्रकार आक्रन्दन करते हुए पीछे २ जा रहे हैं जिसको जिसका कुछ सहारा होता है वह उसके वियोग होने पर अवश्य शोकातुर होता है, क्योंकि जो सुख उसे प्राप्त था उसका अब विनाश हो रहा है, इसलिए नमिराजा के प्रव्राजित होने के समय पर प्रजा का, उससे प्राप्त होने वाले सुखों को स्मरण करके आक्रन्दित होना एक मानव-प्रकृति-सिद्ध, स्वाभाविक सी बात है।

यद्यपि नमि, अभी तक राजा ही है तथापि शास्त्रकार—ने सूत्रकर्ता ने उसको जो ऋषि कहा है वह भावी नैगमनय की अपेक्षा से कहा है। तथा, वह राज्य अवस्था में भी काम क्रोधादि कषायों के निग्रह करने में प्रायः ऋषियों की तरह ही प्रवृत्त रहा है इसलिए भी उसे ऋषि कहा गया है। कहा भी है—'कामः क्रोधस्तथा लोभः, हर्षोमानोमदस्तथा। षड्वर्गमुत्सृजेदेनं, यः सदा स सुखी भवेत्॥' अर्थात्—काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद इन षड्विध अन्तरंग शत्रुओं के संसर्ग का जो परित्याग कर देता है वह सदा ही सुखी रहता है।

अब इसके बाद का वृत्तान्त कहते हैं—

अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जाठाणमुत्तमं।
सक्को माहणरूवेणं, इमं वयणमब्बवी ॥६॥

अभ्युत्थितं राजर्षि, उत्तमं प्रव्रज्यास्थानं (प्रति)।
शक्रो ब्राह्मणरूपेण, इदं वचनमब्रवीत् ॥६॥

पदार्थान्वयः—अब्भुट्ठियं—उठे हुए रायरिसिं—राजर्षि को पव्वज्जाठाणं—दीक्षास्थान उत्तमं—उत्तम सक्को—इन्द्र माहणरूवेणं—ब्राह्मण के वेष में आकर इमं—यह वयणं—वचन अब्बवी—कहने लगा।

मूलार्थ—उत्तम दीक्षास्थान के लिए उद्यत हुए राजर्षि को इन्द्र ने ब्राह्मण के वेष में आकर यह वक्ष्यमाण—आगे कहे जाने वाले वचन कहे।

टीका—जब नमिराजर्षि उत्तम दीक्षास्थान—ज्ञानदर्शन चारित्ररूप स्थान

के लिए उद्यत हुए अर्थात् दीक्षित होने लगे तब प्रथम देवलोक का स्वामी इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर उनके पास आया और उनसे यह वक्ष्यमाण वचन कहने लगा। इन्द्र ने नमिराजर्षि से जो कुछ कहा उसका वर्णन आयगा, नमिराजर्षि के पास आने का इन्द्र का बड़ा ही विलक्षण अभिप्राय है। इन्द्र इस बात को स्पष्ट रूप से परीक्षा करनी चाहता है कि नमिराजा को जो वैराग्य हुआ है—जिसके कारण वह दीक्षाग्रहण करने के लिए उद्यत हुए हैं—वह अन्तःकरण से है या बाह्य—दिखावे की चेष्टामात्र ही है! यद्यपि यह काम वह किसी अन्य देवता के द्वारा भी करा सकता था परन्तु स्वयं जिस बात का अनुभव किया जावे उसका महत्त्व कुछ और ही होता है—वस्तुज्ञान की जो स्पष्टता अनुभव मे है वह श्रवण में कदापि नहीं, इसलिए अपने किसी अनुचर को न भेजकर इन्द्र स्वयं देवलोक से आया। इसके अतिरिक्त प्रव्रज्या स्थान को उत्तम बतलाने का यह तात्पर्य है कि 'वास्तव में, गुणों की उत्कृष्टता दीक्षा में ही रही हुई है अतः यही उत्तम स्थान है' यह भली भांति विदित हो सके।

अब इन्द्र ने जो कुछ पूछा है उसी का निम्नलिखित गाथाओं में दिग्दर्शन कराया जाता है—

किण्णु भो अज्ज मिहिलाए, कोलाहलगसंकुला ।
सुव्वन्ति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु य ॥७॥

किन्नु भो अद्य ! मिथिलायां, कोलाहलकसंकुलाः ।
श्रूयन्ते दारुणाः शब्दाः, प्रासादेषु गृहेषु च ॥७॥

पदार्थान्वयः—किं—क्यों णु—(वितर्क अर्थ में है) भो—(आमंत्र)—हे मुने अज्ज—आज मिहिलाए—मिथिला में कोलाहलग—कोलाहल से संकुला—व्याप्त सद्दा—शब्द दारुणा—कठिन पासाएसु—प्रासादों में—राजभवनों में य—और गिहेसु—सामान्य घरों में सुव्वन्ति—सुने जाते हैं।

मूलार्थ—हे नमे ! आज मिथिला में इतना कुहराम क्यों मचा हुआ है ? राजमहलों तथा सामान्यघरों में इतने दारुण शब्द क्यों सुनाई देते हैं।

टीका—नमिराजर्षि को सम्बोधन करके इन्द्र ने कहा कि हे महाराज! मिथिलानगरी में आज इतना कोलाहल क्यों हो रहा है? आम घरों में तथा राज-महलों में एवं आने जाने के मार्गों में, लोगों के हृदयविद्रावी आर्तनाद जो सुनाई दे रहे हैं, इसका क्या कारण है? क्योंकि आप जैसे नीतिमान् शासक के होते हुए इस प्रकार के शब्दों का सुनाई देना कुछ योग्य प्रतीत नहीं होता। इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥८॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥८॥

पदार्थान्वयः—एयमट्ठं–इस पूर्वोक्त अर्थ को निसामित्ता–सुन करके हेउ-कारण–हेतु और कारण से–चोइओ–प्रेरित किया हुआ तओ–तदनन्तर नमीराय-रिसी–नमिराजर्षि देविन्दं–देवेन्द्र के प्रति इणं–यह अब्बवी–कहने लगा।

मूलार्थ—इसके अनन्तर, इन्द्र के कहे हुए अर्थ को सुनकर, उसके द्वारा हेतु और कारण से प्रेरित किया गया नमिराजर्षि इन्द्र के प्रति इस प्रकार कहने लगा।

टीका—इन्द्र की बात को सुनकर, इन्द्र के द्वारा हेतु और कारण से प्रेरित किए जाने पर नमिराजर्षि ने उसके प्रश्न का उत्तर देने के लिए इन्द्र के प्रति यह कहा–जिसका कि आगे वर्णन आयगा। यहां पर हेतु और कारण से प्रेरित किए जाने का तात्पर्य यह है कि जो प्रश्न हेतु और कारणगर्भित होता है वह विचारणीय और उत्तर देने के योग्य समझा जाता है। इन्द्र का जो प्रश्न है वह भी हेतु और कारणगर्भित है, इसलिए उसका उत्तर देना नमिराजर्षि के लिए परम आव-श्यक था। विपरीत इसके, नमिराजर्षि के पास आकर इन्द्र यदि हेतु और कारण से शून्य कोई मूर्खता भरा प्रश्न करता तो वे नमिराजर्षि–उसका उत्तर देने में कभी प्रवृत्त न होते! क्योंकि वाद के विषय में न्यायशास्त्र ने हेतु और कारण को ही

प्रधान स्थान दिया है। यद्यपि सामान्यदृष्टि से तो हेतु और कारण दोनों एक ही हैं परन्तु विशेष दृष्टि से इन दोनों में भेद है। इसीलिए सूत्रकार ने यहां पर दोनों का उल्लेख किया है।

साध्य के साधक को हेतु कहते हैं। यथा–पर्वतगत वह्नि साध्य, और धूम हेतु है। परार्थानुमान के पांचों अवयवों में से इसका दूसरा स्थान है। कारण उसका नाम है जो नियम से कार्य से पूर्ववर्ती हो अथवा जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति ही न हो सके। जैसे घट यह कार्य; और मृत्तिका, कुम्हार तथा दण्डचक्र आदि कारण हैं। क्योंकि ये सब घट से प्रथम विद्यमान होते हैं और इनके बिना घट की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती।

इन्द्र के हेतु और कारणगर्भित प्रश्न को सुनकर उसके अनुरूप उत्तर देते हुए नमिराजर्षि ने इन्द्र के प्रति जो कुछ कहा अब उसी का वर्णन निम्नलिखित गाथाओं में सूत्रकार करते हैं। नमिराजर्षि ने कहा कि हे इन्द्र—

---

१ नव्य नैयायिकों ने अनुमान दो प्रकार का माना है। एक स्वार्थानुमान, दूसरा परार्थानुमान। अपने लिए जो हो वह स्वार्थ और दूसरों के लिए जिसका प्रयोग किया जावे वह परार्थानुमान कहलाता है।

२ प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये पांचों परार्थानुमान के अवयव कहे जाते हैं।

१—पक्ष की स्थापना का नाम प्रतिज्ञा है। २—साध्य के साधक को हेतु कहते हैं ३—हेतु और साध्ययुक्त वस्तु का दृष्टान्त, उदाहरण है। ४—उदाहरण से साध्य का संयोग करना, उपनय है ५—हेतु उदाहरण और उपनय के द्वारा साध्य का निश्चय करना निगमन कहलाता है। इन्द्र ने नमिराजर्षि के प्रति जो प्रश्न किया है उसमें ये पांचों ही संघटित हैं यथा—(प्रतिज्ञा) तू धर्मात्मा है इसलिए तुमको नगरी अथवा कुटुम्ब आदि परिवार का परित्याग करके दीक्षित होना उचित नहीं। (हेतु) क्योंकि सारे पौरजन मर्मभेदि कुहराम मचा रहे हैं। क्योंकि (उदाहरण) जहां पर इस प्रकार का आक्रन्दन या कुहराम होता है वहां पर धर्मात्मा पुरुष निमित्त भूत नहीं होते जैसे कि हिंसादि कर्म में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार हिंसा के समय पर आक्रन्दन होता है उसी प्रकार यहां पर भी हो रहा है।

(उपनय) अतएव इन पूर्वोक्त कारणों से तुम्हारा घर से निकलना अयोग्य है–योग्य नहीं।

(निगमन) तुम्हारे निकलने से यह कुहराम मचा, इसलिए तुम्हारा निकलना अयोग्य ठहरा, जैसे हिंसादि व्यापार में आक्रन्दन होता है वैसे ही तुम्हारे निकलने से हो रहा है। उन आक्रन्दनादि शब्दों के भय से जैसे हिंसा आदि कर्मों का परित्याग किया जाता है वैसे ही इस दीक्षा का भी परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि फिर इस प्रकार के शब्द न होंगे। कारण के विषय का उदाहरण इस प्रकार है—

तुम्हारे निकलने पर ही ये भयानक कुहराम सुनाई देता है, अतः इन भयानक शब्दों का कारण आपका निकलना है। यदि तुम दीक्षाग्रहण न करें तो ये भयानक शब्द भी सुनाई न दें। सारांश कि आप धर्मात्मा पुरुष हैं आपको इस प्रकार की आर्तरौद्र क्रियाओं का निमित्त भूत नहीं होना चाहिए अन्यथा आपकी महत्ता में लांछन आ जावेगा।

मिहिलाए चेइए वच्छे, सीयच्छाए मणोरमे।
पत्तपुप्फफलोवेए, बहूणं बहुगुणे सया ॥९॥

मिथिलायां चैत्यवृक्षे, शीतच्छाये मनोरमे।
पत्रपुष्पफलोपेते, बहूनां बहुगुणे सदा ॥९॥

पदार्थान्वयः—मिहिलाए–मिथिला में चेइए–चैत्य वच्छे–वृक्षों से पूर्ण सीयच्छाए–शीतल छाया से युक्त मणोरमे–मनोरम नाम वाला चैत्य है पत्तपुप्फफलोवेए–पत्र पुष्प और फलों से युक्त बहूणं–बहुत पक्षी आदि को बहुगुणे–बहुत गुण वाला सया–सदा–उपकार करने वाला है।

मूलार्थ—मिथिलानगरी के चैत्य[1]–उद्यान–में मनोरम नाम का एक वृक्ष है, जो कि पत्र पुष्प और फलों से युक्त एवं अनेकविध पक्षिगणों को सदा आश्रय देने वाला है। अथवा मिथिलानगरी के समीप, पत्र पुष्प और फलयुक्त वृक्षों से परिपूर्ण, अतिरमणीय एक चैत्य–उद्यान है जो कि अनेक विधपक्षिगणों का पोषक एवं आश्रयदाता है, तथा विशेष शोभायुक्त होने से उसका नाम भी मनोरम है।

वाएण हीरमाणम्मि, चेइयम्मि मणोरमे।
दुहिया असरणा अत्ता, एए कन्दन्ति भो! खगा ॥१०॥

वातेन ह्रियमाणे, चैत्ये मनोरमे।
दुःखिता अशरणा आर्ताः, एते क्रन्दन्ति भो! खगाः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—वाएण–वायु से हीरमाणम्मि–हिल जाने पर–चेइयम्मि–चैत्य मे मनोरमे–मनोरम नाम वाला चैत्य वृक्ष दुहिया–दुःखित असरणा–शरण रहित

1 'उद्याने देवगेहे च वृक्षे चैत्यमुदा हृतम्'–चैत्यशब्द–उद्यान, देवगृह और वृक्ष के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। सर्वार्थ सिद्धि में चैत्य शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है–'चितिरिष्टिकादि चय स्तत्र साधुः योग्यश्चित्यः स्वार्थेऽणि चैत्यस्तस्मिन्–कोर्थः? अधोबद्धपीठिके उपरिचोच्छ्रितपताके–मनोरमे–मनोऽभिरति हेतौ वृक्षे इति शेषः, अर्थात् जिस वृक्ष के नीचे ईंटों का चबूतरा बना हुआ हो और ऊपर पताका–झंडी बंधी हो उसको चैत्य कहते हैं। और मन को अति आनन्द देने वाला होने से मनोरम कहलाता है।

अत्ता-आर्त हुए एए-ये प्रत्यक्ष दीखने वाले खगा-पक्षिगण कन्दन्ति-आक्रन्दन-रुदन करते हैं भो-(आमन्त्रण अर्थ में है)।

मूलार्थ—परन्तु एक दिन वह मनोरम नाम का चैत्य वृक्ष वायु के वेग से हिल गया-अर्थात् गिर पड़ा, हे इन्द्र उसके गिर पड़ने से ही, असहाय, दुःखी और आर्त हुए ये पक्षिगण इस प्रकार का आक्रन्दन करते हैं।

टीका—इन्द्र ने नमि राजर्षि से जो प्रश्न किया है उसका आशय स्पष्ट है। वह कहता है कि आज मिथिला में जितना भी आर्तनाद हो रहा है उसका कारण आप हैं। यदि आप दीक्षा के लिए घर से न निकलते तो ये पुरवासी लोग कभी इतने दुःखी न होते। अतः आपका प्रव्रज्या में प्रवृत्त होना ही इनके दुःख का मूलहेतु है। तथा यदि आप दीक्षा का विचार छोड़ देवें तो ये लोग फिर पूर्ववत् सुखी हो सकते हैं इस लिए इनके सुख अथवा दुःख का आप ही कारण हैं। इन्द्र के इस आशय को समझ कर बुद्धिमान् राजर्षि ने जो उत्तर दिया है वह भी बड़ा मार्मिक और हृदयग्राही है। नमिराजर्षि कहते हैं कि हे इन्द्र ! मिथिला के समीप-वर्ती इस रमणीय उद्यान में मनोरम नाम का यह बड़ा ही सुन्दर और विशाल काम वृक्ष था इसकी शीतल छाया के तले हज़ारों जीवों को विश्राम मिलता था, अनेकविध पक्षिगणों का यह आश्रय स्थान बना हुआ था, इसके सुगन्धित पुष्पों और स्वादिष्ट फलों से अनेक जीवों को पोषण मिलता था अधिक क्या कहें इसके द्वारा अनेक असहाय जीवों का निर्वाह होता था। परन्तु दैवयोग से आज उस वृक्ष की वह दशा नहीं रही, वायु के प्रबल वेग ने उसे जड़ से हिलाकर नीचे गिरा दिया ! अब वह न फल देने में समर्थ है, न छाया से सहयता कर सकता है और न ही किसी को आश्रय प्रदान करने की ही अब उसमें शक्ति है। वृक्ष के इस प्रकार गिर जाने से उसके आश्रय में रहने वाले यह पक्षिगण भी निराश्रित हो गये। जब इनका आश्रय नष्ट हो गया तब असहाय होने से इनका दुःखी होना और आर्तनाद करना अनिवार्य है। क्योंकि आधार पर ही आधेय की स्थिति निर्भर है जब आधार ही न होगा तो आधेय कहां रह सकेगा अतः ये पक्षिगण अपने दुःख के लिए यदि वृक्ष को उपालम्भ दें तो यह इनकी भूल है, क्योंकि वृक्ष का इसमें कोई भी दोष नहीं। वह तो जब तक स्थिर और हरा भरा रहा

तब तक उसने इन सब पक्षिगणों को उदारता पूर्वक आश्रय दिया। इसलिए वास्तव मे इन पक्षिगणों का जो आक्रन्दन है उसका कारण इनके सुख का विनाश है। ये तो अपने अतीत सुख को रो रहे हैं इसमे वृक्ष का कोई दोष नहीं।

राजर्षिनमि ने इन्द्र को समुचित उत्तर देते हुए जो कुछ कहा है उसका आशय स्पष्ट है। वे मिथिलानगरी को उद्यान और उद्यान के रमणीय वृक्ष के स्थानापन्न अपने आपको बतला रहे हैं तथा पक्षिगणों के समान उनका स्वजनवर्ग है एवं तीव्र वैराग्य, वायु का झोंका है। तात्पर्य कि वैराग्यरूप वायु के प्रबल वेग ने, वृक्षरूप मुझको संसार से पृथक् कर दिया, अब मैं वह—संसारी बन्धुजनों का—भरण पोषण करने वाला नहीं रहा इसलिए निराश्रित हुए ये सम्बन्धी जन अपने पूर्व सुखों का स्मरण करते हुए आर्तनाद कर रहें हैं क्योंकि इनको अब उन सुखों की उपलब्धि होनी कठिन प्रतीत होती है। ये लोग तो अपने निजी स्वार्थ के लिए रो रहे हैं इसमें मेरा कोई दोष नहीं अतः इनके आक्रन्दन या आर्तनाद का कारण मेरे को बनाना या मानना किसी प्रकार से भी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। मेरी तो इस समय वही स्थिति है जो कि अपनी भवस्थिति को पूरी करके भूमि पर गिरे हुए इस वृक्ष की है और स्थिति में न्यूनाधिकता कभी हो नहीं सकती इसलिए आपके उपालम्भ से मैं तो सर्वथा मुक्त हूं।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥११॥

एनमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥११॥

पदार्थान्वयः—तओ–तदनन्तर एयमट्ठं–इस पूर्वोक्त अर्थ को निसामित्ता–सुनकर हेउकारण–हेतु और कारण से चोइओ–प्रेरित किया गया देविन्दो–देवेन्द्र नमिरायरिसिं–नमिराजर्षि को इणं–ऐसे अब्बवी–बोला।

मूलार्थ—तदनन्तर, पूर्वोक्त अर्थ को सुनकर हेतुकारण से प्रेरित हुआ इन्द्र नमिराजर्षि को ऐसे कहने लगा।

टीका—नमिराजर्षि के समुचित उत्तर को सुनकर इन्द्र ने फिर उनसे इस प्रकार कहा अर्थात् इन्द्र ने अपने प्रश्न का अनुरूप उत्तर प्राप्त करके अब दूसरे प्रश्न का आरम्भ किया। यथा—

एस अग्गी य वाऊ य, एयं डज्झइ मन्दिरं।
भयवं ! अन्तेउरं तेणं, कीस णं नावपेक्खह ॥१२॥

एषोऽग्निश्च वायुश्च, एतद् दह्यते मन्दिरम्।
भगवन् ! अंतःपुरं तेन, कस्मान्नावप्रेक्षसे ॥१२॥

पदार्थान्वयः—एस–यह–प्रत्यक्ष अग्गी–अग्नि य–और वाऊ–वायु एयं–यह प्रत्यक्ष मन्दिरं–मन्दिर डज्झइ–जल रहे हैं भयवं–भगवन् अन्तेउरं–अन्तःपुर तेणं–तिस कारण से कीस–किस लिए नावपेक्खह–तुम नहीं देखते य–णं–(वाक्यालंकार में हैं)।

मूलार्थ—हे भगवन् ! इस अग्नि और वायु के द्वारा यह मन्दिर जल रहे हैं तथा आपका अन्तःपुर भी दग्ध हो रहा है, फिर आप इसकी ओर क्यों दृष्टि नहीं करते।

टीका—मिथिला के जलते हुए मन्दिर और अन्तःपुर की तरफ़ अंगुलि-निर्देश करते हुए इन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा कि हे भगवन् ! आपके यह मन्दिर और अन्तःपुर जल रहे हैं ! वायु से मिलकर अग्नि, इनको भस्मसात् कर रहा है ! परन्तु आप इनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते इसका क्या कारण है ? इन्द्र का यह प्रश्न भी बड़ा कौतूहलवर्द्धक है। इन्द्र के कथन का आशय यह है कि जिस प्रकार आप अपने ज्ञानदर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रय की रक्षा में प्रवृत्त हुए हो उसी प्रकार आपको अपनी हर एक वस्तु की रक्षा करनी चाहिए। फिर आप दयालु और परले दर्जे के नीतिज्ञ हो अतः आपका यह भी कर्तव्य हो जाता है कि अपनी दग्ध होती हुई राजधानी को बचाने का प्रयत्न करें। परन्तु आपने तो इस बात का तनिक भी ख्याल नहीं किया, सो कृपया बतलाएं कि इसका क्या कारण है ? यहां पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्र का यह प्रश्न केवल स्नेह

दृष्टि को ले करके है अर्थात् नमिराजर्षि का अन्तःपुर आदि में मोह है या नहीं यह बात स्फुट हो जावे। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में अग्नि के साथ वायु का जो उल्लेख किया गया है वह इन दोनों का साहचर्य बतलाने के लिए किया गया है अर्थात् वायु के विना अग्नि नहीं रह सकती। और 'तव' शब्द का यहां पर अध्याहार कर लेना चाहिए। अथवा—'तेणं' को तृतीयान्त 'तेन' और षष्ठयन्त 'ते' तव-(णं वाक्यालंकार में) दोनों मानकर भी काम चल सकता है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दं इणमब्बवी ॥१३॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥१३॥

मूलार्थ—देवेन्द्र के इस उक्त अर्थ-प्रश्न को सुनकर नमिराजर्षि ने इस प्रकार देवेन्द्र से कहा (और सब कुछ प्रथम की तरह समझ लेना)।

सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचणं ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचणं ॥१४॥

सुखं वसामो जीवामः, येषां नो नास्ति किंचन ।
मिथिलायां दह्यमानायां, न मे दह्यते किंचन ॥१४॥

पदार्थान्वयः—सुहं-सुखपूर्वक वसामो-वसते हैं जीवामो-जीते हैं जेसिं-जिस करके मो-हमारा किंचणं-किंचिन्मात्र भी नत्थि-नहीं है मिहिलाए-मिथिला के डज्झमाणीए-जलते हुए होने पर किंचणं-किंचित् मात्र भी मे-मेरा नडज्झइ-नहीं जलता।

मूलार्थ—सुखपूर्वक सोते हैं, वसते हैं, हमारा इस नगरी में कुछ भी नहीं है, मिथिला के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता।

टीका—अग्नि वायु के प्रकोप से जलते हुए मिथिला के राजमहलों के

सम्बन्ध में किए गए इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए नमिराजर्षि कहते हैं कि देवेन्द्र! हम तो अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सुखपूर्वक वसते हैं और जीते है। इस मिथिलानगरी में वस्तुतः हमारा कुछ नहीं इसलिए मिथिला के जलने पर हमारी कोई भी वस्तु नहीं जलती! राजर्षिनमि के कथन का अभिप्राय यह है कि जो मेरी वस्तु अर्थात् ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं उन्हें तो कोई जला नहीं सकता, और जो कुछ जल रहा है यह परवस्तु है अर्थात् मेरी नहीं, तात्पर्य कि अपनी निजी वस्तु के संरक्षण में सावधान रहने का ही मेरा कर्तव्य है, परवस्तु से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं इसलिए मिथिला के दग्ध होने का मेरे ऊपर किसी प्रकार का भी उत्तर-दायित्व नहीं। इसी प्रकार रक्षा और दयालुता आदि के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। क्योंकि मैं इन तमाम क्रियाओं से पृथक् हूं जिनका कि आरोप मेरे ऊपर किया जाता है। तथा यदि इन वस्तुओं पर मेरा किसी प्रकार का भी ममत्व या स्नेह होता तब तो इसकी ओर मेरा लक्ष्य जाता, परन्तु इनमें तो मेरा कुछ भी नहीं है यही भाव आगामी गाथा में वर्णित है।

अब इसी विषय को और अधिकता से स्पष्ट करते हैं—

चत्तपुत्तकलत्तस्स , निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जई ॥१५॥

त्यक्तपुत्रकलत्रस्य , निर्व्यापारस्य भिक्षोः।
प्रियं न विद्यते किंचित्, अप्रियमपि न विद्यते ॥१५॥

पदार्थान्वयः—चत्त–छोड़ा है पुत्तकलत्तस्स–पुत्रकलत्र का सम्बन्ध जिसने निव्वावारस्स–व्यापार रहित भिक्खुणो–भिक्षु को किंचि–किंचित् मात्र भी पियं–प्रिय नविज्जई–नहीं है अप्पियंपि–अप्रिय भी नविज्जई–नहीं है।

मूलार्थ—जिस भिक्षु ने पुत्र कलत्रादि का सम्बन्ध छोड़ दिया है और जो सर्व व्यापार से रहित है उसको संसार का कोई भी पदार्थ प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है।

टीका—जो भिक्षु अपने पुत्र तथा कलत्रादि परिवार से किसी प्रकार का

सम्बन्ध नहीं रखता तथा जिसने सर्व प्रकार के सावद्य व्यापार का परित्याग कर दिया है ऐसे भिक्षु को संसार के किसी भी पदार्थ में प्रीति अथवा अप्रीति नहीं रहती, तात्पर्य कि उसका न तो किसी वस्तु में राग होता है और न किसी पदार्थ से द्वेष होता है। संसार के अन्दर सुख अथवा दुःख की उत्पत्ति का कारण ममत्व है, ममत्व से ही संसार में सुख दुःख की भावना का उद्गम होता है, और ममत्व के न रहने पर संसार की सुख दुःख मयी सारी विषम भावनाएं समता के समुद्र में लय हो जाती हैं। इसलिए सांसारिक पदार्थों पर से ममत्व को हटा लेने वाले मुमुक्षु पुरुष की दृष्टि में कोई भी पदार्थ प्रिय अथवा अप्रिय नहीं रहता, एवं किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति से हर्ष और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से शोक तथा अप्रिय वस्तु के संयोग से और प्रिय वस्तु के वियोग से किसी प्रकार का विषाद भी नहीं होता! इस कथन से इन्द्र के उस प्रश्न का भली भांति उत्तर हो जाता है जिसमें कि उसने नमिराजर्षि से यह कहा था कि–'आपकी मिथिलानगरी और आपके राजमहल अग्नि के द्वारा भस्मसात् हो रहे हैं और आप उनकी तरफ़ आंख उठाकर भी नहीं देखते' इत्यादि।

यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि राजर्षि नमि और देव-राज इन्द्र के इस प्रश्नोत्तर में इन्द्र तो उनके सांसारिक व्यामोह की परीक्षा कर रहे है और मुनि उसको साधु धर्म का स्वरूप बतला रहे हैं।

अब एकान्त निवास और संग त्याग का फल बतलाते हैं—

बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ ॥१६॥

बहु खलु मुनेर्भद्रं, अनगारस्य भिक्षोः।
सर्वतो विप्रमुक्तस्य, एकान्तमनुपश्यतः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—बहु–बहुत खु–(निश्चयार्थक है) मुणिणो–मुनि को भद्दं–कल्याण–सुख है अणगारस्स–अनगार भिक्खुणो–भिक्षु को सव्वओ–सर्व प्रकार से विप्पमुक्कस्स–बन्धनों से रहित को एगन्तं–एकान्त अणुपस्सओ–देखने वाले को।

मूलार्थ—आत्मा को देखने वाले मुनि को निश्चय ही बहुत सुख है जो अनगार भिक्षु सर्व प्रकार के बन्धनों से रहित है उसको सदैवकाल ही भद्र-कल्याण-सुख रहता है।

टीका—नमिराजर्षि, इन्द्र से कहते हैं कि जो मुनि अपने आत्मा में रमण करता है उसको निश्चय ही सुख होता है, क्योंकि पुत्र कलत्रादि सांसारिक पदार्थों का बन्धन ही दुःख का कारण है अतः इन सर्व प्रकार के बन्धनों को तोड़ कर आत्मदर्शन में निमग्न रहने वाले अनगार भिक्षु को जो कल्याणमय सुख प्राप्त होता है वह अवर्णनीय है। इस गाथा में एकान्तवास और एकान्तभावना के द्वारा निज आत्मा का अवलोकन करना ही एक मात्र सुख का साधन बतलाया है। तथा इसी क्रम में मनुष्य सुखों का अधिकारी बन सकता है, और जिसने अपने आत्मा का अनुभव नहीं किया, वह प्रतिभाशाली होने पर भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता।

यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्र ने तो केवल क्षात्र-धर्म को मुख्य रखकर नमिराजर्षि से जलती हुई मिथिलानगरी के संरक्षण आदि के विषय में उनका ध्यान आकर्षित किया था, और राजर्षि नमि ने केवल साधु धर्म को मुख्य रखकर उत्तर में उससे किसी प्रकार का भी अपना सम्पर्क नहीं है, यह बतलाया है। तब इन दोनों भिन्न दृष्टियों से इन्द्र का प्रश्न और राजर्षि का उत्तर ये दोनों ही संगत प्रतीत होते हैं।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥१७॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥१७॥

मूलार्थ—इसके अनन्तर-अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर लेने के बाद अब इन्द्र फिर नमिराजर्षि से कहते हैं अर्थात् इन्द्र ने उनसे जो और प्रश्न किया है अब उसको बतलाते हैं। यथा—

पागारं कारइत्ता णं, गोपुरट्टालगाणि य।
उस्सूलग सयग्घीओ, तओ गच्छसि खत्तिया ॥१८॥

प्राकारं कारयित्वा, गोपुराट्टालकानि च।
उत्सूलकाः शतघ्नीः, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥१८॥

पदार्थान्वयः—खत्तिया–हे क्षत्रिय ! पागारं–किला कारइत्ताणं–करवा के गोपुर–नगर के मुख्य द्वार य–और अट्टालगाणि–प्राकार के ऊपर–युद्ध करने वाला स्थान उस्सूलग–कोट की खाई–और सयग्घीओ–शतघ्नी आदि–बन्दूकें और तोपें आदि सब बनाके तओ–तदनन्तर गच्छसि–तू जा।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय ! प्रथम किला बनवाकर, गोपुर, अट्टालिका और किले की खाई तथा बन्दूकें और तोपें आदि बनवाकर फिर तुम जाओ।

टीका—यहां पर इन्द्र ने राजर्षि नमि से जो तीसरा प्रश्न किया है वह उक्त दोनों प्रश्नों से भी विलक्षण है। इन्द्र कहते हैं कि हे राजन् ! यदि आपका दीक्षा के ही लिए दृढ आग्रह है तो आप प्रथम इतने काम करके फिर दीक्षाग्रहण करो। प्रथम तो मिथिला नगरी की रक्षा के लिए एक कोट बनवाओ, फिर उसका अर्गलारूप–द्वारकोट बनवाओ, और कोट के ऊपर अट्टालिकाएं तैयार कराओ; जो-कि युद्ध के समय पर काम में लाई जाती हैं, तथा शत्रुओं को रोकने के लिए, किले की चारों ओर एक गहरी खाई खुदवाओ, एवं आक्रमणकारी शत्रुओं को परास्त करने के लिए बन्दूक और तोप आदि शस्त्रों को तैयार कराओ। सामग्री के तैयार हो जाने पर फिर आप खुशी से जा सकते हैं। यह बातें मैंने इसलिए आपसे कही हैं कि आप क्षत्रिय हैं ! क्षत्रियों का मुख्यधर्म है–प्रजा का पालन करना और उसकी भय से रक्षा करना 'क्षतात्–भयात् त्रायते–इति क्षत्रियः' अर्थात् जो भय से रक्षा करे उसे क्षत्रिय कहते हैं। अतः इस नगरी को सुरक्षित और भयरहित करके आपको जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त गाथा में आए हुए 'शतघ्नी' शब्द का अर्थ है–जो एक वार चलाने पर सैंकड़ों मनुष्यों का विनाश कर डाले अर्थात् 'तोप' या इसी प्रकार का कोई अस्त्र विशेष। वृत्तिकार ने तो इसका अर्थ यंत्र विशेष किया

है परन्तु आज कल के नवीन संशोधकों ने तो इसका अर्थ 'तोप' ही माना है। तथा 'गच्छसि' इस क्रियापद में प्राकृत के—'व्यत्ययश्च' इस नियम के अनुसार तिङ् का व्यत्यय समझना अर्थात् लट् लकार की 'गच्छसि' क्रिया के स्थान मे लेट् की 'गच्छ' क्रिया का ग्रहण करना। तथा 'खत्तिया' यहां पर भी प्राकृत के नियमानुसार ही सम्बोधन में अकार को दीर्घ किया गया है। यथा 'हेगोयमा' इत्यादि। 'गच्छसि खत्तिया' का संस्कृत प्रतिरूप 'गच्छ क्षत्रिय' है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥१९॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥१९॥

मूलार्थ—तदनन्तर देवेन्द्र के इस विचार को सुनकर राजर्षि नमि इन्द्र के प्रति इस प्रकार कहने लगे।

सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं ।
खन्तिं निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥२०॥

श्रद्धां नगरं कृत्वा, तपः संवरमर्गलाम् ।
क्षान्तिं निपुणप्राकारं, त्रिगुप्तं दुष्प्रधर्षकम् ॥२०॥

पदार्थान्वयः—सद्धं—श्रद्धा को नगरं—नगर किच्चा—बना करके तवसंवरं—तप संवर को अग्गलं—अर्गल बनाकर खन्तिं—क्षमा को निउणपागारं—निपुणप्राकार—कोट बनाकर तिगुत्तं—त्रिगुप्त दुप्पधंसयं—जो वैरी से नहीं जीता जा सके। 'यह मैंने पहले ही तैयार कर लिया है' इसका यहां पर अध्याहार कर लेना।

मूलार्थ—हे इन्द्र ! कर्मरूप वैरी से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए, श्रद्धारूप नगर, तपसंवररूप अर्गल, क्षमारूपप्राकार-कोट, मनोगुप्तिरूप खाई, वचनगुप्तिरूप अट्टालक और कायगुप्तिरूप शतघ्नी इत्यादि सब कुछ मैंने पहले ही तैयार कर लिया है।

टीका—राजर्षि नमि ने देवेन्द्र को उत्तर देते हुए कहा कि मैंने शत्रु से सुरक्षित रहने के लिए तुम्हारे कथन के अनुसार प्रथम से ही सब कुछ तैयार कर लिया है। यथा—श्रद्धा—तत्त्वाभिरुचि—रूप तो नगर बनाया है, जो कि समस्त गुणों का आधार भूत है। और उसके उपशम संवेग आदि, गोपुर—द्वार बनाए हैं। फिर उन दर्वाज़ों पर कपाटों पर, षड्विध बाह्यतप और पंचविध आश्रव के निरोध करने वाले संवर रूप अर्गल भी लगवा दिए हैं। ताकि मिथ्यात्व आदि दुष्टों का नगर में प्रवेश न हो सके। तथा श्रद्धा रूप नगर को विशेष रूप से सुरक्षित रखने के लिए मैंने उसके चारों तरफ़ उत्तम क्षमा का दृढतर प्राकार—कोट बना दिया है और साथ ही उसके त्रिगुप्ति रूप अट्टालक, खाई और शतघ्नी आदि शस्त्र भी बनवा लिए हैं, जैसे कि मनोगुप्ति अट्टालक, वचनगुप्ति खाई और शरीरगुप्ति शतघ्नी तथा अन्य अस्त्र शस्त्र आदि हैं। हे इन्द्र! इस नगरी मे अब किसी शत्रु के आने का भय नहीं है क्योंकि इसका क्षमा रूप प्राकार—कोट इतना दृढ और मज़बूत बना है कि कोई भी शत्रु इसको सहज से तोड़ नहीं सकता। इस पर भी यदि कोई वैरी इस पर आक्रमण करे तो मैं अवश्य ही अपने शस्त्र अस्त्रों के द्वारा उसके साथ युद्ध करूंगा और हर प्रकार से इस नगर को बाहर के शत्रुओं से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करूंगा।

राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रति, उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए आत्मसंरक्षण के लिए संयमशील मुनि को किस प्रकार के आध्यात्मिक दुर्ग का निर्माण करके, रागद्वेष आदि प्रौढ शत्रुओं के आक्रमण से अपने आपको बचाए रखने का यत्न करना चाहिए यह सब कुछ बतलाते हुए अपने वास्तविक क्षत्रियत्व का पूर्ण रूप से परिचय दे दिया जिससे कि देवेन्द्र उनके आध्यात्मिक जीवन के आन्तरिक स्वरूप को भली भांति समझ लेवे। यद्यपि मूल गाथा में 'अट्ट' पद का प्रयोग नहीं किया तथापि उसका अध्याहार कर लेना।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं।

धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च ईरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण परिमन्थए ॥२१॥

धनुः पराक्रमं कृत्वा, जीवां चेर्यां सदा ।
धृतिं च केतनं कृत्वा, सत्येन परिमथ्नीयात् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—धणुं-धनुष परक्कमं-पराक्रमरूप किच्चा-करके च-और जीवं-जीवा को ईरियं-ईर्या समितिरूप सया-सदा धिइं-धृतिरूप केयणं-केतन किच्चा-करके च-और-फिर सच्चेणं-सत्य से परिमंथए-धनुप को बांधे।

मूलार्थ—पराक्रम रूप धनुप में ईर्या समितिरूप जीवा-प्रत्यंचा को स्थापन करके सदा धृतिरूप केतन करके फिर उसको-धनुप को सत्य से वान्धे।

टीका—इस गाथा में धनुप की द्रव्य और भाव से उपपत्ति की गई है, द्रव्यधनुप तो संयमशील धर्मात्मा पुरुषों को वांधने योग्य नहीं है वे तो भावधनुप को ही अपने पास रखते हैं सो उस भाव धनुप की उपपत्ति इस प्रकार है। मुमुक्षु पुरुष, निज पराक्रम का धनुप वनाकर उसमें ईर्या समिति आदि पांचों समितिओं की जीवा-प्रत्यंचा डाले, (जिसको लोक भाषा में 'चिल्ला' कहते हैं) तथा धर्म में निरन्तर होने वाली धैर्य का केतन वनावे। तथा उस धनुप को स्नायु स्थान से रस्सी से, सत्य के द्वारा वान्धना चाहिए अर्थात् सत्य की डोर से उसको वान्धना चाहिए। सारांश यह कि संयमशील पुरुषों का यह भावरूप धनुष है जिससे कि वह, अपने आत्मा की रक्षा करता हुआ रागद्वेषादि शत्रुओं से युद्ध करने मे सफलता प्राप्त करता है। इस गाथा के भाव रूप धनुप की रचना का विचार करते हुए यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वकाल में इस देश में धनुर्विद्या का अधिकाधिक प्रचार था, क्योंकि द्रव्य को ही मुख्य रखकर उसकी भाव में कल्पना की जाती है जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है।

अव उक्त विधि से तैयार किए गये धनुप के उपयोग के सम्बन्ध मे वर्णन करते हैं—

तव नाराय जुत्तेण , भित्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥२२॥

१ धनुप के मध्यभाग में उसके पकड़ने के लिए जो काष्ठमय मुष्टि लगी हुई होती है उसको केतन कहते हैं। "केतनंशृंगमयधनुर्मध्यकाष्ठमयमुष्ट्यात्मकम्" इति वृत्तिकारः॥

तपोनाराचयुक्तेन　　, भित्त्वा　कर्मकंचुकम् ।
मुनिर्विगतसंग्रामः　　, भवात्परिमुच्यते　　॥२२॥

पदार्थान्वयः—तव–छ प्रकार का आभ्यन्तर तप रूप नाराय–बाण जुत्तेण–युक्त कम्मकंचुयं–कर्म रूप कंचुक को भित्तूणं–भेदन करके मुणी–साधु विगय-संगामो–संग्रामरहित होकर भवाओ–संसार से परिमुच्चए–सर्वथा मुक्त हो जाता है।

मूलार्थ—तप रूप बाण से युक्त होकर उस धनुप के द्वारा–कर्मकंचुक को भेदन करके, फिर वह मुनि संग्राम से रहित होकर इस संसार से सर्वथा छूट जाता है।

टीका—जब पराक्रम रूप धनुष का निर्माण कर लिया गया तब उसमें बाण की आवश्यकता हुई इसलिए छ प्रकार के आभ्यन्तर तप रूप लोहमय बाण से कर्म कञ्चुक का भेदन करके विगतसंग्राम होने पर विचारशील मुनि इस संसार से सर्वथा छूट जाता है। इसका भावार्थ यह है कि कर्म की सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के धनुषधारी वीर आत्मा ही समर्थ हो सकते हैं।

एयमट्ठं　निसामित्ता, हेउकारणचोइओ　।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥२३॥

एतमर्थं　निशम्य, हेतुकारणचोदितः　।
ततो　नमिं　राजर्षिं, देवेन्द्र　इदमब्रवीत् ॥२३॥

मूलार्थ—तदनन्तर इस पूर्वोक्त अर्थ को सुनकर नमिराजर्षि के प्रति इन्द्र ने इस प्रकार कहा।

टीका—इस गाथा का अर्थ तो स्पष्ट ही है किन्तु विशेष रूप से इतना और समझ लेना चाहिए कि राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए उसको यह समझाने का प्रयत्न किया है कि जो पुरुष जिस आश्रम में प्रविष्ट हो चुका है उसको उसी आश्रम के नियमों का अनुसरण करना चाहिए। यही आत्मा के विकास की पद्धति है। मैंने गृहस्थाश्रम का परित्याग करके अब सन्यास आश्रम मे प्रवेश किया है इसलिए संन्यासी–साधु–भिक्षु के लिए आप्तपुरुषों ने जिन नियमों

का विधान किया है मुझे उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए, इसी धारणा से आत्मिक गुणों का विकास हो सकता है। तब आपने जो मिथिला की रक्षा के निमित्त कोट आदि के निर्माण करने का मुझ से प्रस्ताव किया है वह समुचित नहीं क्योंकि मेरा अब इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, मैं तो संसार को त्याग चुका हूं, इस प्रकार का वार्तालाप तो आपको किसी गृहस्थ क्षत्रिय से करना चाहिए यहां पर आत्मरमणता या आत्मसमाधि के अतिरिक्त अन्य किसी विचार की प्रवृत्ति नहीं है इसलिए आपका यह सम्भाषण युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। राजर्षि नमि के इस प्रकार के अनुरूप उत्तर को सुन करके भी इन्द्र ने अपना फिर वही राग आलापन आरम्भ किया अर्थात् फिर भी वह उनको प्रासाद आदि के निर्माण करने की ही अनुमति देता है यह विस्मय की बात है, परन्तु इसमें जो रहस्य है वह भी स्पष्ट है। वह यह कि इन्द्र राजर्षि नमि की परीक्षा करता है कि देखें वे कितने दृढ विचार के हैं, इत्यादि।

पासाए कारइत्ताणं, वद्धमाणगिहाणि य।
वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ॥२४॥

प्रासादान्कारयित्वा , वर्धमानगृहाणि च।
वालाग्रपोतिकाश्च , ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥२४॥

पदार्थान्वयः—पासाए-प्रासादों को कारइत्ताणं-करवा करके वद्धमाण-वर्धमान गिहाणि-घर य-और-तथा वालग्गपोइयाओ य-और वलभीघर-बनवाओ तओ-तदनन्तर खत्तिया-हे क्षत्रिय गच्छसि-तुम जाओ।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय ! प्रासादों-महलों को बनवाकर तथा वर्धमान, सामान्य और वलभीघर बनवाकर बाद में तुम जाओ।

टीका—देवेन्द्र, राजर्षि नमि से कहते हैं कि यदि आपने जाना ही है तो प्रथम, प्रासाद-महल बनवाओ और फिर वास्तुशास्त्र के अनुसार अनेक प्रकार के के सामान्य और वर्धमान घरों का निर्माण कराओ ! जैसे कि चन्द्रशाला-(चुबारा) युक्त तथा आगे से बढ़े हुए वा घरे वाले घर होते हैं तथा वलभीगृह भी बनवाओ

जो कि छ ऋतुओं में सुख देने वाले हों। "वलग्गपोइया—वालाग्रपोतिका" देशीनाम की प्राकृत भाषा का माना गया है जो कि वलभीघर का वाचक है तथा जल में भी एक स्थान बनाना चाहिए जो कि दर्शकों के लिए आनन्द प्रद होवे। क्योंकि जो बाहर से दर्शक आते हैं वे नगरी के, वास्तु शास्त्र के अनुसार बने हुए स्थानों को देख कर बहुत ही प्रसन्न होते हैं। नगरी का सौन्दर्य आप के हाथ में है आप जैसा चाहो बना सकते हैं अतः यह काम आपके लिए अवश्य कर्तव्य है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥२५॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥२५॥

मूलार्थ—इसके अनन्तर नमिराजर्षि ने इन्द्र के प्रति इस प्रकार से कहा—

संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं ।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥२६॥

संशयं खलु स कुरुते, यो मार्गे कुरुते गृहम् ।
यत्रैव गन्तुमिच्छेत्, तत्रैव कुर्वीत शाश्वतम् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—संसयं—संशययुक्त खलु—(निश्चयार्थक है) सो—वह कुणई—करता है जो—जो मग्गे—मार्ग में घरं—घर कुणई—करता है जत्थेव—जहां पर गन्तुं—जाने की इच्छेज्जा—इच्छा करे तत्थ—वहां—उसी स्थान पर सासयं—अपने आश्रय के लिए कुव्वेज्ज—बनावे।

मूलार्थ—जो पुरुष संशययुक्त होता है वह मार्ग में घर बनाता है अतः जहां पर जाने की इच्छा हो वहीं पर अपने आश्रय के लिए घर बनावे।

टीका—राजर्षि नमि, देवेन्द्र के प्रति कहते हैं कि हे इन्द्र! जिस पुरुष को अपने जाने में सन्देह है अर्थात् जो यह समझता है सम्भवतः मैंने जाना है

या कि नहीं जाना, वही पुरुष मार्ग में प्रासाद—घर आदि का निर्माण करता है और जिस को अपने जाने का पूर्ण निश्चय हो चुका हो वह पुरुष तो अपने आश्रय के लिए उसी स्थान में घर बनाता है। मुझे तो अपने जाने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं अर्थात् मुझे तो इस बात का पूर्ण निश्चय हो चुका है कि मैंने अवश्य जाना है! तो फिर मुझे इस मार्ग स्थान में घर बनाने की क्या आवश्यकता है। सो मुझे जिस स्थान पर जाना है, अपने आश्रय के लिए मैं तो उसी स्थान में घर बनाऊंगा। तात्पर्य कि मैंने तो मुक्ति स्थान पर जाना है इसलिए वहीं पर अपना नूतन घर बनाने की मेरी इच्छा है, क्योंकि वही शाश्वत स्थान है। नमि राजर्षि इन्द्र से कहते हैं कि मैं तो इस स्थान को गमन का मार्ग समझता हूं और जो मार्ग में घर बनाने की चेष्टा करता है वह बुद्धिमान् नहीं कहा जाता इसलिए मुझे इस स्थान पर घर बनाने की आवश्यकता नहीं है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥२७॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणाचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥२७॥

मूलार्थ—इस पूर्वोक्त विचार को सुन कर इन्द्र फिर नमि राजर्षि को कहते हैं। यथा—

आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे ।
नगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिया !॥२८॥

आमोषान् लोमहरान्, ग्रंथिभेदांश्च तस्करान् ।
नगरस्य क्षेमं कृत्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥२८॥

पदार्थान्वयः—आमोसे—चोरी करने वालों को य—और लोमहारे—प्राणघात करने वालों को गंठिभेए—गांठ कतरने वालों को तक्करे—चोरों को नगरस्स—नगर को खेमं—कल्याण काऊणं—करके तओ—तदनन्तर खत्तिया—हे क्षत्रिय! गच्छसि—तू जा।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय चोरी करने वालों, प्राण हरने वालों, गांठ कतरने और प्रत्यक्ष चोरी करने वालों से इस नगर को सुरक्षित करके फिर आप जावें।

टीका—इन्द्र ने राजर्षि नमि से फिर वही क्षत्रियोचित कर्तव्य के पालन करने का प्रस्ताव किया है। देवेन्द्र कहते हैं कि महाराज ! इन चोरों डाकुओं लुटेरों और ठगों से इस नगरी को हर प्रकार से सुरक्षित करके आप जावें अर्थात् दीक्षा ग्रहण करें क्योंकि आप क्षत्रिय हैं इसलिए अपनी प्रजा को निर्भय करने का आपको अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। और यह कार्य आपके वास्ते कुछ कठिन भी नहीं है इत्यादि।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥२९॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥२९॥

मूलार्थ—इन्द्र के इस पूर्वोक्त विचार को सुनकर राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रति इस प्रकार कहा (और सब कुछ स्पष्ट है)। अब उसी का वर्णन करते हैं—

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पजुञ्जई ।
अकारिणोऽत्थ बज्झन्ति, मुच्चई कारओ जणो ॥३०॥

असकृत्तु मनुष्यैः, मिथ्यादण्डः प्रयुज्यते ।
अकारिणोऽत्र बध्यन्ते, मुच्यते कारको जनः ॥३०॥

पदार्थान्वयः—असइं—अनेकवार मणुस्सेहिं—मनुष्यों के द्वारा मिच्छादंडो—मिथ्या दंड का पजुञ्जई—प्रयोग किया जाता है अकारिणो—चोरी न करने वाले अत्थ—यहां—लोक में बज्झंति—बांधे जाते हैं कारओ—चोरी के करने वाले जणो—जन मुच्चई—छोड़े जाते हैं। तु—निश्चय से।

मूलार्थ—मनुष्यों के द्वारा अनेक वार मिथ्या दंड का प्रयोग होता है। जैसे कि चोरी के न करने वाले बान्धे जाते हैं और करने वाले छोड़े जाते हैं।

टीका—राजर्षि नमि इन्द्र के प्रति कहते हैं कि लोक में दंड के सम्बन्ध में बहुत कुछ विपरीत देखने में आता है ! अज्ञानी जीवों के द्वारा मिथ्या दंड का अधिक प्रयोग होता है, बहुधा देखा गया है कि जो लोग निरपराधी हैं उनको कठोर से कठोर दंड दिया गया है ! और जिन लोगों ने अपराध किया है वे मुक्त कर दिए गए हैं ! इस विपर्यय का कारण अज्ञान है इसलिए जब तक अज्ञान को दूर करके यथार्थ ज्ञान का सम्पादन नहीं किया जाता तब तक यथार्थ रक्षा का होना दुर्घट है ! राजर्षिनमि के कथन का वास्तविक अभिप्राय बड़ा ही सुन्दर है। वे इन्द्र से एक उत्तम आध्यात्मिक रहस्य को बड़े सादे से अलंकार में समझा रहे हैं, उनके कथन का आशय यह है कि आत्मा की इस शरीर रूप नगरी मे पांच इन्द्रिय और चार कषाय (क्रोध मान माया और लोभ) रूप चोर बसते हैं। वे इस आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप धन का अपहरण करने के लिए हर समय उद्यत रहते हैं अतः जब तक उन चोरों को पकड़ कर दंड न दिया जायगा तब तक शांति नहीं हो सकती। सो मैंने उन चोरों का अब भली भांति पता लगा लिया है और उनको पकड़ कर निर्वासित करने का मैं यत्न भी कर रहा हूं इत्यादि ।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥३१॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥३१॥

मूलार्थ—राजर्षि नमि के इस पूर्वोक्त कथन को सुनकर इन्द्र फिर उनके प्रति इस प्रकार कहने लगा ।

जे केइ पत्थिवा तुज्झं, नानमन्ति नराहिवा ।
वसे ते ठावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया !॥३२॥

ये केचन पार्थिवास्तुभ्यं, न नमन्ति नराधिप ! ।
वशे तान्स्थापयित्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥३२॥

पदार्थान्वयः—जेकेइ—जो कोई पत्थिवा—राजे तुज्झं—आपको नराहिवा—हे नराधिप ! नानमन्ति—नमस्कार नहीं करते ते—उनको वसे—वश में ठावइत्ता—स्थापन करके तओ—तदनन्तर खत्तिया—हे क्षत्रिय ! गच्छसि—जाओ णं—(वाक्यालंकार में है)।

मूलार्थ—हे राजन् ! जो कोई राजा लोग आपको नमस्कार नहीं करते उनको अपने वश में करके फिर आपने जाना।

टीका—इस प्रश्न से इन्द्र ने राजर्षि नमि के अन्तःकरण की परीक्षा करने का प्रयत्न किया है, अर्थात् उनके अन्दर द्वेष और मान की मात्रा है याकि नहीं, अगर है तो कितने परिमाण में है इसकी परीक्षा के लिए उसने यह प्रस्ताव ऋषि के आगे रक्खा है क्योंकि जिस पुरुष के अन्दर द्वेष की अग्नि सुलग रही हो उसके सम्मुख यदि उसके किसी शत्रु की प्रशंसा की जावे तो उसकी आन्तरिक द्वेष-ज्वाला एक दम भड़क उठती है और उसके अन्दर रहा हुआ मान उस ज्वाला को अधिक प्रदीप्त करने के लिए पवन के तीव्रवेग का काम करता है। इसलिए राजर्षि नमि से इन्द्र कहता है कि महाराज ! आप उन राजाओं को अपने वश में करने के बाद, इस दीक्षासम्बन्धी कार्य में प्रवृत्त होवें जो कि आपको नमस्कार नहीं करते, आपकी आज्ञा में नहीं चलते। यदि आपने ऐसा न किया तो संभव है कि आपके चले जाने के बाद वे आपके राज्य को छिन्न भिन्न करके आपके पुत्र को अपने वश में कर लेवें। परन्तु यदि आप उनको पराजित करके अपने वश में कर लेवें तो फिर किसी प्रकार के उपद्रव की सम्भावना ही न रहेगी।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥२३॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥२३॥

मूलार्थ—देवेन्द्र के इस प्रश्न को सुनकर राजर्षि नमि ने उत्तर में देवेन्द्र के प्रति इस प्रकार कहा।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥३४॥

यः सहस्रं सहस्राणां, संग्रामे दुर्जये जयेत्।
एकं जयेदात्मानं, एष तस्य परमो जयः ॥३४॥

पदार्थान्वयः—जो-जो सहस्सं-हज़ार को सहस्साणं-हज़ार गुणा करने से दस लाख सुभटों को दुज्जए-दुर्जय संगामे-संग्राम में जिए-जीत लेवे एगं-एक अप्पाणं-आत्मा को जिणेज्ज-जीत लेवे एस-यह से-उसका परमो-उत्कृष्ट जओ-जय है।

मूलार्थ—दुर्जयसंग्राम में दस लाख सुभटों को जीतने वाले की अपेक्षा एक आत्मा को जीतने वाला अधिक बली है। तथा उसकी यह विजय सर्वोत्कृष्ट विजय है।

टीका—राजर्षि नमि इन्द्र से कहते हैं कि हे इन्द्र! दस लाख योधाओं को संग्रामभूमि में पिछाड़ने वाले अतिसुभट (योधा) की अपेक्षा आत्मनिग्रह करने वाला (आत्मा पर, विजय प्राप्त करने वाला) अधिक बलवान् और पराक्रमशील है! क्योंकि लाखों सुभटों के साथ युद्ध करने वाला और उनको पराजित करने वाला शूरवीर भी आत्मनिग्रह में कषायों पर विजय प्राप्त करने में असफल रहता है। उसका शारीरक बल आत्मनिग्रह के सामने कुंठित हो जाता है तात्पर्य कि कषायों पर विजय प्राप्त करने के बदले वह उनसे स्वयं पराजित हो जाता है, इसलिए विषय कषायों को जीतना ही वास्तव में विजय है और इनको जीतने वाला ही सच्चा सुभट और सच्चा विजेता है। तथा जिस पुरुष ने आत्मनिग्रह या कषायों का विजय किया है उसी का अन्य जीवों पर शासन हो सकता है, वही सबको वश में करने की शक्ति अपने अन्दर रखता है। क्योंकि अपने आप पर विजय प्राप्त किए

---

१ तुलना करो धम्मपद (बौद्धग्रन्थ) की इस गाथा से 'यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने। एकं च जेय्यमत्तानं, स वे संगाम जुत्तमो' ॥ (सहस्स वग्ग–४ गा०)

'यः सहस्रं सहस्रेण संग्रामे मानुषान् जयेत्।
एकं च जयेदात्मानं स वै संग्रामजिदुत्तमः' ॥

विना दूसरों को पराजित नहीं किया जा सकता अतएव आत्मनिग्रह करने वाले ऋषि मुनि अपने वर शाप से जो कार्य कर सकते हैं वह बड़े से बड़े चक्रवर्ती के लिए भी अशक्य है! इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा पर विजय प्राप्त करने के लिए ही विवेकशील पुरुष को यत्न करना चाहिए जिससे कि वह सब पर विजय प्राप्त कर सके, अब रही इन राजाओं को वश में करने की बात; सो तो इस कषाय-विजय या आत्मनिग्रह के सामने बहुत ही तुच्छ है, आत्मविजय—कषायविजय, प्राप्त करने के बाद तो ये सब स्वयं आकर चरणों में गिरेंगे। इसलिए इनके विजय की आप कोई चिन्ता न करें, यही राजर्षि नमि के उक्त कथन का आशय है। सहस्र से सहस्र को गुणा करने से दस लाख बनता है।

अन्य सुभटों के विजय की अपेक्षा आत्मविजय को सबसे अधिक कठिन बतलाने के बाद अब उसी आत्मा के साथ युद्ध करने का उपदेश देते हैं—

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पणामेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥३५॥

आत्मनैव सह युद्ध्यस्व, किं ते युद्धेन बाह्यतः।
आत्मनैवात्मानं, जित्वा सुखमेधते ॥३५॥

पदार्थान्वयः—अप्पाणं—आत्मा के साथ एव—ही जुज्झाहि—युद्ध कर किंते—क्या है तुझको बज्झओ—बाहर के जुज्झेण—युद्ध से? अप्पणांएव—आत्मा से ही अप्पाणं—आत्मा को जइत्ता—जीत कर सुहं—सुख को एहए—(यह जीव) प्राप्त करता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू आत्मा से ही युद्ध कर। तेरे को बाहर के युद्ध से क्या काम है? क्योंकि आत्मा को आत्मा से ही जीत करके (यह जीव) सुख को प्राप्त होता है।

टीका—राजर्षि नमि कहते हैं कि हे ब्राह्म! तू आत्मा से युद्ध कर, इस बाहर के युद्ध से तेरा कोई भी प्रयोजन सिद्ध होने का नहीं है अर्थात् इन बाहर के शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने से तू सर्वविजयी नहीं बन सकता जब तक कि तेरे अन्दर के—काम क्रोध आदि—प्रबल शत्रु परास्त न हो जावें। इसलिए यदि

तू सर्वविजयी बनना चाहता है तो प्रथम इन अन्तरंग शत्रुओं के साथ युद्ध कर, तथा इन सारे शत्रुओं का नायक-सेनापति अज्ञान-या अज्ञानात्मा है। इसको जीत लेने से अन्य सबका जीतना सुकर है अतः अज्ञानात्मा को ज्ञानात्मा के द्वारा युद्ध में परास्त करके तू अपने अभिलषित सुख को प्राप्त कर।

यहां पर 'धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं' इस व्यापक नियम के आधार पर 'एध' का प्राप्ति अर्थ किया गया है। तथा 'अप्पाणं' यह तृतीया के अर्थ में द्वितीया का होना प्राकृत के नियम से जानना। यहां पर आत्माशब्द से मन का ग्रहण है, इसलिए आत्मनिग्रह यानि मनोनिग्रह तथा आत्मा को जीतना अर्थात् मन को जीतना यह भाव अभिप्रेत है ('अत्रात्मशब्देन मनः। सर्वत्र सूत्रत्वान्न पुंस्त्वञ्च, अतति-गच्छति-प्राप्नोति नवनवानि अध्यवसायस्थानान्तराणीत्यात्मा मन उच्यते'- इति वृत्तिकारः।) अस्तु, मन और आत्मा का समानाधिकरण होने से ही सूत्रकर्ता ने यहां मन के अर्थ में आत्मशब्द का प्रयोग किया है।

अब इसी विषय को स्पष्ट करते हुए राजर्षि नमि फिर इन्द्र के प्रति कहते हैं—

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं ॥३६॥

पंचेन्द्रियाणि क्रोधं, मानं मायां तथैव लोभं च।
दुर्जयं चैवमात्मानं, सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥३६॥

पदार्थान्वयः—पंचिन्दियाणि-पांचों इन्द्रिय कोहं-क्रोध माणं-मान मायं-माया तहेव-उसी प्रकार लोहं-लोभ च-और मिथ्यात्वादिक दुज्जयं-दुर्जय अप्पाणं-आत्मा अप्पे जिए-आत्मा के जीते जाने पर सव्वं-सब जियं-जीते गए च-एव-(पादपूर्ति में हैं)।

मूलार्थ—हे शिष्य! पांचों इन्द्रिय, क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि को जीत तथा दुर्जय जो आत्मा-मन, उसको जीत! क्योंकि एक आत्मा को-मन को-जीत लेने से अन्य सब जीते हुए ही हैं! तात्पर्य कि आत्मा का जीतना सबसे अधिक कठिन है।

टीका—राजर्षि नमि कहते हैं कि आत्मा दुर्जय है अर्थात् मन का निग्रह करना अत्यन्त कठिन है। मन का निग्रह करना ही आत्मविजय है, इसको जीत लेने पर फिर किसी वस्तु का जीतना बाकी नहीं रहता, इन्द्रिय और कषाय आदि तो इसके अनुचर विशेष हैं, इसीलिए इनको दुर्जय न कहते हुए केवल आत्मा—मन—को ही दुर्जय बतलाया गया है। क्योंकि क्रोध मान माया और लोभ आदि कषाय—जो आत्मा के वैभाविक परिणाम हैं—सब इसी मनरूप आत्मा से प्रेरित हुए अपने २ कार्य में प्रवृत्त होते हैं इसलिए आत्मनिग्रह ही इस ज्ञानात्मा की सर्वतोभावी विजय है। इससे सिद्ध हुआ कि जिसने, पांचों इन्द्रिय और उनके पांचों विषय, क्रोध, मान, माया और लोभ अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इत्यादि पर, आत्मा के निग्रह के द्वारा विजय प्राप्त करली, उसने सबको जीत लिया। वह विश्वविजयी बन गया! अब उसके लिए कोई अजेय वस्तु नहीं रही! ऐसे आत्मविजेता के सामने विश्व की सारी विभूतियें हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं! वास्तव में देखा जाय तो—(मन जीते जग जीत) यह लोकोक्ति सर्वथा सत्य और निर्भ्रान्त है! क्योंकि मन के निग्रह पर ही आत्मा की उत्क्रान्ति या आत्मिक गुणों का विकास निर्भर है, इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को सर्वप्रकार से आत्मनिग्रह मे ही यत्नशील होना चाहिए। यही उसकी सच्ची विजय है[1]।

राजर्षि नमि ने, इन्द्र के सांसारिक क्षात्रधर्म सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए त्यागप्रधान क्षात्रधर्म का जो रहस्यपूर्ण स्वरूप उनके प्रति वर्णन किया है, वह उनके बुद्धिचमत्कार का सजीव चित्रण है! त्याग मार्ग में प्रविष्ट हुए एक सच्चे क्षत्रिय को किस प्रकार के युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए, तथा किसके साथ युद्ध करना चाहिए, एवं किस प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सन्नद्ध होकर किस प्रकार की रणभूमि में उतरना चाहिए और इस प्रकार के युद्ध में उसे किस अंश तक विजय प्राप्त होगी, इत्यादि समस्त बातों का उन्होंने इस प्रसंग में ठीक २ वर्णन कर दिया और इन्द्र के प्रश्न

---

१ वैदिक सम्प्रदाय के सर्व मान्य ग्रन्थों में भी इस विषय का भूरिसमर्थन मिलता है! भगवद्गीता में लिखा है "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु-रात्मैव रिपुरात्मनः" ॥ अर्थात् आत्मा से (ज्ञानात्मा से) आत्मा का उद्धार करो किन्तु उसका पतन न करो, क्योंकि आत्मा–ज्ञानात्मा–ही आत्मा का बन्धु–मित्र–है और आत्मा–अज्ञानात्मा–ही इसका–आत्मा का–शत्रु है, इत्यादि।

का उत्तर भी यथार्थ रूप से दे दिया परन्तु इन्द्र अभी ऋषि के मुखारविन्द से कुछ और ग्रहणीय उपदेश श्रवण करना चाहता है इसलिए उसने अपने प्रश्नों की परम्परा को अभी बन्द नहीं किया ! यथा—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्ववी ॥३७॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥३७॥

मूलार्थ—इस प्रकार राजर्षि नमि के उक्त वक्तव्य को सुनकर देवेन्द्र ने फिर उनसे इस तरह का प्रश्न किया—

जइत्ता विउले जन्ने,
भोइत्ता समणमाहणे ।
दत्ता भोच्चा य जिट्ठा य,
तओ गच्छसि खत्तिया ॥३८॥

याजयित्वा विपुलान् यज्ञान्,
भोजयित्वा श्रमणान् ब्राह्मणान् ।
दत्त्वा भुक्त्वा च इष्ट्वा च,
ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥३८॥

पदार्थान्वयः—विउले—बहुत से जन्ने—यज्ञों को जइत्ता—करवा करके समण—शाक्यादि माहणे—ब्राह्मणादि को भोइत्ता—भोजन कराकर दत्ता—दक्षिणा देकर य—और भोच्चा—भोजन करके य—और जिट्ठा—स्वयं यज्ञ करके तओ—फिर खत्तिया—हे क्षत्रिय ! गच्छसि—तुम ने जाना ।

मूलार्थ—विस्तीर्ण यज्ञ करके, श्रमण और ब्राह्मणों को भोजन कराकर दक्षिणा देकर शब्दादि विषयों को भोग कर तथा स्वयं यज्ञ करके हे क्षत्रिय ! फिर तुम ने जाना ।

टीका—राजर्षि नमि में राग द्वेष की मात्रा कहां तक है इस बात पर निर्णय करने के बाद, देवेन्द्र अब उनके तात्त्वर्थ श्रद्धान का निश्चय करने के लिए उनसे फिर प्रश्न करता है। इन्द्र के प्रश्न का भावार्थ यह है—हे क्षत्रिय! दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व आपको बड़े २ वैध यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए, श्रमणों—शाक्य-भिक्षुओं—और ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए तथा दक्षिणा देनी चाहिए एवं मनोज्ञ पदार्थों का भली प्रकार उपयोग करके और यज्ञादि का सम्पादन करके फिर आपको दीक्षा के लिए प्रयाण करना चाहिए। क्योंकि क्षत्रियों के लिए राजसूय और अश्वमेधादिक यज्ञों का स्पष्ट विधान है और क्षत्रिय लोग ही उनका सम्पादन कर सकते हैं! तथा इन यज्ञों से अनेक प्राणियों का हित होता है, सबका हित करना यह भले पुरुषों का सब से मुख्य काम है इसलिए इन उक्त कर्मों को करने के बाद आपको दीक्षा के लिए उद्यत होना चाहिए। यहां पर श्रमण शब्द से बौद्ध-भिक्षु या अन्य संन्यासियों का ग्रहण अभिप्रेत है, जैन साधुओं का नहीं; क्योंकि जैन साधु इस प्रकार—निमंत्रण द्वारा किसी के घर में बैठकर—भिक्षा नहीं करते। एतदर्थ ही श्रमण शब्द के साथ ब्राह्मण शब्द का उल्लेख किया गया है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥३९॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥३९॥

मूलार्थ—इन्द्र के इस यजन याजन सम्बन्धी कथन को सुनकर राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रति इस प्रकार उत्तर दिया—

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण ॥४०॥

१ तुलना करो धम्मपद की इस गाथा से—"मासे मासे सहस्सेन जो यजेथ सतं समं। एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये ॥" (सहस्सवग्ग० ७ गा०) छा०—मासे मासे सहस्रेण यो यजेत शतंसमाः। एकं च भावितात्मानं मुहूर्तमपि पूजयेत्॥ इसके सम्बन्ध में अन्य विचारणीय बातों के लिए देखो परिशिष्ट नं० १.

यः सहस्रं सहस्राणां, मासे मासे गवां दद्यात् ।
तस्मादपि संयमः श्रेयः, अददतोऽपि किंचन ॥४०॥

पदार्थान्वयः—जो–जो सहस्सं–सहस्र को सहस्साणं–सहस्र गुणा करके अर्थात् दस लाख गवं–गायों को मासे २–प्रति मास दए–देवे तस्सावि–उसको भी संजमो–संयम सेओ–श्रेय है–और किंचण–जो किंचित् मात्र भी अदिन्तस्सवि–नहीं देता उसको भी (संयम श्रेय है)।

मूलार्थ—जो पुरुष प्रतिमास दस लाख गौओं का दान करता है, उसको तथा जो कुछ नहीं देता उसको भी संयम ही श्रेय है।

टीका—इस गाथा में सावद्य और निरवद्यवृत्ति का विवेचन किया गया है, तथा निरवद्यवृत्ति की श्रेष्ठता और उसके द्वारा ही प्राणियों का अधिक उपकार होना बतलाया गया है। एक पुरुष प्रतिमास दस लाख गाय का दान करता है तथा दूसरा पुरुष दान आदि कुछ भी नहीं करता; परन्तु इन दोनों के लिए भी वास्तविक हित का साधन संयम ही है, क्योंकि संयम निरवद्य प्रवृत्ति है, आश्रवों का निरोध होने से उसमें हिंसाजनक किसी भी व्यापार का प्रवेश नहीं है। तथा यज्ञ और गोदान आदि जितने भी सकामकर्म हैं वे सावद्य होने से कर्मबन्ध के हेतु हैं और संयम से कर्मों की निर्जरा होती है। अतः बन्ध के हेतु इन यज्ञदानादि सकाम कर्मों में प्रवृत्त होने की अपेक्षा, संयम का धारण करना ही श्रेयस्कर है, इसी में आत्मा का हित निहित है, तथा प्राणिसमुदाय का उपकार भी इसी से साध्य है। इसके अतिरिक्त ज्योतिष्टोमादि वैध यज्ञों की हिंसकता तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, इन यज्ञों में अनेक मूक प्राणियों का वध होता है, और गोदानादि सकामकर्म भी सावद्यप्रवृत्ति के अन्तर्भूत ही हैं इसलिए मोक्षपथगामी जीव को इन सदोषप्रवृत्तियों से पराङ्मुख होकर स्वपर कल्याण के निमित्त केवल संयम–निर्दोषप्रवृत्ति–में ही अग्रेसर होना चाहिए। अतः इन्द्र ने राजर्षि नमि के प्रति जो यज्ञ दानादि के अनुष्ठान का प्रस्ताव किया था उसका महात्मा नमि ने बहुत ही सयुक्तिक तथा माननीय उत्तर दिया है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥४१॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥४१॥

मूलार्थ—राजर्षि नमि के इस पूर्वोक्त उत्तर को सुनकर इन्द्र उनके प्रति फिर कहने लगा—

घोरासमं चइत्ताणं, अन्नं पत्थेसि आसमं ।
इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा ॥४२॥

घोराश्रमं त्यक्त्वा, अन्यं प्रार्थयसे आश्रमम् ।
इहैव पोषधरतः, भव मनुजाधिप ॥४२॥

पदार्थान्वयः—घोरासमं-घोराश्रम-गृहस्थाश्रम को चइत्ताणं-त्याग कर अन्नं-और आसमं-आश्रम की पत्थेसि-प्रार्थना करते हो इहेव-यहां पर ही तुम पोसह-पोषध में रओ-रक्त भवाहि-होवो मणुयाहिवा-हे मनुजाधिप ।

मूलार्थ—हे मनुजाधिप ! आप घोराश्रम-गृहस्थाश्रम-का परित्याग करके अन्य आश्रम की प्रार्थना कर रहे हो-यह ठीक नहीं-आप यहां पर ही रहकर पोषध व्रत का आचरण करें ।

टीका—शास्त्रों में चार प्रकार के आश्रमों का उल्लेख है, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास । इन चारों में गृहस्थ आश्रम ही सबसे अधिक भारवाही होने से घोर कहलाता है । क्योंकि अन्य तीनों आश्रमों के भरणपोषण का भार इसी घोर आश्रम—गृहस्थाश्रम—पर है ! इस से गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों की अपेक्षा उत्कृष्ट माना है । तथा इस गृहस्थाश्रम का यथाविधि पालन करना भी धीर वीर गम्भीर और सत्त्वशाली पुरुषों का काम है, कायरों का नहीं । इसी अभिप्राय को लेकर देवेन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा है कि आप जो गृहस्थाश्रम को छोड़ कर अन्य आश्रम का अवलम्बन कर रहे हैं यह ठीक नहीं क्योंकि आप क्षत्रिय हैं और यह गृहस्थाश्रम भी शूरवीरों के धारण करने योग्य तथा अन्य आश्रमों से उत्कृष्ट है ! इसमें पराक्रमशाली पुरुष ही प्रवेश कर सकते हैं, कायरों का रहना इसमें कठिन है ! क्योंकि इसमें रहने वाले पुरुषों को शारीरिक

परिश्रम सबसे अधिक करना पड़ता है, और मांग कर खाने को अवकाश नहीं। अतः इस महिमाशाली गृहस्थाश्रम के भार को कायर पुरुष नहीं उठा सकते। इसके लिए तो आप जैसे धैर्यशील पुरुषों की ही आवश्यकता है। नीतिशास्त्र में भी इसी भाव को व्यक्त किया है—'गार्हस्थ्येन समो धर्मो न भूतो न भविष्यति। पालयन्ति नराः शूराः, क्लीबाः पाषण्डमाश्रिताः॥ सुदुर्वहं परिज्ञाय घोरं गार्हस्थ्यमाश्रमं। मुण्डनम-जटावेषाः कल्पिताः कुक्षिपूर्तये॥ सर्वतः सुन्दरा भिक्षा, रसा यत्र पृथक् पृथक्। स्यादेक-यामिकी सेवा नृपत्वं साप्तयामकम्॥' तात्पर्य कि गृहस्थाश्रम के समान घोर अतिविकट दूसरा कोई आश्रम नहीं है उसका पालन शूरवीर ही कर सकते हैं। कायर पुरुष तो उसका त्याग करके केवल भिक्षावृत्ति द्वारा उदरपूर्ति के वास्ते अनेक प्रकार के पाषण्डमय वेष बनाकर फिरते हैं। परन्तु आप तो शूरवीर हैं, अतः आप इसी आश्रम में रहकर पोषध आदि व्रतनियमों का पालन करें, क्योंकि अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वों में पोषध उपवास आदि के करने तथा गृहस्थोचित अणुव्रतों के पालन करने से त्याग-प्रधान साधुकर्तव्य की भी आंशिक पूर्ति हो जावेगी और गृहस्थाश्रम का भी यथा-विधि पालन होगा। यद्यपि अनशनादि व्रतों की भांति गृहस्थधर्म का पालन करना भी अति कठिन है, तो भी आप शूरवीर और प्रज्ञासम्पन्न हैं, इसलिए गृहस्थाश्रम का त्याग करके संन्यास धारण करने का विचार अभी तो आप सर्वथा त्याग देवें।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी॥४३॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत्॥४३॥

मूलार्थ—इन्द्र के इस कथन को सुनकर राजर्षि नमि ने इन्द्र के प्रति इस प्रकार कहा—

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥४४॥

१ उत्तर गाथा के साथ, धम्मपद की इस निम्नलिखित गाथा की भी तुलना करनी

मासे मासे तु यो बालः, कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते ।
न स स्वाख्यातधर्मस्य, कलामर्हति षोडशीम् ॥४४॥

पदार्थान्वयः—मासेमासे-प्रतिमास में-महीने २ तु-ही जो-जो बालो-बालक-अज्ञानी कुसग्गेणं-कुशाग्रमात्र तु-ही भुंजए-आहार करता है सो-वह सुक्खाय-सुविख्यात धमस्स-धर्म की सोलसिं-सोलवीं कलं-कला को भी नअग्घइ-प्राप्त नहीं होता ।

मूलार्थ—जो बालक-अज्ञानी जीव-महीने २ कुशाग्र मात्र आहार करता है वह तीर्थंकर देव के कहे हुए इस सर्वविरति रूप धर्म की सोलवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् इस प्रकार की विकट तपस्या भी सर्वविरति धर्म के आगे कुछ भी मूल्य नहीं रखती ।

टीका—जो विचारशून्य पुरुष, महीने २ का उपवास तप करता है, अर्थात् एक मास के अनशन के बाद पारणा करता है, और वह भी परिमाण में अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वह भी इस प्रकार के अज्ञानजन्य क्लिष्ट तप से सर्वज्ञभाषित, सर्वविरति-रूप धर्म के सोलवें हिस्से जितनी भी योग्यता नहीं प्राप्त कर सकता अर्थात् उक्त प्रकार का अज्ञान तप, तीर्थंकर भगवान् के कथन किए सर्वविरति धर्म के सोलवें हिस्से की भी बराबरी नहीं कर सकता । इससे सिद्ध हुआ कि अज्ञानमूलक तपश्चर्या की सर्वविरति धर्म के समक्ष कुछ भी कीमत नहीं है । सर्वविरति धर्म तो कर्मनिर्जरा के द्वारा मोक्ष का हेतु है और अज्ञानकष्ट का फल अधिक से अधिक, देवगति की प्राप्ति है ! अतः गृहस्थाश्रम में सावद्य प्रवृत्तियों की अधिकता होने से वह मुमुक्षु पुरुषों को आदरणीय नहीं है और भिक्षुचर्या-संन्यासाश्रम-में सावद्य व्यापार का सर्वथा अभाव होने से सबके लिए उपादेय है, इसी अभिप्राय से मैं गृहस्थाश्रम का त्याग करके संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के लिए कटिबद्ध हुआ हूं । गृहस्थाश्रम में भी देशविरति धर्म का पालन है परन्तु वह सर्वथा निर्दोष नहीं, और उसका

चाहिए-'मासे मासे कुसग्गेन बालो भुंजेथ भोजनं । नसो संखत्त धम्मानं कल अग्घति सोलसीं ॥ (बालवग्ग० गा० ११) छा०—मासे मासे कुशाग्रेण बालो भुञ्जति भोजनम् । न स सङ्ख्यात धर्माणां कलामर्हति षोडशीम् ॥

त्याग भी इसी हेतु से किया गया है। इसलिए आपका जो प्रश्न है वह अप्रासंगिक अथ च अनुपादेय है।

इस गाथा में दो बातों का उल्लेख किया गया है, १—सर्वविरति धर्म की सर्वश्रेष्ठता, २—अज्ञान तप की अर्थशून्यता। इससे प्रमाणित यही हुआ कि गृहस्थाश्रम की अपेक्षा साधु धर्म ही अधिक श्रेष्ठ और उपादेय है।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥४५॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥४५॥

मूलार्थ—यह सुनने के बाद देवेन्द्र ने, राजर्षि नमि के प्रति इस प्रकार कहा—

हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं, कंसं दूसं च वाहणं ।
कोसं च वड्ढावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥४६॥

हिरण्यं सुवर्णं मणिमुक्तं, कांस्यं दूष्यं च वाहनम् ।
कोशं वर्धयित्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥४६॥

पदार्थान्वयः—हिरण्णं—हिरण्य, सुवण्णं—सुवर्ण मणिमुत्तं—मणिमोती कंसं—कांसी—के भाजन दूसं—वस्त्र च—और वाहणं—वाहन च—और कोसं—कोश वड्ढावइत्ताणं—बढ़ा करके तओ—तदनन्तर खत्तिया—हे क्षत्रिय ! गच्छसि—जाओ।

मूलार्थ—हे क्षत्रिय ! प्रथम, हिरण्य, सुवर्ण, मणि और मुक्ताफल, तथा कांस्य, वस्त्र और वाहनादि से कोश को बढ़ाकर फिर आपने जाना।

टीका—इस प्रश्न में इन्द्र, नमि राजर्षि के लोभ की परीक्षा करते हैं। घड़ा हुआ सोना अर्थात् आभूषण रूप में परिवर्तित हुआ सुवर्ण हिरण्य कहलाता है, सामान्य सोने को सुवर्ण कहते हैं ('हिरण्यं घटितं हेम, सुवर्णमघटितम्' इति वृत्तिः।) चान्दी,

सोना, मणि-मोती, पात्र, वस्त्र और वाहन—हाथी घोड़े—आदि पदार्थों से कोश को भरपूर करने के बाद आपको जाना चाहिए। इस कथन से यह सिद्ध किया कि राजा को कोश की अभिवृद्धि का पूरा ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि पंडितों और राजाओं का कोश ही सर्वस्व है! जैसे कोश,—शब्द कोश—के ज्ञान से रहित पंडित शब्द बोध से अपरिचित हो जाता है उसी प्रकार कोश—खज़ाना—रहित राजा भी चिरकाल तक स्थायी नहीं रह सकता। तात्पर्य कि जैसे पदों का अर्थ जानने के लिए विद्वान् को शब्दकोश—शब्दराशि—के ज्ञान की आवश्यकता है, उसी प्रकार शासन को स्थिर और तेजस्वी बनाए रखने के लिए राजा को सुव्यवस्थित कोश—खज़ाने—की आवश्यकता है, इसलिए हे महाराज! प्रथम आप अपने कोश को भरपूर करें, फिर दीक्षा का उद्योग करना।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥४७॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥४७॥

मूलार्थ—इन्द्र के इस धनसंग्रह सम्बन्धी प्रश्न को सुनकर राजर्षि नमि इन्द्र के प्रति इस प्रकार बोले—

सुवण्णरुप्पस्स य पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥४८॥

सुवर्णस्य रूप्यस्य च पर्वता भवेयुः,
स्यात्कदाचित्खलु कैलाससमा असंख्यकाः ।

नरस्य लुब्धस्य न तैः किंचित्,
इच्छा हु आकाशसमा अनन्तिका ॥४८॥

पदार्थान्वयः—केलास-कैलास के समा-समान असंखया-असंख्यात सुवण्ण-सोने य-और रुप्पस्स-चान्दी के पव्वया-पर्वत सिया-कदाचित् भवे-होवें हु-निश्चय लुद्धस्स-लोभी नरस्स-नरको तेहि-उनसे नकिंचि-किंचित् मात्र भी सन्तोष नहीं होता हु-निश्चय इच्छा-तृष्णा आगाससमा-आकाश के समान अणन्तिया-अनन्त कही गई है।

मूलार्थ—कैलास-सुमेरु-पर्वत के समान, सोने चान्दी के कदाचित् असंख्य पर्वत भी हों तो भी लोभी पुरुष के आगे वे कुछ नहीं! अर्थात् इनसे भी लोभी पुरुष की इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती। क्योंकि यह तृष्णा, आकाश की तरह अनन्त है, इसकी पूर्ति नहीं हो सकती।

टीका—इन्द्र ने, राजर्षि नमि से धन आदि से खज़ाने को भरपूर करने का प्रस्ताव किया था, उसका उत्तर देते हुए राजर्षि नमि कहते हैं कि सुवर्णादि पदार्थों का संग्रह निष्प्रयोजन है, क्योंकि इससे आत्मशान्ति के लाभ में कोई सहारा नहीं मिलता। विपरीत इसके, यह धनसंग्रह कुछ विघ्न अवश्य उपस्थित करता है, तथा-धन के संग्रह से भी तृष्णा की शांति होनी दुर्घट है, लोभी पुरुष के आगे यदि सोने चान्दी के, पर्वत जितने २ असंख्य ढेर भी लगा दिए जावें तो भी उसकी तृप्ति नहीं होती वह इससे भी अधिक के लिए ललचाता है, अतः यह तृष्णा आकाश की भांति अनन्त है इसकी धन धान्यादि से कभी पूर्ति नहीं हो सकती। अतएव नीतिकारों का कथन है कि यह तृष्णा, हज़ारों, लाखों और करोड़ों से तो क्या ? साम्राज्य, देवत्व और इन्द्रत्व पद की प्राप्ति पर भी सन्तुष्ट नहीं होती 'न सहस्राद् भवे तुष्टिर्न लक्षान्न च कोटिभिः। न राज्यान्न च देवत्वान्नेन्द्रत्वादपि देहिनाम् ॥' जैसे २ धन की वृद्धि होती है वैसे २ तृष्णा भी बढ़ती जाती है। इसलिए धन से तृष्णा की पूर्ति का होना अत्यन्त दुर्घट है! जब यह सत्य है तब फिर सोने चान्दी आदि से कोश के भरपूर करने की इच्छा करना या उसके लिए किसी प्रकार का प्रस्ताव करना किसी तरह पर भी योग्य नहीं है। वृद्धसम्प्रदाय के अनुसार, कैलास का अर्थ मेरु पर्वत है।

अब फिर इसी विषय की पुष्टि के लिए प्रकारान्तर से इन्द्र के प्रश्न का उत्तर देने में प्रवृत्त होते हैं—

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नाल मेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥४९॥

पृथिवी शालिर्यवाश्चैव, हिरण्यं पशुभिः सह ।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै, इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥४९॥

पदार्थान्वयः—पुढवी-पृथिवी-साली-लाल चावल जवा-यव-जौं च-अन्य धान्य एव-(अवधारण अर्थ में) हिरण्णं-सुवर्ण पसुभिः-पशुओं के सह-साथ-समस्त पृथिवी पडिपुण्णं-परिपूर्ण अलं-समर्थ-न-नहीं है एगस्स-एक जीव की इच्छा पूर्ण करने में इइ-इस प्रकार विज्जा-जानकर-विद्वान् तवं-तप चरे-आचरण करे।

मूलार्थ—भूमि, शाली, यव, हिरण्य और पशु आदि पदार्थों से परिपूर्ण यह सारी पृथिवी भी एक जीव की इच्छा को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हो सकती, इस प्रकार जान कर विद्वान् पुरुष तप का आचरण करे।

टीका—इस गाथा में भी पूर्वोक्त विषय का ही निर्वचन किया है। राजर्षि नमि कहते हैं कि संसार के पदार्थों में तृष्णा की पूर्ति करने की सामर्थ्य नहीं है। विपरीत इसके, ये तो तृष्णा को शमन करने के स्थान मे उसके वर्धक हैं। जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला, घृत डालने से शान्त होने की बजाय तीव्र होती है, उसी प्रकार संसार के पदार्थों से भी, घटने के स्थान में वह-तृष्णा-बढ़ती है। अत एव यदि किसी लोभी पुरुष को, धन धान्य, चान्दी सोना और हाथी घोड़े आदि से परिपूर्ण सारा भूमंडल भी दे दिया जावे तो भी उसकी तृष्णा शान्त होने की बजाय कुछ और अधिक प्राप्त करने के लिए दौड़ेगी अर्थात् इतनी कल्पनातीत और अमर्यादित सामग्री से भी तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती, इसलिए बुद्धिमान् विचारशील पुरुष को इन धन धान्यादि पदार्थों के संग्रह का व्यामोह छोड़ कर केवल तपोऽनुष्ठान की ओर ही प्रवृत्त होना चाहिए। आत्मा के साथ लिप्त हुआ तृष्णारूप मल, तप के बिना दूर नहीं हो सकता। जिस प्रकार सुवर्ण में रहे

हुए मल की शुद्धि अग्नि के द्वारा होती है उसी प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिए तपश्चर्या की आवश्यकता है। तृष्णारूप मल से दूषित हुआ आत्मा शांति से बहुत दूर रहता है। उसमें आकुलता अधिक रहती है। अतः आत्मा को शांति और निराकुलता प्राप्त करने के लिए सब से प्रथम तृष्णा को पृथक् करना चाहिए, परन्तु तृष्णा को क्षय करने के लिए सन्तोष (द्वादश विध बाह्याभ्यन्तर तप) ही समर्थ है। इस वास्ते सांसारिक पदार्थों के द्वारा कोशपूर्ति की कुत्सित अभिलाषा का त्याग करके तपोऽनुष्ठान में ही निरन्तर प्रवृत्त होना उचित है।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में 'पसुभिः' इस प्रकार का तृतीया विभक्ति का प्रयोग आर्ष होने से समझना। अन्यथा 'भिस्' विभक्ति स्थान में तो 'हिं हि' का आदेश होता है।

तथा 'विज्जा' के विदित्वा और विद्वान्, विद्वांसः, ये तीनों भी प्रतिरूप होते हैं इसलिए अर्थ ग्रहण में तीनों ही स्वीकृत हैं।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥५०॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षि, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥५०॥

मूलार्थ—इसके अनन्तर राजर्षि नमि के प्रति इन्द्र ने फिर कहा—

अच्छेरग मब्भुदए, भोए चयसि पत्थिवा ।
असन्ते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि ॥५१॥

आश्चर्य मद्भुतान्, भोगांस्त्यजासि पार्थिव ।
असतः कामान्प्रार्थयसे, संकल्पेन विहन्यसे ॥५१॥

पदार्थान्वयः—अच्छेरगं—आश्चर्य है अब्भुदए—अद्भुत भोए—भोगों को पत्थिवा—हे राजन्! चयसि—त्यागते हो असन्ते—असत् कामे—कामों की पत्थेसि—प्रार्थना करते हो संकप्पेण संकल्प से विहम्मसि—पीडित किए जाते हो।

मूलार्थ—हे पार्थिव ! आश्चर्य है कि आप—अद्भुत—प्राप्त हुए भोगों का परित्याग करते हो और असत्—अविद्यमान, अप्राप्त—काम भोगों की प्रार्थना करते हो। तथा संकल्प के द्वारा पीडित हो रहे हो।

टीका—राजर्षि नमि के, धन धान्यादि विषयिक अभिलाषा का त्याग और तप का अनुष्ठान आदि विचार को सुन कर इन्द्र ने उनसे जो प्रश्न किया है वह भी बड़ा विलक्षण है ! देवेन्द्र कहते हैं कि यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आप जैसे बुद्धिमान् राजा, अयत्न प्राप्त इन अद्भुत काम भोगों का परित्याग करके अविद्यमान और आयाससाध्य काम भोगों की अभिलाषा करें, तथा मानसिक संकल्प के द्वारा आत्मा को बाधित करें। उपस्थित का परित्याग करके अनुपस्थित की कल्पना कोई बुद्धिमत्ता नहीं, अतः इष्ट और स्वतः प्राप्त लौकिक काम भोगों की अवहेलना करके अदृष्ट अथ च अप्राप्त मोक्ष और स्वर्गादि सुख की अभिलाषा से नाना प्रकार के संकल्प विकल्पों द्वारा आत्मा को खेदित करना भी आप के लिए योग्य नहीं है। प्रथम तो अदृष्ट वस्तु की सत्ता ही प्रमाणबाधित है अर्थात् किसी प्रमाण के द्वारा उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती, कदाचित् हो भी जावे तो उसकी प्राप्ति में सन्देह है। फिर आप जैसे बुद्धिमान् पुरुष स्वतःसिद्ध और विना यत्न प्राप्त हुए इन काम भोगों का तो त्याग कर दें और असत् तथा अप्राप्त अदृष्ट काम भोगों की इच्छा करें, इससे अधिक आश्चर्य की और कौन बात हो सकती है ? इसलिए आपको उचित है कि कल्पित अथ च संदिग्ध पारलौकिक सुख की अभिलाषा के व्यामोह में पड़कर इन हस्तगत दिव्य काम भोगों का परित्याग न करें। यही आप के लिए हितकर मार्ग है। क्योंकि जो विचारशील पुरुष होते हैं वे कल्पनाप्रसूत अनागत सुखों की आशा से वर्तमान काल में प्राप्त हुए सुखों का तिरस्कार नहीं करते। इसीलिए अनेक विध उपदेशों के मिलने पर भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने अपने वर्तमान कालीन सुखों का परित्याग नहीं किया। तब, योग्य तो यही है कि आप भी इन उपलब्ध सुखों का परित्याग न करें।

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥५२॥

एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी रांजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥५२॥

मूलार्थ—इन्द्र के इस उक्त कथन को सुन कर राजर्षि नमि इस प्रकार बोले—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥५३॥

शल्यं कामा विषं कामाः, कामा आशीविषोपमाः ।
कामान्प्रार्थयमाना, अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥५३॥

पदार्थान्वय—सल्लं-शल्यरूप कामा-काम हैं विसं-विषरूप कामा-काम हैं कामा-काम आसीविसोवमा-सर्प के समान हैं कामे-कामों की पत्थेमाणा-प्रार्थना करते हुए अकामा-काम रहित भी दोग्गइं-दुर्गति को जन्ति-जाते हैं।

मूलार्थ—ये काम-भोग-शल्यरूप हैं, विषरूप हैं तथा सर्प के तुल्य हैं इन काम भोगों का सेवन नहीं करने वाले भी इनकी प्रार्थना से दुर्गति को जाते हैं।

टीका—राजर्षि नमि कहते हैं कि हे इन्द्र ! ये काम भोग शल्य के समान हैं अर्थात् जिस प्रकार शरीर के किसी अंग में प्रविष्ट हुआ शल्य-बाण के आगे का तीक्ष्ण अंश कांटा-मांस के साथ मिलकर सारे शरीर में तीव्र वेदना उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार कामभोगासक्त चित्त भी पुरुष को रात दिन शल्य की भांति पीडित करता है तथा ये काम भोग विष के तुल्य हैं। तात्पर्य कि जिस तरह मधुमिश्रित विष, खाने में मधुर और परिणाम में अतिदारुण दुःख देने वाला है उसी तरह ये काम भोग भी आदि में तो बड़े प्रिय लगते हैं और परिणाम में ये विष से भी अधिक भयंकर हैं। एवं, ये काम भोग, दृष्टिविष सर्प के समान अत्यन्त भयंकर हैं जैसे वह सर्प फण उठाकर नाचता हुआ तो प्रिय लगता है और स्पर्श होते ही-शरीर के किसी अंग को छूते ही-प्राणों को हरने वाला हो जाता है वैसे ही ये काम भोग भी देखने में तो अतिरमणीय प्रतीत होते हैं परन्तु इनका तनिक सा स्पर्श होते ही आत्मा का महान् अनर्थ हो जाता है।

इतना ही नहीं किन्तु जो जीव इन काम भोगों का केवल स्मरण मात्र या प्रार्थना मात्र भी करते हैं वे भी दुर्गति—नरक गति—में जाते हैं। अतः मुमुक्षु पुरुष को इन काम भोगों का सेवन तो क्या, स्मरण भी नहीं करना चाहिए। इसी में उनकी भलाई है। अतएव मेरे लिए ऐहिक और पारलौकिक, दोनों भी प्रकार के कामभोग, सर्वथा त्याज्य हैं। तात्पर्य कि मैं तो न इनका सेवन करता हूं और न ही अपने मन में इनका कभी संकल्प करता हूं। इसलिए कामभोग सम्बन्धी यह आपका प्रश्न सर्वथा अयुक्त है। तथा—

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
मायागई पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥५४॥

अधो व्रजन्ति क्रोधेन, मानेनाधमा गतिः।
मायया सुगतिप्रतिघातः, लोभाद् द्विधा भयम् ॥५४॥

पदार्थान्वयः—कोहेणं—क्रोध से अहे—नीचे—नरक गति में वयइ—जाता है माणेणं—मान से अहमा—अधम गई—गति होती है माया—माया से गईपडिग्घाओ—अच्छी गति का विनाश हो जाता है लोभाओ—लोभ से दुहओ—दोनों लोकों में भयं—भय होता है।

मूलार्थ—क्रोध से नरक गति में जाता है, मान से अधमगति होती है, माया से सुगति का विनाश, और लोभ से दोनों लोकों में भय होता है।

टीका—जहां पर काम भोगों का सेवन अथवा चिन्तन है वहां पर क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चारों कषायों का किसी न्यूनाधिक रूप मे उदय अवश्य रहता है। इनमे क्रोध तो जीव को नीची गति में ले जाता है, मान—गर्व, अहंकार—अधम गति मे धकेलता है, माया—छल कपट—से सद्गति का विनाश होता है और लोभ, इस लोक में तथा परलोक में भय को देने वाला है। इसलिए काम भोगों का सेवन और संकल्प दोनों ही महान् अनिष्ट के देने वाले हैं। संकल्प से ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। जब तक किसी विषय के प्रथम, चिन्तन न हो तब तक उसके लिए प्रयत्न नहीं किया जाता। अतः मन से वस्तु का ग्रहण अथवा त्याग ही, त्याग या

ग्रहण माना जाता है, इससे सिद्ध हुआ कि जिसका मन त्याग में प्रवृत्त नहीं वह पुरुष ऊपर से त्यागी होता हुआ भी वास्तव में त्यागी नहीं है।

'वत्थगंध मलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य। अच्छंदा जेन भुंजंति न से चाईति वुच्चइ'[1]॥ अर्थात् पदार्थों में जिसकी अभिलाषा विद्यमान है वह उनका उपभोग न करता हुआ भी उनका त्यागी नहीं है। अतः मानसिक त्याग ही सच्चा त्याग है। सो हे राजन्! मुझे तो ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार के काम भोगों की अभिलाषा नहीं है। इससे फिर दृष्ट भोगों का त्याग और अदृष्ट भोगों की प्रार्थना आदि का प्रश्न ही नहीं रहता।

इस प्रकार अनेकविध यत्न करने पर भी जब राजर्षि नमि ने अपने विचार का परित्याग नहीं किया तब इन्द्र ने कृत्रिम ब्राह्मण स्वरूप का त्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप में आकर ऋषि की भूरि २ प्रशंसा की। अब उसका वर्णन करते हैं।

अवउज्झिऊण माहणरूवं, विउव्विऊण इन्दत्तं।
वन्दइ अभित्थुणन्तो, इमाहि महुराहिं वग्गूहिं ॥५५॥

अपोह्य ब्राह्मणरूपं, विकृत्येन्द्रत्वम् ।
वन्दतेऽभिष्टुवन् , आभिर्मधुराभिर्वाग्भिः ॥५५॥

पदार्थान्वयः—अवउज्झिऊण—छोड़ कर माहणरूवं—ब्राह्मण रूप को विउव्विऊण—उत्तर वैक्रिय रूप इन्दत्तं—इन्द्र रूप को धारण करके वन्दइ—वन्दना करता है अभित्थुणन्तो—स्तुति करता हुआ इमाहि—इन महुराहिं—मधुर वग्गूहिं—वचनों से।

मूलार्थ—इसके अनन्तर, इन्द्र ब्राह्मण स्वरूप का त्याग करके और अपना यथार्थ इन्द्र स्वरूप बनाकर इन मधुर वचनों से स्तुति करता हुआ ऋषि को वन्दन करता है।

टीका—इस गाथा में धर्म पर दृढ़ रहने वाले आस्तिक पुरुषों को अन्त में देवता तक भी वन्दन करते हैं यह भाव ध्वनित किया गया है। जब देवेन्द्र किसी भी प्रकार से राजर्षि नमि को अपने विशुद्ध भावों से रत्ती भर भी इधर न

1 वस्त्रगन्धमलंकारं, स्त्रियः शयनानि च। अच्छन्दाः (परवशाः) ये न भुञ्जते, नते त्यागिन इत्युच्यते॥ (दशवै० अ० २ गा० २)

कर सका तब उसने उत्तर वैक्रिय रूप की लब्धि के द्वारा अपने नकली ब्राह्मण वेष का परित्याग करके असली इन्द्रस्वरूप को धारण कर लिया और आगे लिखे मधुर वचनों से स्तुति करते हुए ऋषि को वन्दन किया। यहां पर ब्राह्मण के अर्थ मे 'माहण' शब्द आर्षप्रयोग माना गया है अन्यथा प्राकृत मे तो ब्राह्मण का 'बंभण' यह प्रतिरूप माना है। इन्द्र ने जिन वचनों के द्वारा ऋषि का स्तवन किया अब उन्हीं वचनों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

अहो ते णिज्जिओ कोहो, अहो माणो पराजिओ।
अहो निरक्किया माया, अहो लोभो वसीकओ॥५६॥

अहो त्वया निर्जितः क्रोधः, अहो मानः पराजितः।
अहो निराकृता माया, अहो लोभो वशीकृतः॥५६॥

पदार्थान्वयः—अहो–विस्मय है ते–तुमने णिज्जिओ–जीत लिया है कोहो–क्रोध को अहो–आश्चर्य है माणो–गर्व को पराजिओ–पराजित कर दिया है! अहो–आश्चर्य है निरक्किया–जीत लिया है माया–छल कपट को अहो–आश्चर्य है लोभो–लोभ को वसीकओ–वश में कर लिया है।

मूलार्थ—हे ऋषे! आपने क्रोध को जीत लिया, अहंकार को पराजित कर दिया, छल कपट को दूर कर दिया और लोभ को अपने वश में कर लिया! यह बड़ा आश्चर्य है।

टीका—आत्मा के सब से अधिक और बलवान् शत्रु क्रोधादि कषाय हैं। ये प्रतिक्षण आत्मा को उन्मार्ग की तरफ़ ही ले जाने का प्रयत्न करते हैं, इनके वशीभूत हुआ आत्मा कभी सन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता, ये जितने दुष्ट हैं उतने ही बलवान् भी हैं। इनको जीतना कुछ सहज नहीं है! बड़े २ बलवान् और बुद्धिमान् पुरुष भी इनके सामने ठहर नहीं सकते। कोई विरला वीरात्मा ही इनको पराजित कर सकता है इसलिए इन दुर्जय कषायों पर जिस ने विजय प्राप्त कर ली वही सच्चा विजेता और वीर आत्मा है। वह मनुष्य और देवता सभी के लिए पूज्य और वन्दनीय है। राजर्षि नमि उन्हीं वीरात्माओं में से एक हैं जिन्हों ने कषायों पर विजय प्राप्त करके

अपनी लोकोत्तर वीरचर्या का परिचय दिए हैं। यही कारण है कि प्रथम देवलोक का इन्द्र उनके चरणों में झुकता हुआ उनकी मुक्त कंठ से स्तुति करता है। कषायों की दुर्जयता का ख्याल करता हुआ उनके विजेता नमिऋषि को इन्द्र कहता है कि हे ऋषे! आप धन्य हैं क्योंकि आप ने क्रोध, मान, माया और लोभ इन दुर्जय कषायों को सर्व प्रकार से जीत लिया है। सर्व प्रकार से अपने वश में कर लिया है! इस लिए आप सर्ववन्द्य और सर्वपूज्य हैं। (यह सब गाथा मे अनेक वार आये हुए 'अहो' से ध्वनित होता है) इसके अतिरिक्त इन्द्र ने राजर्षि नमि से जितने भी प्रश्न किए हैं उन सब मे इन्हीं कषायों की भावना ओत प्रोत है क्योंकि संसार की छोटी बड़ी, उत्तम अधम जितनी भी सकाम प्रवृत्तियें हैं उन सब का कारण अथवा मूल स्रोत ये कषाय ही हैं। कषाय के वशवर्ती दुर्बल आत्मा पर संसार की विभूतियों का प्रभाव बहुत जल्दी होता है। अतएव कहीं न कहीं पर वह इनके सबलचुंगुल में ज़रूर फॅस जाता है। इन्द्र ने भी इसी धारणा से महर्षि नमि के आत्मा को टटोलने का प्रयत्न किया था परन्तु इन्द्र का वह सब प्रयास विफल हुआ। उसको महात्मा नमि के आत्मा में किसी प्रकार की भी कमज़ोरी नज़र न आई। उसने नमि के आत्मा को अग्नि द्वारा परीक्षण किए गये शुद्ध सुवर्ण की भांति सर्वथा निर्मल और देदीप्यमान पाया। इसीलिए इन्द्र की हर प्रकार की परीक्षा कसौटी पर वे सर्वथा पूरे उतरे। तब इन्द्र ने, उनके प्रति उसका जो कर्तव्य था उसका पालन करते हुए उनके चरणों को वन्दन किया।

अब निम्नलिखित गाथा मे फिर इसी विषय को कहते हैं—

अहो ते अज्जवं साहु, अहो ते साहु मद्दवं।
अहो ते उत्तमा खन्ती, अहो ते मुत्ति उत्तमा॥५७॥

अहो ते आर्जवं साधु, अहो ते साधु मार्दवम्।
अहो तवोत्तमा क्षान्तिः, अहो ते मुक्तिरुत्तमा॥५७॥

पदार्थान्वयः—अहो—आश्चर्य है ते—आपकी अज्जवं—सरलता साहु—श्रेष्ठ है अहोते—आपका मद्दवं—मृदुभाव—कोमलता साहु—सुन्दर है अहो—ते—खन्ती—आपकी क्षमा उत्तमा—उत्तम है अहो—ते—आपका मुत्ति—निर्लोभता उत्तमा—उत्तम है।

मूलार्थ—हे ऋषे ! आपकी सरलता, कोमलता, क्षमा और निर्लोभता—सर्वप्रकार से—श्रेष्ठ, सुन्दर और उत्तम हैं। यह बड़े आश्चर्य और हर्ष की बात है।

टीका—जिस प्रकार क्रोधादि चारों दुर्गुण इस आत्मा के निकटवर्ती बलवान् शत्रु हैं, उसी प्रकार आर्जवादि सद्गुण इस आत्मा के—अत्यन्त हितकारी—मित्र हैं ! इनके सहचार में आने से यह आत्मा कभी कुमार्ग में प्रवृत्त नहीं होता, तथा उक्तदुर्गुणों के सम्पर्क से उन्मार्ग में प्रवृत्त हुए आत्मा को सन्मार्ग में लाने वाले यही सद्गुण हैं, एवं क्रोधादि दुर्गुणों के जघन्य सहवास से इस आत्मा को मुक्त कराने वाले अर्थात् उक्त दुर्गुणों पर विजय दिलाने वाले भी यही हैं। अतएव इनका सहचार भी अत्यन्त दुर्लभ है। ये स्वार्थरहित सच्चे मित्र किसी पुण्यशाली जीव को ही प्राप्त होते हैं। आपको ये सब प्राप्त हैं इसलिए आप सबसे अधिक पुण्यवान् हैं अतएव वन्दनीय हैं। यहां पर इतना स्मरण रहे कि इन्द्र के द्वारा की जाने वाली राजर्षि नमि के उक्त आर्जवादि सद्गुणों की प्रशंसा, कुछ तात्पर्य रखती है। क्योंकि वे—इन्द्र—हर प्रकार से परीक्षा करने के बाद उनकी श्लाघा में प्रवृत्त हुए हैं अतएव उसका निर्वचन अधिक विश्वसनीय है। यह एक स्वाभाविक सी बात है कि प्रतिवादी के प्रश्नों में कभी २ कठोरता या धृष्टता की मात्रा रहती है (जैसे कि इन्द्र के प्रश्नों में भी कुछ २ दृष्टिगोचर होती है) परन्तु उत्तर दाता ने अपनी भाषासमिति और धैर्यपुरस्सर आत्मसंयम का कहां तक परिचय दिया है, इन सब बातों का परिचय उसके उत्तर से भली भांति मिल सकता है। बस, इसी तत्त्व को इन्द्र ने राजर्षि नमि के उत्तर सन्दर्भ में देखा, इसने उनके प्रति जितने भी प्रश्न किए उन सबका उत्तर देते हुए उन्होंने अपने स्वभावसिद्ध सरलता, कोमलता, क्षमा और निर्लोभता आदि सद्गुणों से विशिष्ट परिचय देने में किसी प्रकार की भी कमी नहीं रक्खी ! इसी कारण से मुग्ध हुआ इन्द्र कहता है कि हे ऋषे ! आपकी सरलता, कोमलता, क्षमायुक्तता और निर्लोभता निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ, सर्वसुन्दर और सर्वोत्तम है। क्योंकि मेरे प्रश्नों का उत्तर देते समय आप में अणुमात्र भी विकृति नहीं आई ! तात्पर्य कि मेरे औद्धत्यपूर्ण वचनों के उत्तर में भी आपने अपनी सहृदयता,

१ आश्चर्य इसलिए कि इन सद्गुणों का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है और हर्ष इसलिए कि आप में ये सब सद्गुण विद्यमान हैं।

सहनशीलता आदि सद्गुण परम्परा को लेशमात्र भी उल्लंघन नहीं किया जो कि सर्वसाधारण के लिए प्रायः अनिवार्य सा है। तथा उक्त गाथा में आए हुए 'अहो' और 'साधु' यह दोनों अव्यय हैं और क्रमशः आश्चर्य तथा सुन्दरता के वाचक हैं।

अब फल द्वारा स्तुति विषय में कहते हैं—

इहं सि उत्तमो भन्ते, पच्छा होहिसि उत्तमो।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥५८॥

इहास्युत्तमो भगवन्, पश्चाद् भविष्यस्युत्तमः।
लोकोत्तमोत्तमं स्थानं, सिद्धिं गच्छसि नीरजाः ॥५८॥

पदार्थान्वयः—भन्ते-हे भगवन्! इहं-इस जन्म में उत्तमो-(आप) उत्तम सि-हैं पच्छा-परलोक में उत्तमो-उत्तम होहिसि-होंगे लोगुत्तं-लोकोत्तर जो उत्तमं-उत्तम ठाणं-स्थान हैं सिद्धिं-(उस) सिद्धि को नीरओ-कर्म रज से रहित होकर गच्छसि-जाओगे।

मूलार्थ—हे भगवन्! आप इस लोक में उत्तम हैं परलोक में भी उत्तम होंगे, तथा कर्म रज से रहित होकर लोक में परम उत्तम जो मोक्ष स्थान है, उसको प्राप्त होंगे।

टीका—यद्यपि छद्मस्थ के लिए निश्चय रूप से यह कहना कठिन है कि यह जीव मोक्ष में जायगा अथवा नहीं जायगा परन्तु जीव के परिणामों का विचार करता हुआ उसके मोक्ष में जाने या न जाने का वह अनुमान अवश्य कर सकता है। इन्द्र ने भी इसी आशय से राजर्षि नमि के मोक्ष जाने की बात कही है अर्थात् ऋषि की विशुद्ध उत्कट परिणाम धारा से उनके मोक्षगमन का निश्चय करके ही इन्द्र ने ऐसा कहा है जो कि उचित ही है। तथा 'लोगुत्तमुत्तमं' इस सूत्र में मकार प्राकृत नियम से आया हुआ है। एवं भविष्य अर्थ में 'गच्छसि' यह वर्तमान काल का प्रयोग भी 'व्यत्ययश्च' इस प्राकृत नियम का ही आभारी है। और 'भन्ते' का 'भदन्त'-(हे पूज्य!) प्रतिरूप है।

अब स्तुति के विषय में उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एवं अभित्थुणन्तो, रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए ।
पयाहिणं करेन्तो, पुणो पुणो वन्दई सक्को ॥५९॥

एवमभिष्टुवन् , राजर्षिमुत्तमया श्रद्धया ।
प्रदक्षिणां कुर्वन्, पुनःपुनर्वन्दते शक्रः ॥५९॥

पदार्थान्वयः—एवं–इस प्रकार अभित्थुणन्तो–स्तुति करता हुआ रायरिसिं–राजर्षि की उत्तमाए–उत्तम सद्धाए–श्रद्धा से पयाहिणं–प्रदक्षिणा करेन्तो–करता हुआ सक्को–इन्द्र पुणोपुणो–वार २ वन्दई–वन्दन करता है ।

मूलार्थ—इस प्रकार उत्तम श्रद्धा से राजर्षि की स्तुति और प्रदक्षिणा करता हुआ इन्द्र उनको वार २ वन्दन करता है ।

टीका—गुणों के द्वारा मनुष्य, सर्वत्र और सबका पूज्य बन जाता है । सद्गुणी पुरुषों का साधारण मनुष्य तो क्या, देवता तक भी आदर करते हैं । वास्तव में होना भी ऐसा ही चाहिए क्योंकि गुणानुराग, मनुष्योचित गुणों मे से एक विशिष्टगुण है, जो व्यक्ति गुणानुरागी नहीं, वह मनुष्यत्व के आदर्श से बहुत दूर है, इसलिए विना किसी पक्षपात के गुणवानों की प्रशंसा करना, उनका आदर सत्कार करना, उनकी यथाशक्ति सेवा भक्ति करना और उनके प्रति निर्मल श्रद्धाभाव का प्रदर्शित करना गुणानुरागी पुरुष का सबसे पहला कर्तव्य है । इसी भाव से प्रेरित होकर, इन्द्र ने राजर्षि नमि को वार २ वन्दन किया और स्तुति, तथा प्रदक्षिणा के द्वारा अपनी असीमश्रद्धा भक्ति का विशिष्ट परिचय दिया । यह इस गाथा का फलितार्थ है ।

तो वन्दिऊण पाए, चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स ।
आगासेणुप्पइओ , ललियचवलकुंडलतिरीडी ॥६०॥

ततो वन्दित्वा पादौ, चक्रांकुशलक्षणौ मुनिवरस्य ।
आकाशेनोत्पतितः , ललितचपलकुण्डलकिरीटी ॥६०॥

पदार्थान्वयः—तो–तदनन्तर मुणिवरस्स–मुनिवरके चक्कंकुसलक्खणे–चक्र

और अंकुश के चिह्न वाले पाए-दोनों चरणों को वन्दिऊण-वंदन करके ललिय-चविल-सुन्दर चवल-चंचल कुंडल-कुंडल तिरीडी-मुकुट वाला आगासेणुप्पइओ-आकाश में चला गया।

मूलार्थ—तदनन्तर, चक्र और अंकुश के चिह्नों से युक्त, मुनिवर के दोनों चरणों को वन्दन करके, अतिचंचल सुन्दर कुंडल और मुकुट को धारण किए हुए इन्द्र आकाशमार्ग से-अपने देवलोक को-चला गया।

टीका—जो महापुरुष होते हैं उनके चरणों के तले ध्वज, अंकुश, पद्म और चक्र आदि के अन्यतम चिह्न होते हैं तथा इन उत्तम लक्षणों-चिह्नों-वाले महापुरुषों की सेवा भक्ति भी उच्चकोटि के भव्य जीवों को ही प्राप्त होती है, इसी लिए प्रसन्न हुए इन्द्र ने राजर्षि नमि को श्रद्धापूर्वक वन्दन-नमस्कार-करके आनन्द पूर्वक अपने देवलोक को प्रस्थान किया। इन्द्र की प्रसन्नता के सूचक उनके अतिरमणीय चंचल-स्वर्ण कुंडल हैं। कुण्डल और मुकुट इन्द्र के चिह्न भी हैं।

इन्द्र के देवलोक में चले जाने के बाद, राजर्षि ने जो कुछ किया अब इसी विषय में कहते हैं—

नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ।
चइऊण गेहं च वेदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥६१॥

नमिर्नमयत्यात्मानं, साक्षाच्छक्रेण चोदितः।
त्यक्त्वा गृहं च वैदेही, श्रामण्ये पर्युपस्थितः ॥६१॥

पदार्थान्वयः—नमी-राजर्षि नमि अप्पाणं-आत्मा को नमेइ-नमाता है सक्खं-साक्षात् सक्केण-इन्द्र के द्वारा चोइओ-प्रेरित हुआ गेहं-घर च-और वेदेही-विदेह देश को चइऊण-छोड़कर सामण्णे-श्रमण भाव को पज्जुवट्ठिओ-प्राप्त हो गया।

मूलार्थ—तदनन्तर साक्षात् इन्द्र के द्वारा प्रेरित अर्थात् नमस्कृत होते हुए भी राजर्षि नमि अपने आत्मा को नमाते हुए अर्थात् विनम्र करते हुए, घर और विदेह देश के राज्य को छोड़ कर संयम में प्रतिष्ठित होते हैं अर्थात् संयम में दीक्षित होते हैं।

टीका—सच्चे महात्मापुरुष किसी बड़े पुरुष की वन्दन स्तुति से अभिमान में आने की बजाय और भी विनम्र हो जाते हैं ! यही उनके आत्मिक गुणों के उत्तरोत्तर विकास का हेतु है इसी कारण से देवराज की स्तुति प्रार्थना से अपने आत्मा में किसी प्रकार का भी अभिमान न लाते हुए राजर्षि नमि ने आत्मा को पहले से भी अधिक विनम्र कर दिया । तथा अपने राज्यवैभव का परित्याग करके वे संयमव्रत में दीक्षित हो गए ! यह सत्पुरुषों की अन्तरंग विशुद्धि परिणाम का निर्मल आदर्श है । क्या, इस प्रकार से राजर्षि नमि ने ही किया है अथवा और भी कोई इस प्रकार से अपने आत्मा को संयम में आरूढ करने का प्रयत्न करते हैं ।

अब इस विषय का उल्लेख किया जाता है —

एवं करेन्ति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसि ॥६२॥
त्ति बेमि ।

इति नमिपव्वज्जा नाम नवमं अज्झयणं समत्तं ॥९॥

एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स नमी राजर्षिः ॥६२॥
इति ब्रवीमि ।

इति नमिप्रव्रज्या नाम नवममध्ययनं समाप्तम् ।

पदार्थान्वयः—एवं–इसी प्रकार संबुद्धा–तत्त्ववेत्ता करेन्ति–करते हैं पंडिया–पंडित और पवियक्खणा–विचक्षण भोगेसु–भोगों से विणियट्टन्ति–निवृत्त होते हैं जहा–जैसे से–वह नमीरायरिसि–नमिराजर्षि त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—इसी प्रकार से अन्य तत्त्ववेत्ता, विचारशील पंडित लोग भी भोगों से निवृत्त होकर दीक्षाग्रहण करते हुए परमनिर्वाणपद को प्राप्त करते हैं जिस प्रकार कि राजर्षि नमि ने किया है । ऐसे मैं कहता हूं ।

टीका—तत्त्वों का यथार्थ रूप से ज्ञान प्राप्त करने वाले को तत्त्ववेत्ता और आत्मानात्म पदार्थ का यथार्थ निर्णय करने वाले को प्रकृत में विचक्षण कहते हैं। एवं सदसद् वस्तु के विवेकी का नाम पंडित है। कुशलकर्म, अथ च मोक्षमार्ग के साधनों में सभी विचारशील पुरुषों का समानमत होता है, और समान ही प्रवृत्ति होती है। अतः निवृत्तिप्रधान संयम मार्ग में प्रवृत्त होने के लिए विषयभोगों का त्याग और धार्मिक क्रियाओं के यथाविधि अनुष्ठान में वे पूर्ण दृढ़ता से प्रवृत्त होते हैं। उनकी इस दृढ प्रवृत्ति को सामान्य पुरुष तो क्या, देवता तक भी शिथिल नहीं कर सकते। जैसे कि राजर्षि नमि को अपने धार्मिक विश्वास से गिराने के लिए अनेक विध प्रयत्न करने पर भी इन्द्र निष्फल ही रहा। तथा उक्त ऋषि अपने निश्चय में पूर्ण दृढ़ रहे। इसलिए जो पुरुष, संयम ग्रहण करने के बाद अपने आध्यात्मिक विचारों को पूर्ण रूप से पुष्ट करते हुए तदनुकूल आचरण करने में निःशंक और निर्भय होते हैं, उनको निर्वाण पद की प्राप्ति अवश्यंभावी होती है। यह इस गाथा का फलितार्थ है। इस प्रकार श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं, इत्यादि सब पूर्ववत् समझ लेना।

नवमाध्ययन समाप्त।

अह दुमपत्तयं दसमं अज्झयणं

अथ द्रुमपत्रकं दशममध्ययनम्

नवमे अध्ययन में चारित्रनिष्ठा का वर्णन किया गया है परन्तु चारित्र में दृढ़ता का होना अधिकतया गुरुजनों की शिक्षा पर ही निर्भर है, इसलिए दसवें अध्ययन में गुरुजनों के द्वारा प्राप्त होने वाली उन शिक्षाओं का वर्णन किया जाता है। यद्यपि यहां पर गुरुजनों के भी परमगुरु वीतराग भगवान् वर्धमान स्वामी ने इन अनन्तरोक्त शिक्षाओं का उपदेश अपने मुख्य शिष्य गौतम स्वामी को किया है तथापि उपलक्षणतया यह सभी को उपादेय है, अर्थात् श्री गौतम स्वामी को मुख्य रखकर यह उपदेश सभी को दिया है। इस अध्ययन का नाम द्रुमपत्रक अध्ययन है और इसकी यह प्रथम गाथा है—

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥१॥

द्रुमपत्रकं पाण्डुरकं यथा, निपतति रात्रिगणानामत्यये।
एवं मनुष्याणां जीवितं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१॥

पदार्थान्वयः—दुमपत्तए–वृक्षपत्र जहा–जैसे पंडुयए–पीला निवडइ–गिर जाता है राइगणाण–रात्रि के गण अच्चए–अतिक्रम होने पर एवं–इसी प्रकार

मणुयाण–मनुष्यों का जीवियं–जीवन है गोयम–हे गौतम समयं–समय मात्र भी मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—जैसे रात्रि और दिवसों के अतिक्रम होने पर वृक्ष का पत्र पीला होकर गिर पड़ता है इसी प्रकार का मनुष्यों का जीवन भी है। इसलिए हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा में भगवान् गौतमस्वामि को सम्बोधन करके साधुजनोचित कर्तव्य मे पूर्णतया सावधान रहने का उपदेश करते हैं। इस परिणामशील संसार में समय अपना काम बराबर करता रहता है। पदार्थों की परिणति प्रवाह का चक्र निरन्तर घूम रहा है, समय जाते कुछ पता नहीं लगता, जो कल बालक था वह आज युवा दिखाई देता है और जो जवान था वह बूढ़ा हो गया। कल जो पत्र वृक्ष के साथ लगे हुए उसकी शोभा को बढ़ा रहे थे आज वे उससे गिरकर भूमितल में पैरों से मसले जा रहे हैं। यह दशा संसार के प्रत्येक पदार्थ की है। इसकी कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। इस बात का विचार करके मनुष्य को अपने स्वल्प जीवन में कर्तव्य कार्यों में यत्किंचित् भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। यही इस गाथा मे उपदिष्ट वस्तु का सार है। जिस प्रकार वृक्ष में लगा हुआ पत्ता कुछ समय के बाद अपनी हरयाई का त्याग करके सफ़ेद और पीला होता हुआ एक दिन वृक्ष से सदा के लिए अलग हो जाता है, उसी प्रकार यह जीव भी अपनी न्यूनाधिक भवस्थिति–आयुर्मर्यादा–को पूरी करके इस वर्तमान पर्याय–शरीर–का सदा के लिए त्याग करने में विवश हो जाता है तथा जिस प्रकार वृक्ष में लगा हुआ पत्ता वायु के प्रबल झोंके से एक क्षण भर मे वृक्ष से पृथक् होकर भूमि मे गिर पड़ता है, उसी तरह इस मनुष्य शरीर का भी किसी प्रबल रोग के आक्रमण से पतन होते देरी नहीं लगती। तात्पर्य कि जीवितव्य बहुत चंचल एवं अस्थायी है। पता नहीं कि यह किस वक्त जवाब दे दे अतः विचारशील पुरुषों को अपने साधुजनोचित धार्मिक कृत्यों में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए, जो प्रमादी जीव हैं वे समय का दुरुपयोग करने से अन्त में बहुत पश्चात्ताप करते हैं परन्तु समय के अतिक्रमण के बाद का पश्चात्ताप निरर्थक है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि, हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद मत कर। अत्यन्त सूक्ष्मकाल को समय कहते हैं।

अब सूत्रकार आयु की अस्थिरता के विषय में कहते हैं—

कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवंचिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ॥२॥

कुशाग्रे यथावश्यायबिन्दुः, स्तोकंतिष्ठतिलम्बमानकः ।
एवंमनुजानां जीवितं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२॥

पदार्थान्वयः—कुसग्गे-कुशा के अग्रभाग पर जह-जैसे ओसबिंदुए-ओस के बिन्दु थोवं-थोड़े काल चिट्ठइ-ठहरता है लंबमाणए-सुन्दरता धारण करता हुआ एवं-इसी प्रकार मणुयाणजीवियं-मनुष्यों का जीवन है गोयम-हे गौतम ! समयं-समय मात्र भी मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! जैसे कुशा के अग्रभाग पर ओसका बिन्दु अपनी शोभा को धारण किए हुए थोड़े काल पर्यन्त ठहरता है, इसी प्रकार मनुष्यों का जीवन है। इसलिए हे गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् महावीर स्वामी ने यौवन अवस्था की अनित्यता को बतलाते हुए गौतम से कहा है कि कुशा के अग्रभाग पर लटकता हुआ ओस का बिन्दु जैसे थोड़े ही काल तक ठहरता है, उसी प्रकार मनुष्यों का यह स्वल्पकालस्थायी जीवन भी है। इसलिए धर्म कृत्य के अनुष्ठान में समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। इस गाथा में ओस बिन्दु के समान मनुष्य की युवावस्था और कुशा के समान शरीर को बतलाया है। जैसे कुशा के अग्रभाग पर टिका हुआ ओसका बिन्दु उज्ज्वल मोती की सी शोभा को धारण किए हुए होता है, उसी प्रकार इस शरीर पर जब यौवन का चक्र आता है तब इसका सौन्दर्य भी अपूर्व ही दिखाई देता है परन्तु जैसे ओस के बिन्दु की स्थिति बहुत स्वल्प काल की होती है, उसी प्रकार यह यौवन भी सर्वथा अचिरस्थायी है। जिस प्रकार ओस के बिन्दु का सौन्दर्य उसके पतन के साथ ही विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्यजीवन के साथ ही इस सौन्दर्य का भी अन्त हो जाता है। जब कि कुशाग्रलग्न जलबिन्दु के समान क्षणमात्रस्थायी यह मनुष्यजीवन है, तब तो बुद्धिमान् पुरुष को धर्मानुष्ठान में क्षणमात्र भी प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए, यह इस गाथा का भावार्थ है। यहां पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् ने गौतम को लक्ष्य में रख कर यह उपदेश

हर प्राणिमात्र को दिया है, अतः, प्रत्येक विचारशील पुरुष को यह उपादेय है।

अब इसी विषय को दृढ़ करने के लिए फिर कहते हैं—

इइ इत्तरियंमि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम मा पमायए ॥३॥

इतीत्वर आयुषि, जीवितके बहुप्रत्यपायके।
विधुनीहि रजः पुराकृतं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३॥

पदार्थान्वयः—इइ-इस प्रकार इत्तरियंमि-थोड़ी आउए-आयु में तथा जीवियए-जीवन में बहु-बहुत पच्चवायए-जिसमें विघ्न हैं रयं-कर्मरज पुरेकडं-पहले संचित की हुई को विहुणाहि-दूर कर समयं-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम! मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—इस प्रकार इस स्वल्पस्थिति वाले जीवन में-जिसमें कि विघ्न भी बहुत हैं-पूर्व काल में संचित की हुई कर्मरज को दूर कर। और इस काम में समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—जीवों की आयु दो प्रकार की है, एक निरुपक्रम, दूसरी सोपक्रम। जो किसी बाहर के निमित्त से न टूटे किन्तु अपनी नियतमर्यादा को पूर्ण करके समाप्त हो वह निरुपक्रम आयु है, तथा जो किसी बाह्य निमित्त के मिलने से अपनी नियतमर्यादा को पूर्ण किए विना बीच में ही टूट जावे, उसे व्यवहार-नय की अपेक्षा से सोपक्रम आयु कहते हैं। संसार में निरुपक्रम आयु वाले जीव तो बहुत ही स्वल्प हैं, विशेष संख्या तो सोपक्रमी जीवों की ही है। अतः, इस सोपक्रम आयु वाले जीवों को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! आयु बहुत अल्प है, और उसमें भी अनेक प्रकार के विघ्न हैं अर्थात् आयु को बीच में ही तोड़ देने वाले, अनेकविध आतंक (भयानक रोग), शस्त्र, जल, अग्नि, विष, भय और शोक आदि अनेक विघ्न विद्यमान हैं। पता नहीं कि किस समय इन उपद्रवों के द्वारा इस जीवन का अन्त हो जावे। इसलिए पूर्व जन्मों की अर्जित की हुई कर्मरज को तू इस जीवन में अपने आत्मा से पृथक् कर दे, और इस काम में समय मात्र भी प्रमाद न कर। यही इसके दूर करने का उपाय है। यद्यपि गौतम स्वामी सोपक्रम

आयु वाले प्रतीत नहीं होते, तथापि यह उपदेश अन्य साधारण जीव समुदाय को उद्देश में रखकर किया गया है। गौतम स्वामी को तो भगवान् ने केवल निमित्त मात्र रक्खा है। इसलिए संसार के सभी भव्य जीवों को उनका उपदेश है कि इस विघ्नयुक्त स्वल्प जीवन में बुद्धिमान् पुरुष को समय मात्र भी प्रमाद न करना चाहिए, तभी यह आत्मा परमश्रेय को प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

यदि कोई पुरुष यह कहे कि हम फिर मनुष्य बन कर धर्म का उपार्जन कर लेंगे, इस पर शास्त्रकार अब मनुष्य जन्म की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम मा पमायए ॥४॥

दुर्लभः खलु मानुषो भवः, चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम्।
गाढाश्च विपाककर्मणां, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥४॥

पदार्थान्वयः—दुल्लहे–दुर्लभ है–खलु–विशेषरूप से माणुसे–मनुष्य भवे–जन्म चिरकालेण–चिरकाल से वि–भी सव्व–सब पाणिणं–प्राणियों को य–और गाढा–अति कठिन है विवाग–विपाक कम्मुणो–कर्म का; अतः गोयम–हे गौतम समयं–समय मात्र भी मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—निश्चय ही मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है और चिरकाल से प्राणियों का कर्मविपाक प्रगाढ है। अतः, हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते हैं कि जिन आत्माओं ने सुकृत का उपार्जन नहीं किया उनको मनुष्य जन्म का प्राप्त होना बहुत कठिन है। इसका चिरकाल में भी मिलना कठिन है। यह कथन एक जीव की अपेक्षा से नहीं, किन्तु सभी जीवों को मनुष्य जन्म की प्राप्ति दुर्लभ है। क्योंकि कर्मों का विपाक–उदय–इतना प्रगाढ है कि मनुष्यगति की प्राप्ति में वह विशेष रूप से प्रतिबन्धक हो जाता है, अर्थात् मनुष्यगति की प्राप्ति में विघ्न करने वाली कर्मप्रकृतियों का इस प्रकार का उदय होता है कि सहज में उसका दूर करना बहुत ही कठिन है। तात्पर्य कि तीव्रकषाय के उदय से कर्मप्रकृतियों का बन्धन अति निबिड–कठोर–हो जाता है, अतः, सब जीवों

को मनुष्यजन्म का मिलना अत्यन्त कठिन है, परन्तु किसी पुण्यविशेष के उदय से यह—मनुष्य जन्म—मिल गया है। इसलिए इसको प्राप्त करके समयमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि मनुष्यजन्म का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। यदि यह मिल गया तो इसको सफल करने के लिए अहर्निश धर्मकृत्यों के आचरण में तत्पर रहना चाहिए और समयमात्र भी प्रमाद में न खोना चाहिए।

अब, मनुष्य जन्म क्यों दुर्लभ है, इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रथम सब जीवों की कायस्थिति का वर्णन करते हैं।

पुढविक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम मा पमायए ॥५॥

पृथिवीकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥५॥

पदार्थान्वयः—पुढविकायं—पृथिवीकाय को अइगओ—बार बार प्राप्त हुआ उक्कोसं—उत्कृष्टता से जीवो—जीव उ—तो संवसे—रहते हैं संखाईयं—संख्यातीत कालं—काल तक; समयं—समय मात्र भी गोयम—हे गौतम! मापमायए—प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—पृथिवीकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्ट भाव से संख्यातीत अर्थात् असंख्यातकाल पर्यन्त रहता है, अतः, हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा में पृथिवी के जीव की कायस्थिति का वर्णन किया गया है। कल्पना करो कि कोई जीव मर कर पृथिवीकाय में चला गया और फिर वह मरकर उसी—पृथिवी-काय में जन्म मरण करने लग जावे अर्थात् पृथिवी का जीव मरकर पृथिवी में ही उत्पन्न होता रहे, इस क्रम से उसकी उत्कृष्ट स्थिति असंख्यातकाल पर्यन्त रहती है। तात्पर्य कि यावन्मात्र असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के समय हैं तावत्कालपर्यन्त जीव पृथिवी रूप में रह सकता है! मट्टी की जाति का नाम पृथिवीकाय है। तात्पर्य कि पृथिवी ही जिस जीव का काय—शरीर—है उनको पृथिवीकाय कहते हैं। अतः उत्कृष्ट दशा में यह जीव असंख्यात-काल तक पृथिवी में जन्म मरण कर सकता है। ऐसी अवस्था में गया हुआ जीव

संसार के आवागमन चक्र में फंस जाता है और वहां से उसका निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसलिए मनुष्यजन्म प्राप्त किए हुए प्राणियों को समयमात्र भी धर्मकृत्यों में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

अब अप्काय–जलकाय–की स्थिति का वर्णन करते हैं—

आउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम मा पमायए॥६॥

अप्कायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तुसंवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम मा प्रमादीः॥६॥

पदार्थान्वयः—आउक्कायं–जलकाय में अइगओ–गया हुआ उक्कोसं–उत्कृष्टता से जीवो–जीव संवसे–रहे तो संखाईयं–संख्यातीत कालं–कालपर्यन्त रहता है उ–(वितर्क में) गोयम–हे गौतम! समयं–समय मात्र भी मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—अप्काय में गया हुआ जीव उत्कृष्टता से वहां रहे तो असंख्यातकालपर्यन्त रह सकता है। इसलिए हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा में यह भाव दिखलाया गया है कि यदि आत्मा जलकाय में चला गया और उसी में जन्म मरण करने लग गया तो उत्कृष्टता से असंख्यातकाल तक उसी काय में रह सकता है। तथा उक्त गाथा में आए हुए संख्यातीत शब्द का असंख्यातकालपर्यन्त अर्थ होता है तात्पर्य कि जो संख्या से रहित है वह असंख्य वा अनन्त ही होता है। परंतु यहां पर संख्या से रहित का अर्थ असंख्यात ही लिया गया है। पन्नवणासूत्र के अठारवें पद में लिखा है कि—'पुढवि काइए काल उ केव चिर होइ गोयम! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं–असंखेज्जं कालं असं खेज्जाओ उसप्पिणी ओ काल ओ खेत्तओ असंखेज्जा लोगा एवं आउ ते उवाउ काइयावि' अर्थात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि हे भगवन् पृथिवीकाय में अप्काय में तेज और वायुकाय में कब तक जीव रह सकता है? भगवान् उत्तर में कहते हैं कि हे गौतम! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यातकालप्रमाण, अर्थात् काल से असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणीओं के समय प्रमाण और क्षेत्र से यावन्मात्र असंख्यात लोक के आकाश प्रदेश हैं तावन्मात्र उक्त चारों

स्थावरों में जीव रह सकता है। अतएव यदि जीव अप्काय में चला गया और उसी में जन्म मरण करने लग गया तो असंख्यातकालपर्यन्त उसी में जन्म मरण करता रहता है, इसलिए इस मनुष्य जन्म को प्राप्त करके धर्माचरण के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए और समयमात्र भी प्रमाद करना योग्य नहीं है।

अब तेजस्काय की स्थिति का वर्णन करते हैं—

तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम मा पमायए ॥७॥

तेजस्कायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥७॥

पदार्थान्वयः—तेउक्कायं-तेजस्काय में अइगओ-प्राप्त हुआ उक्कोसं-उत्कृष्टता से उ-तो जीवो-जीव संवसे-रहता है संखाईयं-संख्यातीत कालं-काल तक; समयं-समयमात्र भी गोयम-हे गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—तेजस्काय में जन्म मरण को प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से वहां रहे तो असंख्यातकाल तक रहता है अतः, हे गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—यदि कोई जीव अशुभकर्म के प्रभाव से अग्निकाय में चला जाय और उसी काय में जन्म मरण करने लग जाय तो उत्कृष्टता से असंख्यातकाल तक उसी में जन्म मरण करता है। अतः, हे गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत कर। तात्पर्य कि यह असंख्यातकाल भी असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के तुल्य है तथा असंख्यातकाल चक्रों के समयों के प्रमाण में है। अतः, धर्मकार्यों में विलम्ब न करना चाहिए। एवं तेजस्काय में दाहकत्वशक्ति गुण होने से जीवत्व-जीवपन-भी प्रमाणसिद्ध है। यदि उसमें जीवत्व न होवे तो दाहकता भी न होवेगी और दाहकत्वगुण से ही तेजस्कायरूपता की स्थिति है, यह तेजस्काय असंख्यात जीवों का पिण्डरूप-समूहरूप-होता है सूक्ष्म और बादर तेजस्काय की जो असंख्यातकाल की स्थिति वर्णन की गई है उसमें बादर तेजस्काय तो केवल अढ़ाई द्वीप प्रमाण में ही होता है और सूक्ष्म तेजस्काय सारे लोक में व्याप्त हो रहा है।

इस गाथा में 'सुप्' का व्यत्यय प्राकृत के नियम से हो रहा है। 'उक्कोसं'—उत्कर्षतः—पद तसूप्रत्ययान्त है। 'अति' अव्यय अतिशय अर्थ का बोधक है जिसका भाव, उसी काय मे जन्म मरण की परम्परा है। 'तु' शब्द पादपूर्ति के लिए है। एवं 'समय' शब्द के साथ ही 'अपि' शब्द का भी अध्याहार कर लेना चाहिए। सूत्र मे 'अपि' अर्थ का बोधक 'पि' लुप्त है।

तेजस्काय का वर्णन करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त वायुकाय का वर्णन करते हैं।

वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम मा पमायए ॥८॥

वायुकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तुसंवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥८॥

पदार्थान्वयः—वाउकयं—वायुकाय में अइगओ—जन्म मरण को प्राप्त हुआ जीवो—जीव उ—तो उक्कोसं—उत्कृष्टता से संखाईयं—संख्यातीत कालं—काल तक संवसे—रहता है समयं—समयमात्र भी गोयम—हे गौतम! मापमायए—प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—वायुकाय मं जन्म मरण को प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से रहे तो असंख्यात काल तक रह सकता है। अतः, हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् श्री महावीर स्वामी कहते हैं कि हे गौतम! यदि यह आत्मा वायुकाय मे ही जन्म मरण धारण करने लग जावे तो उत्कृष्टता से असंख्यात-काल पर्यन्त उसी काय मे जन्म मरण करता रहता है। अतः, धर्म कार्य के अनुष्ठान मे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। तात्पर्य कि वायुकाय मे जो जीव जन्म मरण के चक्र को प्राप्त हो चुके हैं, उनका वहां से निकलना बहुत ही कठिन हो जाता है अतएव बुद्धिमान् पुरुष धर्माचरण में कभी प्रमाद न करे।

यद्यपि परमत वालों ने रूप, रस, गन्ध से रहित और स्पर्श वाला वायु को

१ न्याय और वैशेषिक मत के अनुयायी वायु को रूपरहित और स्पर्शगुण वाला मानते हैं, 'रूपरहित.स्पर्शवान् वायुः।' (तर्कसंग्रहः)

स्वीकार किया है, परन्तु उनका यह कथन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जो भी स्पर्श वाला द्रव्य होता है, वह रूप, रस, और गन्ध वाला ही होता है इसलिए वायु, स्पर्श वाला होने के अतिरिक्त रूप, रस, गन्ध, और कर्म—क्रिया—संयुक्त भी है। इसमें अन्तर सिर्फ़ इतना ही है कि वायुकाय का रूप इन चर्मचक्षुओं का विषय नहीं है। आज-कल के वैज्ञानिकों ने तो वायुमापक यंत्र के द्वारा इसका वज़न भी सिद्ध कर दिया है। तब जिस वस्तु में गुरुत्व की सिद्धि हो और उसमें रूप, रस, गन्ध, का न मानना किसी प्रकार से भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। इसलिए वायु का रूप यद्यपि चक्षुः प्रत्यक्ष नहीं तथापि आगम और युक्ति से वह सिद्ध अवश्य है अन्यथा आकाश की भांति यह भी अरूपी सिद्ध होगा।

अब क्रम प्राप्त वनस्पति काय की स्थिति का वर्णन करते हैं—

वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणंतदुरंतं , समयं गोयम मा पमायए ॥९॥

वनस्पतिकायमतिगतः , उत्कर्षं जीवस्तुसंवसेत्।
कालमनन्तं दुरन्तं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥९॥

पदार्थान्वयः—वणस्सइकायं—वनस्पति काय में अइगओ—प्राप्त हुआ जीवो—जीव उ—तो उक्कोसं—उत्कर्षता से अनंत—अनन्त दुरंतं—दुःख से जिसका अन्त हो सके उतना कालं—काल पर्यन्त संवसे—रहता है समयं—समय मात्र भी गोयम—हे गौतम! मापमायए—प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—वनस्पति काय में जन्म मरण को प्राप्त हुआ जीव, उत्कृष्टता से दुरन्त—दुःख पूर्वक जिसका अन्त हो सके—अनंत काल पर्यन्त रहता है। इसलिए हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—जब यह आत्मा वनस्पतिकाय में चला गया और उसीमें जन्म मरण को धारण करने लग गया तो उत्कृष्टता से वह अनन्त काल पर्यन्त उसी में रहता है। इसलिए विवेकशील पुरुष को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। वनस्पति में तो जीव का अस्तित्व युक्ति और प्रमाण दोनों से सिद्ध है। तथा आजकल के वैज्ञानिकों ने तो वृक्षों में जीव के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अनेक प्रकार

के सूक्ष्मदर्शक यंत्रों का आविष्कार किया है जिन से पुरुषादि अन्य जीवों की भांति वृक्षों में भी हर्ष शोक का अनुभव होता है। इस विषय में भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर वसु ने सब से अधिक श्रेय प्राप्त किया है। परन्तु भगवान् ने तो प्रथम ही से इसमें जीवात्मा का होना बतला दिया है। अपिच इसका बढ़ना घटना और म्लान होना प्रत्यक्ष रूप से इसमें जीव के अस्तित्व को प्रमाणित कर रहा है। अतः कर्मवश से वनस्पतिकाय को प्राप्त हुआ जीव इसमे अनन्तकाल तक निवास कर सकता है और वहां से इसका निकलना बहुत ही कठिन हो जाता है! प्रज्ञापना सूत्र के अठारवें पद में लिखा है 'सुहुमवणस्सइ काइए सुहुमनिगोएवि जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्ज कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ कालओ-खेत्तओ असंखेज्जालोगा। बादर वणस्सइ काइए बादर पुच्छा गोयम! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जकालं जावखेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइ भागं। पत्तेय सरीर बादर वणस्सइ काइयाणंपुच्छा गोयम! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तरि-कोड़ कोड़ीओणि गोदेणं भंते! णिगोदे जहण्णेणं अंतोमहुत्तं उक्कोसेणं आणंतंकालं अणंताओ ओसप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अड्ढाइज्जापोग्गल परियट्टा बादर निगोदेणं भंते बादरपुच्छा—गोयम! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तरि कोड़ा कोड़ीओ' इसका भावार्थ केवल इतना ही है कि सूक्ष्म और बादर वनस्पतिकाय में असंख्यात-काल पर्यन्त यह जीव रह सकता है, और निगोद में अनन्तकालपर्यन्त रहता है, तथा बादरनिगोद में सत्तरकोटाकोटि सागरोपमकाल पर्यन्त रहता है। सो यदि यह जीव निगोद में चला गया तो अनन्तकाल पर्यन्त वहां ही उसे रहना होगा किन्तु वहां से निकलना बहुत ही कठिन है अथवा दुःखपूर्वक है। इसी लिए मूलगाथा में 'दुरंतं' यह विशेषण दिया है।

अब विकलेन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

बेंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम मा पमायए ॥१०॥

१ कथंभूतं अनन्तं कालं? दुरन्तम्-दुष्टः अन्तो यस्य स दुरन्तस्तं। ते हि वनस्पतिकाय-मध्यगता जीवा स्ततस्थानादुद्धृता अपि प्रायो विशिष्टं नरादिभवं न लभंते तस्मात् दुरन्तमिति विशेषणम् (दीपिका टीकायाम्)।

द्वीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—बेंदियकायं-द्वीन्द्रियकाय में अइगओ-गया हुआ जीवो-जीव उक्कोसं-उत्कर्ष से संवसे-रहे उ-तो संखिज्ज-संख्येय सन्नियं-संज्ञक कालं-काल तक-रहता है अतः समयं-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—द्वीन्द्रियकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्टता से रहे तो संख्यात संज्ञा वाले कालप्रमाण तक रहता है । अतः हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—दो इन्द्रिय वाले जीवों मे यदि जीव जन्म मरण करने लग जाय तो उत्कर्षता से संख्यात वर्षसहस्र[1] काल पर्यन्त वह उसी काय में जन्म मरण करता रहता है । जिन जीवों के स्पर्श और जिह्वा यह दो इन्द्रिय होती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं । सीप, शंख, गंडोआ आदि जीव इसी में परिगणित हैं । इसलिए विचारशील मनुष्य को समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए । क्योंकि हाथ से निकला हुआ समय फिर मिलना कठिन है । जैसे वृद्ध पुरुष को उसी जन्म में फिर से युवा अवस्था का प्राप्त होना कठिन है, उसी प्रकार इस जीव को पुण्य-संयोग से प्राप्त हुआ यह मनुष्यजन्म फिर से मिलना बहुत कठिन है ! अतः इस मनुष्यजन्म को प्राप्त करके धर्मानुष्ठान में कभी प्रमाद न करना चाहिए ।

अब त्रीन्द्रियकाय के विषय में कहते हैं ।

तेंदिकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम मा पमायए ॥११॥

त्रीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥११॥

पदार्थान्वयः—तेंदियकायं-तीन इन्द्रिय वाले काय में अइगओ-प्राप्त हुआ जीवो-जीव उक्कोसं-उत्कृष्टता से संखिज्जसन्नियं-संख्येयसंज्ञक कालं-काल

१ 'संख्यातवर्षसहस्रात्मकं' इति वृत्तिः ।

तक उ–तो संवसे–रहता है समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम ! मापमायए–प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—तीन इन्द्रिय काय में गया हुआ जीव उत्कृष्टता से रहे तो संख्येय-संज्ञक काल तक रह सकता है । अतः हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! यदि यह जीव त्रीन्द्रियकाय में चला जाय तो वहां पर भी यह संख्येयसंज्ञक काल पर्यन्त जन्म मरण धारण करता रहता है अर्थात् संख्यात सहस्र वर्षों तक वहां पर यह जन्म मरण करता है ! इसका निवास भी वहां पर दुःख पूर्ण होता है ! इसलिए विचारशील पुरुषों को धर्म कार्यों के सम्पादन में समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

यहां पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि उक्त सूत्र की दीपिका टीका में 'अइगओ' का संस्कृत प्रतिरूप 'अधिगतः' बतलाया है और सर्वार्थसिद्धि नाम की व्याख्या में 'अतिगतः' रूप बतलाया है । परन्तु प्राकृत में ये दोनों ही प्रति-रूप ठीक हैं । इनमें 'अधिगतः' का अर्थ भावप्राप्त है, और 'अतिगतः' का अर्थ ऊपर आ चुका है । कीड़ी आदि जीव तीन इन्द्रिय वाले हैं ।

अब चतुरिन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

चउरिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम मा पमायए ॥१२॥

चतुरिन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—चउरिंदियकायं–चतुरिन्द्रियकाय में अइगओ–अतिशय करके गया हुआ जीवो–जीव उक्कोसं–उत्कृष्टता से संखिज्जसन्नियं–संख्येयसंज्ञक कालं–कालपर्यन्त उ–तो संवसे–निवास करता है समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम ! मापमायए–प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—चतुरिन्द्रियकाय में प्राप्त हुआ जीव उत्कृष्टता से वहां पर संख्यात सहस्र वर्षों तक निवास करता है । अतः हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—इस गाथा का तात्पर्य यह है कि कर्मवश से चतुरिन्द्रिय भाव को प्राप्त हुआ यह जीव संख्यात (संख्या वाले) सहस्रों वर्षों तक इसी में जन्म मरण को धारण करता रहता है, इसलिए इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके धर्मकृत्य के अनुष्ठान में लेशमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि यह जीव इन उक्त योनियों में चला गया तो फिर वहां से इसका निकलना अत्यन्त कठिन है। स्पर्श, जिह्वा, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियों वाले जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे मक्खी, मच्छर इत्यादि जीव।

अब पञ्चेन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

पंचिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तट्ठभवगहणे , समयं गोयम मा पमायए ॥१३॥

पंचेन्द्रियकायमतिगतः , उत्कर्षंजीवस्तुसंवसेत् ।
सप्ताष्टभवग्रहणानि , समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—पंचिंदियकायं–पञ्चेन्द्रियकाय में अइगओ–प्राप्त हुआ जीवो–जीव उक्कोसं–उत्कृष्टता से संवसे–रहे उ–तो सत्तट्ठभव–सात आठ भव गहणे–करता है समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रियकाय में गया हुआ जीव यदि उत्कृष्टता से वहां रहे तो सात या आठ भव तक रहता है, अतः हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् उपदेश करते हैं कि यह आत्मा कर्मवशात् यदि तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय भाव को प्राप्त हो जाय तो वहां पर अधिक से अधिक सात आठ भव ही ग्रहण कर सकता है अर्थात् सात भव तो तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय के संख्यात आयु वाले कर ले और आठवां भव असंख्यात आयु वाले युगलियों का कर ले। तात्पर्य कि यदि पञ्चेन्द्रिय जीव मरकर पञ्चेन्द्रिय ही होता रहे तो, वह सात अथवा आठ बार हो सकता है इससे आगे उसको तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियत्व का परित्याग करना ही पड़ता है। यद्यपि उक्तगाथा में केवल पञ्चेन्द्रिय शब्द का उल्लेख है तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय का नहीं, तथापि प्रकरण से यहां पर तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय का ग्रहण ही अभिमत है क्योंकि यहां पर मनुष्यभव की दुर्लभता का विषय चला हुआ है। उसमें पांच स्थावर और

तीन विकलेन्द्रियों का स्वरूप ऊपर कहा जा चुका है तथा देव और नारकी का वर्णन आगे आने वाला है। अतः पञ्चेन्द्रियों में शेष तिर्यञ्च ही रह जाते हैं सो उन्हीं का वर्णन यहां पर अभिप्रेत है। तब इससे सिद्ध हुआ कि यदि यह जीव मरकर तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय होता रहे तो अधिक से अधिक सात अथवा आठ बार हो सकता है। मनुष्यजन्म अत्यन्त दुर्लभ है, इसको प्राप्त करके धर्मकार्यों मे किसी प्रकार से भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, यह इस गाथा का भावार्थ है।

अब फिर प्रस्तुत विषय का ही वर्णन करते हुए देव और नारकी की काय और भवस्थिति का उल्लेख करते हैं—

देवे नेरइए यमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्केक्कभवगहणे , समयं गोयम मा पमायए ॥१४॥

देवान्नैरयिकाँश्चातिगतः , उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
एकैकभवग्रहणं , समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१४॥

पदार्थान्वयः—देवे–देव नेरइए–नारकियों में यमइगओ–और गया हुआ जीवो–जीव उक्कोसं–उत्कृष्टता से यदि संवसे–रहे उ–तो इक्केक्क–एक २ भवगहणे–भव (जन्म) करता है समयं–समयमात्र भी गोयम–हे गौतम! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—देव और नरकगति में गया हुआ जीव उत्कृष्टता से यदि वहां पर रहे तो एक ही भव (जन्म) करता है। अतः हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—यदि यह आत्मा देव बन गया अथवा नरक में चला गया तो अधिक से अधिक एक ही भव (जन्म) कर सकता है क्योंकि देवता मरकर देवता नहीं बनता और नारकी जीव मरकर नरक में नहीं जाता किन्तु वहां से निकल कर मनुष्ययोनि मे आता है या पशुयोनि को प्राप्त होता है। देव तथा नारकी का आयुर्मान अधिक से अधिक ३३ सागरोपम का है अर्थात् इतने काल तक उस जन्म में रह सकता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि विचारशील पुरुष को कर्म के क्षय करने में अणुमात्र भी प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए।

अब उक्त विषय का उपसंहार करते हैं—

एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम मा पमायए ॥१५॥

एवं भवसंसारे, संसरति शुभाशुभैः कर्मभिः ।
जीवः प्रमादबहुलः, समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१५॥

पदार्थान्वयः—एवं-इस प्रकार भवसंसारे-जन्म मरण रूप संसार में संसरइ-परिभ्रमण करता है सुहासुहेहिं-शुभाशुभ कम्मेहिं-कर्मों से जीवो-जीव पमायबहुलो-बहुत प्रमाद वाला समयं-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—इस प्रकार यह प्रमादी जीव, अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों के द्वारा पृथिवी आदि कायस्थिति में, अथवा जन्म मरण रूप संसार में परिभ्रमण करता है । इसलिए हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—गौतम को उद्देश रखकर भगवान् कहते हैं कि प्रमादवश हुआ यह जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के द्वारा पृथिवी आदि कायस्थिति में वा जन्म मरण रूप संसार चक्र में परिभ्रमण करता है । प्रमाद कर्मबन्ध का कारण है और कर्मबन्ध के द्वारा ही यह जीव नानाविध योनियों में भ्रमण करता है । अतः प्रमाद का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

यद्यपि आगम में—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, और विकथा इन पांचों का प्रमाद के नाम से वर्णन किया है और इन्हीं के द्वारा यह जीव नानाविध कर्मों का बन्ध करता है, तथापि प्रस्तुत प्रकरण में प्रमाद शब्द से धर्मकार्यों के अनुष्ठान में प्रमाद-आलस्य-ही अभिप्रेत है अर्थात् सांसारिक कार्यों में अधिकाधिक प्रवृत्त होना ही यहां पर प्रमाद है ।

ऊपर बतलाया गया है कि आत्मा के संसार में अर्थात् जन्म मरण के नानाविध चक्र में परिभ्रमण का हेतु उसके शुभाशुभ कर्म हैं, इन्हीं के प्रभाव से यह जीव देवमनुष्यादि गतियों में चक्कर लगाता है, और कर्मबन्ध का कारण इसका प्रमाद है । प्रमाद की बहुलता से ही यह जीव अनेक प्रकार के ऊंच नीच कर्मों का बन्ध करता है, तथा मनुष्यगति की प्राप्ति में प्रतिबन्ध करने वाले कर्मों का उपार्जन करता है ।

तात्पर्य कि शास्त्रकारों ने संसार परिभ्रमण का हेतु प्रमाद को कहा है, अतः प्रमाद का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

पूर्व की गाथाओं में मनुष्यजन्म की दुर्लभता का वर्णन किया। अब मनुष्य-जन्म के प्राप्त होने पर भी उसमें उत्तरोत्तर प्रधान गुणों की दुर्लभता का प्रतिपादन निम्नलिखित गाथा के द्वारा किया जाता है।

लद्धूण वि माणुसत्तणं,
आयरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलेक्खुया,
समयं गोयम मा पमायए ॥१६॥

लब्ध्वापि मानुषत्वं,
आर्यत्वं पुनरपिदुर्लभम्।
बहवो दस्यवो म्लेच्छाः,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—लद्धूणवि–मिलने पर भी माणुसत्तणं–मनुष्य जन्म के पुणरावि–फिर भी आयरिअत्तं–आर्यत्व–आर्यदेश का मिलना दुल्लहं–दुर्लभ है बहवे–बहुत दसुया–चोर हैं मिलेक्खुया–म्लेच्छ हैं समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—मनुष्य जन्म के मिलने पर भी आर्यदेश का मिलना फिर भी कठिन है क्योंकि बहुत से चोर और म्लेच्छ बसते हैं। अतः हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि यदि पुण्यवश से किसी को मनुष्यजन्म मिल भी गया तो उसको आर्य देश का मिलना अति दुर्लभ है! क्योंकि आर्य देश के प्रान्त भागों में बहुत सी चोर जातियें हैं तथा आर्य देश से बाहिर बहुत से म्लेच्छ लोग बसते हैं! अर्थात् अनार्यदेश हैं! जिनको कि धर्माधर्म, भक्ष्याभक्ष्य

और गम्यागम्य का कुछ भी बोध नहीं और अव्यक्त भाषा के भाषी हैं जो कि आर्य भाषा से बिलकुल अपरिचित हैं। शक, यवन आदि सब अनार्यदेश कहे जाते हैं।

तात्पर्य कि यदि दस्यु अथवा म्लेच्छजाति में जन्म हो भी गया तो क्या हुआ ? क्योंकि ये जातियें प्रायः धर्म से रहित और मांसाहारी हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

आर्य देश का प्रमाण साढ़ेपच्चीस देशों का है अर्थात् सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर विन्ध्याचल पर्वत के अन्तर्गत के देश आर्य देश है। इसके बाहिर के देश अनार्य संज्ञा वाले हैं। इन देशों के मनुष्यों का जीवन प्रायः आर्य धर्म के अनुकूल नहीं है और उनमें से बहुत से मनुष्यों का आहार व्यवहार प्रायः पशुओं के सदृश है।

अब आर्य देश के मिलने पर भी शरीर के सम्पूर्ण अवयवों की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

लद्धूण वि आयरियत्तणं,
अहीणपंचेंदियया हु दुल्लहा।
विगलिंदियया हु दीसई,
समयं गोयम मा पमायए ॥१७॥

लब्ध्वाप्यार्यत्वं,
अहीनपंचेन्द्रियता हु दुर्लभा।
विकलेन्द्रियता हु दृश्यते,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१७॥

पदार्थान्वयः—लद्धूणवि-मिलने पर भी आयरियत्तणं-आर्य देश के अहीण-सम्पूर्ण पंचेंदियया-पञ्चेन्द्रियपन हु-निश्चय ही दुल्लहा-दुर्लभ है हु-जिससे कि विगलिंदियया-विकलेन्द्रियपन दीसई-देखा जाता है।

मूलार्थ—मनुष्य जन्म में-आर्य देश के मिलने पर भी-सम्पूर्ण पांचों इन्द्रियों का मिलना निश्चय ही दुर्लभ है ! क्योंकि जीवों में प्रायः विकलेन्द्रियपन अधिक देखा जाता है।

टीका—यदि किसी जीव को मनुष्य जन्म के साथ आर्य देश की प्राप्ति भी हो जावे तो उसको सम्पूर्ण पांचों इन्द्रियों को प्राप्त होना तो बहुत ही कठिन है। क्योंकि अधिक मनुष्यों में रोगादि के कारण प्रायः विकलेन्द्रियपन अर्थात् अंगों में विकृति अधिक देखी जाती है।

तात्पर्य कि रोगादि के निमित्त से उनकी इन्द्रियें विकृत हो जाती हैं जैसे कि अन्धा,—बहरा और गूंगा आदि होना। इस कथन का अभिप्राय यह है कि शरीर के किसी अंग में विकृति होने से अर्थात् शरीर का कोई अंग बिगड़ जाने से मनुष्य पुरुषार्थहीन होकर धर्मकार्य के अनुष्ठान से वंचित रह जाता है। इसलिए धर्मकार्यों के सम्पादन द्वारा मनुष्य जन्म को सार्थक करने के लिए शरीर का नीरोग और सम्पूर्ण होना अत्यन्त आवश्यक है। इस से भगवान् कहते हैं कि समय मात्र भी प्रमाद का सेवन करना हानिकर है क्योंकि इसी से मनुष्यभव में प्रथम तो इन्द्रियों की सम्पूर्णता मिलनी ही कठिन है और यदि वह मिल भी जावे तो फिर रोगादि-विशेष से इसके उपघात होने का भय है परन्तु जिन पुण्यवान् जीवों को यह सामग्री मिल गई है उन्हें तो कदापि प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए। यहां पर धर्म साध्य है और उक्तसामग्री—सम्पूर्णेन्द्रियता—साधन है। इसलिए जब तक यह शरीर नीरोग है और पांचों इन्द्रियें सम्पूर्ण हैं, तब तक विचारशील पुरुषों को धर्म के आचरण में सर्वथा अप्रमत्त रहना चाहिए।

अब सम्पूर्णेन्द्रियता के प्राप्त होने पर भी धर्मश्रुति की दुर्लभता के विषय में कहते हैं—

अहीणपंचेंदियत्तं पि से लहे,
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे,
समयं गोयम मा पमायए ॥१८॥

अहीनपंचेन्द्रियत्वमपि स लभेत,
उत्तमधर्मश्रुति र्हि दुर्लभा।

कुतीर्थिनिषेवको जनो,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१८॥

पदार्थान्वयः—अहीणपंचेंदियत्तंपि–सम्पूर्ण पंचेन्द्रियपन भी से–वह लहे–प्राप्त कर लेवे उत्तम–उत्तम धम्मसुई–धर्म की श्रुति हु–निश्चय ही दुल्लहा–दुर्लभ है कुतित्थि–कुतीर्थ के निसेवए–सेवन करने वाले जणे–जन–बहुत हैं समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम ! मापमायए–प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—वह जीव सम्पूर्ण पञ्चेन्द्रियत्व को प्राप्त भी कर लेवे तो भी, उत्तम धर्म की श्रुति अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि कुतीर्थ के सेवन करने वाले पुरुष बहुत हैं । अतः हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—कदाचित् पुण्यवशात् शरीर के अवयवों की पूर्णता भी प्राप्त हो जावे तो भी, उत्तम धर्म के श्रवण का प्राप्त होना और भी कठिन है क्योंकि कुतीर्थ का सेवन करने वाले मनुष्य संसार में अधिक उपलब्ध होते हैं ।

जो नास्तिक मत वाला अर्थात् जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता अथवा विषय वासना के पोषण मात्र का उपदेष्टा हो, तथा कुदेव, कुगुरु और अधर्म के आराधन में तल्लीन हो, उसे कुतीर्थ कहते हैं; अथवा आगम ग्रन्थों में वर्णन किए गए ३६३ पाषंडमत कुतीर्थ कहे जाते हैं । उनके सेवन करने वाले अर्थात् उन मतों के अनुयायी पुरुष संसार में अधिक देखे जाते हैं ! तात्पर्य कि यश, ख्याति और विषयपूर्ति के लिए उनके अनुगामी बन रहे हैं और पशुवध आदि हिंसकप्रवृत्ति में अपने आपको लगाते हैं । एवं अनाप्त पुरुष प्रणीत आगमों में दृढ विश्वास रखने वाले हैं । इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद का आचरण मत कर । इस कथन का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के कुतीर्थ की सेवा से यह जीव उत्तम धर्म की प्राप्ति से वंचित रह जाता है और विषय वासना में लिप्त होकर फिर से जन्म मरण रूप संसार चक्र में परिभ्रमण करने लग जाता है क्योंकि कुतीर्थ की सेवा वीतरागदेव के सर्वोत्तम धर्म की प्राप्ति नहीं होने देती । अतः विचारशील पुरुष को धर्म के विषय में सदैव ही सावधान रहना चाहिए ।

उत्तम धर्म की प्राप्ति भी कदाचित् पुण्य के संयोग से हो जावे तो भी, उसमें श्रद्धा का प्राप्त होना और भी कठिन है । अब इसी विषय का वर्णन करते हैं—

लद्धूण वि उत्तमं सुइं,
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे,
समयं गोयम मा पमायए ॥१९॥

लब्ध्वाप्युत्तमां श्रुतिं,
श्रद्धानं पुनरपि दुर्लभम्।
मिथ्यात्वनिषेवको जनो,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥१९॥

पदार्थान्वयः—लद्धूणवि-मिलने पर भी उत्तमं-उत्तम सुइं-श्रुति के सद्दहणा-तत्त्व की श्रद्धा पुणरावि-फिर भी दुल्लहा-दुर्लभ है मिच्छत्त-मिथ्यात्व के निसेवए-सेवन करने वाले जणे-जन हैं समयं-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम ! मा पमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—उत्तम धर्म श्रुति के मिलने पर भी तत्त्व की श्रद्धा फिर भी दुर्लभ है। क्योंकि मिथ्यात्वसेवी पुरुष बहुत देखे जाते हैं। अतः हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—यदि पुण्ययोग से किसी जीव को उत्तम धर्म की श्रुति भी मिल गई तो भी, उसको तत्त्व वस्तु पर दृढ निश्चय होना अत्यन्त कठिन है क्योंकि यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व का सेवन अधिक रूप में करता चला आ रहा है और मिथ्यात्व के कारण से अधिक अनिष्ट कर्मों का उपार्जन करता है। इसी लिए उसकी रुचि तत्त्वश्रद्धान की ओर नहीं होती, अतः उत्तम धर्म श्रुति के प्राप्त होने पर भी अधिक जीव मिथ्यात्व में ही प्रवृत्त रहते हैं। तथा इस गाथा में यह भाव व्यक्त किया गया है कि अनादिकाल की मिथ्यात्व वासना के कारण बहुत से जीवों में मोहिनीकर्म का विशिष्ट उदय होने से यथार्थ वस्तुतत्त्व पर उनका निश्चय ही नहीं होता। वे उक्तकर्म के प्रभाव से वस्तुतत्त्व को मिथ्याप्रलाप ही समझते हैं।

यद्यपि स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व ये

दोनों ही धर्म पाए जाते हैं, परन्तु जो जीव निरपेक्षरूप से नित्य वस्तु को अनित्य और अनित्य को नित्य मानने लगता है तब उसका विचार, एकान्त रूप होने से मिथ्यात्व भाव में समाविष्ट हो जाता है और धीरे २ वह इन्हीं एकान्त निरपेक्ष विचारों का प्रचार करता हुआ अन्य जीवों को भी मिथ्यात्व में प्रविष्ट कर लेता है। यदि संक्षेप से कहें तो जीव में अजीव, धर्म में अधर्म, अधर्म में धर्म, असाधु में साधु और साधु में असाधु बुद्धि का नाम ही मिथ्यात्व है। यही मिथ्यात्व इस जीव को संसार में परिभ्रमण करा रहा है। इसलिए विचारशील पुरुषों को धर्म कार्य के सम्पादन में कभी प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए। यदि किसी प्रकार धर्म में श्रद्धा भी हो जावे तो भी, उसका शरीर द्वारा आचरण करना बहुत ही कठिन है, सो अब उसकी दुर्लभता का वर्णन करते हैं—

धम्मं पि हु सद्दहंतया,
दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहिं मुच्छिया,
समयं गोयम मा पमायए ॥२०॥

धर्ममपि हु श्रद्दधतः,
दुर्लभकाः कायेन स्पर्शकाः।
इह कामगुणेषु मूर्च्छिताः,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—धम्मंपि–धर्म की भी हु–(वाक्यालंकारार्थ में है) सद्दहंतया–श्रद्धा करता हुआ दुल्लहया–दुर्लभ है काएण–काय के द्वारा फासया–स्पर्श करना इह–इस संसार में कामगुणेहिं–काम गुणों में मुच्छिया–मूर्च्छित है समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—धर्म में श्रद्धान होने पर भी उसका काय के द्वारा सेवन करना बहुत कठिन है। क्योंकि इस संसार में कामगुणों से मूर्च्छित जीव अधिक देखे जाते हैं, अतः हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते हैं कि बहुत से जीव सर्वज्ञकथित धर्म में श्रद्धा रखते हुए भी उसका आचरण नहीं कर सकते क्योंकि जीव कामगुणों से अधिक मूर्च्छित हो रहे हैं । इसलिए धर्म के आचरण में वे उद्यत नहीं होते ।

यद्यपि सूत्रकार ने यहां पर केवल कायशब्द का उल्लेख किया है, तथापि यह मन और वचन का भी उपलक्षण है । इस जगत् में अधिक जीव प्रायः विषयों में ही मूर्च्छित हो रहे हैं, अतः उनको सत्यधर्म का निश्चय यदि हो भी जावे तो भी वे मन, वचन, और शरीर के द्वारा उसका अनुष्ठान नहीं कर सकते। जब तक धर्म को आचरण में न लाया जावे तब तक चारित्र धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती और चारित्र धर्म के विना आत्मशुद्धि का होना दुर्घट है । इसलिए विवेकशील पुरुषों को उचित है कि वे समय के सदुपयोग में ही सर्वथा उद्यत रहें। यहां पर 'कामगुणेहिं' यह सप्तमी के अर्थ में तृतीया है, तब इसका संस्कृत प्रतिरूप 'कामगुणेषु मूर्च्छिताः' ऐसा समझना चाहिए ।

धर्म का सम्पादन, शरीर की शक्ति पर निर्भर है और शरीर की शक्ति अनित्य है, सदा स्थिर रहने वाली नहीं । इसलिए विवेकिजनों को सदा अप्रमत्त रहने का ही प्रयत्न करना चाहिए । अब इसी आशय को निम्नलिखित गाथा के द्वारा व्यक्त किया जाता है—

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सोयबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२१॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तच्छ्रोत्रबलं च हीयते,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२१॥

पदार्थान्वयः—परिजूरइ–सर्व प्रकार से जीर्ण होता है ते–तुम्हारा सरीरयं–शरीर ते–तुम्हारे केसा–केश पंडुरया–सफेद हवंति–होते जाते हैं से–वह सोयबले श्रोत्रेन्द्रिय का बल य–(समुच्चय के अर्थ में) हायई–हीन हुआ जाता है गोयम–हे गौतम ! समयं–समय मात्र भी मा पमायए–प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—हे गौतम ! तेरा शरीर जीर्ण होता चला जा रहा है, तेरे काले केश अब सफ़ेद हो रहे हैं, वह जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों का बल था सो भी अब क्षीण हो रहा है । इसलिए तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—गौतमस्वामी को लक्ष्य में रखकर जीव मात्र की-शरीर की अनित्यता का प्रतिपादन करते हुए भगवान् कहते हैं कि–हे गौतम ! तेरा शरीर इस समय सर्व प्रकार से जीर्ण हुआ जाता है कारण कि वय की हानि प्रति समय हो रही है । अतएव जो केश प्रथम कृष्ण थे वह अब श्वेत हो चले और श्रुति (श्रोत्रेन्द्रिय) का बल भी क्षीण होता जा रहा है । इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को प्रमाद का कदापि सेवन नहीं करना चाहिए ।

यहां पर श्रोत्र का प्रधान रूप से उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि श्रोत्र के अस्तित्व पर ही अन्य सर्व इन्द्रियों का अस्तित्व निर्भर है । तथा इसकी प्रधानता इस वास्ते भी है कि इसकी उत्पत्ति अत्यन्त क्षयोपशम भाव से है । एवं श्रुतधर्म के श्रवण करने का साधन भी यही है । जरावस्था के समीप आने पर इसका बल भी क्षीण हो जाता है अर्थात् युवावस्था में इसके ज्ञान की जैसी निर्मलता रहती है, वृद्धावस्था में इसका ज्ञान वैसा निर्मल नहीं होता । इसके अतिरिक्त गाथा में जो 'ते' शब्द का प्रयोग किया है उसका तात्पर्य प्रत्यक्ष अनुभव से है अर्थात् 'ते' कहने से प्रत्यक्ष अनुभव होता है । तथा केशों का उल्लेख इसलिए किया है कि शरीर की सुन्दरता युवावस्था में काले केशों से ही प्रतीत होती है । इसलिए केशों के श्वेत होने का उल्लेख किया है ।

श्रोत्र के बाद अब चक्षुरिन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।

से चक्खुबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२२॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तच्चक्षुर्बलं च हीयते ,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२२॥

पदार्थान्वयः—परिजूरइ–सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है ते–तेरा सरीरयं–शरीर य–और ते–तेरा केसा–केश पंडुरया–सफ़ेद हवंति–हो रहे हैं से–वह चक्खु-बले–चक्षुओं का बल हायई–हीन हुआ जाता है समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम ! मा पमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, तेरे केश सफ़ेद हो गए हैं, और यौवनावस्था में जो आंख का बल था वह भी अब क्षीण हो गया है, अतः समय मात्र भी तू प्रमाद मत कर।

टीका—श्रोत्र के बाद अब चक्षुर्बल की क्षीणता का वर्णन किया जाता है। जैसे श्रोत्र का बल कम होने से धर्म का श्रवण नहीं हो सकता इसी प्रकार नेत्र का बल क्षीण होने से भी धर्म कार्य का सम्पादन नहीं हो सकता। नेत्रों की ज्योति के ठीक रहने पर ही मनुष्य अपनी लौकिक और पारलौकिक क्रिया को यथावत् चला सकता है अन्यथा नहीं। इसलिए जब तक शरीर स्वस्थ और चक्षुरादि इन्द्रियों का बल क्षीण नहीं हुआ, तब तक धर्म कार्यों को बड़ी सावधानता से करना चाहिए। अतः विचारशील पुरुषों को समय मात्र भी प्रमाद का सेवन करना उचित नहीं है।

यद्यपि ज्ञान सदा प्रकाशस्वरूप है तथापि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञाना-वरणादि आवरणों से आवृत होने पर उसकी प्रकाशकशक्ति भी मंद हो जाती है।

अब घ्राणेन्द्रिय के विषय में कहते हैं।

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।

से घाणबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२३॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तद्घ्राणबलं च हीयते,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२३॥

पदार्थान्वयः—परिजूरइ–सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है ते–तेरा सरीरयं–शरीर केसा–केश पंडुरया–सफ़ेद हवंति–हो रहे हैं य–और ते–तेरा से–वह घाणबले–घ्राणबल हायई–हीन हो रहा है गोयम–हे गौतम ! समयं–समय मात्र भी मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश सफ़ेद हो रहे हैं, और घ्राणेन्द्रिय का बल भी क्षीण हो गया। इसलिए समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—यद्यपि व्यवहार पक्ष में घ्राणेन्द्रिय की निर्बलता से कोई विशेष हानि उपलब्ध नहीं होती, परन्तु वास्तविक रूप में घ्राणेन्द्रिय की हानि भी ज्ञान की अपूर्णता में सहायक है क्योंकि सुगन्ध और दुर्गन्ध की परीक्षा में उसका ही विशेष उपयोग होता है। इसलिए घ्राणेन्द्रिय की निर्बलता से इन्द्रियजन्य ज्ञान में न्यूनता अवश्य रहती है। यदि ऐसा न हो तो एकेन्द्रिय जीव की शीघ्र मुक्ति होनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि पांचों इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, वह पूर्ण है। उसमें किसी एक इन्द्रिय की न्यूनता होने से ज्ञान में भी कमी आ जाती है। फिर जिस समय केवल ज्ञान होने पर राग द्वेष का भली प्रकार दमन किया जाय, वही समय मोक्ष के देने वाला है।

अब जिह्वा के विषय में कहते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।

से जिब्भबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२४॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तज्जिह्वाबलं च हीयते,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२४॥

पदार्थान्वयः—परिजूरइ–सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है ते–तेरा सरीरयं–शरीर केसा–केश ते–तेरा पंडुरया–सफ़ेद हवंति–हो रहे हैं य–और से–वह जिब्भबले–जिह्वा का बल हायई–हीन हो रहा है समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम! तेरा शरीर सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है और तेरे केश श्वेत हो गए हैं एवं जिह्वा का बल भी क्षीण हो गया है, इसलिए तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—जिह्वेन्द्रिय के बलयुक्त होने पर ही स्वाध्याय आदि धर्म कार्य भली प्रकार से हो सकते हैं। यदि रसनेन्द्रिय का बल क्षीण हो जावे तो शास्त्र-स्वाध्याय में बहुत कमी हो जाती है। शब्दों का उच्चारण भी भली प्रकार से नहीं हो सकता। अतः जिन जीवों को जिह्वेन्द्रिय का बल मिला है उनको उचित है कि वे इसे अपने वश में रखने का प्रयत्न करें और अपने जीवन के अमूल्य समय को प्रमाद में न खोकर केवल शास्त्र-स्वाध्याय में लगावें। इसके अतिरिक्त जो स्वल्प भाषण करते हैं उनकी जिह्वा में एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। उनके मुख से यदि कोई स्वतः भी वाक्य निकल जावे तो वह भी मिथ्या नहीं होता। तथा रोग और विवाद, जिह्वा को वश में न रखने से ही होते हैं। इसलिए जिह्वेन्द्रिय को वश में करने के वास्ते समय का किंचित् मात्र भी दुरुपयोग न करना चाहिए, तथा भोजनादि के अवसर में तो इसे विशेष रूप से संयम में रखने का यत्न करना चाहिए।

अब स्पर्शेन्द्रिय के विषय में कहते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से फासबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२५॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाःपाण्डुरका भवन्ति ते।
तत् स्पर्शबलं च हीयते,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२५॥

पदार्थान्वयः—परिजूरइ–सर्वथा जीर्ण हुआ जाता है ते–तेरा सरीरयं–शरीर केसा–केश पंडुरया–श्वेत हवंति–हो गए हैं य–और से–वह ते–तेरा फासबले–स्पर्शेन्द्रिय का बल हायई–क्षीण हो गया है समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम! तेरा शरीर सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो गए हैं और स्पर्शेन्द्रिय का बल भी क्षीण हो गया है। अतः तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा में इस भाव को व्यक्त किया गया है कि शरीर का बल जैसा युवावस्था में होता है वैसा वृद्धावस्था के आगमन में नहीं रहता। तथा रोगादि के होने पर भी वह बल क्षीण हो जाता है इसलिए जब तक यह शरीर बलवान् है तब तक ही धर्म का सम्यक् रूप से आराधन किया जा सकता है परन्तु इसके निर्बल अथवा पराधीन होने पर कोई लौकिक अथवा पारलौकिक कार्य नहीं हो सकता। तथा च यह शरीर क्षणभंगुर है, इसके नाश होते, कोई देरी नहीं लगती। इसलिए जहां तक हो सके इस शरीर के द्वारा परोपकार आदि धर्म कार्यों में कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए।

उक्त प्रकार से इन्द्रियों की निर्बलता का वर्णन करने के बाद अब सर्व शरीर की निर्बलता के विषय का उल्लेख करते हैं—

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते।
से सव्वबले य हायई,
समयं गोयम मा पमायए ॥२६॥

परिजीर्यति ते शरीरकं,
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तत् सर्वबलं च हीयते,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२६॥

पदार्थान्वयः—परिजूरइ–सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है ते–तेरा सरीरयं–शरीर य–और ते–तेरा केसा–केश पंडुरया–सफ़ेद हवंति–हो गए हैं से–वह सव्व–सब बले–बल हायई–हीन हो गया है गोयम–हे गौतम ! समयं–समय मात्र भी मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! तेरा शरीर सर्व प्रकार से जीर्ण हो रहा है, तेरे केश सफ़ेद हो गए हैं और सभी बल क्षीण हुआ जाता है। इसलिए तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—वृद्धावस्था में शरीर के सारे ही अवयव निर्बल हो जाते हैं। जैसे उष्णकाल में गर्मी की अधिकता से शरीर के रोमकूप में से स्वेद–पसीना निकलने लग जाता है उसी प्रकार जरा अवस्था के आगमन से शरीर के सारे ही अंगोपांग निर्बल पड़ जाते हैं। इसलिए जब तक जरा का आगमन नहीं होता तब तक अप्रमत्त भाव से धर्म का आराधन करना चाहिए जिससे कि पुण्यसंयोग से प्राप्त हुआ यह मनुष्यभव सार्थक हो सके। भगवान् का यह उपदेश, गौतम को लक्ष्य में रखकर प्राणिमात्र के लिए है यह बात ऊपर कई वार बतलाई गई है। उक्त गाथाओं में जरा अवस्था के द्वारा शरीर की निर्बलता का वर्णन किया है अब निम्नगाथा में रोग के द्वारा शरीर की निर्बलता का वर्णन करते हैं—

अरई गंडं विसूइया,
आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम मा पमायए ॥२७॥

अरतिर्गण्डं विसूचिका ,
आतंका विविधाः स्पृशन्ति ते।
विपतति विध्वस्यते ते शरीरकं,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—अरई–चित्त का उद्वेग गंडं–स्फोटक विसूइया–विसूचिका विविहा–नाना प्रकार के आयंका–रोग ते–तेरे–शरीर को फुसंति–स्पर्श करते हैं विहडइ–बल से शरीर गिरता है विद्धंसइ–विध्वंस होता है ते–तेरा सरीरयं–शरीर गोयम–हे गौतम ! समयं–समय मात्र भी मा पमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—चिन्ता, विस्फोटक और विसूचिका आदि नानाविध रोग तेरे शरीर को स्पर्श करते हैं जिससे तेरा शरीर बल से हीन होता चला जाता है और जीव से च्युत होने को है। इसलिए हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—प्रथम गाथा में जरा के द्वारा शरीर की निर्बलता का उल्लेख किया है। अब रोगादि के द्वारा शरीर की जो दशा हो जाती है उसका दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में कराया गया है। भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! तेरे शरीर को नाना प्रकार के रोग घेरे हुए हैं, जैसेकि चौरासी प्रकार के वायु के प्रकोप से चित्त का उद्वेग, रुधिर के प्रकोप से स्फोटक आदि, अजीर्ण की वृद्धि से विसूचिका–जो वमन और विरेचन को साथ लिए हुए होता है, और सद्यःप्राणहर–शूलादिरोग। इन रोगों के आक्रमण से शरीर अत्यन्त निर्बल हो जाता है और जीवन से भी रहित हो जाता है। इसलिए जब तक किसी भयंकर रोग का आक्रमण नहीं होता, तब तक पूरी सावधानी से धर्म कार्य में लगे रहना चाहिए। क्योंकि रोग के आक्रमण से

यह शरीर किसी भी कार्य के सम्पादन में समर्थ नहीं हो सकता। यहां पर इस बात की अनेक वार चर्चा की गई है कि गौतम के व्याज से भगवान् ने सभी प्राणियों को इस विषय का उपदेश किया है क्योंकि पूज्य गौतम मुनि में उक्त इन्द्रिय वैकल्य और जरा रोगादि का प्रायः सम्भव ही नहीं है। (तथा च वृत्तिकार—'केशपाण्डुरत्वादिकं यद्यपि गौतमे न सम्भवति, तथापि तन्निश्रया शेषशिष्यप्रतिबोधनार्थत्वा ददुष्टम्' इति।) भगवान् ने इसी बात का पुनः २ उपदेश किया है कि हे भव्य जीवो! तुमको इस समय किसी प्रकार से भी प्रमाद करना योग्य नहीं है क्योंकि जो दुर्लभ मनुष्यजन्म था वह तो तुमको प्राप्त हो गया है। अब तो केवल चारित्र धर्म की ही तुमको आवश्यकता है, इसलिए किसी समय भी प्रमाद का सेवन मत करो।

प्रमाद के परित्याग का जो प्रकार है अब उसके विषय में कहते हैं—

वोच्छिंद सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए,
समयं गोयम मा पमायए ॥२८॥

व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मनः,
कुमुदं शारदमिव पानीयम्।
तत्सर्वस्नेहवर्जितः,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२८॥

पदार्थान्वयः—सिणेहं–स्नेह–राग अप्पणो–अपना वोच्छिंद–दूर कर कुमुयंसारइयंव पाणियं–चन्द्रविकासी कमल (शरद्‌ऋतु के) जल को छोड़ कर जैसे (अलग हो जाता है); से–अनंतर सव्व–सब सिणेहवज्जिए–स्नेह से वर्जित हो समयं–समय मात्र भी गोयम–हे गौतम! मापमायए–प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! जैसे चन्द्रविकासी कमल शरदृऋतु के पानी को छोड़ कर अलग हो जाता है, उसी प्रकार तू भी अपना स्नेह दूर कर तथा स्नेह से सर्वथा अलग हो जा। इस कार्य में समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—गौतमस्वामी से भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! तुम्हारा मेरे ऊपर जो स्नेह-राग है उसको दूर कर। अर्थात् जैसे शरदृऋतु में उत्पन्न होने वाला चन्द्रविकासी कमल, कीचड़ से उत्पन्न होकर और जल के द्वारा वृद्धि पाकर उससे पृथक् रहता है, उसी प्रकार तू भी मेरे ऊपर रहे हुए स्नेह को दूर करके कमल की भांति पृथक् रहने का यत्न कर। इस प्रकार स्नेह को दूर करके अर्थात् सर्वथा रागरहित होकर तू केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेगा। इसलिए प्रस्तुत कार्य के सम्पादन में तू समय मात्र भी प्रमाद का सेवन मत कर। उक्त गाथा में जो शरदृऋतु के कमल की उपमा दी है, उसका आशय यह है कि शरदृऋतु का जल, अत्यन्त शीतल निर्मल और मनोहर होता है, परन्तु कमल उससे भी पृथक् रहता है अर्थात् उसमें लिप्त नहीं होता। उसी प्रकार तुम्हारा स्नेह भी अत्यन्त निर्मल होने से धर्मराग है, परन्तु उस प्रशस्त राग का भी तेरे को परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि प्रशस्त राग भी पुण्यबन्ध का कारण होने से मुमुक्षु पुरुष को त्याग करने योग्य है। इसलिए सर्व प्रकार के स्नेह से रहित होने के वास्ते तेरे को सदैव-काल अप्रमत्त-प्रमादरहित होना चाहिए।

इस कथन का सारांश यह है कि धर्मराग व धर्मसम्बन्ध होने पर भी स्नेह-राग न करना चाहिए क्योंकि यह स्नेह-राग पुण्यबन्ध का कारण होने से मोक्ष का प्रतिबन्धक होता है। तात्पर्य कि धर्मसम्बन्ध भले ही हो परन्तु स्नेहभाव न होना चाहिए। इस कथन से भगवान् महावीरस्वामी की वीतरागता भी स्वतः ही निश्चित हो जाती है।

अब त्यागवृत्ति को दृढ़ करने के लिए पुनः शिक्षा देते हैं—

चिच्चा ण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए,
समयं गोयम मा पमायए ॥२९॥

त्यक्त्वा ण धनं च भार्यां,
प्रव्रजितोह्यस्यनगारिताम् ।
मा वान्तं पुनरप्यापिब,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥२९॥

पदार्थान्वयः—चिच्चा–छोड़ कर धणं–धन च–और भारियं–भार्या को हि–जिससे अणगारियं–अनगारपन को पव्वइओसि–तू प्रव्रजित हो गया है वंतं–वमन को पुणोवि–फिर भी तू मा आविए–मत पी समयं–समय मात्र भी गोयम–गौतम ! मापमायए–मत प्रमाद कर ण–(वाक्यालंकार में)।

मूलार्थ—हे गौतम ! तू धन और भार्या आदि को छोड़ कर अनगार भाव को प्राप्त हुआ है अर्थात् दीक्षित हो गया है। अब इस वमन किए हुए को फिर तू मत ग्रहण कर। अतः इस कार्य में समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—प्रस्तुत गाथा में इस बात की शिक्षा दी गई है कि धन, धान्य और स्त्री पुत्र आदि को त्याग कर प्रव्रज्या–संन्यास–ग्रहण करने वाले मुमुक्षु जनों को उचित है कि इन त्यागे हुए पदार्थों को फिर कभी भी स्वीकार न करें। जैसे वमन किए हुए पदार्थ को फिर से कोई भी मनुष्य ग्रहण नहीं करता उसी प्रकार इन धनकलत्रादि पदार्थों को वमन के तुल्य समझ कर इनका सदा त्याग ही रखना चाहिए अर्थात् इनको फिर से ग्रहण करने का कभी विचार ही न करना चाहिए।

तथा 'पव्वइओहिसि'–'प्रव्रजितोह्यसि'–वाक्य में 'असि' इस मध्यम-पुरुष की एक वचन की क्रिया में प्राकृत के नियम से 'अकार' का लोप हो गया है। और 'हि' यह अव्यय 'यस्मात्' के अर्थ मे आया हुआ है। तथा धन शब्द से चतुष्पदादि सर्व प्रकार के धन का ग्रहण समझना।

अब शास्त्रकार इसी विषय में दूसरे प्रकार से कथन करते हैं—

अवउज्झिय मित्तबन्धवं,
विउलं चेव धणोहसंचयं।

मा तं बिइयं गवेसए,
समयं गोयम मा पमायए ॥३०॥

अपोह्य मित्राबान्धवं,
विपुलं चैव धनौघसंचयम् ।
मा तद् द्वितीयं गवेषय,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३०॥

पदार्थान्वयः—अवउज्झिय—त्याग कर मित्तवन्धवं—मित्र और बांधवों को विउलं—विपुल चेव—(पादपूरणार्थ में) धणोह—धन राशि के संचयं—संचय को बिइयं—दूसरी वार तं—मित्रादि को मा—मत गवेसए—गवेषण कर समयं—समय मात्र भी गोयम—गौतम मापमायए—प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—हे गौतम ! मित्र, बन्धु और संचित किए हुए धन समूह का परित्याग करके तू अब दूसरी वार उनके संग अथवा प्राप्ति की गवेषणा मत कर, अतएव इसके वास्ते तू अणुमात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—इस गाथा में त्यागे हुए मित्र, बन्धु और धनसमूह को पुनः प्राप्त करने के प्रयत्न का निषेध किया गया है अर्थात् जब इनको हेय समझ कर एक बार इनका परित्याग कर दिया तो फिर दूसरी वार उनको प्राप्त करने की जघन्य-लालसा करना किसी प्रकार से भी उचित नहीं है । कारण कि इस प्रकार की जघन्य लालसा आत्मा को सर्वथा अधःपात की ओर ले जाने वाली है । अतः इस त्यागवृत्ति को दृढ रखने के लिए मुमुक्षु जनों को सदा ही अप्रमत्त रहना चाहिए । यहां पर गाथा में समूहवाची 'ओह' शब्द का धन के साथ इसलिए प्रयोग किया है कि संसार में रहने वाला प्रत्येक प्राणी धन का अधिक से अधिक संग्रह करने का इच्छुक रहता है । मित्र शब्द स्त्री आदि का बोधक है ।

अब शास्त्रकार दर्शनशुद्धि के विषय में कहते हैं—

न हु जिणे अज्ज दिस्सई,
बहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए ।

संपइ नेयाउए पहे,
समयं गोयम मा पमायए ॥३१॥

न हु जिनोऽद्य दृश्यते,
बहुमतो हु दृश्यते मार्गदेशितः।
सम्प्रति नैय्यायिके पथि,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३१॥

पदार्थान्वयः—न-नहीं हु-निश्चय अज्ज-आज जिणे-जिन भगवान् दिस्सई-देखा जाता है बहुमए-बहुत से मत दिस्सइ-देखे जाते हैं मग्गदेसिए-मार्गदेशक संपइ-वर्त्तमान काल में नेयाउए-न्याययुक्त पहे-मार्ग में समयं-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—(आगामी काल में निश्चय ही भव्यजीव इस प्रकार कहेंगे)—निश्चय ही आजकल जिन भगवान् दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु संप्रति न्याययुक्त मार्ग में जिन भगवान् का बहुनयात्मक मत देखा जाता है। अतः हे गौतम ! तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! मेरे पीछे भव्य आत्मा अनुमान प्रमाण के द्वारा धर्म में दृढ़ धारणा करते हुए इस प्रकार के निश्चय पर आवेंगे कि वास्तव में आज कल तीर्थंकर भगवान् देखे तो नहीं जाते, परन्तु मुक्तिमार्ग के दिखाने वाला उनका प्रतिपादन किया हुआ बहुनयात्मक सिद्धान्त अवश्य दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि इस प्रकार का न्याययुक्त मार्ग वर्त्तमान काल में अन्यत्र कहीं पर नहीं है। तथा उक्तमार्ग सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप होने के अतिरिक्त नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन सात नयों से युक्त और स्याद्वाद रूप है। इसलिए यह मोक्ष का सरल और स्पष्ट मार्ग है। इस प्रकार के विचार से भव्य जीव साधु व गृहस्थ धर्म में स्थिर रहेंगे।

यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि जैनदर्शन में अनैकान्तिकदृष्टि को सम्यग्दर्शन कहा है अर्थात् अनेक विध सद्दृष्टियों का सापेक्ष समुच्चय ही

उसके मत में पदार्थ के यथार्थ निश्चय की चावी है, इसके विपरीत निरपेक्ष एकान्त दृष्टि को वह पदार्थ निश्चय में अपूर्ण अथ च दोषपूर्ण मानता है। इस विषय का अधिक विवेचन अन्यत्र किया जावेगा। इसलिए संप्रति–वर्तमानकाल में अर्थात् मेरे विद्यमान होते हुए, तू उक्त न्यायमार्ग के अनुसरण में किसी प्रकार का भी प्रमाद मत कर। भगवान् कहते हैं कि इस समय यद्यपि तेरे को केवलज्ञान नहीं है, तथापि मेरी विद्यमानता में तेरे सारे ही सन्देह दूर हो सकते हैं, और मुक्ति का लाभ भी तेरे को अवश्य हो सकता है।

अथवा यूं समझिये कि हे गौतम ! इस समय तू केवली नहीं है। इसलिए मेरे कथन किए हुए इस न्याययुक्त बहुनयात्मक मार्ग पर चलने में प्रमाद मत कर। तथा मेरे पर तेरा स्नेह अधिक है जोकि मोक्ष का प्रतिबन्धक है। इसीलिए तेरे को अभी तक केवलज्ञान नहीं हुआ। मेरे बाद इस स्नेहबन्धन के टूटते ही तेरे को अवश्य केवलज्ञान होगा। मेरे इस कथन पर पूर्ण विश्वास करता हुआ तू प्रमाद से सर्वथा दूर रहने का यत्न कर। अब इसी सम्बन्ध में कुछ और जाननेयोग्य विषय का वर्णन करते हैं, यथा—

अवसोहिय कंटगापहं,
ओइण्णोऽसि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया,
समयं गोयम मा पमायए ॥३२॥

अवशोध्य कंटकपथं,
अवतीर्णोऽसि पन्थानं महालयं।
गच्छसि मार्गं विशोध्य,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३२॥

पदार्थान्वयः—अवसोहिय–दूर करके कंटगापहं–कण्टकयुक्त मार्ग को ओइण्णोऽसि–प्रविष्ट हो गया है तू महालयं–बड़े विस्तार वाले पहं–भाव मार्ग में

मग्गं—मार्ग को विसोहिया—शुद्ध करके गच्छसि—तू जाता है समयं—समय मात्र भी गोयम—हे गौतम ! मा पमायए—प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! कण्टकयुक्त मार्ग को साफ़ करके अब तू बड़े विस्तृत मार्ग में प्रविष्ट हो गया है। इतना ही नहीं किन्तु निर्णयपूर्वक उस मार्ग में तू जा रहा है अतः समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—इस गाथा में भगवान् ने कण्टकयुक्त मार्ग का परित्याग करके विशुद्ध राजमार्ग में चलने का उपदेश किया है। कण्टकयुक्त मार्ग भी द्रव्य भाव भेद से दो प्रकार का है अर्थात् एक द्रव्य मार्ग दूसरा भाव मार्ग। द्रव्य मार्ग तो कंटकादि से आकीर्ण मार्ग प्रसिद्ध ही है; और भाव मार्ग चार्वाकादि निर्दिष्ट सिद्धान्तरूप कुमार्ग है। इनमें प्रथम पर चलने से तो शारीरिक व्यथा होती है और दूसरा मार्ग भवान्तर में दुःखप्रद है। अतः उक्त दोनों मार्गों का परित्याग करके सम्यग् दर्शनादि रूप निष्कंटक और सरल राजमार्ग से ही प्रयाण करना उचित है। यह मार्ग मोक्ष का सीधा और निरुपद्रव मार्ग है। इस पर चला हुआ प्राणि विना किसी विघ्न बाधा के, सीधा मोक्ष मंदिर मे पहुंच जाता है। इसलिए भगवान् गौतम मुनि से कहते हैं कि हे गौतम! तुम कंटकाकीर्ण मार्ग का परित्याग करके उत्तम राजमार्ग का अनुसरण करते हुए अब निर्णयपूर्व विशुद्ध मार्ग पर चल रहे हो। अतः इस मार्ग पर चलते हुए तुम अणुमात्र भी प्रमाद का सेवन मत करो।

इसका अभिप्राय यह है कि चार्वाकादि का कथन किया हुआ मार्ग मिथ्या होने से, रागद्वेषादि भाव कंटकों से व्याप्त है। उसपर चलने से भव्य जीवों का कल्याण नहीं हो सकता; और जो सम्यग् दर्शनादि रूप मार्ग है वह निष्कंटक और सर्वथा सरल है। अतः उस पर चलने से एक न एक दिन अभीष्टस्थान की प्राप्ति अवश्यंभावी है।

स्वीकार किए हुए संयममार्ग का परित्याग केवल पश्चात्ताप का कारण होता है, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

अबले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।

पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम मा पमायए ॥३३॥

अबलो यथा भारवाहकः,
मा मार्गं विषममवगाह्य ।
पश्चात्पश्चादनुतापकः ,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३३॥

पदार्थान्वयः—अबले-निर्बल जह-जैसे भारवाहए-भारवाहक-भार उठाने वाला मग्गे-मार्ग विसमेऽवगाहिया-विषम ग्रहण करके फिर भार को फैंक कर पच्छा-पीछे पच्छाणुतावए-पश्चात्ताप करने वाला होता है मा-इस प्रकार तू मत हो समयं-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—जैसे विषम मार्ग में गया हुआ निर्बल भारवाहक, भार को फैंक कर पीछे से पश्चात्ताप करने लगता है, उसी प्रकार, हे गौतम ! तू मत हो । अतः इस विषय में समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—इस गाथा में भारवाहक के दृष्टान्त से एक बड़े ही उत्तम और शिक्षाप्रद विषय का दिग्दर्शन कराया है । कोई निर्बल पुरुष किसी स्थान से मन इच्छित सुवर्णादि पदार्थों के भार को लेकर अपने नगर की ओर चल पड़ा, परन्तु उस ने जिस मार्ग का अनुसरण किया वह मार्ग कण्टक और पाषाणादि से व्याप्त था । मार्ग की विकटता के कारण, सिर पर उठाए हुए भार से श्रान्त होकर वह मन में विचार करने लगा कि मैं इस भार को यहां पर फैंक दूं तो ठीक होगा । यह विचार कर उसने उस भार को वहीं पर गिरा दिया और खाली हाथ अपने घर में पहुंच गया । पीछे जब उसको धन की आवश्यकता पड़ी तो उसने मार्ग मे फैंके हुए उन बहुमूल्य पदार्थों का स्मरण करके बहुत पश्चात्ताप किया और अपनी मूर्खता को वार २ धिक्कारने लगा । इसी प्रकार जिन पुरुषों ने युवावस्था में संयम-रूप भार को उठाया हुआ है और वृद्धावस्था के आने पर जब शरीर निर्बल हो जाता है तो किसी परिषह-कष्ट के सम्मुख आने से वे संयम के भार को छोड़ बैठते

हैं और उस निर्धन पुरुष के समान वे भी पश्चात्ताप करने लगते हैं। भगवान् कहते हैं कि हे गौतम, आप ऐसे मत हूजिए। गौतमस्वामी चरमशरीरी–तद्भव-मोक्षगामी जीव हैं, अतः वे ऐसे कदापि नहीं हो सकते किन्तु अन्य शिष्यों को प्रतिबोध देने के लिए ही ऐसा कहा गया है और इसके साथ इस बात की भी शिक्षा दी गई है कि यदि किसी कारण से संयमवृत्ति में अरुचि उत्पन्न हो जावे तो भी संयम के त्याग करने के भाव तो कदापि न होने चाहिएं, अपि च सम्मुख आए हुए कष्टों को धीरतापूर्वक सहन करना चाहिए। और मन में यह विचार करना चाहिए कि यह जो कष्ट मुझे इस समय प्राप्त हुआ है वह सदा या चिरकाल तक रहनेवाला नहीं है तथा यह पूर्वकृत अशुभ कर्म का विपाक है इसलिए इसको धैर्यपूर्वक सहन करना ही मेरा परम धर्म है। गजसुकुमार आदि को इन्हीं उच्चभावों ने केवल ज्ञान से विभूषित किया।

भगवान् के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर गौतमस्वामी के चित्त में संशय उत्पन्न हुआ कि–'मैंने संसार समुद्र को तर भी लिया है या कि नहीं' गौतम के इस मानसिक सन्देह को समझ कर उसे दूर करने के लिए भगवान् कहते हैं—

तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम मा पमायए ॥३४॥

तीर्णोसि खलु अर्णवं महान्तं,
किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः।
अभित्वरस्व पारं गन्तुं,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३४॥

पदार्थान्वयः—तिण्णोसि–तू तर गया है हु–निश्चय ही अण्णवं–संसार-समुद्र–जो महं–बड़ा है किंपुण–फिर क्यों तू चिट्ठसि–खड़ा है तीरं–तीर के पास

आगओ-आया हुआ पारं-पार गमित्तए-जाने को अभितुर-शीघ्रता कर समयं-समय मात्र भी गोयम-गौतम ! मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम ! तू अतिविस्तृत संसार समुद्र को तर गया है। फिर तू तीर को प्राप्त होकर अब क्यों खड़ा है ? पार जाने के लिए शीघ्रता कर। और इस विषय में समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! यह मनुष्यादि चारों गति वाला अति विस्तृत जो संसार समुद्र है इसको तू तर गया है। तू अब इसके किनारे को प्राप्त होकर क्यों खड़ा है ? तात्पर्य कि शुभाशुभ कर्म-जन्म मरण रूप संसार समुद्र को तर कर अब तू उदास क्यों हो रहा है ? अब तो इसके सर्वथा पार जाने के लिए शीघ्रता कर। अर्थात् संसार समुद्र का तीर जो मोक्ष है उसको प्राप्त करने के लिए अब तू शीघ्र तय्यारी कर। एतदर्थ किंचिन्मात्र भी प्रमाद का सेवन न कर।

इस गाथा में भगवान् ने गौतमस्वामी के संशय को दूर करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि गौतमस्वामी चरमशरीरी हैं। इसलिए संसार समुद्र को पार करके अब उसके किनारे पर आ गए हैं, इसके बाद वे केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जावेंगे।

अन्य भव्य जीवों को भी उचित है कि वे इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके अप्रमत्त भाव में रहकर इस दुस्तर संसार समुद्र को पार करने का उद्योग करें। यही उक्त गाथा का फलितार्थ है। अप्रमाद का जो फल है अब उसके विषय में कहते हैं—

अकलेवरसेणि मूसिया,
सिद्धिं गोयम लोयं गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम मा पमायए ॥३५॥

अकलेवरश्रेणिमुच्छ्रित्य,
सिद्धिं गौतम लोकं गच्छसि।

क्षेमं च शिवमनुत्तरं,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३५॥

पदार्थान्वयः—अकलेवर-शरीररहित सेणिं-श्रेणि को ऊसिया-ऊंची करके गोयम-हे गौतम! सिद्धिलोयं-सिद्धलोक को तू गच्छसि-जावेगा खेम-क्षेम च-और सिवं-कल्याणरूप अणुत्तरं-सर्वोत्कृष्ट समयं-समय मात्र भी गोयम-हे गौतम! मापमायए-प्रमाद मत कर।

मूलार्थ—हे गौतम! शरीर से रहित जो सिद्धश्रेणि है सो तू क्षपक-श्रेणि को ऊंची करके, उपद्रवरहित, सर्वोत्कृष्ट कल्याणरूप सिद्धलोक को प्राप्त होगा। अतः हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

टीका—भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! जैसे सिद्धों की श्रणी है उसके समान पवित्र क्षपकश्रेणि को ऊंची करके तू सिद्धलोक को जावेगा वह सिद्धलोक परचक्रादि उपद्रवों से रहित, और सर्व दुरितों के उपशम से कल्याणरूप, अतएव सर्वोत्कृष्ट है। अतः उसमें जाने के लिए तू अणुमात्र भी प्रमाद मत कर।

इस गाथा में इस भाव को व्यक्त किया गया है कि जैसे शरीर रहित सिद्धों की श्रेणी है उसी के समान जब यह आत्मा क्षपकश्रेणी पर आरूढ होता है तब उसके भावसंयम में विशिष्ट शुद्धि होती है। जैसे सिद्धों की श्रेणी ऊंची है, उसी प्रकार क्षपकश्रेणी को ऊंची करके यह जीव सिद्धलोक को चला जाता है। तथा वह सिद्धलोक स्वचक्र और परचक्रादि भयों से रहित (सर्व पापों के उपशम होने से) परम कल्याणरूप और सर्वोत्कृष्ट है।

यहां पर 'गच्छसि' यह क्रिया 'गमिष्यसि' के अर्थ मे प्रयुक्त हुई है। इसके लिए 'व्यत्ययश्च' यह सूत्र विद्यमान है।

अब उक्त अध्याय का निगमन करते हुए शास्त्रकार सब के हित के लिए कुछ विशेष जानने योग्य बात कहते हैं—

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे,
गामगए नगरे व संजए।

सन्तीमग्गं च बूहए,
समयं गोयम मा पमायए ॥३६॥

बुद्धः परिनिर्वृतश्चरेः,
ग्रामगतो नगरे वा संयतः ।
शान्तिमार्गं च बृंहयेः,
समयं गौतम मा प्रमादीः ॥३६॥

पदार्थान्वयः—बुद्धे-बुद्ध व परिनिव्वुडे-निवृत्त होकर-शान्त रूप होकर चरे-संयम मार्ग में चले गामगए-ग्राम में गया हुआ व-अथवा नगरे-नगर में संजए-निरंतर यत्न करके युक्त सन्तीमग्गं-शान्ति मार्ग की च-और बूहए-वृद्धि कर गोयम-हे गौतम ! समयं-समय मात्र भी मापमायए-प्रमाद मत कर ।

मूलार्थ—हे गौतम ! प्रबुद्ध व शान्तरूप होकर संयम मार्ग में विचरण कर । पापों से निवृत्त होकर ग्राम वा नगर अथवा अरण्यादि स्थानों को प्राप्त होकर शान्ति मार्ग की वृद्धि कर । इस काम में, हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

टीका—इस गाथा में इस बात का उपदेश किया गया है कि ग्राम और नगरादि में विचरता हुआ साधु अपने संयम मार्ग में दृढ़ होकर सर्वत्र शान्ति का उपदेश करे । अतएव गौतमस्वामी को भगवान् कहते हैं कि, हे गौतम ! तत्त्ववस्तु को जानकर और कषायरूप अग्नि से बचकर-शान्त रूप होकर तू संयम मार्ग में विचर । ग्राम अथवा नगरादि किसी स्थान में भी ठहरा हुआ तू शान्ति रूप में व्याप्त होकर, तथा सर्व प्रकार के पापों से अलग होकर, सर्वत्र शांति मार्ग की ही वृद्धि कर । अर्थात् सर्व भव्य जीवों को क्षमाप्रधान धर्म का ही तू उपदेश कर जिससे कि, वे मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी बनें । जिस प्रकार अति शीत गुण को धारण करता हुआ जल हिम—बर्फ़—के रूप को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार क्षमा-धर्म के अनुष्ठान से यह जीव परम शान्तिरूप निर्वाणपद को प्राप्त कर लेता है । इसी लिए मुमुक्षु पुरुष को इस कार्य के सम्पादन में सदा अप्रमत्त रहना चाहिए । भगवान् की यह शिक्षा प्रत्येक मुमुक्षु पुरुष के लिए समान है ।

भगवान् के उपदेश को सुनने के अनन्तर गौतमस्वामी पर उसका जो प्रभाव हुआ अथवा भगवान् की उक्त शिक्षा का जो अन्तिम फल है, अब उसका दिग्दर्शन गौतममुनि के व्याज से कराते हैं—

बुद्धस्स निसम्म भासियं,
सुकहियमट्ठ पओवसोहियं ।
रागं दोसं च छिंदिया,
सिद्धिगइं गए गोयमे ॥३७॥

त्ति बेमि ।

इति दुमपत्तयं समत्तं ॥१०॥

बुद्धस्य निशम्य भाषितं,
सुकथितमर्थपदोपशोभितम् ।
रागं द्वेषं च छित्त्वा,
सिद्धिगतिं गतो गौतमः ॥३७॥

इति ब्रवीमि ।

इति द्रुमपत्रकं समाप्तम् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—बुद्धस्स–बुद्ध के भासियं–भाषण को निसम्म–सुन कर जो सुकहियं–सुकथित और अट्ठ–अर्थ पओवसोहियं–तथा पदों से उपशोभित है रागं–राग च–और दोसं–द्वेष को छिंदिया–छेदन करके सिद्धिगइं–सिद्धि–मुक्ति–को गए–प्राप्त हो गए गोयमे–गौतम मुनि, त्ति–इस प्रकार बेमि–मैं कहता हूं। यह द्रुमपत्र नाम का अध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—इस प्रकार सुन्दर अर्थ और पदों से सुशोभित–बुद्ध भगवान् महावीर स्वामी के भाषण किए हुए–तत्त्व को सुनकर राग और द्वेष को छेदन करके गौतममुनि सिद्धि को प्राप्त हो गए। इस प्रकार मैं कहता हूं।

टीका—भगवान् महावीर स्वामी के सदुपदेश को सुनकर, जो कि सुन्दर अर्थ और पदविन्यास से सुशोभित है—गौतमस्वामी राग द्वेष का त्याग करके परम कल्याणरूप निर्वाणपद को प्राप्त हो गए। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भगवान् का जो उपदेश है वह परमशान्त और सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित परमसुख-रूप मोक्ष के देने वाला है। और निर्वाणसाधक वीतरागता की प्राप्ति ही उसका मुख्य प्रयोजन है।

इस गाथा में आए हुए 'बुद्ध' शब्द से भगवान् महावीर स्वामी का ही ग्रहण अभिप्रेत है ('बुद्धस्य—केवलालोकावलोकितसमस्तवस्तुतत्त्वस्यप्रक्रमाच्छ्री-मन्महावीरस्य' इति वृत्तिकारः)। अर्थात् जिसने केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोक के पदार्थों को जान लिया है वही बुद्ध होता है। अतः श्री महावीर स्वामी का नाम ही यहां पर बुद्ध है। तात्पर्य यह है कि बौद्धमत के प्रचारक शाक्यमुनि के नाम से विख्यात जो बुद्ध हुए हैं उनका इस प्रकरणसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अतः प्रस्तुत प्रकरण में बुद्ध नाम महावीर स्वामी का ही है और वही समुचित है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा का यह भी भाव है कि जिस प्रकार भगवान् के उपदेश से गौतमस्वामी ने निर्वाण पद को प्राप्त किया उसी प्रकार भगवान् के उपदेशानुसार आचरण करके प्रत्येक विचारशील पुरुष को मोक्षपद का अधिकारी बनना चाहिए।

तथा 'त्तिबेमि' इस वाक्य की व्याख्या पहले कई वार की जा चुकी है उसी के अनुसार यहां पर भी समझ लेना।

दशमाध्ययन समाप्त।

अह बहुस्सुयपुज्जं एगारसं अज्झयणं

अथ बहुश्रुतपूजमेकादशमध्ययनम्

दसवें अध्ययन में प्रमादरहित होने का उपदेश किया गया है। इस उपदेश को विवेकशील आत्मा ही ग्रहण करते हैं और विवेक की उत्पत्ति का आधार बहुश्रुत की पूजा–सेवा पर अवलम्बित है अतः इस अध्ययन में युक्तिसंगत वेही-बहुश्रुत के गुण–वर्णन किए जाते हैं और इसी लिए इस अध्ययन का नाम बहुश्रुतपूजक अध्ययन के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
आयारं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१॥

संयोगाद् विप्रमुक्तस्य, अनगारस्य भिक्षोः।
आचारं प्रादुःकरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥१॥

पदार्थान्वयः—संजोगा–संयोग से विप्पमुक्कस्स–रहित अणगारस्स–अनगार भिक्खुणो–भिक्षु के आयारं–आचार को पाउकरिस्सामि–प्रकट करूंगा आणुपुव्विं–अनुक्रम से सुणेह–सुनो मे–मुझ से।

मूलार्थ—मैं अब संयोगरहित अनगार–भिक्षु के आचार को प्रकट करूंगा तुम मुझ से अनुक्रम से सुनो।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि जिस भिक्षु ने बाह्य और अभ्यन्तर के संयोग को छोड़ दिया है और घर से भी रहित हो गया है उसके आचार को मैं क्रमपूर्वक प्रकट करूंगा, तुम सुनो। इस कथन से यह ध्वनित किया है कि बहुश्रुत के गुणों का यथावत् वर्णन तो किया नहीं जा सकता परन्तु यथाशक्ति मैं उनके वर्णन करने का यत्न करूंगा। इसी लिए वर्तमान काल की क्रिया के बदले भविष्यत्काल की क्रिया का प्रयोग किया है। तथा भिक्षु शब्द से प्रथम जो अनगार शब्द दिया है उसका अभिप्राय यह है कि बहुत से घर बार रखते हुए भी भिक्षु कहलाते हैं। अतः उनके निराकरणार्थ यहां पर भिक्षु से पूर्व अनगार शब्द का उल्लेख किया है। तात्पर्य कि प्रस्तुत प्रकरण में उसी भिक्षु का ग्रहण है जो कि द्रव्य रूप से किसी प्रकार का भी घर बार न रखता हो। तथा संयोग शब्द के साथ प्रयुक्त होने वाले 'विप्रमुक्त' शब्द में 'वि' और 'प्र' उपसर्ग का संयोग, अन्तःकरण से संयोगराहित्य—संयोगरहित होने—का ज्ञापक है। तथा अनुक्रम से सुनाने का तात्पर्य यह है कि बहुश्रुत और अबहुश्रुत किस प्रकार के होते हैं और उनके क्या २ फल होते हैं इत्यादि सबका स्वरूप सुनना चाहिए। बहुश्रुत की क्रिया और विनय किस प्रकार के होने चाहिएं इसके बोधनार्थ आचार शब्द का उल्लेख किया है। इस प्रकार इस गाथा में जितने भी पद दिए गए हैं वे सब सार्थक और प्रयोजन वाले हैं। बाह्य और अभ्यन्तर संयोगों का विवरण प्रथमाध्ययन की पहली गाथा के अर्थ में किया गया है।

अब बहुश्रुत के स्वरूप को यथावत् समझने के लिए प्रथम अबहुश्रुत के स्वरूप का वर्णन किया जाता है जिसके ज्ञान से, विपरीत रूप में बहुश्रुत के गुण स्वतः समझ में आ जावें।

जे यावि होइ निव्विज्जे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
अभिक्खणं उल्लवई, अविणीए अबहुस्सुए ॥२॥

यश्चापि भवति निर्विद्यः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
अभीक्ष्णमुल्लपति , अविनीतोऽबहुश्रुतः ॥२॥

पदार्थान्वयः—जे-जो कोई निव्विज्जे-विद्यारहित होइ-होता है अवि-अथवा विद्यासहित होता है परन्तु जो थद्धे-अहंकारयुक्त लुद्धे-लोभी अणिग्गहे-

इन्द्रियों के निग्रह से रहित है और अभिक्खणं-वारवार उल्लवई-विना विचारे वोलता है य-और अविणीए-विनय रहित है वही अबहुस्सुए-अबहुश्रुत है।

मूलार्थ—जो कोई विद्यारहित अथवा विद्यासहित है परन्तु अहंकारी, लोभी तथा इन्द्रियों के अधीन और विना विचारे वार २ बोलने वाला एवं विनय से रहित है वही अवहुश्रुत होता है।

टीका—जो पुरुष शास्त्र के वोध से रहित है अथवा शास्त्रज्ञ है, परन्तु वह अहंकार से युक्त है रसादि मे मूर्च्छित है और इन्द्रिएं जिसके वश मे नहीं हैं, इतना ही नहीं, अपितु वारवार विना विचारे असम्बद्ध भाषण करने वाला और विनयधर्म से पतित है—उसी को अवहुश्रुत कहते हैं। तात्पर्य कि जो विद्याहीन होते हैं वे उक्त दुर्गुणों में प्रायः शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

मूल सूत्र में, 'अवि-अपि' शब्द का इसलिए प्रयोग किया है कि कदाचित् शास्त्रज्ञ होकर भी जो उक्त दुर्गुणों मे प्रविष्ट हो जाते हैं उनको भी अवहुश्रुत ही समझना चाहिए क्योंकि वहुश्रुत होने पर भी वे उक्त दुर्गुणों के कारण वहुश्रुत के फल से वंचित ही रहते हैं।

प्रस्तुत गाथा मे यह भाव दिखाया गया है कि जो सद्विद्या से रहित होते हैं, वे अहंकारी, लोभी, इन्द्रियवशवर्ती, असम्वद्धप्रलापी और अविनयी होते हैं। इसीलिए उन्हें अवहुश्रुत कहा है। तथा जिनमें थोड़ा वहुत शास्त्रीयज्ञान होने पर भी उक्तदुर्गुणों की सत्ता मौजूद है, वे भी अवहुश्रुत ही हैं, अतः उक्त प्रकार के दुर्गुणों से रहित होना ही वहुश्रुत होने का चिह्न है।

अव अवहुश्रुतता के हेतुओं के विषय मे कहते हैं—

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥३॥

अथ पंचभिः स्थानैः, यैः शिक्षा न लभ्यते।
स्तंभात्क्रोधात्प्रमादेन, रोगेणालस्येन च ॥३॥

पदार्थान्वयः—अह-अथ पंचहिं-पांच ठाणेहिं-स्थानों से जेहिं-जिनसे सिक्खा-शिक्षा न लब्भई-नहीं मिलती थम्भा-अहंकार से कोहा-क्रोध से

पमाएणं-प्रमाद से रोगेण-रोग से य-और आलस्सएण-आलस्य से।

मूलार्थ—इन पांच कारणों से शिक्षा की प्राप्ति नहीं होती जैसेकि-गर्व से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से।

टीका—ऊपर की गाथा में बतलाए हुए दुर्गुण, बहुश्रुतता के विघातक क्यों हैं अर्थात् उन दुर्गुणों की विद्यमानता में बहुश्रुतता क्यों नहीं होती इस भाव को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत गाथा का निर्देश किया है। प्रस्तुत गाथा में यह भाव दिखलाया है कि निम्नलिखित पांच कारण शिक्षाप्राप्ति में प्रतिबन्धक हैं अर्थात् प्रतिबन्धक कारणों के रहने पर, ग्रहणशिक्षा और आसेवनशिक्षा की प्राप्ति नहीं हो सकती। वे प्रतिबन्धक कारण गर्व, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य ये पांच हैं। जैसे कि-(१) किसी विद्यार्थी को किसी बात का गर्व-अहंकार-है तो वह भी शिक्षा के अयोग्य होता है (२) जो शिक्षा के होने पर क्रोध के वशीभूत हो जाता है वह भी शिक्षा के योग्य नहीं है (३) तथा जो प्रमाद—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—में लीन हो रहा है वह भी शिक्षाग्रहण नहीं कर सकता (४) जिसका शरीर रोगी रहता है वह भी शिक्षाग्रहण में समर्थ नहीं हो सकता और (५) जो आलस्य में पड़ा रहने वाला है उसको भी शिक्षा का प्राप्त होना दुर्लभ है। इनमें अहंकार और क्रोध तो विद्यार्थी की पात्रता को ही बिगाड़ देते हैं, तथा प्रमाद का बुरा प्रभाव तो आत्मा के ऊपर इनसे भी अधिक होता है, इससे आत्मा की ग्रहण-शक्ति सर्वथा विकृत हो जाती है। रोग से आत्मा की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है, और आलस्य उसको प्रमादी बना देता है। इस प्रकार ये पांचों ही समुदायरूप से वा पृथक् रूप से विद्याग्रहण मे प्रतिबन्धक हैं। इनके होने पर विद्यार्थी गुरु से शास्त्राभ्यास नहीं कर सकता। इस प्रकार इन प्रतिबन्धक कारणों से शिक्षा की प्राप्ति न होने के कारण वह अबहुश्रुत रह जाता है तात्पर्य कि ये सब अबहुश्रुतता के कारण हैं जिनका कि उक्त गाथा में उल्लेख किया गया है।

अब बहुश्रुतता के साधनों का उल्लेख करते हैं—

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सया दन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥४॥

अथाष्टभिः स्थानैः, शिक्षाशील इत्युच्यते ।
अहसनशीलः सदा दान्तः, न च मर्मोदाहरः ॥४॥

पदार्थान्वयः—अह–अनन्तर अट्ठहिं–आठ ठाणेहिं–स्थानों से सिक्खासीले–शिक्षाशील–शिक्षा के योग्य त्ति–इस प्रकार वुच्चई–कहा जाता है अहस्सिरे–हास्यन करने वाला सयादन्ते–सदा दान्त–इन्द्रियों का दमन करने वाला य–और मम्मं–दूसरे के मर्म को न उदाहरे–न कहनेवाला ।

मूलार्थ—आठ स्थानों से शिक्षाशील–शिक्षा के योग्य–इस प्रकार कहा जाता है । यथा–१ हास्य न करनेवाला, २ इन्द्रियों को दमन करनेवाला, और ३ दूसरों के मर्म को न कहनेवाला ।

टीका—तीर्थंकर भगवान् ने शिक्षाशील जीवों के आठ कारण बतलाए हैं जैसेकि–हेतु के होने अथवा न होने पर जो हसनशील नहीं है वही शिक्षा के योग्य होता है, क्योंकि जिसका उपहास्य करने का स्वभाव होता है वह कदापि शिक्षा के योग्य नहीं हो सकता । तथा पांचों इन्द्रिय और छठा मन इनको जो वश में रखता है अर्थात् इनका जिसने दमन किया है वही शिक्षा के योग्य है, कारण कि शिक्षाग्रहण में ब्रह्मचर्य का सेवन और इन्द्रियों का दमन नितान्त आवश्यक है ।

एवं किसी सतीर्थ के मर्म को उद्घाटन न करने वाला ही शिक्षा के योग्य हो सकता है । जो विद्यार्थी मर्मभेदी वचन को कहता है अर्थात् दूसरों के अन्तःकरण को दग्ध करनेवाले वचनों को भाषण करता है, वह शिक्षा के योग्य नहीं है । यदि किसी प्रकार से उसको शिक्षा की प्राप्ति हो भी जावे तो वह शिक्षा उसे फलीभूत नहीं होती । इस प्रकार शास्त्रकार ने हास्यशील न होना, दान्तेन्द्रिय होना, और मर्मभाषी न होना ये तीन गुण शिक्षाप्राप्ति के साधन रूप से वर्णन किए हैं ।

अब शेष पांच कारणों का उल्लेख करते हैं—

नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥५॥

नाशीलो न विशीलः, न स्यादतिलोलुपः ।
अक्रोधनः सत्यरतः, शिक्षाशील इत्युच्यते ॥५॥

पदार्थान्वयः—असीले-शीलरहित न-नहीं है विसीले-खंडितशील न-नहीं है अइलोलुए-अति लोलुप न सिया-न होवे अकोहणे-क्रोध से रहित सच्चरए-सत्य भाषण में रत सिक्खासीले-शिक्षाशील त्ति-इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—शुद्ध आचार वाला, खंडित आचार से रहित, अलोलुप-रसों में मूर्च्छित न होने वाला, क्रोधरहित और सत्य बोलने वाला शिक्षाशील कहा जाता है ।

टीका—शिक्षा के योग्य वही जीव हो सकता है जो श्रेष्ठ आचार रखता हो, जिसका आचार खंडित न हुआ हो, रसों में जिसकी मूर्च्छा बढ़ी हुई न हो और क्षमायुक्त तथा सत्यभाषण करने वाला हो । तात्पर्य कि इन्हीं उक्त गुणों से वह शिक्षित होकर बहुश्रुत के पद को प्राप्त हो जाता है । सारांश यह है कि जिनकी शिक्षाग्रहण करते समय सदाचार में दृढ़ता नहीं रहती, वे न तो शिक्षा से विभूषित हो सकते और न ही बहुश्रुत हो सकते हैं । इसलिए इन उक्त सद्गुणों की ओर शिक्षाप्रेमी विद्यार्थियों को अवश्यमेव ध्यान देना चाहिए । इसके अतिरिक्त जो पुरुष इन उक्तगुणों की अवहेलना करके सद्विद्या के ग्रहण की रुचि रखते हैं, वे मानो अग्निशिखा से पुष्पों की प्राप्ति की आशा करते हैं । इससे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि बहुश्रुत होने के लिए उक्तगुणों की प्राप्ति ही मुख्य कारण है ।

बहुश्रुत और अबहुश्रुत होने मे विनीत और अविनीत भाव की ही प्रधानता है । अतः विनीतभाव को समझने के लिए प्रथम अविनीतता के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

अह चउद्दसहिं ठाणेहिं, वट्टमाणे उ संजए ।
अविणीए वुच्चई सो उ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥६॥

अथ चतुर्दशसु स्थानेषु, वर्तमानस्तु संयतः ।
अविनीत उच्यते स तु, निर्वाणं च न गच्छति ॥६॥

पदार्थान्वयः—अह-अव चउद्दसहिं-चतुर्दश ठाणेहिं-स्थानों में वट्टमाणे-वर्तमान उ-(पादपूर्त्यर्थ है) संजए-संयत, साधु सो-वह अविणीए-अविनीत वुच्चई-कहा जाता है उ-(पूर्ववत् जानना) च-और निव्वाणं-निर्वाण को नगच्छइ-नहीं जाता।

मूलार्थ—इन अनन्तरोक्त चतुर्दश स्थानों में वर्तता हुआ साधु अविनीत कहा जाता है। और वह निर्वाण-मोक्ष-को प्राप्त नहीं होता।

टीका—आगे कहे जाने वाले जो चतुर्दश स्थान हैं उनमें स्थित हुआ साधु अविनीत कहा जाता है और वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। यहां पर 'च' शब्द से इतना और समझ लेना चाहिए कि उसको इस लोक मे ज्ञानादि की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। अतः इन चतुर्दश स्थानों में वर्तना न चाहिए। तथा सूत्र में 'चउद्दसहिं ठाणेहिं' यहां तृतीयाविभक्ति सप्तमी—'चतुर्दशसु स्थानेषु' के अर्थ में सुब्व्यत्यय से प्रयुक्त हुई है। एवं निर्वाण का दूसरा अर्थ परम शांति भी है सो अविनीत को शांति की प्राप्ति भी दुर्घट है।

अब शास्त्रकार उक्त स्थानों का नाम निर्देश करते हैं—

अभिक्खणं कोही भवइ, पबन्धं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूणमज्जई ॥७॥

अभीक्ष्णं क्रोधी भवति, प्रबन्धं च प्रकरोति।
मैत्रीयमाणो वमति, श्रुतं लब्ध्वा माद्यति ॥७॥

पदार्थान्वयः—अभिक्खणं-वारंवार कोही-क्रोधी भवइ-होता है च-और पबन्धं-क्रोध का प्रबन्ध पकुव्वई-करता है मेत्तिज्जमाणो-मित्रता के भाव को वमइ-छोड़ता है सुयं-श्रुत को लद्धूण-प्राप्त करके मज्जई-मद-अहंकार-करता है।

मूलार्थ—वार २ क्रोध करता है, क्रोध के प्रबन्ध का त्याग नहीं करता, मित्र की मित्रता को भी त्याग देता है और श्रुत के पढ़ने पर भी अहंकार करता है।

टीका—वार २ क्रोध करने वाला भी विनय धर्म से रहित होता है। तथा क्रोध के प्रबन्ध का त्याग न करना भी अविनीतता का ही लक्षण है। तात्पर्य कि किसी निमित्तवश अथवा विना निमित्त से क्रोध के आवेश में आने पर उसे

मृदु वचनों से शान्त नहीं करना किन्तु बढ़ाते ही जाना अविनीतता का दूसरा स्वरूप है तथा मित्रता का परित्याग करना अर्थात् किसी व्यक्ति के साथ प्रथम की हुई मित्रता का परित्याग करना, अथवा दीक्षाग्रहण करने के समय पर छः काय के जीवों के साथ मैत्री धारण करने की जो प्रतिज्ञा की थी उसको शिथिलाचार में प्रविष्ट होकर त्याग देना, तथा किसी ने कोई उपकार किया हो तो उसको भूल जाना अर्थात् उसके कृतज्ञ होने के बदले कृतघ्न बन जाना। अपिच स्थानांगसूत्र में लिखा है कि श्रावक चार प्रकार के होते हैं। १ माता पिता के समान, २ भ्राता के समान, ३ मित्र के समान और ४ सपत्नी के समान; सो इनमें जो मित्र के समान बर्ताव करने वाले हितकारी हैं उन पर मित्र भाव को त्याग देना अविनीतता का तीसरा स्थान है। तथा श्रुत–विद्या–को प्राप्त करके गर्व करना–जैसे कि मेरे समान दूसरा कोई शास्त्रज्ञ नहीं है इत्यादि अविनीतपन का चौथा स्वरूप है। कारण कि सद्विद्या का फल नम्रता और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति है किन्तु उसको प्राप्त करके अहंकारयुक्त होना तो विनय धर्म की विराधना करना है।

इस प्रकार अविनीतता के चतुर्दश स्थानों के वर्णन में से चार का तो वर्णन ऊपर आ गया अब बाकी के स्थानों का वर्णन किया जाता है—

अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावयं ॥८॥

अपि पापपरिक्षेपी, अपि मित्रेभ्यः कुप्यति।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि भाषते पापकम् ॥८॥

पदार्थान्वयः—अवि–(संभावना में) पाव–स्खलनादि के कारण से परिक्खेवी–आचार्यादि का तिरस्कार करने वाला अवि–(संभावना में) मित्तेसु–मित्रों पर कुप्पई–कोप करता है अवि–(संभावना में) सुप्पियस्स–अति प्यारे मित्तस्स–मित्र के रहे–एकान्त में पावयं–अवगुणवाद भासइ–बोलता है।

मूलार्थ—जो अविनीत होता है वह गुरु आदि के स्खलित होने पर उनका तिरस्कार करता है, मित्रों पर कोप करता है, अति प्यारे मित्र के भी एकान्त में अवगुण बोलता है।

टीका—इस गाथा में अविनीत के तीन लक्षण बतलाए हैं। १ यदि किसी कारण से आचार्यादि प्रधान पुरुष, समिति वा गुप्ति आदि में स्खलित हो जावे तो उनका तिरस्कार करना, २ मित्रों पर कोप करना, ३ तथा अपने अति प्रिय मित्र का भी एकान्त में अवर्णवाद बोलना। इससे पूर्व की गाथा में चार, और इसमें तीन ऐसे सात लक्षण अविनीत के बतलाए गए हैं।

उक्त गाथा में आए हुए 'पावपरिक्खेवी—पापपरिक्षेपी' का वृत्तिकार भी यही अर्थ करते हैं, यथा—'असौपापैः—कथञ्चित् समित्यादिषु स्खलित लक्षणैः परिक्षि-पति—तिरस्कुरुत इत्येवंशीलः पापपरिक्षेपी, आचार्यादीनामिति गम्यते' अर्थात् यदि किसी निमित्तवश वृद्धों से भूल हो गई हो तो उस भूल को मुख्य रखकर उनका जो तिरस्कार करता है वह पापपरिक्षेपी—अविनीत कहलाता है। इसके अतिरिक्त, विना कारण मित्र पर कुपित होना और अपने अति प्रिय मित्र के परोक्ष में अवगुण प्रकट करना अविनीत पुरुष का ही कार्य है।

अब अविनीत के अन्य लक्षणों को दिखाते हैं—

पइन्नवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अनिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ॥९॥
प्रकीर्णवादी द्रोहशीलः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभाग्यप्रीतिकरः , अविनयीत्युच्यते ॥९॥

पदार्थान्वयः—पइन्नवाई—असंबद्धभाषी दुहिले—द्रोह करने वाला थद्धे—स्तब्ध—अहंकार करने वाला लुद्धे—लोभी अनिग्गहे—असंयतेन्द्रिय असंविभागी—संविभाग न करने वाला अवियत्ते—अप्रीतिकर अविणीए—अविनयवान् त्ति—इस प्रकार वुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—प्रकीर्णवादी—असम्बद्धभाषी, द्रोह करने वाला, स्तब्ध और लोभी तथा इन्द्रियों को वश में न रखने वाला, संविभाग न करने वाला और अप्रीति रखने वाला अविनयी—अविनीत—कहलाता है।

टीका—विना विचार किए बोलनेवाला, मित्र के साथ द्रोह करनेवाला, अहंकारी, लोभी, इन्द्रियों के अधीन रहने वाला, असंविभागी—किसी साधारण

वस्तु का संविभाग न करने वाला और सबके साथ अप्रीतियुक्त व्यवहार करने वाला अविनीत कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार के अवगुण जिसमें विद्यमान हों उसको अविनीत—विनयगुणरहित—कहते हैं।

ये सब मिलकर अविनीत के चौदह स्थान हैं। इनका समुच्चयरूप से नामनिर्देश इस प्रकार है—१ क्रोध २ क्रोधस्थितिकरण ३ मैत्रीत्याग ४ विद्या का मद ५ पर के छिद्रों को देखना ६ मित्र पर कोप करना ७ प्रिय मित्र का भी परोक्ष में अवर्णवाद करना ८ असंबद्धभाषण करना ९ मित्र के साथ द्रोह करना १० अहंकार करना ११ लोभी होना १२ इन्द्रियों का वशवर्ती होना १३ साधारण वस्तु का संविभाग न करना १४ अप्रीति उत्पन्न करने वाले कार्य करना। इन चतुर्दश हेतुओं से इस जीव में अविनीतता उत्पन्न हो जाती है और उसका फल यह होता है कि इन अवगुणों के कारण अविनीत हुआ पुरुष निर्वाणपद को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें निर्वाणप्राप्ति की योग्यता नहीं रहती। अतः विचारशील पुरुषों को इन अवगुणों का परित्याग करके विनीतभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब शास्त्रकार सुविनीत के विषय में कहते हैं—

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥१०॥

अथ पंचदशभिः स्थानैः, सुविनीत इत्युच्यते।
नीचवर्त्यचपलः , अमाय्यकुतूहलः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—अह—अब पन्नरसहिं—पंचदश ठाणेहिं—स्थानों में वर्तने से सुविणीए—सुविनीत त्ति—इस प्रकार वुच्चई—कहा जाता है नीयावत्ती—नीचवर्ती अचवले—चपलता से रहित अमाई—कपट से रहित अकुऊहले—कुतूहल से रहित।

मूलार्थ—अब पंचदश स्थानों में इस प्रकार वर्तने से सुविनीत कहा जाता है—जैसे कि, गुरु से नीचे वर्तने वाला, चपलता से रहित, छल से रहित और कुतूहलादि से पराङ्मुख।

टीका—अविनीत के चौदह स्थानों के अनन्तर अब विनीत के पन्द्रह स्थानों का वर्णन करते हैं। इन अनन्तरोक्त पंचदश स्थानों में वर्तने वाला ही विनीत

कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस जीव मे ये पंचदश स्थान—लक्षण—विद्यमान हों वह सुविनीत है। (१) नीचवर्ती—गुरुजनों से अपना आसन नीचा रखना, उनकी अपेक्षा पुराणे और कम मूल्य के वस्त्रादि का व्यवहार करना यह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से नीचा वर्ताव—नम्रता का बर्ताव—है। (२) चपलतारहित होना—चार प्रकार की चपलताओं का परित्याग करना जैसे कि गतिचपलता, स्थितिचपलता, भाषाचपलता और भावचपलता इस प्रकार चपलता के यह चार भेद हैं। इनमें—अतिशीघ्रता से चलना गतिचपलता है, बैठे हुए विना प्रयोजन हाथ पैर हिलाते रहना स्थितिचपलता है। असत्य और असम्बद्धभाषणविकथा करना भाषाचपलता कहलाती है और एक कार्य की असमाप्ति मे ही दूसरे का आरम्भ कर देना अथवा पदार्थ के ग्रहण मे अधिक चंचलता करना भावचपलता है। इन चार प्रकार की चपलताओं का त्याग करने वाला विनीत कहलाता है। क्योंकि जहां पर चपलता होती है वहां पर विनय धर्म की स्थिति नहीं हो सकती। (३) अमायी—कपटरहित—होना अर्थात् गुरु आदि से किसी प्रकार का छलयुक्त व्यवहार न करना (४) अकुतूहली—कुतूहल से रहित अर्थात् इन्द्रजाल और नाटक आदि का न देखना तथा अन्य उपहास्यजनक क्रियाओं में रुचि न रखने वाला विनीत कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि ये सब कौतूहलवर्द्धक कार्य विनीतता के विघातक हैं, अतः विद्यार्थी को इनका त्याग ही करना चाहिए।

अब विनीतता के अन्य स्थानों का वर्णन करते हैं—

अप्पं च अहिक्खिवइ, पबन्धं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धुं न मज्जई ॥११॥

अल्पं चाधिक्षिपति, प्रबन्धं च न करोति।
मैत्रीयमाणो भजते, श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति ॥११॥

पदार्थान्वयः—अप्पं—अल्प, थोड़ा च—निश्चय मे अहिक्खिवइ—तिरस्कार नहीं करता पबन्धं—क्रोध का प्रबन्ध नकुव्वई—नहीं करता च—और मेत्तिज्जमाणो—मित्र की मित्रता को भयई—सेवन करता है सुयं—श्रुत को लद्धुं—प्राप्त करके नमज्जई—अहंकार नहीं करता।

मूलार्थ—विनीतपुरुष किसी का थोड़ा सा भी तिरस्कार नहीं करता, क्रोध का प्रबन्ध चिरकाल तक नहीं रखता, मित्र की मित्रता को पालन करता है और श्रुत को प्राप्त करके गर्व नहीं करता।

टीका—जो विनीत अर्थात् विनयशील होता है वह स्वल्पमात्र भी किसी का तिरस्कार नहीं करता अपितु तिरस्कार के बदले सत्कार के लिए उपस्थित हो जाता है। कभी किसी कारणवश क्रोध आ जावे तो उसे शीघ्र ही शान्त कर लेता है और उस क्रोध को चिरस्थायी नहीं होने देता। तात्पर्य यह कि उसकी चेष्टा अनन्तानुबन्धी के क्रोध के समान नहीं होती। किन्तु उसका क्रोध संज्वलन मात्र ही होता है। एवं यदि कोई उसका मित्र बन गया हो तो उसके साथ भी वह सदा मित्रता का ही बर्ताव करता है और बन सके तो उस पर उपकार ही करता है और यदि उपकार करने की उसमें किसी प्रकार की शक्ति न हो तो कृतघ्न तो कदापि नहीं बनता। तथा विनीतपुरुष श्रुत—विद्या—को प्राप्त करके मनमें किसी प्रकार का अहंकार नहीं करता अपितु पहले से भी वह सफल वृक्ष की तरह अधिक विनम्र हो जाता है। ये सब विनीतता के लक्षण हैं, इनको धारण करने वाला विनयवान् कहा जाता है।

उक्त गाथा में आया हुआ 'अल्प' शब्द अभाव का वाचक है और 'च' शब्द का अवधारण अर्थ है।

अब विनीत के अन्य स्थानों का वर्णन करते हैं—

न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥१२॥

न च पापपरिक्षेपी, न च मित्रेभ्यः कुप्यति।
अप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि कल्याणं भाषते ॥१२॥

पदार्थान्वयः—य—और न—नहीं पावपरिक्खेवी—पाप और परपरिक्षेप करता है य—और न—नहीं मित्तेसु—मित्रों के लिए कुप्पई—कोप करता है अप्पियस्साविमित्तस्स—अप्रिय मित्र को भी रहे—एकान्त में कल्लाण—कल्याणकारी वचन भासई—कहता है।

मूलार्थ—पर पुरुषों पर दोषारोपण नहीं करता, मित्रों पर कोप नहीं करता और अप्रिय मित्र का भी एकान्त में गुणानुवाद ही करता है।

टीका—जो पुरुष विनीत होता है वह गुरुजनों के अकस्मात् समिति गुप्ति आदि गुणों के स्खलित हो जाने पर उनका तिरस्कार कदापि नहीं करता तथा मित्रों पर कुपित नहीं होता कदाचित् मित्र से कोई अपराध हो जावे तो उसको हित शिक्षा मात्र भले ही कर देवे, परन्तु उस पर क्रोध नहीं करता, क्योंकि मनुष्य का किसी बात में भूल कर देना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है और किसी अप्रिय मित्र के अपराधों को जान कर भी परोक्ष में उसका अवर्णवाद नहीं करता अपितु कभी काम पड़े तो उसका गुणानुवाद ही करता है। नीतिकारों ने कहा भी है कि—'एकसुकृतेन दुष्कृतशतानि ये नाशयन्ति ते धन्याः। न त्वेकदोषजनितो येषां कोपः स च कृतघ्नः' इत्यादि।

तथा 'मित्तेसु'—मित्रेभ्यः, यहां चतुर्थीविभक्ति के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग किया गया है।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

कलहडमरवज्जिए , बुद्धे अभिजाइगे।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥१३॥

कलहडमरवर्जकः , बुद्धो ऽभिजातिकः।
ह्रीमान् प्रतिसंलीनः, सुविनीत इत्युच्यते ॥१३॥

पदार्थान्वयः—कलहडमर—कलह और प्राणिघात आदि के वज्जिए—वर्जने-वाला बुद्धे—बुद्धिमान् अभिजाइगे—संयम के निर्वाह करने वाला हिरिमं—लज्जा वाला पडिसंलीणे—इन्द्रियों को वश में करने वाला सुविणीए—सुविनीत त्ति—इस प्रकार से वुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—कलह और डमर—प्राणिघात—के वर्जने वाला, बुद्धिमान्, ग्रहण किए हुए संयम भार का निर्वाह करने वाला, अकार्य करने से लज्जा करने वाला और इन्द्रिय तथा मन को वश में करने वाला, सुविनीत कहा जाता है अर्थात् उक्त लक्षण जिसमें हों उसे सुविनीत कहते हैं।

टीका—इस गाथा में भी विनीत के लक्षणों का निर्देश किया गया है, यथा–बुद्धिमान् पुरुष वाणी और मुष्टि आदि के द्वारा युद्ध करने वाला न हो, तथा संयम के भार को उठाने में अपनी कुलीनता का परिचय दे अर्थात् ग्रहण किए हुए संयम का पूर्ण रूप से निर्वाह करे। अकार्य में प्रवृत्त होने से लज्जा करे। और विना कारण गुरुजनों के पास से इधर उधर न जावे। ये सब विनयवान् के लक्षण हैं। इन गुणों के आने से विद्या की प्राप्ति शीघ्र होती है। ये पन्द्रह विनीत के गुणस्थान कहे जाते हैं। इनका समुच्चय नाम इस प्रकार है; १ गुरुजनों के बराबर न बैठना २ चपलता का त्याग करना ३ मायारहित होना ४ कुतूहल का त्याग करना ५ किसी का भी तिरस्कार न करना ६ दीर्घकाल तक रोष न रखना ७ मित्रों पर उपकार करना ८ विद्या का मद न करना ९ आचार्यादि के मर्म को प्रकट न करना १० मित्रों पर क्रोध न करना ११ अपराध होने पर भी मित्र के दोषों को न कहना और परोक्ष में अमित्र के भी गुणों का ही वर्णन करना १२ कलह और डमर–जीवहिंसा का त्याग करना १३ गुरुकुल में वास करना १४ लज्जाशील होना और १५ प्रतिसंलीन–जितेन्द्रिय–होना ये पन्द्रह स्थान विनीत पुरुष के कहे जाते हैं। ये ही सब बहुश्रुतता के कारण हैं।

उक्त गुणों से विभूषित होने वाले पुरुष को जो लाभ होता है, अब शास्त्रकार उसी के विषय में कहते हैं।

वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई ॥१४॥

वसेद् गुरुकुले नित्यं, योगवानुपधानवान् ।
प्रियङ्करः प्रियंवादी, स शिक्षां लब्धुमर्हति ॥१४॥

पदार्थान्वयः—गुरुकुले–गुरुकुल में निच्चं–सदा वसे–वास करे जोगवं–योगवान् उवहाणवं–उपधान तप वाला पियंकरे–प्रिय करने वाला पियंवाई–प्रिय बोलने वाला से–वह सिक्खं–शिक्षा लद्धुं–प्राप्त करने के अरिहई–योग्य होता है।

मूलार्थ—जो पुरुष गुरुकुल में वास करने वाला, समाधि और उपधान तप करने वाला, प्रिय करने और प्रिय बोलने वाला हो वह शिक्षाप्राप्ति के योग्य होता है।

टीका—इस गाथा में विद्याप्राप्ति की योग्यता के सम्पादक गुणों का दिग्दर्शन कराया गया है अर्थात् जिन गुणों के धारण करने से मनुष्य, सद्विद्या की प्राप्ति के योग्य होता है उन्हीं का वर्णन प्रस्तुत गाथा मे किया गया है। सदा गच्छ—समुदाय में रहना और गुरुजनों की आज्ञा से वाहिर न होना गुरुकुलवास है। तथा—धर्म व्यापार के योगों मे स्थित रहने वाले को योगवान् अथवा अष्टाङ्गलक्षण-योग का अभ्यास करने वाला योगवान् कहलाता है अपिच अंगोपाङ्गरूप सूत्रों की आराधना के निमित्त आचाम्ल, उपवास, निर्विकृत्यादि तप के करने वाले को उपधान तप वाला कहते हैं। अतः योगवान् और उपधानवान् होकर सदा गुरुजनों की आज्ञा में जो रहे वह विद्याप्राप्ति के योग्य होता है। तथा यदि किसी ने अपकार भी किया हो तो भी उसपर रोष न करे किन्तु उक्त कृत्य को अपने ही किये हुए अशुभ कर्म का फल समझकर अपराध करने वाले पर भी प्रीति का ही व्यवहार करने वाला होवे। तथा जिस कार्य के करने से प्राणिवर्ग को सुख उपजे और आचार्यादि गुरुजनों को भी प्रसन्नता हो उसी कार्य का अनुष्ठान करने वाला होवे। एवं यदि किसी ने प्रतिकूल व कठोर भाषण किया हो तो उसके साथ भी प्रियभाषण करने वाला होवे अर्थात् उसको भी प्रिय भाषा में ही उत्तर देने की चेष्टा करे। ये सब लक्षण शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता रखने वाले विनीत पुरुष के होते हैं। इन से विपरीत आचरण करने वाला अविनीत कहा जाता है।

ये पूर्वोक्त शिक्षाएं इस आत्मा को बहुश्रुतता के योग्य बना देती है क्योंकि इन्हीं के द्वारा बहुश्रुत पद की प्राप्ति होती है। सो अब सूत्रकार बहुश्रुत के प्रतिपत्तिरूप आचार की प्रशंसा कुछ दृष्टान्तों के द्वारा करते हैं। यथा—

जहा संखम्मि पयं, निहियं दुहओ वि विरायइ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू, धम्मो कित्ती तहा सुयं ॥१५॥

यथा शंखे पयो, निहितं द्विधापि विराजते।
एवं बहुश्रुते भिक्षौ, धर्मः कीर्तिस्तथा श्रुतम् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे संखम्मि—शंख में पयं—दूध निहियं—रक्खा हुआ दुहओ—दो प्रकार से विविरायइ—विराजता है—शोभा पाता है एवं—इसी प्रकार

बहुस्सुए-बहुश्रुत भिक्खू-भिक्षु में धम्मो-धर्म कित्ती-कीर्ति तहा-तथा सुयं-श्रुत-शोभा पाता है।

मूलार्थ—जैसे शंख में रक्खा हुआ दूध दोनों प्रकार की उज्ज्वलता से शोभा पाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत-आगम-शोभा पाते हैं।

टीका—शंख में डाला हुआ दूध कुछ विशिष्ट शोभा को प्राप्त कर लेता है क्योंकि एक तो दूध स्वयं उज्ज्वल और श्वेत होता, तिस पर शंख में डालने से शंख की उज्ज्वलता भी उसके साथ मिल जाती है अर्थात् शंख और दूध दोनों एक दूसरे की उज्ज्वलता और श्वेतता को ग्रहण करते हुए कुछ विलक्षण रूप से ही सुशोभित होते हैं, इसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में रहे हुए धर्म, कीर्ति और श्रुत अन्य साधारण की अपेक्षा कुछ विलक्षण शोभा वाले हो जाते हैं। तात्पर्य कि जहाँ पर आधार पूर्ण शुद्ध हो और उसी के अनुसार यदि वहाँ पर आधेय पदार्थ भी शुद्ध ही मिल जावे तब तो उन दोनों की शोभा निस्सन्देह अपूर्व ही हो जाती है। तथा जिस प्रकार शंख मे डाला हुआ दूध कालुष्य और अम्लता को धारण नहीं करता उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती। इस सारे कथन का सारांश यह है कि जिस प्रकार शंख में रक्खा हुआ दूध अपने गुणों में हर प्रकार से विशेषता को प्राप्त करता है उसी प्रकार बहुश्रुत मे रहे हुए धर्म, कीर्ति और श्रुत भी अपने स्वरूप मे विशेष उन्नति को प्राप्त करते हैं। क्योंकि जिस गच्छ में बहुश्रुत साधु होंगे उस गच्छ की संसार मे विशेष प्रतिष्ठा होगी, उसकी ओर भाविक गृहस्थों की रुचि बढ़ेगी, वे धर्म का श्रवण करेंगे, शास्त्रों का स्वाध्याय करेंगे और धर्म के अनुष्ठान मे प्रवृत्त होंगे। इसलिए बहुत श्रुत के सम्बन्ध से उक्त धर्मादि गुणों में विशेषता का आना आवश्यक और सुनिश्चित है।

अब इसी विषय को दूसरे दृष्टान्त से बतलाते है—

जहा से कम्बोयाणं, आइण्णे कन्थए सिया।
आसे जवेण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१६॥

यथा स कम्बोजानां, आकीर्णः कन्थकः स्यात् ।
अश्वो जवेन प्रवरः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे से–वह कम्बोयाणं–कम्बोज देश के जन्मे हुए घोड़े में आइण्णे–शीलादि गुणों से युक्त कन्थए–प्रधान आसे–घोड़ा सिया–होता है जो जवेण–गति से भी पवरे–प्रधान है एवं–इसी प्रकार बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है।

मूलार्थ—जैसे कम्बोज देश के उत्पन्न हुए घोड़े में शीलादि गुणों से युक्त प्रधान घोड़ा होता है, तथा जो गति से भी प्रधान है–उसी प्रकार बहुश्रुत, प्रधान होता है।

टीका—जैसे कम्बोज देश के उत्पन्न हुए घोड़ों में, एक घोड़ा शीलादि गुणों से युक्त और निर्भीक–पत्थर आदि के मार्ग में भी अस्खलित गति वाला, तथा वादित्रादि के तुमल शब्द से भी त्रसित न होने वाला–प्रधान घोड़ा होता है जो कि अपनी गति में अद्वितीय है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी ज्ञान और क्रिया में प्रधानता को धारण करता है। तात्पर्य कि जैसे वह अश्व वादित्रादि के शब्दों से त्रसित नहीं होता, उसी तरह बहुश्रुत भी वादियों के प्रवादों से भयभीत नहीं होता किन्तु निर्भय होकर उनपर विजय प्राप्त करता है। उक्त गाथा में आए हुए आइण्णे–आकीर्ण–शब्द का अर्थ है शुद्ध जाति और कुलवान्। तब जिसका जाति, कुल शुद्ध होंगे, उसमें गुणों का संचार होना स्वाभाविक है। तथाच जिस प्रकार उक्त गुणों के प्रभाव से वह घोड़ा राजा आदि को अति प्रिय लगता है, उसी प्रकार ज्ञान और क्रिया से युक्त साधु भी जनता को अति वल्लभ लगता है! इसी आशय से उक्त गाथा में 'कन्थए–कंथक' शब्द का उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ टीकाकार इस प्रकार लिखते हैं 'अथवा शस्त्रादीनाम्प्रहाराद्रणे निर्भीः कन्थक उच्यते' अर्थात् शस्त्रादि के प्रहार से रण में जो किसी प्रकार का भय नहीं खाता उसे कंथक कहते हैं। सो आकीर्ण जाति के अश्व के समान, बहुश्रुत पुरुष भी गुणों का आश्रयभूत हो जाता है। यहाँ पर कम्बोज देश के समान जैन वृत्ति, और जाति तथा वेग आदि गुणों के समान साधु वृत्ति के गुणों को समझना चाहिए। तथा कम्बोज देश के अश्व अन्य देश के अश्वों से श्रेष्ठ माने गए हैं। इसी लिए इनके नाम का निर्देश किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

जहाइण्णसमारूढे , सूरे दढपरक्कमे ।
उभओ नन्दिघोसेणं, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१७॥

यथाऽऽकीर्णसमारूढः , शूरो दृढपराक्रमः ।
उभयतो नंदिघोषेण, एवं भवति बहुश्रुतः ॥१७॥

पदार्थान्वयः—जहा-जैसे आइण्ण-आकीर्ण घोड़े पर समारूढे-चढ़ा हुआ सूरे-सुभट दढपरक्कमे-दृढ पराक्रम वाला उभओ-दोनों प्रकार से नन्दिघोसेणं-नन्दिघोष शब्दों से युक्त एवं-इसी प्रकार हुस्सुए-बहुश्रुत हवइ-होता है।

मूलार्थ—जैसे, जाति वाले घोड़े पर चढ़ा हुआ दृढ पराक्रम वाला सुभट दोनों ओर से नन्दिघोष शब्दों से युक्त हुआ शोभा पाता है उसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

टीका—जैसे वेग आदि गुण सम्पन्न विशिष्ट जाति के घोड़े पर चढ़ा हुआ दृढपराक्रमी शूर वीर नन्दिघोष और जयध्वनि के शब्दों से प्रतिध्वनित होता हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार विशिष्ट ज्ञान और क्रिया के द्वारा बहुश्रुत की शोभा होती है। तात्पर्य कि जैसे यह सुभट किसी के द्वारा पराजित नहीं होता वैसे ही बहुश्रुत को भी कोई प्रतिवादी पराजित नहीं कर सकता। तथा जिस प्रकार सुभट के दोनों ओर नन्दिघोष वादित्र के वा जयध्वनि के शब्द होते हैं उसी प्रकार रात्रि और दिन के स्वाध्याय घोष के साथ बहुश्रुत रहता है जिससे कि परवादी भी उसको जय २ शब्दों के द्वारा बधाते हैं। अर्थात् उसकी विजय का लोहा मानते हैं। नन्दिघोष द्वादश तूर्य ध्वनिरूप होता है—'नन्दिघोषेण द्वादशतूर्यध्वनिरूपेण'।

यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि शास्त्रकार ने बहुश्रुत को आकीर्ण जाति के घोड़े पर चढ़े हुए पराक्रमी सुभट की जो उपमा दी है वह सर्वथा अनुरूप है। यहां पर जिन प्रवचन ही आकीर्ण जाति का अश्व है अर्थात् जिन प्रवचन रूप अश्व पर चढ़ा हुआ बहुश्रुत रूप सुभट शास्त्र सभा में किसी भी प्रतिवादी से वित्रसित नहीं होता किन्तु उन को पराजित करके स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों की जयध्वनि से प्रतिध्वनित होता हुआ जिनधर्म का पूर्ण रूप से प्रभावक होता है। अतः प्रत्येक मुनि को अपने मे बहुश्रुतता के सम्पादन का प्रयत्न करना चाहिए।

अब हस्ती की उपमा के द्वारा बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा करेणुपरिकिण्णे, कुंजरे सट्ठिहायणे ।
बलवन्ते अप्पडिहए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१८॥

यथा करेणुपरिकीर्णः , कुञ्जरः षष्टिहायनः ।
बलवानप्रतिहतः , एव भवति बहुश्रुतः ॥१८॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे करेणुपरिकिण्णे–हस्तनियों से व्याप्त कुंजरे–हस्ती सट्ठिहायणे–साठ वर्ष का बलवन्ते–बलवान् अप्पडिहए–अप्रतिहत–न हारने वाला–होता है एवं–इसी प्रकार बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है ।

मूलार्थ—जैसे साठ वर्ष की आयुवाला, बलवान् और किसी से न हारने वाला हस्ती अपनी हथनियों से चारों ओर से घिरा हुआ शोभा देता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी सुशोभित होता है ।

टीका—इस गाथा में परिवारयुक्त वृद्ध हस्ती की उपमा से बहुश्रुत को सर्वप्रधान और अधृष्य बतलाने का प्रयत्न किया है अर्थात् जैसे साठ वर्ष का हस्ती अपनी हथनियों के परिवार से घिरा हुआ अपूर्व शोभा को प्राप्त होता है, तथा बलयुक्त होने से किसी अन्य मदयुक्त हस्ती से भी तिरस्कृत नहीं होता, उसी प्रकार बहुश्रुत भी अधिक दीक्षापर्याय से अपने अनुभव बल में उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ औत्पत्तिकारी आदि चार प्रकार की बुद्धियों से परिवृत होकर अन्य वादियों से पराजित नहीं होता । जिस प्रकार साठ वर्ष तक हस्ती का बल बढ़ता रहता है और उसके परिवार में वृद्धि होती रहती है उसी प्रकार बहुश्रुत मे भी नानाप्रकार की विद्याओं और शास्त्रों का अनुभवरूप बल उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है और शिष्यपरिवार मे भी वृद्धि होती जाती है । जिस समय इस आत्मा में ज्ञानक्रिया के साथ २ त्याग का बल बढ़ जाता है उस समय इसका प्रभाव सर्वोपरि हो जाता है तब स्थविर पद से विभूषित होने वाला यह बहुश्रुत, संसार के मायिक पदार्थों और संसार के अन्य क्षुद्र जीवों मे से किसी से भी प्रभावित नहीं हो सकता, प्रत्युत उन सब पर इसका पूर्ण प्रभाव रहता है ।

अब वृषभ की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से तिक्खसिंगे, जायखन्धे विरायई।
वसहे जूहाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥१९॥

यथा स तीक्ष्णशृंगः, जातस्कन्धो विराजते।
वृषभो यूथाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥१९॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे से–वह तिक्खसिंगे–तीक्ष्ण सींगों वाला जायखन्धे–स्कन्ध वाला वसहे–वृषभ–बैल जूहाहिवई–गो वर्ग का स्वामी विरायई–शोभा पाता है एवं–उसी प्रकार बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है।

मूलार्थ—जैसे वह तीक्ष्ण शृङ्गों वाला तथा उन्नत स्कन्ध वाला यूथाधिपति–गो वर्ग का स्वामी वृषभ–बैल शोभा पाता है, उसी प्रकार यह बहुश्रुत शोभा पाता है।

टीका—इस गाथा में बहुश्रुत तीक्ष्ण शृङ्ग, उन्नत ककुद और गौओं के यूथ के स्वामी उत्तम वृष से उपमित किया गया है अर्थात् जिस प्रकार अपने तीक्ष्ण शृङ्गों और उन्नत ककुद से युक्त उत्तम वृषभ अपने गो वर्ग का स्वामी होकर संसार में शोभा पाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी अपने गच्छ का अधिपति होकर अर्थात् आचार्यादि पद से विभूषित होकर अपनी प्रभामयी गुणगरिमा से संसार में गौरवान्वित होता है।

यहाँ पर बहुश्रुत का स्व और पर शास्त्र विषयक जो विशिष्ट ज्ञान है, वही उसके दो तीक्ष्ण शृङ्ग हैं। तथा जिस प्रकार वृषभ का स्कन्ध मांस की उपचिति से पुष्ट होकर भार के उद्वहन में समर्थ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी ज्ञानादि गुणों के द्वारा अनुभव बल में विशेषता प्राप्त करके गच्छ के अनेकविध कार्यों के भार को उठाने में शक्तिशाली होता है। इसी प्रकार जैसे वृषभ अपने यूथ–गो वर्ग–में प्रधान पद भोगता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी गच्छ–साधु समुदाय—का अधिपति होकर अपने आचार्य पद को सुशोभित करता है। तात्पर्य कि जिस प्रकार वृषभ-धौरेय भारोद्वहन में समर्थ होता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी शासन के भार को उठाने में समर्थ होता है।

अब शास्त्रकार सिंह की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से तिक्खदाढे, उदग्गे दुप्पहंसए ।
सीहे मियाण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२०॥
यथा स तीक्ष्णदंष्ट्रः, उदग्रो दुष्प्रधर्षः ।
सिंहो मृगाणां प्रवरः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे से–वह तिक्खदाढे–तीक्ष्ण दाढ़ों वाला उदग्गे–उत्कट दुप्पहंसए–जिस का जीतना कठिन है सीहे–सिंह मियाण–मृगों में पवरे–प्रधान होता है एवं–उसी प्रकार बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है ।

मूलार्थ—जैसे उत्कट, तीक्ष्ण दाढ़ों वाला और जिसका जीतना अति कठिन है वह सिंह, मृगों अर्थात् वन के समस्त जीवों में प्रधान होता है—उसी प्रकार बहुश्रुत भी प्रधान होता है ।

टीका—इस गाथा में बहुश्रुत सिंह से उपमित किया गया है अर्थात् जैसे सिंह, जंगल के समस्त जीवों में अधृष्य और प्रधान होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी संसार के जीवों में अधृष्य और प्रधान होता है ।

यहाँ पर सिंह के समान तो बहुश्रुत है और उसकी तीक्ष्ण दाढ़ों समान नैगमादि सात नय हैं और उदग्रता के समान बहुश्रुत के प्रतिभा आदि गुण हैं । एवं मृगों के सदृश अन्य तीर्थी हैं । जैसे वन के अन्य जीव सिंह का किसी प्रकार से भी तिरस्कार नहीं कर सकते किन्तु उससे सदा भयभीत रहते हैं, इसी प्रकार अन्य तीर्थी लोग भी बहुश्रुत का किसी प्रकार से पराजय नहीं कर सकते किन्तु स्वयं पराजित हो जाते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि कोई पदार्थ स्याद्वाद की मुद्रा का उल्लंघन नहीं कर सकता । अतएव कोई भी प्रतिवादि-सिद्धान्त, स्याद्वाद के सिद्धान्त की अवहेलना करने में समर्थ नहीं है । इसी लिए यह सिंह की तरह अधृष्य और अजेय है । यहाँपर मृग शब्द वन में रहने वाले सभी जीवों का उपलक्षक है–'मृगाणामारण्यजन्तूनाम्' इति ।

अब बहुश्रुत का, वासुदेव की उपमा से वर्णन करते हैं—

जहा से वासुदेवे, संखचक्कगदाधरे ।
अप्पडिहयबले जोहे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२१॥

यथा स वासुदेवः, शंखचक्रगदाधरः ।
अप्रतिहतबलो योधः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२१॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे से–वह वासुदेवे–वासुदेव संख–चक्क–गदा–धरे–शंख, चक्र, गदा के धारण करने वाला अप्पडिहय–जिस का कोई परिभव न कर सके बले–बलवान् जोहे–सुभट है एवं–इसी प्रकार बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है।

मूलार्थ—जैसे वह वासुदेव शंख, चक्र, गदा के धारण करने वाला, और अप्रतिहत बल रखने वाला, अति बलवान् तथा संग्राम में महान् योद्धा है उसी प्रकार बहुश्रुत है।

टीका—वासुदेव के–चक्र–धनुष–खड्ग–मणि–गदा–वनमाला और शंख ये सात रत्न प्रतिपादन किए हैं किन्तु इन में शंख, चक्र और कौमोदकी गदा ये तीन प्रधान रत्न माने गए हैं। इसी प्रकार बहुश्रुत मे अनेक गुणों के विद्यमान होने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन प्रधान गुण रत्न हैं। जैसे वासुदेव युद्ध में शत्रुओं का पराभव करता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी काम क्रोधादि रूप अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है, तथा जैसे वासुदेव बल से परिपूर्ण होता है–वैसे ही बहुश्रुत भी अपने स्वाभाविक प्रतिभा बल से ओतप्रोत है। इसी लिए आगमों मे लिखा है कि–युद्ध में शूरवीर वासुदेव होता है, तप में शूरवीर अनगार है, भोग में शूरवीर चक्रवर्ती और क्षमा में शूरवीर अर्हन् प्रभु है। यहाँ पर वासुदेव की उपमा के प्रतिपादन करने का अभिप्राय, बहुश्रुत में अन्तरंग शत्रुओं की विजेतृता के निदर्शन से है।

इस प्रकार वासुदेव के गुणों के सादृश्य से बहुश्रुत की प्रशंसा करते हुए अब चक्रवर्ती की उपमा से उसका वर्णन करते हैं—

जहा से चाउरन्ते, चक्कवट्टी महड्ढिए।
चोद्दसरयणाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२२॥

यथा स चतुरन्तः, चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
चतुर्दशरत्नाधिपतिः , एवं भवति बहुश्रुतः॥२२॥

पदार्थान्वयः—जहा–यथा से–वह चाउरन्ते–चारों दिशाओं के अन्त पर्यन्त राज्य करने वाला (भारत क्षेत्र की अपेक्षा) चक्कवट्टी–चक्रवर्ती महड्डिए–महा ऋद्धि वाला चोद्दस–चौदह रयणाहिवई–रत्नों का स्वामी एवं–इसी प्रकार बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है।

मूलार्थ—जैसे वह चारों दिशाओं में राज्य करने वाला, चक्रवर्ती महा-ऋद्धि वाला और चौदह रत्नों का स्वामी होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

टीका—चक्रवर्ती का राज्य चारों दिशाओं की सीमा तक होता है, जैसे कि पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में समुद्र तक; और उत्तर दिशा में हिमवत्पर्वत पर्यन्त उसका राज्य होता है। इसी लिए उसको चतुरन्त कहते हैं। तथा—गज–अश्व–रथ और पदाति—इस चारों प्रकार की सेना से वह शत्रुओं का संहार करता है, एवं वैक्रिय आदि ऋद्धि के होने से महा ऋद्धि वाला कहलाता है! और १ सेनापति २ गाथापति ३ पुरोहित ४ गज ५ तुरङ्ग ६ वर्धकि ७ स्त्री ८ चक्र ९ छत्र १० चर्म ११ मणि १२ काकिणी १३ खड्ग और १४ दण्ड इनका स्वामी है। तथा नव प्रकार की निधियों का अधिपति है! जिस प्रकार चक्रवर्ती में उक्त गुण विद्यमान होते हैं, उसी प्रकार बहुश्रुत भी उक्त प्रकार के गुणों से विभूषित है! जैसे कि–चक्रवर्ती की भाँति बहुश्रुत की चतुरंगिणी सेना—दान–शील–तप और भावना है। इन्हीं के द्वारा वह अपने रागद्वेषादि अन्तरंग शत्रुओं का संहार करता है। जिस प्रकार चक्रवर्ती चारों दिशाओं का अन्त करने वाला होता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी चारों गतिओं का अन्त कर देता है। फिर जैसे चक्रवर्ती के वैक्रिय आदि लब्धिएं होती हैं, उसी प्रकार आमर्षौषध्यादि लब्धिएं तथा पुलाक-लब्धिएं आदि बहुश्रुत की महा ऋद्धिएं हैं। चक्रवर्ती के चौदह रत्नों के समान चौदह पूर्वों का स्वामी बहुश्रुत है। जिस प्रकार चक्रवर्ती की कीर्ति चारों दिशाओं में उसके उक्त साधनों से फैल जाती है, उसी प्रकार ज्ञानादि गुणों के प्रभाव से बहुश्रुत की कीर्ति का भी चारों दिशाओं में प्रसार हो जाता है।

अब इन्द्र की उपमा से बहुश्रुत की स्तुति करते हैं—

जहा से सहस्सक्खे, वज्जपाणी पुरन्दरे।
सक्के देवाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२३॥

यथा स सहस्राक्षः, वज्रपाणिः पुरंदरः।
शक्रो देवाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२३॥

पदार्थान्वयः—जहा-यथा से-वह सहस्सक्खे-सहस्राक्ष वज्जपाणी-वज्रपाणि-वज्र हाथ में है जिसके पुरन्दरे-दैत्यों के विदारण करने वाला सक्के-इन्द्र देवाहिवई-देवों का अधिपति है एवं-उसी प्रकार बहुस्सुए-बहुश्रुत हवइ-होता है।

मूलार्थ—जैसे वह हज़ार आँख वाला, हाथ में वज्र रखने वाला, दैत्यों का विनाश करने वाला इन्द्र है उसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

टीका—जैसे इन्द्र के हज़ार आँखें होती हैं, उसी प्रकार बहुश्रुत के श्रुत ज्ञानरूप हज़ार आँखें हैं। जैसे इन्द्र के हाथ में सदैव वज्र रहता है, उसी प्रकार बहुश्रुत के हाथ में वज्र का चिह्न होता है। जैसे इन्द्र दैत्यों के पुरों—नगरों-को विदारण करता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी शरीररूप नगर को तप कर्म के द्वारा दुर्बल कर लेता है। जैसे इन्द्र देवों का अधिपति है, उसी प्रकार देवसमान साधुओं का अधिपति बहुश्रुत है; क्योंकि हरिकेशिबल मुनि की तरह वह भी देवों के द्वारा पूजा जाता है।

अपिच— उक्त गाथा में इन्द्र को जो हज़ार आँख वाला कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि—इन्द्र के एक कम पाँच सौ मंत्री इस प्रकार के हैं कि जिस पर इन्द्रदेव की प्रसन्नता होती है, उस पर वे भी प्रसन्न रहते हैं और जिस पर इन्द्रदेव अप्रसन्न होते हैं उस पर उनकी भी प्रसन्नता नहीं रहती। अतः इन्द्र की दो आँखों के साथ उनकी ९९८ आँखों को संमिलित करने से, इन्द्रदेव सहस्राक्ष बन जाता है। तथा[1] वृत्तिकार ने यह भी लिखा है कि, हज़ार आँखों की जितनी ज्योति होती है, उतनी ज्योति इन्द्र महाराज की दो आँखों में है। इसलिए इन्द्रदेव को सहस्राक्ष

१ यदन्येनेत्राणां सहस्रेण पश्यन्ति तदसौ द्वाभ्यां नेत्राभ्यां साधिकं पश्यतीति सहस्राक्ष इत्युच्यते इति सम्प्रदायः—भावविजयगणिसमर्थितवृत्तौ।

कहा जावे तो कोई अत्युक्ति नहीं है। क्योंकि शास्त्रकारों ने केवल ज्ञान की दृष्टि से भगवान् अनन्त चक्षु कहा है।

अब सूर्य की उपमा देकर बहुश्रुत का वर्णन करते हैं।

जहा से तिमिरविद्धंसे, उत्तिट्ठन्ते दिवायरे।
जलन्ते इव तेएण, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२४॥

यथा स तिमिरध्वंसकः, उत्तिष्ठन्दिवाकरः ।
ज्वलन्निव तेजसा, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२४॥

पदार्थान्वयः—जहा—यथा से—वह दिवायरे—सूर्य तिमिर—अन्धकार के विद्धंसे—विध्वंस करने वाला उत्तिट्ठन्ते—उदय होता हुआ जलन्ते—जाज्वल्यमान तेएण—तेज से दीप्त होता है इव—उदय होते हुए सूर्य की तरह एवं—इस प्रकार—तप, तेज से बहुस्सुए—बहुश्रुत—तेजस्वी हवइ—होता है।

मूलार्थ—जैसे अन्धकार के नाश करने वाला उदय होता हुआ सूर्य अपने तेज से तेजस्वी होता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी अपने तप तेज से तेजस्वी होता है।

टीका—जैसे वह सूर्य, उदय होकर अपने तेज की प्रदीप्त ज्वाला को चारों ओर फैलाता हुआ अन्धकार के नाश करने वाला होता है, ठीक उसी प्रकार बहुश्रुत भी मिथ्यात्वरूप अन्धकार के नाश करने वाला होता है। तात्पर्य कि जिस प्रकार उदय होता हुआ सूर्य अन्धकार का विनाशक है, उसी प्रकार क्रियानुष्ठान में किसी प्रकार के प्रमाद का सेवन न करने वाला अर्थात् धर्मानुष्ठान में सदा अप्रमत्त रहने वाला बहुश्रुत भी मिथ्यात्वरूप अन्धकार का विनाशक होता है। तथा जैसे अन्धकार के विनाशक सूर्य भगवान् के असह्य तेज की ओर आँख नहीं उठाई जा सकती, उसी प्रकार द्वादश विध तप के अनुष्ठान से तेजस्विता को प्राप्त हुए बहुश्रुत की ओर भी कोई प्रतिवादी आँख उठाकर नहीं देख सकता।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथा मे जो 'उत्तिष्ठन्—उदय होता हुआ' कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि—जैसे आकाश में उदय होने पर ही सूर्य अन्धकार

का नाश करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी अप्रमत्त दशा को प्राप्त हुआ ही अपने तपोबल से देदीप्यमान होकर भव्य जनों के हृदयान्धकार के विनाश करने में समर्थ होता है।

अब चन्द्रमा की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से उडुवई चन्दे, नक्खत्तपरिवारिए ।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२५॥

यथा स उडुपतिश्चन्द्रः, नक्षत्रपरिवारितः ।
प्रतिपूर्णः पौर्णमास्यां, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२५॥

पदार्थान्वयः—जहा-जैसे से-वह उडुवई-नक्षत्रों का स्वामी चन्दे-चन्द्रमा **नक्खत्तपरिवारिए**-नक्षत्रों से परिवरा हुआ पडिपुण्णे-प्रतिपूर्ण पुण्णमासीए-पूर्णमासी में विराजता है एवं-इस प्रकार हवइ-होता है बहुस्सुए-बहुश्रुत।

मूलार्थ—जैसे वह नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा, नक्षत्रों से परिवरा हुआ सर्व कलाओं से पूर्ण, पौर्णमासी में विराजता है उसी प्रकार बहुश्रुत भी शोभा देता है।

टीका—जिस प्रकार नक्षत्र गण से घिरा हुआ तारामंडल का स्वामी चन्द्रमा, पूर्णमासी के दिन अपनी पूर्ण शोभा से युक्त होता है, ठीक उसी प्रकार गच्छ में अथवा श्री संघ में रहा हुआ बहुश्रुत अपने गुणों द्वारा अपूर्व शोभा को प्राप्त होता है। तात्पर्य कि जैसे पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा अपनी सारी कलाओं से युक्त होता हुआ संसार को आनन्द देता है उसी प्रकार सम्यक्त्वादि सद्गुणों से पूर्ण होता हुआ बहुश्रुत भी भव्य जीवों को परम शान्तिरूप आनन्द के देने वाला होता है। तथा जैसे ग्रहनक्षत्रादि का स्वामी चन्द्रमा है, वैसे ही संघ का अधिपति बहुश्रुत होता है। एवं चन्द्रमा की भाँति साधु परिवार से घिरा हुआ बहुश्रुत भी, अपने शान्त्यादि गुणों से सदा प्रसन्न ही दिखाई देता है। सारांश कि पूर्णमासी के चन्द्रमा में, पूर्णता, प्रसन्नता और शीतलता आदि जितने भी गुण विद्यमान हैं वे सब बहुश्रुत के अन्दर भी होते हैं। अतः चन्द्रमा की भाँति बहुश्रुत भी दर्शनीय, वन्दनीय, पूजनीय और वांछनीय है।

अब सूत्रकार, धान्यपति की उपमा से बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से सामाइयाणं, कोट्ठागारे सुरक्खिए ।
नाणाधन्नपडिपुण्णे , एवं हवइ बहुस्सुए ॥२६॥

यथा स सामाजिकानां, कोष्ठागारः सुरक्षितः ।
नानाधान्यप्रतिपूर्णः , एवं भवति बहुश्रुतः ॥२६॥

पदार्थान्वयः—जहा-जैसे से-वह सामाइयाणं-ग्रामवासियों के कोट्ठा-गारे-कोठे सुरक्खिए-सुरक्षित हैं-और वह नाणाधन्नपडिपुण्णे-नाना प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होते हैं एवं-इसी प्रकार बहुस्सुए-बहुश्रुत हवइ-होता है ।

मूलार्थ—जैसे वह नाना प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण ग्रामवासियों के कोठे सुरक्षित होते हैं, उसी प्रकार से बहुश्रुत है ।

टीका—जैसे ग्रामवासी धनाढ्य लोग समय पर नाना प्रकार के धान्यों का कोठों में संग्रह करके रखते हैं, और मूषिकादि के उपद्रवों से उनको बचाए रखते हैं, इसी प्रकार बहुश्रुत भी अपने अन्तःकरणरूप कोठे में अंगोपांगरूप धान्यराशि को एकत्र करके उसे प्रमादरूप मूषिकों से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है । क्योंकि जैसे मूषिकादि जीव धान्य को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार प्रमाद भी ज्ञान को विकृत कर देता है । तथा धान्यराशि के कोठों को सुरक्षित रखने के लिए जैसे अन्य पुरुषों का पहरा रहता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी ज्ञानभंडाररूप बहुमूल्य धान्यराशि को भाविक गृहस्थों के द्वारा सुरक्षित रखता है । इसके अतिरिक्त उक्त गाथा का यह भी भाव है कि जैसे संग्रह की हुई धान्यराशि प्राणों का अथवा जीवन का आधार होने से जनता उसको सर्व प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करती है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी भव्य जीवों के लिए आधारभूत तथा उनके मिथ्यात्व का नाश करने वाला होने से संघ के द्वारा सदा सुरक्षित होना चाहिए ।

अब बहुश्रुत की सुदर्शन वृक्ष की उपमा से स्तुति करते हैं—

जहा सा दुमाण पवरा, जम्बू नाम सुदंसणा ।
अणाढियस्स देवस्स, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२७॥

यथा सा द्रुमाणां प्रवरा, जम्बूर्नाम सुदर्शना ।
अनादृतस्य देवस्य, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—जहा-जैसे सा-वह दुमाण-वृक्षों में पवरा-प्रधान जम्बू-जम्बू नाम-नाम वाला वृक्ष है सुदंसणा-सुदर्शन जिसका दूसरा नाम है अणाढियस्स-अनादृत देवस्स-देवता के द्वारा अधिष्ठित है एवं-उसी प्रकार हवइ-होता है बहुस्सुए-बहुश्रुत ।

मूलार्थ—जैसे वह वृक्षों में प्रधान जम्बू नाम वृक्ष है-जिसका दूसरा नाम सुदर्शन है तथा जो अनादृत देव के द्वारा अधिष्ठित है-उसी प्रकार बहुश्रुत होता है ।

टीका—जैसे सुदर्शन नाम से भी पुकारा जाने वाला जम्बू नाम का वृक्ष सर्व वृक्षों में प्रधान होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी सर्व साधुओं में प्रधान होता है । तथा जैसे वह अमृतमय शाश्वत फलों से युक्त होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी मृदुभाषणादिरूप सद्गुणों से सम्पन्न होता है । एवं जिस प्रकार वह वृक्ष देवों का आश्रय दाता है, उसी प्रकार यह बहुश्रुत भी अनेक भव्य जीवों का आश्रयभूत है ! और जैसे उस वृक्ष के नाम से यह जम्बू द्वीप सुप्रसिद्ध हो रहा है, वैसे ही बहुश्रुत के नाम से गच्छ की प्रसिद्धि होती है । तथा जैसे वह जम्बू वृक्ष अनादृत नाम के देव द्वारा अधिष्ठित है, उसी प्रकार यह बहुश्रुत ज्ञानाधिष्ठित है । अतः यह बहुश्रुत जम्बू वृक्ष से उपमित किया गया है । यदि इस वृक्ष का पूर्ण विवरण देखना हो तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और जीवाभिगम सूत्र से देख लेना ।

यहाँ पर उक्त गाथा मे दीपिका टीका मे तो पुँल्लिङ्ग का निर्देश किया है और अन्य वृत्तियों में स्त्रीलिङ्ग का निर्देश है-जैसे कि—जहासे-जहासा—इत्यादि-सो प्राकृत की शैली से ये दोनों ही मान्य हैं ।

अब शास्त्रकार बहुश्रुत के लिए शीता नदी की उपमा देते हैं—

जहा सा नईण पवरा, सलिला सागरंगमा ।
सीया नीलवन्तपवहा, एवं हवइ बहुस्सुए ॥२८॥

यथा सा नदीनां प्रवरा, सलिला सागरंगमा ।
शीता नीलवत्प्रवहा, एवं भवति बहुश्रुतः ॥२८॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे सा–वह नईण–नदियों मे पवरा–प्रधान सलिला–नदी सागरं–सागर मे गमा–जाने वाली सीया–शीता नाम है जिसका–और वह नीलवन्तपवहा–नीलवंत पर्वत से निकली है एवं–इसी प्रकार का बहुस्सुए–बहुश्रुत हवइ–होता है ।

मूलार्थ—जैसे वह नदियों में प्रधान नदी, सागर में जाने वाली शीता-नाम्नी और जिसकी नीलवंत पर्वत से उत्पत्ति है उसी प्रकार बहुश्रुत होता है ।

टीका—जैसे समुद्र मे जाकर मिलने वाली शीता नाम की नदी सर्व नदियों में प्रधान मानी जाती है और जिसकी उत्पत्ति मेरु के उत्तर दिशा में होने वाले वर्षधर–नीलवंत पर्वत–से हुई है, ऐसी नदी के समान बहुश्रुत होता है । तात्पर्य कि शीता नदी के समान–मुनियों में बहुश्रुत प्रधान है और उसकी भाँति श्रुत ज्ञानरूप जल से परिपूर्ण है, तथा शीता नदी की तरह बहुश्रुत भी मोक्षरूप समुद्र में जा मिलता है–जा विराजता है । इसी प्रकार बहुश्रुत का भी शीता नदी की तरह उच्च कुल गोत्रादिरूप नील पर्वत से ही जन्म होता है । तथा जैसे उक्त नदी शीतल जल और विस्तृत प्रवाह से युक्त है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी क्षमारूप शीतल जल और ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विस्तृत प्रवाह से युक्त है । एवं उक्त गाथा के अर्थ से यह भी ध्वनित होता है कि जैसे ऊँचे पर्वत से निकलने वाली नदी का जल, अति स्वच्छ, शीतल और स्वादु होता है, उसी प्रकार सद्विद्या आदि गुणों का उद्भव भी प्रायः उच्च कुल मे उत्पन्न होने वाले बहुश्रुत मे ही होता है ।

अब शास्त्रकार बहुश्रुत को मेरु की उपमा से अलंकृत करते हैं—

जहा से नगाण पवरे, सुमहं मन्दरे गिरी ।
नाणोसहिपज्जलिए , एवं हवइ बहुस्सुए ॥२९॥

यथा स नगानां प्रवरः, सुमहान्मन्दरो गिरिः ।
नानौषधिप्रज्वलितः , एवं भवति बहुश्रुतः ॥२९॥

पदार्थान्वयः—जहा-जैसे से-वह नगाण-पर्वतों में पवरे-प्रधान सुमहं-अति बड़ा मन्दरे-मेरु गिरी-पर्वत है-और नाणोसहि-नाना प्रकार की ओषधियों से पज्जलिए-प्रज्वलित है एवं-इसी प्रकार बहुस्सुए-बहुश्रुत हवइ-होता है।

मूलार्थ—जैसे पर्वतों में प्रधान और अति विस्तार वाला मेरु पर्वत नाना प्रकार की ओषधियों से देदीप्यमान है, उसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

टीका—जिस प्रकार मेरुपर्वत, पर्वतों में प्रधान, अति विस्तार वाला तथा शल्या, विशल्या, संजीविनी, संरोहणी, चित्रावल्ली, सुधावल्ली, विषापहारिणी, शस्त्रनिवारिणी, भूतनागदमनी आदि अनेक प्रकार की जड़ी बूटियों से देदीप्यमान-प्रकाशमान-हो रहा है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी मुनियों में प्रधान, श्रुत ज्ञान के माहात्म्य से अति महान् और परवादिरूप प्रबल वायु से भी अकंपित, एवं नानाविध लब्धियों से प्रकाशमान होता है। तथा जिस प्रकार मेरु अन्धकार का नाश करता है, उसी प्रकार बहुश्रुत मिथ्यात्व रूप अन्धकार के नाश करने वाला होता है।

अब सूत्रकार स्वयंभूरमण समुद्र की उपमा देकर बहुश्रुत का वर्णन करते हैं—

जहा से सयंभूरमणे, उदही अक्खओदए।
नाणारयणपडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥३०॥

यथा स स्वयंभूरमणः, उदधिरक्षयोदकः।
नानारत्नप्रतिपूर्णः, एवं भवति बहुश्रुतः ॥३०॥

पदार्थान्वयः—जहा-जैसे से-वह सयंभूरमणे-स्वयंभूरमण उदही-समुद्र अक्खओदए-अक्षय उदक के धरने वाला नाणा-नाना प्रकार के रयण-रत्नों से पडिपुण्णे-प्रतिपूर्ण है एवं-इसी प्रकार बहुस्सुए-बहुश्रुत हवइ-होता है।

मूलार्थ—जैसे वह स्वयंभूरमण समुद्र अक्षय उदक के धारण करने वाला और नानाविध रत्नों से परिपूर्ण है, उसी प्रकार बहुश्रुत होता है।

टीका—स्वयंभूरमण समुद्र अक्षय जल के धारण करने वाला है क्योंकि उसका जल कभी शुष्क नहीं होता। इसलिए द्रव्यार्थिक नय के मत से उसका जल, अक्षय प्रतिपादन किया है। अतएव उसको अक्षयोदक कहते हैं! फिर वह नाना

प्रकार के रत्नों से—मरकतादि मणियों से—भरा हुआ है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी गांभीर्यादि गुणों से भरपूर होता है अर्थात् स्वयंभूरमण समुद्र के समान वह भी अपने में ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप अक्षय जल को धारण करने वाला है। और नाना प्रकार के अतिशय उसमें अनेक प्रकार के रत्न हैं तथा वैक्रिय आदि लब्धिएं उसमें बहुमूल्य मणिएं हैं। इसी लिए बहुश्रुत को स्वयंभूरमण समुद्र की उपमा दी गई है। बहुश्रुत में गम्भीरता का होना परम आवश्यक है, क्योंकि जहाँ पर शांति और गम्भीरता होती है वहाँ पर प्रायः सभी सद्गुण आजाते हैं।

अब बहुश्रुत के सहज गुणों का वर्णन करते हैं—

समुद्दगम्भीरसमा दुरासया,
अचक्किया केणइ दुप्पहंसया।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो,
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥३१॥

समुद्रगंभीरसमा दुरासदाः,
अचकिताः केनापि दुष्प्रधर्षाः।
श्रुतेन पूर्णा विपुलेन त्रायिणः,
क्षपयित्वा कर्मगतिमुत्तमां गताः ॥३१॥

पदार्थान्वयः—समुद्दगम्भीरसमा—समुद्र के समान गम्भीर दुरासया—जीतने की बुद्धि से दुराश्रय है केणइ—कोई भी प्रतिवादी जीतने को अचक्किया—समर्थ नहीं है दुप्पहंसया—न कोई उसका तिरस्कार कर सकता है विउलस्स—विस्तीर्ण सुयस्स—श्रुत से पुण्णा—पूर्ण है ताइणो—षट्काय का रक्षक—पालक कम्मं—कर्मों को खवित्तु—क्षय करके उत्तमं—उत्तम गइं—गति को गया—प्राप्त हुआ।

मूलार्थ—समुद्र के समान गम्भीर प्रतिवादियों से न जीता जाने वाला तथा किसी से तिरस्कृत न होने वाला, विस्तृत श्रुत ज्ञान से परिपूर्ण और षट्काय का रक्षक होता हुआ बहुश्रुत कर्मों का क्षय करके उत्तमगति-मोक्ष-को प्राप्त हो जाता है।

टीका—इस गाथा मे वहुश्रुत के गुणों का वर्णन किया गया है। जैसेकि बहुश्रुत समुद्र के समान गम्भीर होता है, और यदि कोई वादी कपट बुद्धि से उसे छलना चाहे तो उसके लिए यह काम दुःसाध्य है अर्थात् उसको छलने का कोई अवसर नहीं मिलता। तथा कोई भी वादी उसको त्रसित अथवा तिरस्कृत नहीं कर सकता क्योंकि वह श्रुतज्ञान में हर एक दृष्टि से परिपूर्ण है और षट्काय के संरक्षण में पूर्णतया सावधान है। इस प्रकार गुणों का आश्रयभूत जो बहुश्रुत है वह कर्मों का क्षय करके उत्तम गति—मोक्ष—मे जाता है। उपलक्षण से उक्त गुणों को धारण करने वाले अन्य पुरुष भी कर्मों का क्षय करके मोक्ष में गए और आगे को जावेगे—यह इस गाथा का भाव है।

इस प्रकार वहुश्रुत के गुणों का वर्णन करने के अनन्तर अव शिष्यों के उपदेश के विषय में कहते हैं—

तम्हा सुयमहिट्ठिज्जा, उत्तमट्ठगवेसए ।
जेणप्पाणं परं चेव, सिद्धिं संपाउणेज्जासि ॥३२॥
त्ति बेमि ।

इति बहुस्सुयपुज्जं एगारसं अज्झयणं समत्तं ॥११॥

तस्माच्छ्रुतमाधितिष्ठेत् , उत्तमार्थगवेषकः ।
येनात्मानं परं चैव, सिद्धिं संप्रापयेत् ॥३२॥
इति ब्रवीमि ।

इति बहुश्रुतपूजमेकादशमध्ययनं समाप्तम् ॥

पदार्थान्वयः—तम्हा—इसलिए सुयं—श्रुत को अहिट्ठिज्जा—पढ़े उत्तमट्ठ—उत्तम अर्थ के गवेसए—गवेषण करने वाला जेण—जिससे अप्पाणं—अपने आत्मा को च—और परं—दूसरे को एव—निश्चय ही सिद्धिं—मोक्ष मे संपाउणेज्जासि—पहुंचाता है त्ति—(समाप्ति अर्थ मे) बेमि—मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इसलिए उत्तम अर्थ का गवेषण करने वाला व्यक्ति श्रुत को पढ़े, जिस श्रुत से अपने तथा पर के आत्मा को मोक्ष में पहुंचाता है, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करे।

टीका—इस गाथा में यह भाव प्रदर्शित किया है कि बहुश्रुत होने का अन्तिम फल मोक्ष की प्राप्ति है। अतः मुमुक्षु जनों को श्रुत का अध्ययन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि श्रुत का श्रवण करना, चिन्तन करना आदि जितना भी व्यापार है वह सब श्रुत के अध्ययन का ही कारण है, अतः उत्तम अर्थ—मोक्ष की गवेषणा करना ही बहुश्रुत का प्रधान कर्तव्य है। तात्पर्य यह कि अपने आत्मा और पर के आत्मा को मोक्ष में ले जाने का साधन एक मात्र श्रुत ही है। उसी के आश्रय से वह अपने तथा दूसरे के आत्मा को मुक्ति मार्ग का पथिक बनाने में समर्थ हो सकता है। इसलिए श्रुत के सम्पादन में सबसे अधिक प्रयत्नशील होना चाहिए क्योंकि उसके आश्रय से बहुश्रुत पुरुष स्वयं मोक्षगामी होता हुआ दूसरों को भी मोक्ष में पहुंचने के योग्य बना देता है। सारांश यह कि बहुश्रुत आप तो मोक्ष को प्राप्त करता ही है परन्तु अपने श्रुत के प्रभाव से अपने उपासकों को भी उसी मार्ग का अनुसरण कराकर मोक्ष मंदिर तक पहुंचा देता है। इसी लिए दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि 'बहुस्सुयं पज्जुवासिज्जा' अर्थात् मोक्ष के लिए बहुश्रुत की उपासना—सेवा करे।

यहाँ पर एव शब्द निश्चय अर्थ में आया हुआ है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' की व्याख्या पीछे कई बार आ चुकी है, उसी के अनुसार यहाँ पर भी जान लेनी।

एकादश अध्ययन समाप्त

अह हरिएसिज्जं बारहं अज्झयणं

अथ हरिकेशीयं द्वादशमध्ययनम्

एकादशवें अध्ययन में बहुश्रुत की पूजा का वर्णन किया गया है। सो उसको भी तप का अनुष्ठान करना परम आवश्यक है। इसलिए इस वक्ष्यमाण बारहवें अध्ययन में तप का माहात्म्य बतलाते हुए परम तपस्वी हरिकेशबल नाम के साधु के जीवन वृत्तान्त का वर्णन करते हैं। तात्पर्य कि हरिकेशबल साधु महान् तपस्वी हुए हैं। उनके तप का माहात्म्य इस अध्ययन में वर्णन किया जाता है।

हरिकेशबल साधु का जीवन वृत्तान्त वृत्तिकारों ने इस प्रकार से वर्णन किया है—किसी समय मथुरा नगरी में शंख नाम का एक प्रतापी राजा राज्य करता था। वह किसी समय पर विषय भोगों से विरक्त होकर स्थविरों के पास दीक्षित हो गया! और कुछ समय के बाद वह गीतार्थ भी हो गया! एक समय वह शंख मुनि—जो कि प्रथम शंख नाम का राजा था—पृथिवी मण्डल में भ्रमण करता हुआ हस्तिनापुर में आया। उस नगर में प्रवेश करने के लिए एक बड़ा ही भयंकर और अति उष्ण मार्ग था! उष्ण काल में उस मार्ग में कोई भी पुरुष नंगे पाँव चलने को समर्थ नहीं था। इसी कारण से उसका 'हुतवह' नाम पड़ गया था। शंख मुनि जब उस नगर में भिक्षा लेने के लिए चले तो मार्ग मे, समीप ही गवाक्ष में बैठे हुए सोमदेव नाम के पुरोहित को शंख मुनि ने ग्राम में जाने का मार्ग पूछा और कहा कि क्या मैं इस मार्ग से चला जाऊँ? शंख मुनि के इस शब्द को सुनकर सोमदेव ने अपने मन में विचारा कि इस साधु को 'हुतवह' मार्ग से

भेजना चाहिए, क्यों यदि यह इस मार्ग से जावेगा तो इसके पाँओं खूब जलेंगे और इसके सन्ताप को मैं यहाँ पर बैठा हुआ बड़े कुतूहल से देखूंगा। इस आशय से प्रेरित हुए सोमदेव नाम के उस पुरोहित ने शंख मुनि को उसी हुतवह मार्ग से जाने की सम्मति प्रदान की ! शंख मुनि ने भी सोमदेव के आदेशानुसार उसी मार्ग का अनुसरण किया ! परन्तु मुनि के तपोबल के प्रभाव से उस मार्ग की विकटता दूर हो गई। अर्थात् उसकी उष्णता जाती रही। वह गर्म होने के बदले बिलकुल ठंडा प्रतीत होने लगा ! और वह शंख मुनि ईर्यासमितिपूर्वक शनैः २ उस मार्ग से जाने लगा। उक्त मार्ग से आनन्दपूर्वक जाते हुए मुनि को देखकर वह सोमदेव नाम का पुरोहित गवाक्ष से नीचे उतरा और उसी मार्ग से जब वह नंगे पाँव चलने लगा तो उसको वह मार्ग बिलकुल ही ठंडा प्रतीत होने लगा ! तब उसने इस बात को मुनिराज के तपोबल का प्रभाव समझ कर मन मे बहुत पश्चात्ताप किया और कहने लगा कि हा ! मैंने तो बड़े भारी पापकर्म के उपार्जन का काम किया ! जो कि ऐसे मुनीश्वर को इस प्रकार के भयंकर मार्ग से जाने का उपदेश किया ! परन्तु इस मुनि के चरणों के प्रताप से मार्ग की अत्यन्त उष्णता भी शान्त हो गई ! अतः यदि मैं इसी मुनि का शिष्य बन जाऊँ तब मुझे कोई भी प्रायश्चित्त नहीं होगा और यदि मैं इसका शिष्य न बना तब तो मैं अवश्य किसी भारी प्रायश्चित्त का भागी बनूंगा ! इस प्रकार विचारते हुए उसने शंख मुनि के पास जाकर अपने मन के सारे पाप को प्रकाशित कर दिया और उनके चरणों में गिर पड़ा, शंख मुनि ने उसको आश्वासन देते हुए सम्यक् प्रकार से धर्म का उपदेश दिया। धर्म के उपदेश को सुनकर सोमदेव को वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने उक्त मुनि से दीक्षा ग्रहण करली। सोमदेव ने जहाँ अपने ग्रहण किए हुए चारित्र व्रत के पालन में किसी प्रकार की कमी नहीं रक्खी, वहाँ उसको इस बात का तो ज़रूर मद हो गया कि मैं ब्राह्मण हूँ—उत्तम कुल और जाति वाला हूँ। तात्पर्य कि परमार्थ को भली प्रकार से न जानता हुआ कितने एक समय पर्यन्त संयम का यथाविधि पालन करके आयु कर्म के समाप्त होने पर देवता बना। वहाँ पर बहुत काल तक देवोचित सुखों का उपभोग करके वहाँ से च्यवकर गङ्गा के किनारे बलकोष्ठ नाम के स्थान में हरिकेश नाम के चण्डाल की गौरी नाम्नी भार्या की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ ! परन्तु उसके गर्भ मे आने पर उसकी माता ने स्वप्न में फलों से लदे हुए विशाल आम के

वृक्ष को देखा। जब स्वप्न पाठकों को वह स्वप्न सुनाया गया, तब उन्होंने कहा कि इस स्वप्न का फल यह है कि तुम्हारे घर में एक बड़ा योग्य पुत्र उत्पन्न होगा। गर्भ का समय पूरा होने पर गौरी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस प्रकार जातिमद के कारण उसका एक चाण्डाल के घर में जन्म हुआ तथा जाति, रूप मद के फलस्वरूप उसका शरीर सौभाग्य और रूपरहित होने के कारण वह अपने अन्य भाईयों के लिए भी हास्य का स्थान बना अर्थात् अन्य बालक उसके शरीर की आकृति को देखकर हँसा करते थे एवं उन्होंने उसका नाम 'बल' रख दिया और उसी नाम से वह जनता में पुकारा जाने लगा। इस प्रकार धीरे २ बढ़ता हुआ वह सबसे क्लेश करने के कारण सबको अप्रिय लगने लगा। किसी समय बसन्तोत्सव के दिनों में हरिकेश चांडाल के कुटुम्ब ने नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों का संग्रह करके उसे नगर के बाहिर ले जाकर रक्खा और खान पान के लिए एकत्रित हो गए परन्तु उस समय बल नाम के उस बालक ने अपने अन्य सजातीय बालकों से बहुत क्लेश किया। तब जाति के अन्य वृद्ध पुरुषों ने उसकी इस जघन्य प्रवृत्ति से दुःखी होकर उसको पंक्ति से बाहिर निकाल दिया, फिर वह दूर खड़ा हुआ ही अपनी जाति के अन्य बालकों की क्रीडा को देखने लगा। वह चाहता था कि वहाँ जाकर उनके साथ मैं भी खेलूँ—परन्तु वृद्धों ने उसे अतिक्रोधी जानकर वहाँ आने से रोक रक्खा था। इस अवसर पर वहाँ एक सर्प—साँप आ निकला। उसको अतिभयंकर विष वाला समझकर वहाँ पर एकत्रित हुए उन चाण्डालों ने उसको मार डाला और फिर वहाँ पर ही एक बड़ी लंबी गोह—अलशिक—आ निकली। तब उन चांडालों ने उसे निर्विष समझ कर मारा नहीं किन्तु उठाकर बाहिर फेंक दिया। इस दृश्य को कुछ दूरी पर खड़े हुए उस चांडालपुत्र 'बल' ने भी देखा। उसको देखकर उसके मन मे विचार उत्पन्न हुआ कि वास्तव में प्राणी अपने ही दोषों से सर्वत्र तिरस्कार का पात्र बनता है। यदि मैं साँप के समान क्रोधरूप विष से भरा हुआ हूँ तभी तो ये लोग मेरा तिरस्कार कर रहे हैं और यदि मैं अलशिक के समान निर्विष होता तब तो मेरा कोई भी अनादर न करता। इस प्रकार विचार परम्परा में निमग्न हुए उसको जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब उसने अपने पूर्व भव के जाति मद के फल और देवोचित सुखों की विनश्वरता का विचार करके इस संसार को तुच्छ समझ कर वैराग्यपूर्वक

दीक्षाव्रत को अंगीकार कर लिया और वह हरिकेशीबल के नाम से संसार में विख्यात हुआ। दीक्षाव्रत को स्वीकार करने के अनन्तर हरिकेशीबल साधु ने मुनि-धर्मोचित आचार का पालन करते हुए तपश्चर्या का आरम्भ कर दिया। व्रत, बेला, तेला-चौला-अर्धमास और मास तप का अनुष्ठान करते हुए विहार करके एक समय वह वाराणसी नगरी मे पहुँचा और वहाँ पर तिंदुक वन में आने वाले, मंडिक यक्ष के मंदिर में वह ठहरा। वहाँ पर उसने मासक्षपण तप का आरम्भ कर दिया। उसके गुणों में अनुरक्त होकर वह मंडिक यक्ष उसकी निरन्तर सेवा करने लगा। किसी समय उसी वन में मंडिक यक्ष के हाँ कोई दूसरा यक्ष-प्राघूर्णक-पाहुना-आ गया। उस आगन्तुक यक्ष ने मंडिक यक्ष को कहा कि तुम आजकल मेरे वन में क्यों नहीं आते ? उत्तर में मंडिक यक्ष ने कहा कि मैं आजकल इस महर्षि की सेवा में रहता हूँ। इसके गुणों के अनुराग से मेरा अन्यत्र कहीं पर भी जाने को मन नहीं करता। यह सुनकर वह आगन्तुक यक्ष भी उस मुनि के गुणों पर मुग्ध होकर उसकी सेवा करने लगा। एक दिन उस आगन्तुक यक्ष ने मंडिक यक्ष से कहा कि मित्र ! इस प्रकार के मुनि मेरे वन मे भी ठहरे हुए हैं, चलो उनके भी दर्शन करें तथा सेवा शुश्रूषा करें। ऐसे कह कर वे दोनों वहाँ पर गए और जाकर देखा तो वे मुनि प्रमाद में तत्पर और विकथा आदि मे लगे हुए पाए गए। तब वे दोनों यक्ष उनसे विरक्त होकर वहाँ से वापिस चले आए और दोनों ही बड़ी श्रद्धा भक्ति से हरिकेशीबल मुनि की सेवा करने लगे। एक समय उस यक्ष मंदिर में वाराणसी के स्वामी कौशलिक राजा की भद्रा नामा पुत्री अपने दास दासियों के साथ पूजा की सामग्री लेकर वहाँ गई। यक्ष की प्रतिमा का भली भाँति पूजन करने के अनन्तर प्रदक्षिणा करते समय उसने हरिकेशीबल मुनि के मल से गीले वस्त्र और शरीर को देखकर-जो कि घोर तपस्या के कारण अत्यन्त कृश हो रहा था और वैसे भी कुरूप था-उस पर थूक दिया। परन्तु उसके द्वारा किए गए उक्त मुनि के इस भयंकर अपमान को देखकर मंडिक यक्ष से न रहा गया। उसने इस अपमान के उत्तर में राजकन्याको योग्य शिक्षा देने का विचार करके उसको दास दासियों समेत उठाकर राजमहल में फेंक दिया। राजपुत्री की भयानक दशा को देखकर राजमहल मे कोलाहल मच गया। तब राजा ने अपने अमात्यों के द्वारा नगर के अनेक अनुभवी वृद्ध वैद्यों को बुलाकर उसकी चिकित्सा

का आरम्भ कर दिया। परन्तु अनेक प्रकार की औषधों का प्रयोग करने पर भी उस कन्या के रोग में अणुमात्र भी अन्तर नहीं पड़ा! तब उसके मुख में प्रवेश करके वह यक्ष कहने लगा कि इस कन्या ने मेरे मंदिर मे ठहरे हुए एक संयमशील महातपस्वी साधु का घोर अपमान किया है। इसलिए मैंने ही इसकी यह दशा कर दी है! सो अब यदि यह उससे विवाह करने को तय्यार होवे, तब मैं इसको छोड़ सकता हूँ, अन्यथा नहीं। राजा ने यक्ष की इस बात को जब स्वीकार कर लिया तब यक्ष ने उस कन्या को छोड़ दिया और वह पहले की तरह स्वस्थ हो गई! इसके अनन्तर राजा ने उस कन्या को नानाविध अलंकारों से अलंकृत करके और विवाह के योग्य बहुमूल्य उपकरणों को लेकर उस वन में जाकर कन्या सहित हरिकेशीबल मुनि के चरणों मे नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगा—हे मुने! इस कन्या से आप विवाह कीजिए और इसके सुकोमल करों को अपने तप रूप करों के स्पर्श से पवित्र कीजिए। पिता के इस कथन का उस कन्या ने भी बड़ी नम्रता से समर्थन किया। पिता और पुत्री के इस प्रकार के वचनों को सुनकर हरिकेशीबल मुनि बोले कि—बुद्धिमान् पुरुषों के द्वारा वार २ निन्दित किए गए इस मैथुन धर्म—वस्तुतः अधर्म—से हम तो सर्वथा निवृत्ति पा चुके हैं! और जहाँ पर स्त्री—पशु—और नपुंसक ठहरते हों वहाँ पर भी हम नहीं ठहरते, तथा नाहीं स्त्री के साथ एक स्थान मे निवास करते है, तब भला तुम्हारा हाथ किस तरह पर ग्रहण किया जावे? वास्तव मे तो साधु पुरुष मुक्तिरूप स्त्री से ही विवाह करने के इच्छुक होते हैं और जो अशुचिता पूर्ण युवतिएं हैं, उनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। हे भद्रे! मैं तो संयमशील साधु हूँ इसलिए मैं तो स्त्री का स्पर्श तीन करण और तीनों योगों से भी नहीं करता। अतः हे भद्रे! तू मेरे से दूर रह। मैंने तेरा हाथ कभी ग्रहण नहीं किया। किन्तु तेरे साथ जो कुछ भी व्यवहार हुआ है यह सब कुछ इस यक्ष की चेष्टा का फल है, मेरा इससे कोई सरोकार नहीं। मुनि के इन वचनों को सुनकर राजा और राजकन्या दोनों खिन्नचित्त होकर अपने राज भवन को वापिस चले आए। तब राजा से रुद्रदेव नाम के पुरोहित ने कहा कि हे राजन्! यह ऋषि-पत्नी—जो कि उस मुनि ने त्याग दी है—अब किसी ब्राह्मण को देनी चाहिए। क्योंकि ऋषियों का भोज्य पदार्थ ब्राह्मणों के ही योग्य होता है। तब राजा ने वह

कन्या उस पुरोहित को देदी[1]। फिर वह पुरोहित कुछ समय तक उस राजकन्या से विषयसुख का उपभोग करता हुआ एक दिन राजा से कहने लगा कि अव इसको ऋषिपत्नी के स्थान पर यज्ञपत्नी बनाना है अतः मैं एक बड़े विशाल यज्ञ का सम्पादन करना चाहता हूं। राजा ने उसको यज्ञ करने की आज्ञा देदी। तब रुद्रदेव नाम के पुरोहित ने अनेक देशों के अनेक भट्टों—विद्वानों—को आमंत्रित किया और वे सब आ गए। यज्ञमंडप में पधारने वाले उन आगन्तुक विद्वानों के लिए रुद्रदेव ने अनेक प्रकार की भोजन सामग्री का निर्माण कराया।

इस अवसर में वह महर्षि वहाँ पर मासोपवास के पारणे के निमित्त भिक्षा के लिए गया [इतनी कथा सूत्र में आए हुए विषय से सम्बन्ध मिलाने के लिए वर्णन की गई है] उस समय यज्ञमंडप में आए हुए उस मुनि का ब्राह्मणों के साथ जो वार्तालाप हुआ है उसी का दिग्दर्शन प्रस्तुत सूत्र के इस बारहवें अध्ययन में कराया गया है जोकि उक्त मुनि के जीवन से सम्बन्ध रखता हुआ बड़ा ही रोचक और शिक्षाप्रद है यथा—

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम, आसि भिक्खू जिइन्दिओ ॥१॥

श्वपाककुलसंभूतः, उत्तरगुणधरो मुनिः।
हरिकेशबलो नाम, आसीद् भिक्षुर्जितेन्द्रियः ॥१॥

पदार्थान्वयः—सोवाग—चांडाल कुल—कुल में संभूओ—उत्पन्न हुआ गुणुत्तरधरो—प्रधान गुणों का धारक मुणी—मुनि हरिएसबलो—हरिकेशबल नाम—नाम वाला भिक्खू—साधु जिइंदिओ—जितेन्द्रिय आसि—हुआ।

---

१ अथ तेन यक्षेण तस्य महर्षेः शरीरं प्रच्छाद्य तत्सदृशं भिन्नरूप विकुर्व्य करं करेण जगृहे। एकरात्रि यावत् अरंस्त, प्रभाते यक्षो दूरीभूत। स्वाभाविकरूपो यतिस्तमाह—भद्रे ! अहं संयमी नैव स्त्रीस्पर्शं त्रिधा शुद्ध्या करोमि न मया त्वत्कर करेण गृहीत किन्तु मद्भक्तेन यक्षेण च त्व विडम्बिता स च साम्प्रत दूरे गत मत्तस्त्व दूरे भव। महर्षिणा इत्युक्ता सा प्रभाते सर्वं स्वप्नमिव मन्यमाना भृशं विखिन्ना राज्ञो गृहे गता सर्वं तत्स्वरूपं राज्ञे आचरव्यौ तदानीं राज्ञ पुरः उपविष्टेन रुद्रदेवपुरोहितेनोक्त राजन्नियं ऋषिपत्नी तेन मुक्ता ब्राह्मणाय दीयते ततो राज्ञा सा तस्यैव दत्ता' इत्यादि [दीपिका]।

मूलार्थ—चांडाल कुल में उत्पन्न हुआ प्रधान गुणों का धारक मुनि हरिकेशबलनामा एक जितेन्द्रिय साधु हुआ था।

टीका—हरिकेशबल नाम का एक जितेन्द्रिय साधु जो कि चांडाल कुल में उत्पन्न होकर भी प्रधान गुणों का धारक मुनि हुआ है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी गुणों की विशिष्टता से यह आत्मा उच्च कुल वालों का पूजनीय हो सकता है। तथा दीक्षा का अधिकार केवल उच्चवर्ण को ही नहीं किन्तु उसका वास्तविक सम्बन्ध तो वैराग्यभावित आत्मा से है अर्थात् दीक्षा और ज्ञान का सम्बन्ध किसी उच्च अथवा नीच कुल से नहीं किन्तु उसका सम्बन्ध केवल आत्मा से है। जाति और कुल गोत्र तो अघातिकर्मोंका फल है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र यह सब ज्ञानावरणीय–दर्शनावरणीय–मोहनीय और अन्तराय इन घाति कर्मों के क्षय वा क्षयोपशम का परिणाम है इसलिए ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति मे ऊंचनीच जाति का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत अध्ययन की उत्पत्ति हुई है अर्थात् चारित्रप्राप्ति और गुण-सम्पदा के लाभार्थ आत्मा मे विशिष्ट योग्यता की ही आवश्यकता है और जाति तथा कुल गोत्र उसमें कारणभूत नहीं हैं। आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को जलाने के लिए तप रूप अग्नि को प्रज्वलित करने की आवश्यकता है तथा आत्मा में रहे हुए अज्ञानान्धकार को दूर करने के निमित्त अन्तरात्मा में ज्ञानज्योति के प्रकाश की ज़रूरत है। इसलिए मोक्ष के कारणभूत ज्ञान और चारित्र के सम्पादन मे किसी उच्च जाति अथवा कुलविशेष की कोई आवश्यकता नहीं। इसी आशय से सिद्धान्त मे कहा है—'न तस्सजातिं व कुलं वताणं' तथा—'नन्नत्थविज्जा चरणप्पमोक्खं' अर्थात् जाति और कुल इस आत्मा को दुर्गति से नहीं बचा सकते तथा विद्या और चारित्र के बिना और कोई मोक्ष का साधन नहीं है। अतः विचारशील पुरुषों को किसी व्यक्ति के कुलगोत्र का विचार न करते हुए उसके गुणों का ही विचार करना चाहिए क्योंकि वास्तविक पूज्यता इस आत्मा में उत्तम गुणों के संचार से ही आ सकती है।

अब इस विषय मे एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि सारा विचार गुणों पर ही अवलम्बित है तो क्या नीच जाति के साधु के साथ उच्चजाति के साधुओं को आहार कर लेना चाहिए? यदि नहीं तो जाति की भी प्रधानता

रही। इसका समाधान यह है कि सिद्धान्त की दृष्टि से तो हीन जाति के साधु के साथ आहार करने में कोई दोष नहीं परन्तु व्यवहार दृष्टि को लेकर ऐसा करना उचित नहीं। क्योंकि वीतरागदेव के मार्ग में निश्चय और व्यवहार दोनों को ही अपनी २ कक्षा में समान अधिकार दिया गया है। यदि केवल निश्चय-मार्ग का ही अवलम्बन करना सदा श्रेयस्कर होता तो केवली भगवान् को—रात्रि में विहार न करना, रात्रि में भोजन न करना, तथा स्त्रीयुक्त स्थान में न बैठना—इत्यादि लौकिक मर्यादा के अनुसरण करने की आवश्यकता कदापि न होती, इसलिए लोक में यदि नीच जाति के साधु के साथ अन्य साधुओं के आहार आदि के एकत्रित होने की कोई चर्चा नहीं अथवा जनता में इसके लिए अनादर की भावना नहीं तब तो इस कार्य में कोई आपत्ति नहीं परन्तु यदि लोकमर्यादा इस कार्य का समर्थन नहीं करती तब तो इसका आचरण करना उचित नहीं है। इसका सारांश यह है कि सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई कार्य प्रत्यवायजनक नहीं तो भी यदि लोकव्यवहार—लोकमत उसके विरुद्ध हो तो उसको भी आदर नहीं देना चाहिए।

अब फिर उक्त मुनि के गुणों के विषय में कहते हैं—

इरिएसणभासाए , उच्चारसमिईसु य।
जओ आयाणनिक्खेवे, संजओ सुसमाहिओ ॥२॥

ईर्यैषणाभाषा , उच्चार समितिषु च।
यत आदाननिक्षेपे, संयतः सुसमाहितः ॥२॥

पदार्थान्वयः—इरि—ईर्या एसण—एषणा भासाए—भाषा उच्चार—पुरीष य—और समिईसु—समितियों में जओ—यत्न वाला आयाण—वस्तु का ग्रहण करना निक्खेवे—निक्षेप करना संजओ—यत्न करने वाला सुसमाहिओ—सुन्दर समाधि वाला।

मूलार्थ—वह मुनि—ईर्यासमिति, एषणासमिति, भाषासमिति, उच्चार-समिति, आदान और निक्षेपसमिति इन पाँचों में यत्न करने वाला तथा सुन्दर समाधिवाला था।

टीका—इस गाथा में मुनि के गुणों का वर्णन करते हुए पाँचों समितियों का उल्लेख किया है अर्थात् वह हरिकेशबल नामक साधु, मार्ग में चलते समय

ईर्यासमिति का उपयोग करता था, बोलते समय भाषासमिति का पालन करता था और आहार आदि की गवेषणा के समय एषणासमिति से युक्त रहता था। तथा पीठ पाट आदि के ग्रहण में और रखने मे निरन्तर यत्नवान् था। अपि च मल और मूत्र आदि पदार्थों के त्याग मे सर्वथा विवेक से काम लेता था इस प्रकार साधु की प्रत्येक क्रिया मे यत्नशील होता हुआ सदा समाहित रहता था।

इन पॉचों समितियों के सविस्तर स्वरूप का उल्लेख इसी सूत्र के चौवीसवें अध्ययन में किया है अतः वहां पर ही इनका विवेचन किया जावेगा। तथा यहां पर इनका जो अनुक्रम से उल्लेख नहीं किया गया उसका कारण केवल छंदोभंग है अर्थात् छंदोभंग के भय से ऐसा नहीं किया गया। एवं 'भासाए' यहां पर जो 'भासा' शब्द के आगे 'ए' यह शब्द दिया है इसका तात्पर्य सप्तमी विभक्ति के निर्देश से नहीं किन्तु यहां पर प्राकृत आर्षवाणी के कारण से ही एकार का आगमन हुआ है ऐसा समझना चाहिए। 'एकारस्यालाक्षणिकत्वात् वा प्राकृते आर्षत्वात् एकारस्यागमोऽस्ति'।

अब फिर उक्तमुनि के गुणों का ही वर्णन किया जाता है—

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइन्दिओ।
भिक्खट्ठा बम्भइज्जम्मि, जन्नवाडे उवट्ठिओ ॥३॥

मनोगुप्तो वचोगुप्तः, कायगुप्तो जितेन्द्रियः।
भिक्षार्थं ब्रह्मेज्ये, यज्ञपाट उपस्थितः ॥३॥

पदार्थान्वयः—मणगुत्तो–मनगुप्त वयगुत्तो–वचनगुप्त कायगुत्तो–कायागुप्त जिइंदियो–जितेन्द्रिय भिक्खट्ठा–भिक्षा के वास्ते बंभइज्जम्मि–ब्राह्मणों के यज्ञ मे जन्नवाडे–यज्ञवाट में उवट्ठिओ–उपस्थित हुआ।

मूलार्थ—मनोगुप्त, वचनगुप्त और कायगुप्त तथा जितेन्द्रिय, वह मुनि भिक्षा के निमित्त से ब्राह्मणों द्वारा सम्पादन किए गए यज्ञवाड़े–यज्ञमंडप में उपस्थित हुआ।

टीका—इन्द्रियों को सर्वथा वश में रखने वाला वह मुनि भिक्षार्थ भ्रमण करता हुआ एक समय ब्राह्मणों के द्वारा सम्पादित होने वाले एक यज्ञ में

उपस्थित हुआ। उस मुनि के मन वचन और काय ये तीनों ही गुप्त अर्थात् सुरक्षित थे। तात्पर्य कि ध्यानसमाधि के द्वारा उसने अपने मन को वश मे किया हुआ था इसी प्रकार वाणी और शरीर पर भी उसका पूरा अधिकार था।

यहां पर दूसरी वार जो 'जितेन्द्रिय' शब्द का उल्लेख किया है उसका तात्पर्य इन्द्रियों की दुर्जयता का ख्यापन करना है क्योंकि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना नितान्त कठिन है। तथा 'मनोगुप्तः' का अर्थ मनोगुप्ति से गुप्त इस प्रकार मध्यमपदलोपीसमास से करना। 'मनोगुप्त्या गुप्तो मनोगुप्तः वचोगुप्त्या गुप्तो वचोगुप्तः कायगुप्त्या गुप्तः कायगुप्तः' इत्यादि।

उक्त यज्ञवाटिका में उपस्थित होने के बाद क्या हुआ अब इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं, यथा—

तं पासिऊणं एज्जन्तं, तवेण परिसोसियं।
पन्तोवहिउवगरणं, उवहसन्ति अणारिया ॥४॥

तं दृष्ट्वाऽऽयान्तं, तपसा परिशोषितम्।
प्रांतोपध्युपकरणं, उपहसन्त्यनार्याः ॥४॥

पदार्थान्वयः—तं—उस मुनि को एज्जंतं—आता हुआ पासिऊणं—देख करके तवेण—तप से परिसोसियं—परिशोपित पंतोवहि—प्रान्त उपधि तथा उवगरणं—उपकरण के धरने वाला उवहसंति—उपहास्य करते हैं अणारिया—अनार्य—अनार्यों की तरह।

मूलार्थ—उस समय—तप से सूखा हुआ है शरीर जिसका तथा जिसके वस्त्रादि बाह्य उपकरण अत्यन्त जीर्ण हैं ऐसे उस मुनि को यज्ञवाटिका—मंडप में आते देखकर वे ब्राह्मणलोग अनार्यों की भांति उस मुनि का उपहास्य करने लगे।

टीका—जिस समय हरिकैशबल मुनि, यज्ञमंडप में आए उस समय यज्ञविधान करने वाले ब्राह्मणलोग उस आगन्तुक के शरीर की आकृति को देखकर इस प्रकार उसका उपहास्य करने लगे जैसे किसी भद्र पुरुष का अनार्यलोग किया करते हैं। मुनि हरिकैशबल का बाह्यस्वरूप कुछ ऐसा था जिससे कि उसके अन्दर

में रहने वाला आत्मप्रकाश बिलकुल तिरोहित सा हो रहा था। एक तो उनके शरीर की आकृति ही सुन्दर न थी, दूसरे वे तपश्चर्या से अत्यन्त क्षीण हो रहे थे एवं उनकी उपधि और उपकरण भी अत्यन्त जीर्ण और मलिन थे इसलिए उक्त-मुनि के आन्तरिक स्वरूप को न समझते हुए वे याज्ञिक लोग उसका उपहास्य करें यह कुछ अस्वाभाविक नहीं, तथापि किसी आगन्तुक व्यक्ति का विना प्रयोजन उपहास्य करना भी किसी प्रकार से शिष्टसम्मत नहीं कहा जा सकता। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा मे अनार्य शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् जैसे असभ्य पुरुष, हर किसी का उपहास्य करने में प्रवृत्त हो जाते हैं उसी प्रकार उन ब्राह्मणों ने भी उक्तमुनि से किसी प्रकार का भी परिचय प्राप्त किए विना ही जो उसका उपहास्य करना आरम्भ कर दिया, निस्सन्देह उनका यह व्यवहार सभ्यता से गिरा हुआ था। उपधि और उपकरण में इतना ही भेद है कि साधु के हर समय पहरने तथा उपयोग में आने वाले वस्त्र पात्र आदि उपधि कहलाते हैं, और वर्षा तथा शीतकाल में ओढ़ने वाले कम्बल आदि उपकरण के नाम से व्यवहृत किए जाते हैं।

अब उन याज्ञिक ब्राह्मणों के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

जाईमयपडिथद्धा , हिंसगा अजिइन्दिया।
अबम्भचारिणो बाला, इमं वयणमब्बवी ॥५॥

जातिमदप्रतिस्तब्धा , हिंसका अजितेन्द्रियाः।
अब्रह्मचारिणो बाला , इदं वचनमब्रुवन् ॥५॥

पदार्थान्वयः—जाईमय–जातिमद से पडिथद्धा–अहंकारयुक्त हिंसगा–हिंसा करने वाले बाला–अज्ञानी अजिइंदिया–इन्द्रियों के वशीभूत अबंभचारिणो–ब्रह्मचर्य से रहित–मैथुन के सेवन करने वाले इमं–इस प्रकार वयणं–वचन अब्बवी–कहने लगे।

मूलार्थ—जातिमद से प्रतिस्तब्ध, हिंसा करने वाले अजितेन्द्रिय, ब्रह्मचर्य से रहित–मैथुन का सेवन करने वाले वे अनार्य ब्राह्मण–उपहास्य करने के बाद उस मुनि से इस प्रकार कहने लगे।

टीका—इस गाथा में उन यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के स्वरूप का कुछ वर्णन किया गया है। जब उन्होंने उक्त मुनि को देखा तो वे हंसने लगे क्योंकि उनको—"हम ब्राह्मण हैं" इस प्रकार के जाति मद का गर्व था। इसके अतिरिक्त वे हिंसक हैं अर्थात् जीवोंके वध में प्रवृत्ति रखने वाले और इन्द्रियों के वशीभूत तथा मैथुन का सेवन करने वाले हैं अतएव उनको यहां बाल–मूर्ख अज्ञानी जीव कहा है। इस कथन का तात्पर्य यह हैं कि जिस पुरुष को किसी प्रकार का मद होता है वह अपने में रहे हुए अनेक अवगुणों को देख नहीं पाता। इसके अतिरिक्त उस पुरुष की हिंसक प्रवृत्ति भी उसके हृदय में सात्त्विक भाव को उत्पन्न होने नहीं देती तथा जो पुरुष इन्द्रियों के वशीभूत है उसका अन्तःकरण भी धार्मिक भावनाओं से प्रायः शून्य ही होता है और जिसकी ब्रह्मचर्य में निष्ठा नहीं उसका जीवन तो धार्मिक उद्यान में एक नीरसतरु के समान है इसीलिए उक्त दूषणों से व्याप्त होने वाला जीव अज्ञानी अथवा मूर्ख कहा जाता है, फिर वह यदि किसी परमार्थदर्शी तपस्वी साधु मुनि का उपहास्य करे या उसकी अवहेलना करे तो उसमें आश्चर्य की कौनसी बात है।

आए हुए हरिकेशबल मुनि को उन्होंने क्या कहा अब इसी बात का उल्लेख करते हैं—

कयरे आगच्छइ दित्तरूवे,
काले विकराले फोक्कनासे।
ओमचेलए पंसुपिसायभूए,
संकरदूसं परिहरिय कण्ठे ॥६॥

कतर आगच्छति दीप्तरूपः,
कालो विकरालः फोक्कनासः।
अवमचेलकः पांशुपिशाचभूतः,
संकरदूष्यं परिधृत्य कंठे ॥६॥

पदार्थान्वयः—कयरे–कौन आगच्छइ–आता है दित्तरूवे–दीप्तरूप काले–काले वर्ण वाला विकराले–भयंकर फोक्कनासे–ऊंची नासिका वाला ओमचेलए–

जीर्ण वस्त्रों वाला **पंसुपिसायभूए**–रज–धूलि–के स्पर्श से जो पिशाच के सदृश है **संकरदूसं**–रूड़ी के वस्त्रों को **कंठे**–गले में **परिहरिय**–धारण करके।

मूलार्थ—कौन आता है ? दीप्तरूप, काले वर्ण वाला महाभयंकर और चिपटीनासिका वाला जिसने कि असार–अत्यन्त जीर्ण वस्त्र पहर रखे हैं तथा रज के स्पर्श से जो पिशाच के तुल्य प्रतीत होता है एवं उक्करड़ी के समान गिरे हुए वस्त्र जिसने गले में धारण किए हुए हैं।

टीका—हरिकेशबल मुनि को जब ब्राह्मणों ने दूर से आते देखा तब वे इस प्रकार कहने लगे–यह कौन आता है जिसका कि रूप अति बीभत्स्य है, वर्ण अति काला है इतना ही नहीं किन्तु अति भयंकर होने से विकराल भी है तथा इसकी नासिका आगे से ऊंची और मध्य में बैठी हुई है, वस्त्र भी बिलकुल जीर्ण हैं और धूली के स्पर्श से पिशाच की तरह प्रतीत हो रहा है तथा संकर दूष्य–ग्राम की उत्करड़ी के समान अतिनिकृष्ट वस्त्रादि इसने गले में धारण कर रक्खे हैं तात्पर्य कि जैसे उत्करड़ी के वस्त्र बिलकुल असार होते हैं उन्हीं के समान उक्त मुनि के वस्त्र हैं यहां पर शास्त्रकार ने जो गले में धारण करने का उल्लेख किया है उससे यह प्रतीत होता है कि हरिकेशबल मुनि हर समय अपनी उपधि को साथ लेकर ही भ्रमण करता था। एवं उक्त गाथा में आए हुए 'विकराल' शब्द का अर्थ वृत्तिकारों ने यद्यपि–'विकरालो–विकृतांगोपांगधरः लंबोष्ठदंतुरत्वादि–विकारयुक्तः' यह अर्थ किया है तथापि यहां पर एतावन्मात्र अर्थ ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि–'उसके अंगोपांग विकृत थे' जिससे कि देखने वालों को भयंकर प्रतीत होता था। इसके अतिरिक्त विकराल का अर्थ यदि केवल ओष्ठ और दांतों की विकृति करना ही सूत्रकार को अभीष्ट होता तो जैसे नासिका के लिए–फोकनासः' का उल्लेख किया है उसी प्रकार ओष्ठ और दांतों के लिए भी कोई दूसरा शब्द अवश्य प्रयुक्त किया जाता इसलिए विकराल शब्द का इतना ही अर्थ युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि उसका दर्शन बड़ा भयंकर था। तथा 'फोकनासः' का अर्थ है–फोका अग्रे स्थूलोन्नता मध्ये निम्ना चिप्पटा नासा यस्य स फोकनासः' अर्थात् जिसकी नासिका आगे से स्थूल और ऊंची तथा मध्य में निम्न और चिपटी हो उसे फोकनासिक कहते हैं।

इसके अनन्तर समीप आने पर उस आगन्तुक मुनि को वे ब्राह्मण कहते हैं—

कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे,
काए व आसाइहमागओ सि ।
ओमचेलया पंसुपिसायभूया,
गच्छक्खलाहि किमिहं ठिओ सि ॥७॥

कतरस्त्वमित्यदर्शनीयः ,
कया वाऽऽशयेहागतोऽसि ।
अवमचेलकपांशुपिशाचभूत ,
गच्छा ऽपसर किमिह स्थितो ऽसि ॥७॥

पदार्थान्वयः—कयरे–कौन तुमं–तू इय–इस प्रकार अदंसणिज्जे–अदर्शनीय व–अथवा काए–किस आसा–आशा से इहं–यहां पर आगओ सि–आया है ओमचेलया–हे जीर्ण वस्त्रों के धारण करने वाले पंसुपिसायभूया–धूलि से पिशाच की भांति प्रतीत होने वाले! गच्छ–जा खलाहि–हमारी दृष्टि से परे हो! किं–क्यों इहं–यहां पर ठिओसि–खड़ा है।

मूलार्थ—कौन है तू जो कि इस प्रकार से अदर्शनीय है अथवा किस आशा से यहां पर आया है? हे अतिजीर्ण वस्त्रों के धारण करने वाले पिशाच-रूप! जा हमारी दृष्टि से परे हो जा! तू क्यों यहां पर खड़ा है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे आमंत्रणार्थ में जो 'रे' शब्द का ग्रहण किया है वह अति नीचता का सूचक है। और जो 'मागओसि' में मकार है वह अलाक्षणिक है। एवं 'खलाहि' यह क्रियापद देशी प्राकृत का है इसकी प्रतिरूप क्रिया 'अपसर' है तथा 'ओमचेलया–पिसायभूया' में सम्बोधन के विषय में अकार को प्राकृत के नियम से दीर्घ किया गया है यथा—'हे गोयमा' इसके अतिरिक्त इस पद को दूसरी वार जो गाथा में स्थान दिया गया है उसका तात्पर्य अत्यन्त भर्त्सना से है।

इस प्रकार ब्राह्मणों के तिरस्कार–युक्त वचनों को सुनकर उक्त तपस्वी मुनि ने तो उनको कुछ भी उत्तर नहीं दिया परन्तु उनकी सेवा में रहने वाले उनके परम भक्त उस यक्ष ने जो कुछ किया और कहा अब उसी का वर्णन करते हैं।

जक्खे तहिं तिन्दुयरुक्खवासी,
अणुकम्पओ तस्स महामुणिस्स ।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं,
इमाइं वयणाइमुदाहरित्था ॥८॥

यक्षस्तस्मिन् (काले) तिन्दुकवृक्षवासी,
अनुकम्पकस्तस्य महामुनेः ।
प्रच्छाद्य निजकं शरीरं,
इमानि वचनान्युदाहृतवान् ॥८॥

पदार्थान्वयः—जक्खे—यक्ष तहिं—उस समय तिंदुयरुक्खवासी—तिन्दुक वृक्ष मे रहने वाला तस्स—उस महामुणिस्स—महामुनि की अणुकम्पओ—अनुकम्पा करने वाला पच्छायइत्ता—प्रच्छन्न करके नियगं—अपने सरीरं—शरीर को इमाइं—इन—वक्ष्यमाण वयणाइं—वचनों को उदाहरित्था—बोलने लगा ।

मूलार्थ—उस समय उक्त मुनि की अनुकम्पा करने वाला, तिन्दुक वृक्षवासी यक्ष अपने शरीर को प्रच्छन्न करके अर्थात् उस मुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर उन ब्राह्मणों से इस प्रकार बोला ।

टीका—उन ब्राह्मणों के इस प्रकार के तिरस्कार-युक्त वचनों को सुनकर भी वह मुनि तो मौन रहे परन्तु उनकी सेवाभक्ति करने वाले यक्ष ने उनके शरीर मे प्रविष्ट होकर उन ब्राह्मणों से वक्ष्यमाण वार्तालाप किया। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि उस समय उन यज्ञदीक्षित ब्राह्मणों के साथ हरिकेशबल मुनि का जो संवाद हुआ है वह वास्तव मे उनका संवाद नहीं किन्तु उनके शरीर मे प्रविष्ट हुए उस यक्ष का संवाद है । इसके साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि देवगण केवल गुणों के अनुरागी होते हैं उनको किसी जाति अथवा कुल से कोई अनुराग नहीं है । एवं धर्मात्मा और गुणिजनों की पूजा मनुष्य तो क्या देवता भी करते हैं ['देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो' दशवैकालिक] यह भी स्पष्ट है । तथा उक्त मुनि का मौन रहना उनकी आक्रोश—परिषह पर पूर्णविजय शीलता का परिचा-

यक है। तब साधुरूप से उस यक्ष का उन ब्राह्मणों से जो वार्तालाप हुआ अब उसी का वर्णन निम्नलिखित गाथाओं मे करते हैं—

समणो अहं संजओ बम्भयारी,
विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले,
अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥९॥

श्रमणोऽहं संयतो ब्रह्मचारी,
विरतो धनपचनपरिग्रहात्।
परप्रवृत्तस्य तु भिक्षाकाले,
अन्नार्थमिहाऽऽगतोऽस्मि ॥९॥

पदार्थान्वयः—अहं—मै समणो—श्रमण हूं संजओ—संयत—और बंभयारी—ब्रह्मचारी हूं विरओ—निवृत्त होगया हूं धण—धन से पयण—अन्न के पकाने से परिग्गहाओ—परिग्रह से पर—और के वास्ते पवित्तस्स—जो उत्पन्न हुआ है उ—निश्चय ही भिक्खकाले—भिक्षाकाल में अन्नस्स—अन्न के अट्ठा—वास्ते इहं—इस यज्ञमंडप में आगओमि—मैं आया हूं।

मूलार्थ—यक्ष ने कहा—हे ब्राह्मणो! मैं श्रमण हूं, संयत हूं, ब्रह्मचारी हूं, तथा धन के संचय करने, अन्न के पकाने और परिग्रह के रखने से मैं सर्वथा निवृत्त होगया हूं, अपि च पर के लिए जिस आहार का—अन्न का—निर्माण हुआ है उसमें से भिक्षा के समय पर आहार लेने जाता हूं अतः इस यज्ञशाला में भी मैं भिक्षा के लिए उपस्थित हुआ हूं।

टीका—इस गाथा मे साधु के शरीर में प्रविष्ट होकर यक्षराज ने ब्राह्मणों के प्रश्न का जो उत्तर दिया है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। ब्राह्मणों के दो प्रश्न थे १ तू कौन है ? २ तू किस लिए यहां पर आया है ? इनमें से पहले प्रश्न के उत्तर में उसने कहा कि मैं श्रमण हूं अर्थात् तप के अनुष्ठान में निरन्तर श्रम

करने से मैं श्रमण कहलाता हूं। तथा सावद्य प्रवृत्ति से रहित होने के कारण संयत कहलाता हूं। और मैथुन के सर्वथा त्याग से ब्रह्मचारी हूं। एवं धन के त्याग से अकिंचन हूं। यह तो उनके प्रथम प्रश्न का उत्तर है।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में वह यक्ष कहता है कि मैं स्वयं अन्नादि का पाक नहीं करता अतः जो अन्न किसी दूसरे के निमित्त से तैयार किया गया हो उसी में से मैं भिक्षा के समय आहार लेने के लिए जाता हूं यही संन्यासी का आचार है इसलिए इस यज्ञमंडप में मैं भिक्षा के वास्ते आया हूं। इस प्रकार उन ब्राह्मणों के दोनों प्रश्नों का यथार्थ उत्तर उस यक्ष ने दे दिया। यक्ष के उत्तर में दो बातों की विशेषता देखने में आती है १ साधुवृत्ति के यथार्थ स्वरूप का संक्षेप से वर्णन करना और २ उनके असभ्यता भरे प्रश्नों का सभ्य भाषा मे उत्तर देना। तथा एक बात जो उसके उत्तर में सबसे अधिक आकर्षण पैदा करने वाली है वह यह है कि उसने अपने आपको अतिथि बतलाने के साथ २ अपनी गुण-गरिमा का भी बड़ी सुन्दरता से परिचय दे दिया है।

इसके अनन्तर उस यक्ष ने फिर कहा कि—

वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई,
अन्नं पभूयं भवयाणमेयं।
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति,
सेसावसेसं लभऊ तवस्सी ॥१०॥

वितीर्यते खाद्यते भुज्यते,
चान्नं प्रभूतं भवतामेतत्।
जानीत मां याचनजीविनमिति,
शेषावशेषं लभताम् तपस्वी ॥१०॥

पदार्थान्वयः—वियरिज्जइ-वितीर्ण किया जाता है खज्जइ-खाया जाता है भुज्जई-भोगा जाता है अन्नं-अन्न पभूयं-प्रभूत भवयाणं-आपके एयं-यह प्रत्यक्ष है जाणाहि-तुम जानते हो मे-मेरा जायण-याचना से जीविणु-जीवन है त्ति-इस

प्रकार सेस–शेष अवसेसं–अवशेष लभऊ–प्राप्त करे तवस्सी–तपस्वी ।

मूलार्थ–हे ब्राह्मणो ! यह प्रत्यक्ष प्रभूत अन्न तुमारे पास है–इसमें से वितीर्ण किया जाता है ! खाया जाता है और भोगा जाता है। तुम जानते हो कि मेरा जीवन केवल याचना पर ही अवलंबित है अतः तपस्वी को शेष या अवशेष अन्न–मिलना चाहिए ।

टीका—प्रस्तुत गाथा के अर्थ का भली भांति मनन करने से प्रतीत होता है कि उस समय जिन यज्ञों का निर्माण होता था उनमे प्रभूत अन्नादि खाद्य पदार्थों का ही वितरण, भोजन और हवन किया जाता था अर्थात् इसी निमित्त से यज्ञादि का समारम्भ किया जाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि पशु का वध अथवा मांस का हवन करना इत्यादि आर्यजनविगर्हित प्रवृत्ति को उस समय स्थान नहीं था। अन्यथा एक जैनभिक्षु का यज्ञवाड़े मे आकर भिक्षा का मांगना सगत नहीं हो सकता क्योंकि जहां पर सात्त्विक आहार की उपलब्धि नहीं हो सकती वहां पर जैनमुनि का भिक्षार्थ उपस्थित होना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय वैध यज्ञों के स्थान मे सात्त्विक यज्ञों की प्रवृत्ति चल पड़ी थी इसी लिए ब्राह्मणों के द्वारा आरम्भ किए जाने वाले यज्ञ में अन्नादि के ही वितरण और भोजन आदि का वर्णन उपलब्ध होता है ।

यक्ष कहता है कि हे ब्राह्मणो ! आपके इस यज्ञ मे दीन अनाथों को अन्नादि पदार्थ दिए जाते हैं। घृत खंडादि पदार्थों का भोजन किया जाता है; यहां पर प्रभूत अन्नादि पदार्थ विद्यमान हैं। तथा आप लोग यह बात भली प्रकार जानते हो कि मैं भिक्षु हूं और मेरा जीवन केवल भिक्षावृत्ति पर ही निर्भर है। इसलिए आपके पास जो शेष अथवा शेष में भी जो शेष है–मुझे तपस्वी समझ कर वह आहार मुझ को दे दो। क्योंकि आपका यह यज्ञ सब जीवों की प्रीति को सम्पादन करने वाला है, अतः मुझे भी भिक्षा देवे। मुनि के उक्त भाषण को सुनकर उन ब्राह्मणों ने जो उत्तर दिया अब उसी का वर्णन करते हैं—

उवक्खडं भोयण माहणाणं,
अत्तट्ठियं　　सिद्धमिहेगपक्खं ।

न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं,
दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओ सि ॥११॥
उपस्कृत भोजनं ब्राह्मणानां,
आत्मार्थकं सिद्धमिहैकपक्षम् ।
न तु वयमीदृशमन्नपानं,
तुभ्यं न दास्यामः किमिह स्थितोऽसि ॥११॥

पदार्थान्वयः—उवक्खडं–संस्कार किया हुआ भोयण–भोजन माहणाणं–ब्राह्मणों के लिए है अत्तट्ठियं–अपने वास्ते ही सिद्धं–बनाया गया है–निष्पन्न किया है इह–इस यज्ञवाड़े में एगपक्खं–एक पक्ष जो ब्राह्मण है उन्हीं के वास्ते है न–नहीं ऊ–वितर्क में वयं–हम एरिसं–इस प्रकार का अन्न–अन्न पाणं–पानी दाहामु–देंगे तुज्झं–तुमको किं–क्यों तुम इहं–यहां पर ठिओसि–खड़े हो ।

मूलार्थ—यह संस्कार किया हुआ भोजन केवल ब्राह्मणों के वास्ते ही है अतः अपने वास्ते ही बनाया गया है अपिच इस यज्ञवाड़े में एक पक्ष के निमित्त ही भोजन तयार हुआ है अतः इस प्रकार का अन्न और पानी हम तुझे नहीं देंगे फिर तू क्यों खड़ा है ?

टीका—ब्राह्मण कहते हैं कि हे भिक्षो ! आप जिस कार्य के लिए यहां पर उपस्थित हुए हैं उसका होना दुस्तर है अर्थात् यहां से आपको भिक्षा नहीं मिल सकती क्योंकि यह लवणादि पदार्थों से संस्कार किया हुआ भोजन केवल ब्राह्मणों के वास्ते ही है और यह भोजन हमने अपने वास्ते ही तैयार किया है इसी लिए इस भोजन को एकपक्ष भोजन भी कहते हैं अतः जो भोजन केवल ब्राह्मणों के वास्ते तयार हुआ है। वह विना ब्राह्मणों के और किसी को नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भोजन शास्त्रोक्त विधि से तयार किया गया है इसलिए भी यह भोजन तुमको नहीं मिल सकता अतः तेरा यहां पर भोजन के निमित्त से खड़ा रहना व्यर्थ है ! तथा हमारे शास्त्र में शूद्र को दान, पाठ और हवि देने का निषेध भी किया है ।

प्रस्तुत गाथा में जो 'एकपक्ष' पद दिया है उसका देहलीदीपन्याय से दो अर्थ किए जाते हैं। जैसे एक वर्ण के लिए तयार किया गया भोजन एकपक्ष भोजन है और केवल शुद्ध ब्राह्मणों को भी एकपक्ष कहते है। तथा 'आत्मार्थे भवं आत्मार्थिकं' जो केवल अपने वास्ते ही तयार किया गया हो वही आत्मार्थिक कहलाता है। इसके आगे आने वाले सिद्ध पद के साथ सम्बन्ध होने से प्रस्तुत वाक्य का यही अर्थ होता है कि जो केवल अपने लिए ही तयार किया हो। वह आत्मार्थिक सिद्ध है। तात्पर्य कि वह भोजन दूसरे के उपयोग में नहीं आ सकता।

ब्राह्मणों के उक्त प्रकार के उत्तर को सुनकर मुनि के रूप मे वह यक्ष उनसे इस प्रकार कहने लगा—

थलेसु बीयाइ ववन्ति कासगा,
तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं,
आराहए पुण्णमिणं खु खित्तं ॥१२॥

स्थलेषु बीजानि वपन्ति कर्षकाः,
तथैव निम्नेषु चाऽऽशंसया।
एतया श्रद्धया दद्ध्वं मह्यं,
आराधयत पुण्यमिदं खलु क्षेत्रम् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—थलेसु–स्थलों में बीयाइ–बीजों को ववंति–बीजते हैं कासगा–किसान लोग तहेव–उसी प्रकार निन्नेसु–निम्न स्थानों में बीजते हैं आससाए–आशा से य–फिर एयाए–इसी सद्धाए–श्रद्धा से दलाह–दे दो मज्झं–मुझे खु–निश्चय ही आराहए–आराधन कर लो इणं–यह प्रत्यक्ष पुण्णं–पुण्य रूप खित्तं–क्षेत्र को।

मूलार्थ—जैसे खेती की आशा से किसान लोग स्थलों में बीज बोते हैं और निम्न स्थानों में बीजते हैं उसी श्रद्धा से आप मुझे भिक्षा दे दो। निश्चय ही इस पुण्यरूप क्षेत्र का आराधन कर लो।

टीका—ब्राह्मणों के वक्तव्य को सुनकर कटाक्षरूप से वह यक्ष बोला कि किसान लोग फल की आशा से जैसे स्थल और निम्न स्थानों में मूंग आदि धान्य के बीजों का वपन करते हैं क्योंकि यदि वृष्टि समय पर अच्छी हो गई तब तो स्थल में भी धान्योत्पत्ति हो जावेगी और यदि कम हुई तो निम्न स्थानों मे बोए हुए बीज फल दे जावेंगे तात्पर्य कि किसान की दोनों ही प्रकार की आशा रहती है। ऐसे ही आप लोग भी मुझे इसी आशा वा श्रद्धा से भिक्षा दे दो। क्योंकि यदि तुम्हारी बुद्धि अपने आप मे निम्न भूमि के समान है और मुझे तुम स्थल भूमि के समान समझते हो तब भी तुम्हें भिक्षा देनी ही उचित है कारण कि विना दिए फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए तुम पुण्यरूप क्षेत्र का आराधन अवश्य कर लो! मैं पुण्यरूप क्षेत्र हूं, मुझे दिया हुआ दान उत्तम भूमि में वपन किए हुए बीज की तरह विशेष फल देने वाला है अतः तुम इस पुण्यरूप क्षेत्र का—उत्तम फलप्राप्ति के लिए अवश्य आराधन कर लो। यहां पर सूत्रकार ने जो स्थल और निम्न स्थान के खेतों की उपमा दी है वह पर्वत प्रान्त की भूमि को लेकर दी है। क्योंकि वहां पर ही खेती का ऐसा क्रम देखा जाता है। वहां पर अधिक वृष्टि से स्थल में और न्यूनवृष्टि से निम्न भूमि मे धान्यों की उत्पत्ति हो जाती है क्योंकि स्थल मे पानी कम ठहरता है और नीची भूमि मे उसका अधिक ठहराव होता है। इसी अभिप्राय से यक्ष कहता है कि और कुछ नहीं तो मुझे स्थल के समान जानकर ही भिक्षा दे दो! और साथ मे यह कटाक्ष भी कर दिया है कि मैं पुण्यरूप क्षेत्र हूं मेरा आराधन अवश्य उत्तम फल के देने वाला है सो यदि भाग्य में हो तो कर लो।

यक्ष के इस प्रकार के सभ्यता भरे उत्तर को सुनकर उन ब्राह्मणों ने जो कुछ उस यक्ष के प्रति कहा अब शास्त्रकार उसी का वर्णन करते हैं—

खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए,
जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा।
जे माहणा जाइविज्जोववेया,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥१३॥

क्षेत्राण्यस्माकं विदितानि लोके,
येषु प्रकीर्णानि विरोहन्ति पुण्यानि ।
ये ब्राह्मणा जातिविद्योपपेताः,
तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि ॥१३॥

पदार्थान्वयः—खेत्ताणि-क्षेत्र अम्हं-हमने विइयाणि-जान लिए हैं लोए-लोक मे जहिं-जिनमें पकिण्णा-प्रकीर्ण विरुहंति-उत्पन्न होते हैं पुण्णा-पूर्ण-समस्त धान्य-अथवा पुण्य जे-जो माहणा-ब्राह्मण जाइ-जाति विज्जोववेया-और-विद्या से युक्त हैं ताइं-वे ही तु-वितर्क में खेत्ताइं-क्षेत्र सुपेसलाइं-अति मनोहर हैं ।

मूलार्थ—लोक में पुण्यक्षेत्रों को हमने जान लिया है जिनमें बहुत धान्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं । अतः जो ब्राह्मण जाति और विद्या से युक्त हैं वे ही क्षेत्र अति मनोहर हैं ।

टीका—यक्ष के कथन को सुनकर वे ब्राह्मण बोले कि लोक मे वास्तविक रूप से जितने भी पुण्यक्षेत्र हैं वे सब हमको विदित हैं जिनमें वपन किए हुए बीज अधिक से अधिक सुन्दर और सम्पूर्ण रूप से फल देने में समर्थ होते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे इस लोक में उत्तम क्षेत्र में वपन किया हुआ धान्यादि का बीज अपने समय पर विशिष्ट फल देता है उसी प्रकार सुयोग्य पात्र में दिया हुआ दान भी परलोक में सर्व प्रकार से पुण्यरूप उत्तम फल का उत्पादक होता है । इसलिए वह क्षेत्र वास्तव मे ब्राह्मण हैं जो कि जाति और विद्या से युक्त हैं । तात्पर्य कि जो व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण और वेदादि *चतुर्दश विद्याओं में निपुण हो वही परम सुन्दर क्षेत्र है । इसलिए शूद्र कुलोत्पन्न पुण्यक्षेत्र नहीं हो सकते । ब्राह्मणों के इस उक्त कथन के उत्तर में यक्ष ने जो कुछ कहा—अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

---

* शिक्षा १ कल्प २ व्याकरण ३ छन्द ४ ज्योतिशास्त्र ५ निरुक्त ६ चारवेद १० मीमांसा ११ आन्वीक्षिकी १२ धर्मशास्त्र १३ और पुराण १४ ये चतुर्दश विद्याएं कहलाती हैं ।

कोहो य माणो य वहो य जेसिं,
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा,
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥१४॥

क्रोधश्च मानश्च वधश्च येषां,
मृषाऽदत्तं च परिग्रहं च ।
ते ब्राह्मणा जातिविद्याविहीनाः,
तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि ॥१४॥

पदार्थान्वयः—कोहो-क्रोध य-और माणो-मान य-और माया लोभ वहो-प्राणिवध जेसिं-जिन्हों के मोसं-झूठ च-और अदत्तं-चोरी परिग्गहं-परिग्रह च-और-मैथुन ते-वे माहणा-ब्राह्मण जाइ-जाति और विज्जा-विद्या से विहूणा-रहित हैं ताइं-वे तु-निश्चय खेत्ताइं-क्षेत्र सुपावयाइं-अतिशय से पापरूप हैं।

मूलार्थ—जो ब्राह्मण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से युक्त हैं वे जाति और विद्या इन दोनों से ही रहित हैं अतएव निश्चय ही वे पापरूप क्षेत्र हैं ।

टीका—ब्राह्मणों के कथन को सुनकर उनके प्रति यक्ष ने कहा कि-हे ब्राह्मणो ! आप लोग क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह मे प्रवृत्त हो रहे हो इसलिए जो ब्राह्मण उक्त व्यसनों मे प्रवृत्त हैं वे वास्तव मे जाति और विद्या दोनों से ही रहित हैं क्योंकि उत्तम कुल जाति और विद्या का जो सात्त्विक फल होना चाहिए वह उन मे नहीं है । तथा चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था गुण कर्म के विभाग से ही मानी गई है केवल जाति मात्र से नहीं । तथाहि-ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पिकः । अन्यथा नाम मात्रं स्यादिन्द्रगोपककीटवत् । अर्थात् जिस प्रकार शिल्पकला मे नैपुण्य प्राप्त करने से पुरुष शिल्पी होता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के सेवन से ब्राह्मण होता है । यदि उक्त न हो तो वह केवल नाम मात्र का ब्राह्मण है जैसेकि चतुर्मास में होने वाले

एक क्षुद्र कीट का नाम इन्द्रगोप है। तात्पर्य यह कि जैसे उस कीट में इन्द्रगोपता नहीं है उसी प्रकार केवल जाति मात्र से किसी में वास्तविक ब्राह्मणत्व नहीं आ सकता। एवं आप लोगों में सद्विद्या का भी अभाव है। क्योंकि जो पांचों आश्रवों का संवर मार्ग के अवलम्बन द्वारा निरोध करता है उसी को वास्तव में विद्वान् कहना अथवा मानना चाहिए। न कि केवल जाति मात्र से कोई विद्वान् हो सकता है। इसलिए जाति और विद्या से रहित में पुण्यक्षेत्रता का जो अभाव प्रतिपादन किया वह वास्तव मे आप लोगों में ही घटित हो रहा है। सारांश कि चार कषाय और पांच आश्रवों से जो निवृत्त है वही वास्तव मे पुण्य क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त लौकिक शास्त्रों का वेत्ता भी हो तो भी यदि उसमें आश्रव और कषायों की प्रधानता है तो वह पापरूप क्षेत्र ही है।

जो लोग केवल वेदवक्ता होने से अपने आपको ब्राह्मण मानते हैं अब उनको उत्तर देते हुए वह यक्ष कहता है—

तुब्भेत्थ भो भारधरा गिराणं,
अट्ठं न जाणेह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥१५॥

यूयमत्र भो! भारधरा गिरां,
अर्थं न जानीथाधीत्य वेदान्।
उच्चावचानि चरन्ति मुनयः,
तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि ॥१५॥

पदार्थान्वयः—भो—हे ब्राह्मणो! अत्थ—इस लोक में तुब्भे—तुम गिराणं—वेदरूप वाणी के भारधरा—भार उठाने वाले हो अट्ठं—अर्थ को नजाणेह—नहीं जानते वेए—वेदों को अहिज्ज—पढ़ करके भी उच्चावयाइं—ऊंच और नीच घरों में मुणिणो—मुनि लोग—भिक्षा के लिए चरंति—विचरते हैं ताइं—वे ही तु—निश्चय खेत्ताइं—क्षेत्र सुपेसलाइं—मनोहर होते हैं।

मूलार्थ—हे ब्राह्मणो ! तुम लोग इस लोक में वेद रूप वाणी के केवल भार उठाने वाले ही हो ! क्योंकि तुमने वेदों को पढ़कर भी उनके अर्थों को नहीं जाना अतः जो मुनि लोग ऊंच नीच घरों में भिक्षा के लिए फिरते हैं वे ही वास्तव में सुन्दर क्षेत्र हैं। तात्पर्य कि पुण्यरूप फल को उत्पन्न करने वाले भाव रूप उत्तम क्षेत्र मुनि ही हैं।

टीका—जो लोग केवल शास्त्रों का पाठ मात्र रट लेते हैं और उनके अर्थों का विचार नहीं करते वे लोग वास्तव मे शास्त्रज्ञ नहीं होते बस इसी भाव को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत गाथा का उल्लेख किया गया है। यक्ष ने ब्राह्मणों के कथन का उत्तर देते हुए कहा कि तुम लोग वेदों के केवल भारवाहक हो अर्थात् उसकी वाणी का केवल बोझ ही तुमने उठा रक्खा है क्योंकि वेदों को पढ़कर भी तुमने उसके वास्तविक अर्थ—तात्पर्य को नहीं समझा। यदि तुमने वेदार्थ को यथार्थ रूप मे समझा होता तो तुमको अपने ज्ञातव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य का भी यथार्थ ज्ञान होता परन्तु वह तुममें दिखाई नहीं देता। इसी लिए हिंसक, यागादि क्रियाओं मे तुम प्रवृत्त हो रहे हो ! अन्यथा तुमारी प्रवृत्ति सात्त्विक होनी चाहिए थी। इससे प्रतीत होता है कि तुम लोग वास्तव में वेदों के ज्ञाता नहीं हो, किन्तु विद्वान् होते हुए भी वास्तविक विद्या से विहीन हो। जब ऐसा है तब तो तुमको पुण्यरूप क्षेत्र मानना नितान्त असंगत है। इसके अतिरिक्त जो मुनि लोग, उत्तम मध्यम और हीन कुलों में भिक्षा के लिए भ्रमण करते तथा पचनपाचनादि व्यापार से रहित हैं वास्तव में वे ही उत्तम क्षेत्र हैं और उन्हीं को वेदवित् समझना चाहिए। क्योंकि वहां पर मुनि की वृत्ति का इसी प्रकार से उल्लेख है। यथा—'चरेन्माधुकरीं वृत्ति—अपि म्लेच्छकुलादपि। एकान्नं नैव भुंजीत बृहस्पतिसमादपि' अर्थात् नीचकुल से तो भिक्षा लेकर निर्वाह कर लेवे परन्तु एक घर से तो—चाहे वह बृहस्पति के समान भी क्यों न हो—यति कभी भी अन्न ग्रहण न करे। इससे सिद्ध हुआ कि उत्तम क्षेत्र, संयमशील मुनि ही कहा अथवा माना जा सकता है।

जब यक्ष ने उन ब्राह्मणों को इस प्रकार का उत्तर दिया तब उस यज्ञशाला में बैठे हुए उन पंडितों के छात्रों ने उस यक्ष से जो कुछ कहा अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

अज्झावयाणं पडिकूलभासी,
पभाससे किं तु सगासि अम्हं।
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं,
न य णं दाहामु तुमं नियण्ठा ॥१६॥

अध्यापकानां प्रतिकूलभाषिन्,
प्रभाषसे किं तु सकाशेऽस्माकम्।
अप्येतद्विनश्यत्वन्नपाणं ,
न च तद् दास्यामस्तुभ्यं निर्ग्रन्थ ॥१६॥

पदार्थान्वयः—अज्झावयाणं–अध्यापकों के पडिकूल–प्रतिकूल भासी–भाषण करने वाले तू अम्हं–हमारे सगासि–सामने पभाससे–बोलता है किं–क्या तु–वितर्क मे अवि–सम्भावना में है एयं–यह प्रत्यक्ष अन्नपाणं–अन्न और पानी विणस्सउ–विनष्ट हो जाए न–नहीं य–पुनः णं–वाक्यालंकार मे दाहामु–देंगे तुमं–तुझे नियण्ठा–हे निर्ग्रन्थ।

मूलार्थ—अध्यापकों के प्रतिकूल भाषण करने वाले! तू हमारे सामने उनके विरुद्ध बोलता है? यह प्रस्तुत अन्न पानी विनष्ट भले ही हो जावे परन्तु हे निर्ग्रन्थ! तुमको नहीं देंगे।

टीका—इस गाथा में अन्य प्रतिपाद्य विषय के साथ इस भाव को भी व्यक्त किया गया है कि प्रतिकूल भाषण अभीष्ट प्राप्ति में प्रतिबन्धक होता है अर्थात् प्रतिकूल बोलने वाले को अपने अभिलषित कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती। जैसेकि उन विद्यार्थियों ने मुनि के प्रतिकूल भाषण को सुनकर उससे उत्तेजित हो कहा कि हे निर्ग्रन्थ! क्या तू हमारे सामने इन अध्यापकों के प्रतिकूल भाषण करता है अर्थात् इनके विरुद्ध बोलता है। जाओ, भले ही यह प्रस्तुत अन्नादि पदार्थ सड़ जावें–नष्ट हो जावे परन्तु तुमको नहीं देंगे। छात्रों के इस कथन का अभिप्राय यह है कि यदि तुम हमारे गुरुओं के विरुद्ध न बोलते तो

संभव था कि हम तुम्हारे ऊपर कुछ दयाभाव लाकर तुमको कुछ भिक्षा दे भी देते किन्तु अब इसकी आशा करनी व्यर्थ है ।

इस काव्य में 'किं' शब्द आक्षेपार्थक है । वृत्तिकार ने 'तु' के स्थान में 'नु' का प्रयोग किया है और उसका अर्थ 'विचार' किया है । तब इसका भावार्थ यह हुआ कि—विचार से देखा जावे तो तू क्षमा करने के भी योग्य नहीं कारण कि तू निन्दक है और निन्दक क्षमा के योग्य नहीं होता ।

छात्रों के इस असभ्यतापूर्ण और तिरस्कार युक्त वचनों को सुनकर यक्ष ने उनके प्रति जो उत्तर दिया अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स,
गुत्तीहि गुत्तस्स जिइन्दियस्स ।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं,
किमज्ज जन्नाण लहित्थ लाहं ॥१७॥

समितिभिर्मह्यं सुसमाहिताय,
गुप्तिभिर्गुप्ताय जितेन्द्रियाय ।
यदि मह्यं न दास्यथाऽथैषणीयं,
किमद्य यज्ञानां लप्स्यध्वे लाभम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—समिईहि—समितियों से युक्त मज्झं—मुझे सुसमाहियस्स—सुन्दर समाधि वाले के लिए गुत्तिहिं—गुप्तियों से गुत्तस्स—गुप्त के लिए जिइन्दियस्स—जितेन्द्रिय के लिए जइ—यदि मे—मुझे न दाहित्थ—न दोगे अह—अब एसणिज्जं—निर्दोष आहार तो किं—क्या अज्ज—आज जन्नाण- यज्ञों का लहित्थ—प्राप्त करेंगे लाहं—लाभ ।

मूलार्थ—समितियों से समाहित, गुप्तियों से गुप्त और जितेन्द्रिय मुझको यदि तुम अब इस निर्दोष आहार को न दोगे तो आज इस यज्ञ के अनुष्ठान से आपको क्या लाभ प्राप्त होगा ?

टीका—इस गाथा का भावार्थ यह है कि पात्र में ही दिया हुआ दान, विशेष रूप से फलीभूत होता है कुपात्र में नहीं, जैसे मधु घृत आदि पदार्थ किसी सुन्दर और स्वच्छ पात्र में डाले हुए ही सुरक्षित और अपने रूप में रह सकते हैं उसी प्रकार दिया हुआ दान भी सुपात्र में ही फलीभूत हो सकता है। अन्यत्र नहीं। इसी हेतु से ऊपर की गाथाओं में मुनि के द्वारा पात्रता के स्वरूप का वर्णन कराया गया है तथा इस गाथा मे भी उसी को दोहराया गया है। जैसेकि जो पुरुष पांचों समिति से समाहित और तीन गुप्ति से गुप्त एवं इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है वही सुपात्र है। इसलिए उक्त सद्गुणों वाला भिक्षु यदि किसी के घर में आवे तो अपना परम सौभाग्य समझकर उस पात्र अतिथि को श्रद्धापूर्वक भिक्षा देने का प्रयत्न करे, इसी में दाता का परम लाभ समाया हुआ है। इस आशय को मन मे रखकर ही उस यक्ष ने उन छात्रों के प्रति आरम्भ किए हुए यज्ञ से उत्तम लाभ प्राप्त करने के निमित्त सुपात्ररूप में अपने आपको उपस्थित करते हुए उनको सफल भिक्षा देने का उपदेश दिया है। सारांश कि यक्ष ने उन छात्रों के प्रति कहा कि मैं सुपात्रता के गुणों से युक्त हूं और तुम यज्ञ कर रहे हो अतः इस प्रस्तुत सुपात्र को दान देकर तुम भी इस आरम्भ किए हुए यज्ञ को सफल करलो। उक्त गाथा में आए हुए 'सुसमाहियस्स-गुत्तस्स' इत्यादि प्रयोगों मे चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी जानना।

छात्रों के प्रति कहे हुए यक्ष के इन वचनों को सुनकर उन छात्रों को उनके अध्यापकों ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन किया जाता है—

के इत्थ खत्ता उवजोइया वा,
अज्झावया वा सह खण्डिएहिं।
एयं खु दण्डेण फलएण हन्ता,
कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ॥१८॥

केऽत्र क्षत्रा उपज्योतिषा वा,
अध्यापका वा सह खण्डिकैः।

एनं तु दण्डेन फलकेन हत्वा,
कंठं गृहीत्वा निष्कारयेयुः ये ॥१८॥

पदार्थान्वयः—के-कौन इत्थ-यहां पर खत्ता-क्षत्रिय हैं वा-अथवा उवजोइया-अग्नि के समीप बैठने वाले ब्राह्मण हैं वा-अथवा अज्झावया-अध्यापक खंडिएहिं-छात्रों के सह-साथ हैं एयं-इस मुनि को दंडेण-दण्ड से *फलएण-बिल्वादि फल से हंता-मार कर कण्ठम्मि-कंठ से घेत्तूण-पकड़ कर खलेज्ज-निकाल देवे जो-जो कोई समर्थ होवे णं-वाक्यालंकार मे है और तु-वितर्क में है।

मूलार्थ—कौन हैं यहां पर क्षत्रिय वा अग्नि के समीप बैठने वाले अथवा छात्रों के साथ रहने वाले अध्यापक-जो कि इस मुनि को दंड अथवा बिल्वादि फल से ताड़न करके गले से पकड़ कर बाहिर निकाल देवे।

टीका—इस गाथा में इस भाव को प्रकट किया है कि क्रोध के वशीभूत होकर योग्य मनुष्य भी अयोग्य काम करने को उद्यत हो जाता है। जैसेकि उस मुनि के उक्त वचनों को सुनकर क्रोध में आए हुए वे अध्यापक लोग साभिमान कहते हैं कि क्या यहां पर कोई क्षत्रिय, अथवा उपज्योतिषी-है, या छात्रों के साथ आए हुए अध्यापकों मे से कोई है जो कि इस मुनि को दंडादि से ताड़न करता हुआ गले से पकड़ कर इस यज्ञमंडप से बाहिर निकाल दे। कारण कि यह हमारे प्रतिकूल बोल रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जब वे ब्राह्मण उस यक्ष के कथन का युक्तियुक्त प्रतिवाद करने को समर्थ न हो सके तब उन्होंने क्रोध में आकर उक्तमुनि का इस प्रकार से तिरस्कार करना चाहा। वास्तव मे जो पुरुष किसी वादविवाद में निरुत्तर हो जाता है और उसका स्थान बल अधिक होता है तब वह इसी प्रकार के अनुचित वर्ताव करने पर उतारू हो जाता है क्योंकि अब सिवाय बलप्रयोग के उसके पास और कुछ नहीं होता। योग्य और अयोग्य

* 'फलएण' का संस्कृत रूप 'फलकेन' होता है। फलक का अर्थ संस्कृत कोषों के अनुसार लकड़ी की फट्टी-तख्ती है किन्तु यहां पर जो बिल्वादि फल का अर्थ लिया गया है वह प्राचीन संस्कृत टीका के आधार पर है। हमारी समझ में 'लकड़ी की फट्टी' अर्थ अधिक उपयुक्त है क्योंकि लकड़ी की फट्टी-तख्ती बालछात्रों के पास लिखने के लिए पाठशालाओं में हर समय साथ रहती है। मूलगाथा में भी छात्रों की उपस्थिति का स्पष्ट उल्लेख है।

पुरुष में इतना ही अन्तर है प्रथम तो क्रोध के वशीभूत नहीं होते और दूसरे उसके अधीन होकर अनुचित काम करने पर उद्यत हो जाते हैं। यहां पर 'जो' शब्द वचनव्यत्यय से 'ये' के स्थान पर ग्रहण किया गया है और 'तु' शब्द 'खु' के अर्थ में निश्चय का बोधक है।

अध्यापकों के उक्त वचन को सुनकर वहां पर बैठे हुए छात्रों ने उस मुनि के साथ जो व्यवहार किया अब शास्त्रकार उसी का वर्णन करते हैं—

अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता,
उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा।
दण्डेहिं वित्तेहिं कसेहिं चेव,
समागया तं इसि तालयन्ति ॥१९॥

अध्यापकानां वचनं श्रुत्वा,
उद्धावितास्तत्र बहवः कुमाराः।
दण्डैर्वेत्रैः कशैश्चैव,
समागतास्तमृषिं ताडयन्ति ॥१९॥

पदार्थान्वयः—अज्झावयाणं—अध्यापकों के वयणं—वचन को सुणेत्ता—सुनकर उद्धाइया—वेग से भाग आए तत्थ—जहां पर मुनि था—वहां बहू—बहुत कुमारा—कुमार दण्डेहिं—दंडों से वित्तेहिं—बैंतों से कसेहिं—कशों से च—समुच्चयार्थक है एव—पादपूर्त्यर्थक है समागया—इकट्ठे मिलकर तं—उस इसि—मुनि को तालयन्ति—मारते हैं।

मूलार्थ—अध्यापकों के वचन को सुनकर बड़े वेग से दौड़ते हुए वे कुमार—विद्यार्थी—जहां पर वह मुनि खड़ा था वहां पर आए और दंड, बैंत और चाबुक आदि से उस मुनि को ताड़ने—मारने लगे।

टीका—जिस समय अध्यापकों के उक्त वचन को वहां पर बैठे हुए विद्यार्थियों ने सुना तब वे इकट्ठे होकर बड़े वेग से दौड़कर वहां पर आगए जहां पर कि वह मुनि खड़ा था। तब अध्यापक लोगों के आदेशानुसार वे कुमार दण्ड,

बैंत और चाबुक आदि से उस मुनि को मारने लगे। क्रोध के वशीभूत हुआ पुरुष क्या कुछ नहीं कर बैठता अर्थात् क्रोधी पुरुष को कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी भान नहीं रहता यह इस गाथा का फलितार्थ है।

कुमारों के ताड़न करने पर फिर क्या हुआ अब इसी विषय का वर्णन किया जाता है—

रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया,
भद्द त्ति नामेण अणिन्दियंगी।
तं पासिया संजय हम्ममाणं,
कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ ॥२०॥

राज्ञस्तत्र कौशलिकस्य दुहिता,
भद्रेतिनाम्नाऽनिंदितांगी ।
तं दृष्ट्वा संयतं हन्यमानं,
क्रुद्धान्कुमारान्परिनिर्वापयति ॥२०॥

पदार्थान्वयः—तहिं–वहां पर रन्नो–राजा कोसलियस्स–कौशलिक की धूया–पुत्री भद्दा–भद्रा त्ति–ऐसे नामेण–नाम वाली अणिंदियंगी–सुन्दर अंगों वाली तं–उस मुनि को संजय–संयत को हम्ममाणं–मारते हुए को पासिया–देखकर कुद्धे–कुपित हुए कुमारे–कुमारों को परिनिव्ववेइ–सर्व प्रकार से शान्त करने लगी।

मूलार्थ—वहां पर आई हुई कौशलिक राजा की सुन्दर अंगों वाली भद्रा नाम की पुत्री ने, क्रोध में आकर उस संयत मुनि को मारते हुए कुमारों को देखकर, उन्हें सर्व प्रकार से शान्त किया—अर्थात् उनको मारने से रोका।

टीका—जिस समय वे विद्यार्थी लोग उस ऋषि को मारने लगे उस समय वहां पर कौशलिक नरेश की भद्रा नाम्नी कन्या का आगमन हुआ। वह अपने नाम के अनुरूप अपनी रूपराशि तथा अंगलावण्य में भी अपूर्व थी। उसने कुपित हुए ब्राह्मणकुमारों के द्वारा हरिकेशबल मुनि को जब मार पड़ते देखा तब उन कुमारों को उसने सर्वभाव से शान्त किया अर्थात् उनको इस अकार्य से रोक दिया।

क्योंकि वह उक्त मुनि से प्रथम परिचित थी तथा उसके तपोबल के प्रभाव को भी भली भांति जानती थी इसलिए उसने ब्राह्मण कुमारों के अनुचित वर्ताव को देखकर उनको शान्त किया । इस वास्ते इस काव्य में यह भाव व्यक्त किया गया है कि जो जिसके गुणों से परिचित होता है वह उसमें अवश्य अनुराग रखता है तथा अन्य जीवों को भी उसके गुणों से परिचित कराने का यत्न करता है । तथा जब कोई पुरुष किसी को विना अपराध ही किसी प्रकार दण्ड देने लगता है और वह पुरुष जिसको कि दंड दिया जा रहा है—शान्तभाव से उस दंड को सहन कर रहा है तब कोई अन्य तटस्थ पुरुष उस दंड देने वाले को हटाता हुआ उस व्यक्ति की सहनशीलता की हार्दिक भाव से प्रशंसा किए विना नहीं रहता । इसी लिए राजकुमारी भद्रा ने उन कुमारों को शान्त करके उनके प्रति उक्त मुनि के तपोबल के माहात्म्य का वर्णन किया ।

अब राजकुमारी भद्रा के उक्त मुनि के सम्बन्ध में उन अध्यापकों के प्रति कहे जाने वाले वचनों का उल्लेख किया जाता है—

देवाभिओगेण निओइएणं,
दिन्नामु रन्ना मणसा न झाया ।
नरिन्ददेविन्दभिवन्दिएणं,
जेणामि वंता इसिणा स एसो ॥२१॥

देवाभियोगेन नियोजितेन,
दत्ताऽस्मि राज्ञा मनसा न ध्याता ।
नरेन्द्रदेवेन्द्राभिवन्दितेन,
येनास्मि वान्ता ऋषिणा स एषः ॥२१॥

पदार्थान्वयः—देवाभिओगेण—देवता के अभियोग से निओइएणं—और प्रेरणा से रन्ना—राजा के दिन्नामु—मेरे को देने पर भी मणसा—मन करके न—नहीं झाया—इच्छा की नरिंद—राजा देविंद—इन्द्र के अभिवंदिएणं—वंदनीय जेणामि—जिसने मुझे वंता—त्याग दिया इसिणा—ऋषि ने स—वह एसो—यह है ।

मूलार्थ—देवता के अभियोग और प्रेरणा से राजा ने मुझे इस मुनि को दे दिया था परन्तु इस मुनि ने मुझे मन से भी नहीं चाहा। तथा राजा। महाराजा और देवेन्द्र आदि से वन्दित जिस ऋषि ने मुझे त्याग दिया है यह वही ऋषि है।

टीका—भद्रा ने उन अध्यापकों के प्रति कहा कि आप लोग इस मुनि को नहीं जानते ? यह वह ऋषि है कि जिसने मुझे भी त्याग दिया है। इस कथन से उसकी अपूर्व विषयत्यागवृत्ति और संयमनिष्ठा का वर्णन किया गया है। तथा मैं स्वयं ही इसके पास उपस्थित नहीं हुई किन्तु देवता की प्रेरणा से मेरे पिता ने मुझे इनके चरणों में उपस्थित किया था तो भी इस ऋषि ने मुझे वमन कर दिया अर्थात् मेरी तर्फ आंख उठाकर भी नहीं देखा तात्पर्य कि जैसे वमन किए हुए पदार्थ की ओर कोई भद्र पुरुष दृष्टि नहीं करता इसी प्रकार मुझे भी इसने सर्वथा हेय समझा। अतएव यह ऋषि देव और मनुष्य सभी के वन्दनीय हैं। राजकुमारी भद्रा के कहने का अभिप्राय यह है कि आप लोग इस मुनि का जो इस प्रकार से अपमान कर रहे हो यह सर्वथा अयोग्य है। इसके महत्त्व को आप लोग बिलकुल नहीं जानते। जिसने मेरे जैसी सुन्दरी को अति तुच्छ समझ कर त्यागते हुए अपनी संयमनिष्ठा की दृढ़ता का प्रत्यक्ष परिचय दिया हो ऐसे निःस्पृह और शान्त महात्मा की आशातना करना, इससे अधिक और कौनसा जघन्य काम है, इसलिए इस मुनि का अपमान करने के बदले इसकी अधिक से अधिक सेवा भक्ति करनी चाहिए, इसी मे आपका, मेरा तथा अन्य भद्र पुरुषों का कल्याण है। यह इस गाथा का फलितार्थ है।

यहां पर 'मणसा' के आगे 'अपि' का प्रयोग कर लेना सूत्रकार को अभिमत है, तभी उक्त शब्द का 'मन से भी' यह अर्थ संगत होगा।

अब फिर इसी विषय की पुष्टि मे कहते हैं—

एसो हु सो उग्गतवो महप्पा,
जिइन्दिओ संजओ बम्भयारी।
जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणिं,
पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना ॥२२॥

एष खलु स उग्रतपा महात्मा,
जितेन्द्रियः संयतो ब्रह्मचारी ।
यो मां तदा नेच्छति दीयमानां,
पित्रा स्वयं कौशलिकेन राज्ञा ॥२२॥

पदार्थान्वयः—एसो–यह हु–निश्चय से सो–वह उग्गतवो–उग्र तप वाला महप्पा–महात्मा जिइंदिओ–जितेन्द्रिय संजओ–संयमशील बंभयारी–ब्रह्मचारी जो–जिसने मे–मुझे तया–उस समय नेच्छइ–नहीं चाहा–ग्रहण किया दिज्जमाणिं–दी हुई को पिउणा–पिता द्वारा सयं–स्वयं–अपने आप कोसलिएणा–कोशल देश के रन्ना–राजा ।

मूलार्थ—यह मुनि, प्रधान तप करने वाला, महान् आत्मा–जितेन्द्रिय, संयत और ब्रह्मचारी है। इसने मुझे उस समय पर भी स्वीकार नहीं किया, जब कि कोशल नरेश ने मेरे को इनके चरणों में स्वयं आकर उपस्थित किया था अर्थात् ग्रहण करने के लिए दिया था।

टीका—राजकुमारी भद्रा मुनि के गुणों का वर्णन करती हुई फिर कहती है कि यह मुनि बड़ा ही तपस्वी और पांचों इन्द्रियों को वश मे रखने तथा निरन्तर यत्न से रहने वाला है ! क्योंकि जब मेरे पिता, कोशल नरेश ने स्वयमेव प्रसन्नतापूर्वक मुझे इस मुनि को अर्पण किया था तब इस महर्षि ने मेरी मन से भी इच्छा नहीं की थी। इससे इस ऋषि के विषयत्याग और उत्तम संयम का भली भांति पता लग जाता है ! जिसने अनायास-प्राप्त मेरे जैसी स्त्री का भी सर्वथा त्याग कर दिया। उसके विलक्षण त्याग और निःस्पृहता की जितनी भी प्रशंसा की जावे उतनी ही कम है। सारांश कि इस प्रकार के सर्वोत्तम भिक्षु का निरादर के बदले जितना भी सत्कार हो सके उतना करना चाहिए।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं—

महाजसो एस महाणुभावो,
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य ।

मा एयं हीलेह अहीलणिज्जं,
मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा ॥२३॥

महायशा एष महानुभागः,
घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च ।
मैनं हीलयताहीलनीयं,
मा सर्वान्तेजसा भवतो निर्धाक्षीत् ॥२३॥

पदार्थान्वयः—महाजसो—महान् यश वाला एस—यह मुनि महाणुभावो—महाप्रभावशाली घोरव्वओ—घोर व्रतों वाला य—और घोरपरक्कमो—घोर पराक्रम वाला है मा—मत एयं—इसकी हीलेह—हीलना करो—क्योंकि यह अहीलणिज्जं—अहीलनीय है—हीलना के योग्य नहीं है सव्वे—सब भे—तुमको तेएण—तेज से मा निद्दहेज्जा—मत भस्म कर देवे ।

मूलार्थ—यह मुनि महान् यश वाला, महाप्रभावशाली, घोर व्रतों के आचरण करने वाला तथा घोर पराक्रम रखने वाला है । अतः इसकी अवहेलना मत करो । यह अवहेलना के योग्य नहीं है । कहीं ऐसा न हो कि यह अपने तपःसंचित तेज से तुम सब को भस्म कर डाले ।

टीका—भद्रा कहने लगी कि यह मुनि बड़ा यशस्वी और अचिन्त्य शक्ति के धारण करने वाला है तथा अहिंसा आदि पांच महाव्रतों—जो कि अति घोर हैं—के पालन करने और तपश्चर्या में घोर पराक्रम के करने वाला अति तेजस्वी है । इस ऋषि ने विषय कषायों पर पूर्ण विजय प्राप्त करली है इसलिए संभव है कि इस ऋषि के जाज्वल्यमान तेज रूप अग्नि मे आप सब को शलभ की भांति कहीं भस्म होने का अवसर न आ जावे अतः इसकी अवहेलना मत करो, यह अवहेलना के योग्य नहीं किन्तु पूजा के योग्य है । आत्मा में अनन्त शक्तिएं विद्यमान हैं । निग्रह और अनुग्रह की शक्ति भी उन्हीं में से एक है । यह शक्ति तपश्चर्या का एक विशिष्ट परिणामरूप है परन्तु इसको उपयोग मे लाना उसके अपने अधिकार में है । इसी आशय से राजकुमारी भद्रा ने उनको शापद्वारा अथवा मुनि के अद्भुत

तेज के द्वारा भस्म होने की संभावना प्रदर्शित की है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति मे उक्त प्रकार के गुण विद्यमान होते हैं वह शाप तथा अनुग्रह मे भी समर्थ होता है। उक्त मुनि मे ये सब गुण विद्यमान हैं इसलिए वह निग्रह और अनुग्रह करने मे पूर्ण रूप से समर्थ है।

उन अध्यापकों के प्रति राजकुमारी भद्रा ने जो कुछ कहा उसको मुनि रूप मे भिक्षा के लिए खड़े हुए उस यक्ष ने भी सुना और उसके वचनों को यथार्थ सिद्ध करने के लिए उसने जो कुछ किया अब उसका दिग्दर्शन कराया जाता है—

एयाइं तीसे वयणाइं सोच्चा,
पत्तीइ भद्दाइ सुभासियाइं।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए,
जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति ॥२४॥

एतानि तस्या वचनानि श्रुत्वा,
पत्न्या भद्रायाः सुभाषितानि।
ऋषेर्वैयावृत्यर्थं,
यक्षाः कुमारान् विनिवारयन्ति ॥२४॥

पदार्थान्वयः—एयाइं–इन पूर्वोक्त वयणाइं–वचनों को सोच्चा–सुन करके पत्तीइ–पत्नी भद्दाइ–भद्रा के सुभासियाइं–सुभाषणयुक्त तीसे–उस (भद्रा के) इसिस्स–ऋषि की वेयावडियट्ठयाए–वैयावृत्य के लिए जक्खा–यक्ष कुमारे–कुमारों को विणिवारयंति–विशेषरूप से निवारण करते हैं।

मूलार्थ—राजकुमारी भद्रा के उक्त सुभाषित वचनों को सुनकर उस ऋषि की सेवा में रहने वाले वे यक्ष उन कुमारों को निवारण करने लगे।

टीका—सोमदेव की धर्मपत्नी सुभद्रा के सुभाषित वचनों को सुनकर मुनि की सेवा में रहे हुए उस यक्ष ने उन कुमारों को हटा दिया। यहां पर 'जक्खा' यह एक वचन के स्थान मे जो बहुवचन का प्रयोग किया है वह यक्ष के अन्य

परिवार का सूचक है क्योंकि घर का स्वामी जिस पर श्रद्धा रखता हो उस पर उसका परिवार भी श्रद्धा रखने लग जाता है अतः उक्त गाथा में बहुवचन प्रयुक्त हुआ है। इसके अनन्तर जो कुछ हुआ अब उसका वर्णन करते हैं—

ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खेऽसुरा,
तहिं तं जण तालयन्ति।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमन्ते,
पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो ॥२५॥

ते घोररूपाः स्थिता अन्तरिक्षे,
असुरास्तत्र तं जनं ताडयन्ति।
तान् भिन्नदेहान्रुधिरं वमतः,
दृष्ट्वा भद्रेदमाह भूयः ॥२५॥

पदार्थान्वयः—ते-वे यक्ष घोररूवा-भयानक रूप वाले ठिय-ठहरे अंतलिक्खे-आकाश में असुरा-असुर भावयुक्त तहिं-वहां पर तं-उन जण-जनों को तालयंति-ताड़ते हैं ते-उन कुमारों को भिन्नदेहे-भिन्न देह वालों को रुहिरं-रुधिर वमंते-वमन करते हुओं को पासित्तु-देखकर भद्दा-भद्रा भुज्जो-फिर इणमाहु-इस प्रकार कहने लगी।

मूलार्थ—तब अन्तरिक्ष-आकाश में ठहरे हुए भयानक रूप वाले वे यक्ष असुररूप को धारण करके उन कुमारों को ताड़ने लगे और उनकी ताड़ना से शरीर में भेद होने पर वे कुमार रुधिर की वमन करने लगे अर्थात् उनके शरीर से रुधिर टपकने लगा। यह देखकर राजकुमारी-सोमदेव की स्त्री-भद्रा फिर कहने लगी।

टीका—तब, मुनि की सेवा में सतत रहने वाले उस यक्ष ने आकाश में बड़े भयंकर रूप को धारण करके मुनि को मारने वाले उन छात्रों की भी खूब ताड़ना की, उनके शरीरों को विदारण कर दिया और उनके मुख से रुधिर गिरते

लगा। कुमारों की इस दशा को देखकर राजकुमारी भद्रा फिर इस प्रकार निम्न-लिखित वचन कहने लगी।

यहां पर 'आहु' और 'जण' में वचन व्यत्यय किया गया है। भद्रा ने जो कुछ कहा अब उसी का वर्णन करते हैं—

गिरिं नहेहिं खणह,
अयं दन्तेहिं खायह।
जायतेयं पाएहिं हणह,
जे भिक्खुं अवमन्नह ॥२६॥

गिरिं नखैः खनथ,
अयो दंतैः खादथ।
जाततेजसं पादैर्हथ,
ये भिक्षुमवमन्यध्वे ॥२६॥

पदार्थान्वयः—गिरिं–पर्वत को नहेहिं–नखों से खणह–खोदते हो अयं–लोहे को दंतेहिं–दान्तों से खायह–खाते हो जायतेयं–अग्नि को पाएहिं–पैरों से हणह–हनते हो जे–जो तुम भिक्खुं–भिक्षु का अवमन्नह–अपमान करते हो।

मूलार्थ—पर्वत को नखों से खोदते हो, लोहे को दान्तों से खाते हो और आग को पैरों से बुझाते हो, जो कि तुम इस भिक्षु का अपमान करते हो।

टीका—इस गाथा में 'इव' का सर्वत्र अध्याहार कर लेना। भद्रा के कथन का तात्पर्य यह है कि जैसे कोई पुरुष अपने नखों से पर्वत को खोदने की इच्छा रखता हुआ अपने इस कार्य में सफल नहीं हो सकता तथा जैसे लोहे को दान्तों से चबाया नहीं जा सकता और देदीप्यमान अग्नि को पैरों से बुझाना भी अत्यन्त कठिन है इसी प्रकार इस भिक्षु का अपमान करना भी दुस्तर है। तात्पर्य कि तुम लोग इस भिक्षु का कभी अपमान नहीं कर सकते! इसके अतिरिक्त भद्रा के कहने का यह भी अभिप्राय है कि जैसे नखों से पर्वत तो नहीं

खोदा जाता किन्तु नख ही नष्ट हो जाते हैं, लोहा दान्तों से तो चबाया नहीं जा सकता किन्तु दान्त ही टूट जाते हैं एवं जिस प्रकार पैरों से अग्नि की ज्वाला शान्त होने के बदले पैरों को ही जला देती है उसी प्रकार तुम लोग इस मुनि का अपमान करते हुए स्वयं ही अपमानित होगे, इसको कष्ट देते हुए स्वयं कष्ट में पड़ोगे, सारांश कि इससे मुनि का तो कुछ विगड़ने का नहीं है जो कुछ भी विगाड़ होगा वह सब तुम्हारा ही होगा।

भद्रा ने फिर कहा कि—

आसीविसो उग्गतवो महेसी,
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
अगणिं व पक्खन्द पयंगसेणा,
जे भिक्खुयं भत्तकाले वहेह ॥२७॥

आशीविष उग्रतपा महर्षिः,
घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च ।
अग्निमिव प्रस्कन्दथ पतंगसेना,
ये भिक्षुकं भक्तकाले विध्यथ ॥२७॥

पदार्थान्वयः—आसीविसो-आशीविष लब्धि वाला उग्गतवो-प्रधान तप करने वाला महेसी-महर्षि है घोरव्वओ-घोर व्रतों के पालन करने वाला य-और घोरपरक्कमो-घोर पराक्रम करने वाला है व-जैसे अगणिं-आग में पयंगसेणा-पतंगों की सेना पक्खंद-पड़ती है-उसी प्रकार तुम भी जे-जो भिक्खुयं-भिक्षु को भत्तकाले-भोजन काल में वहेह-मारते हो।

मूलार्थ—यह मुनि आशीविषलब्धि वाला है, घोर व्रतों का आचरण करने वाला है तथा घोर पराक्रमी है, अतः जैसे पतंगों की सेना आग में पड़ कर उसको बुझाना चाहती है ठीक उसी प्रकार भोजनकाल में उपस्थित हुए इस भिक्षु को अभिहनन करते हुए तुम भी पतंगों की तरह ही आचरण कर रहे हो।

टीका—भद्रा ने कहा कि यह मुनि आशीविष-लब्धि से युक्त है अर्थात् जैसे आशीविष नाम का सर्प महाभयंकर होता है उसी प्रकार यह मुनि भी लब्धि सम्पन्न होने से शाप देने तथा अनुग्रह करने में समर्थ है। तथा यह उग्रतपस्वी और घोर व्रतों के आचरण करने वाला एवं घोर पराक्रमशाली है। अतः इस प्रकार के महातपस्वी को—जो कि आप लोगों के पुण्य के उदय से भिक्षा के लिए इस यज्ञमंडप में उपस्थित हुआ है—उल्टा आप लोग मारने के लिए उद्यत हुए हो। सो तुमारा यह उद्योग ठीक वैसा ही है जैसाकि पतंगों की सेना का अग्नि में कूद कर उसको बुझाने के लिए उद्योग करना, तात्पर्य कि जिस प्रकार पतंगे, अग्नि मे गिरकर उसको बुझाने के बदले स्वयं ही जल जाते हैं उसी प्रकार आप लोग इस मुनि को तो क्या मारोगे किन्तु स्वयं ही नष्ट हो जाओगे।

प्रस्तुत गाथा में जो भोजनकाल का उल्लेख किया है उसका तात्पर्य यह है कि इस समय पर तो चाहे कोई भी व्यक्ति उपस्थित हो उसको भी दान देना प्रत्येक गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है फिर ऐसे गुण-सम्पन्न तपस्वी मुनि का तो जितना भी हो सके उतना सत्कार करना चाहिए।

अब भद्रा इस विषय में उनके कर्तव्य को बतलाती हुई कहती है—

सीसेण एयं सरणं उवेह,
समागया सव्वजणेण तुब्भे ।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा,
लोगंपि एसो कुविओ डहेज्जा ॥२८॥

शीर्षेणैनं शरणमुपेत,
समागताः सर्वजनेन यूयम् ।
यदीच्छथ जीवितं वा धनं वा,
लोकमप्येष कुपितो दहेत् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—सीसेण—मस्तक से एयं—इस मुनि की सरणं—शरण उवेह—ग्रहण करो समागया—इकट्ठे होकर सव्वजणेण—सर्व जनों के साथ तुब्भे—तुम जइ—

यदि इच्छह–चाहते हो जीवियं–जीवन को वा–अथवा धणं–धन को लोगंपि–लोक को भी एसो–यह कुविओ–कुपित हुआ २ डहेज्जा–दग्ध करने में समर्थ है ।

मूलार्थ—यदि तुम अपने जीवन और धन की रक्षा चाहते हो तो सर्वजनों के साथ इकट्ठे होकर मस्तक से इस मुनि की शरण को ग्रहण करो अर्थात् इसके चरणों में गिरकर इससे क्षमा मांगो । क्योंकि कुपित हुआ यह मुनि सारे लोक को भी भस्म कर देने की शक्ति अपने में रखता है ।

टीका—इसके अनन्तर सोमदेव की धर्मपत्नी भद्रा ने उन अध्यापकों के प्रति कहा कि तुम सब लोग मिलकर इस मुनि की शरण ग्रहण करो अन्यथा आपकी रक्षा का कोई उपाय नहीं, क्योंकि कुपित हुआ यह मुनि, आप तो क्या, समस्त लोक को भी भस्म कर देने में समर्थ है । अतः सर्व प्रकार के गर्व का परित्याग करके तुमको इस मुनि की शरण में ही उपस्थित होना परम कल्याणकारी है । भद्रा के कथन का भीतरी रहस्य तो यह है कि यह मुनि शांति का अगाध समुद्र है परम निस्पृही है इसलिए इसकी शरण में जाने से तुम्हारे जीवन और धन की रक्षा होने के अतिरिक्त तुमको परमशान्ति और अभीष्ट–सिद्धि का भी लाभ होगा । इसके अनन्तर मुनि को मारने के लिए दौड़ कर गए हुए उन विद्यार्थियों की जो दशा उस समय यक्ष के कोप द्वारा हो रही थी अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

अवहेडियपिट्ठिसउत्तमंगे,
पसारिया बाहु अकम्मचेट्ठे ।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमन्ते,
उड्ढंमुहे निग्गयजीहनेत्ते ॥२९॥

अवहेठितपृष्ठसदुत्तमांगान्,
प्रसारितबाहूनकर्मचेष्टान् ।
प्रसारिताक्षान् रुधिरं वमतः,
ऊर्ध्वमुखान्निर्गतजिह्वानेत्रान् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—अवहेडिय–नीचे गिरा हुआ है पिट्ठि–पीठ पर्यन्त सउत्तमंगे–मस्तक जिनका पसारिया–पसारी हुई बाहु–भुजाएं अकम्मचिट्ठे–क्रिया रहित है चेष्टा जिनकी निब्भेरियच्छे–पसारी हुई आंखों वाले रुहिरं–रुधिर को वमंते–वमते हुए उड्ढंमुहे–मुख जिनका ऊंचा हो रहा है निग्गय–निकली हुई हैं जीहनेत्ते–जिह्वा और आंखें जिनकी।

मूलार्थ—नीचे गिरा हुआ मस्तक, पीठ तक पसारी हुई भुजाएं तथा चेष्टा से रहित शरीर और पसारी हुई आंखें एवं मुख से रुधिर निकल रहा है, ऊपर को मुख हो रहा है जिह्वा तथा आंखें निकल रही हैं, इस प्रकार की दशा में उन कुमारों को देखा।

टीका—यक्ष के कोप से उन कुमारों की जो दशा हो रही थी उसी का दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में कराया गया है। यज्ञमंडप में बैठे हुए अध्यापक लोगों ने अपने विद्यार्थियों की जो दशा देखी उसी का वर्णन इस गाथा में है। जैसे कि उस कुमारमंडली का–कुमारों का–मस्तक नीचे गिरा हुआ है, दोनों भुजा पसारी हुई हैं, मुख से रुधिर बह रहा है, जीभ और आंखें बाहिर निकल रही हैं तथा शरीर निश्चेष्ट हो रहा है।

यहां पर 'निब्भेरियच्छे' यह देशी प्राकृत का प्रयोग है। इसके अनन्तर क्या हुआ अब इसी बात को कहते हैं—

ते पासिया खण्डिय कट्ठभूए,
विमणो विसण्णो अह माहणो सो।
इसिं पसाएइ सभारियाओ,
हीलं च निन्दं च खमाह भन्ते! ॥३०॥

तान् दृष्ट्वा खण्डिकान्काष्ठभूतान्,
विमना विषण्णोऽथ ब्राह्मणः सः।
ऋषिं प्रसादयति सभार्यकः,
हीलां च निन्दां च क्षमध्वं भदन्त! ॥३०॥

पदार्थान्वयः—ते–उन खंडिए–छात्रों को कट्ठभूए–काष्ठ के समान हुओं २ को पासिया–देखकर विमणो–विमन विसण्णो–विषादयुक्त अह–अथ स–वह माहणो–ब्राह्मण इसिं–ऋषि को पसाएइ–प्रसन्न करता है सभारियाओ–भार्या को साथ लेकर भंते–हे भगवन्! हीलं–हीलना च–और निंदं–निंदा च–पादपूर्ति में खमाह–क्षमा करें।

मूलार्थ—काष्ठ की तरह चेष्टारहित हुए उन छात्रों को देखकर सोमदेव को बहुत विषाद हुआ! और वह अपनी भार्या को साथ लेकर उक्त मुनि को प्रसन्न करने के लिए उनके पास गया और कहने लगा कि हे भगवन्! आपकी जो हीलना और निन्दा हमारे द्वारा हुई है उसके वास्ते आप क्षमा करो।

टीका—सोमदेव ने–जो कि यज्ञमंडप का अधिष्ठाता था–उन कुमारों की इस प्रकार की दशा को देखकर मनमें बहुत पश्चात्ताप किया और इस कृत्य से उसको बहुत खेद हुआ तब वह अपनी भद्रा नाम की भार्या को साथ लेकर उक्त ऋषि को प्रसन्न करने के निमित्त उसके चरणों में उपस्थित होकर क्षमा की याचना करने लगा अर्थात् अपने अपराधों की क्षमा मांगने लगा।

अब क्षमा के ही प्रकार का वर्णन करते हैं यथा—

बालेहिं मूढेहिं अयाणएहिं,
जं हीलिया तस्स खमाह भन्ते।
महप्पसाया इसिणो हवन्ति,
न हु मुणी कोवपरा हवन्ति ॥३१॥

बालैर्मूढैरज्ञैः ,
यद् हीलितास्तत्क्षमध्वम् भदन्त!।
महाप्रसादा ऋषयो भवन्ति,
न खलु मुनयः कोपपरा भवन्ति ॥३१॥

पदार्थान्वयः—बालेहिं–बालकों ने मूढेहिं–मूढ़ों ने–मूर्खों ने अयाणएहिं–अज्ञानियों ने जं–जो हीलिया–आपकी हीलना की है तस्स–उसको भंते–हे भगवन्!

खमाह-क्षमा करें महप्पसाया-महाप्रसाद-प्रसन्नता वाले इसिणो-ऋषि लोग हवंति-होते हैं हु-निश्चय ही मुणी-साधु कोवपरा-क्रोधयुक्त नहवंति-नहीं होते।

मूलार्थ—हे भगवन्! इन मूढ़ अज्ञानी बालकों ने आपकी जो अवहेलना की है आप उसे क्षमा करें, क्योंकि ऋषि लोग सदा ही प्रसन्नचित्त वाले होते हैं। इसी लिए मुनि लोग किसी पर क्रोध नहीं करते।

टीका—सोमदेव नाम के ब्राह्मण ने उस मुनि के पास आकर उन बालकों के अपराध की क्षमायाचना की और कहा कि हे भगवन्! इन बालकों ने आपकी जो अवज्ञा की है उसको आप क्षमा करें, क्योंकि ये बालक वास्तव में अज्ञानी और मूर्ख हैं! तथा आप महाकृपालु हैं इसलिए आप जैसे महात्मा पुरुष किसी पर कोप नहीं करते किन्तु अविनीतों पर भी दयाभाव ही दिखलाते हैं। इस काव्य में मुनि के स्वभाव का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है जिससे कि सापराधों पर भी मुनिजनों को अपना अनुकम्पा-भाव ही रखना चाहिए इस बात का सुन्दर उपदेश मिलता है। तथा गाथा में 'तस्स' के स्थान पर यद्यपि 'तत्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए था तथापि प्राकृत के नियम को लेकर ऐसा हुआ है अर्थात् 'तत्' के स्थान पर 'तस्स' का प्रयोग हुआ है। सोमदेव के वचनों को सुनकर उस ऋषि ने जो उत्तर दिया अब उसी का शास्त्रकार वर्णन करते हैं—

पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च,
मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति,
तम्हा हु एए निहया कुमारा ॥३२॥

पूर्वं चेदानीं चानागतं च,
मनःप्रद्वेषो न मेऽस्ति कोऽपि।
यक्षाः खलु वैयावृत्त्यं कुर्वन्ति,
तस्मात्खल्वेते निहताः कुमाराः ॥३२॥

पदार्थान्वयः—पुव्विं–पहले च–और इण्हिं–इस समय च–तथा अणागयं–अनागत काल में च–संभावना में है मणप्पदोसो–मन का द्वेष न–नहीं मे–मेरे अत्थि–है कोइ–थोड़ा भी जक्खा–यक्ष हु–निश्चय ही–मेरी वेयावडियं–वैयावृत्त्य करेंति–करते हैं तम्हा–इसलिए हु–जिससे एए–ये–प्रत्यक्ष निहया–ताड़न किये गए हैं कुमारा–कुमार।

मूलार्थ—इस यज्ञमंडप में आने से प्रथम तथा इस समय और आगे को भी मेरा तुम्हारे ऊपर मन से थोड़ा सा भी द्वेष नहीं है। किन्तु यक्ष मेरी सेवा में रहते हैं अतः ये कुमार उन्हीं यक्षों के द्वारा अभिहत अर्थात् ताड़ित हुए हैं।

टीका—सोमदेवनाम के ब्राह्मण की विनय प्रार्थना को सुनकर उस मुनि ने कहा कि मेरा तो प्रथम और अब तथा आगे को भी आप लोगों के ऊपर किसी प्रकार का भी विद्वेष नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि मैं तो शत्रु और मित्र दोनों पर ही समभाव रखने वाला हूं अर्थात् मित्र से मेरा कोई प्यार नहीं और शत्रु से कोई द्वेष नहीं, तात्पर्य कि वीतरागता की ओर झुके हुए मुनि का इस संसार में कोई भी शत्रु अथवा मित्र नहीं। उसके लिए तो प्राणिमात्र ही उसकी आत्मा के समान है इसलिए मैंने इन कुमारों का किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं किया, किन्तु मेरी सेवा में रहने वाले यक्ष का यह कोप अवश्य है और उसी के द्वारा इन कुमारों की यह दशा हुई है।

यहां पर 'हु' यह एव के अर्थ में उपयुक्त हुआ है। मुनि के इस प्रकार के शान्त वचनों को सुनकर वे अध्यापक लोग फिर उसी की स्तुति करने लगे, यथा—

अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा,
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो,
समागया सव्वजणेण अम्हे ॥३३॥

अर्थं च धर्मं च विजानानाः,
यूयं नापि कुप्यथ भूतिप्रज्ञाः।

युष्माकं तु पादौ शरणमुपेमः,
समागताः सर्वजनेन वयम् ॥३३॥

पदार्थान्वयः—अत्थं–अर्थ के च–और धम्मं–धर्म के च–समुच्चय अर्थ मे वियाणमाणा–जानने वाले हैं तुब्भे–आप नवि–नहीं कुप्पह–कोप करने वाले हैं भूइपन्ना–रक्षा करने की बुद्धि वाले तु–निश्चय ही तुब्भं–आपके पाए–चरणों का सरणं–शरण उवेमो–ग्रहण करते हैं अम्हे–हम लोग समागया–इकट्ठे मिलकर सव्वजणेण–सर्व जनों के साथ।

मूलार्थ—हे भगवन्! आप अर्थ और धर्म के जानने वाले हैं तथा कदाचित् भी क्रुद्ध होने वाले नहीं हैं। क्योंकि आपकी बुद्धि सदा रक्षा करने वाली है अतः हम सब लोग आपके चरणों की शरण ग्रहण करते हैं अर्थात् आपकी शरण में आए हैं।

टीका—अध्यापक लोग मिलकर मुनि की सेवा मे उपस्थित होते हुए उनसे फिर प्रार्थना करते हैं–हे भगवन्! आप समस्त शास्त्रों के अर्थ–रहस्य के जानकार तथा दशविध यतिधर्म के पूर्ण ज्ञाता हैं इसलिए आप में अणुमात्र भी क्रोध नहीं है। तथा आप भूतिप्रज्ञ अर्थात् हर एक जीव की मंगल कामना, वृद्धि और रक्षा के करने वाले हैं अतः हम सब मिलकर आपकी शरण में आए हैं। यहां पर 'भूति' शब्द से–मंगल, वृद्धि और रक्षा ये तीनों अर्थ अभिप्रेत हैं। तात्पर्य कि आप सब का कल्याण चाहते हैं, किसी का विनाश नहीं चाहते अतएव आप में सब के लिए रक्षा की बुद्धि है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अच्चेमु ते महाभाग,
न ते किंचि न अच्चिमो।
भुंजाहि सालिमं कूरं,
नाणावंजणसंजुयं ॥३४॥

अर्चयामस्त्वां महाभाग,
न तव किंचिन्नार्चयामः ।
भुंक्ष्व शालिमयं कूरं,
नानाव्यञ्जनसंयुतम् ॥३४॥

पदार्थान्वयः—महाभाग—हे महाभाग ! ते—आपकी अच्चेमु—हम पूजा करते हैं ते—आपका किंचि—किंचित्—अवयव ऐसा न—नहीं है जो नअच्चिमो—पूजने योग्य नहीं हो भुंजाहि—भोजन करो सालिमं—तण्डुल कूरं—विशिष्ट ओदन—पकाया हुआ भात णाणावंजण—नाना प्रकार के व्यंजनों से संजुयं—संयुक्त ।

मूलार्थ—हे महाभाग ! हम आपकी पूजा करते हैं, आपके शरीर का ऐसा कोई भी अंग नहीं जो पूजा के योग्य न हो ! आप नाना प्रकार के व्यंजनों सहित शुद्ध शालियों से निर्माण किए चावलों का भोजन कीजिए ।

टीका—वे ब्राह्मण कहते हैं कि हे महाभाग ! हे पूज्य ! हम आपकी सर्व प्रकार से पूजा करते हैं। आपकी चरणरेणु तथा आपके शरीर का अन्य कोई भी अवयव ऐसा नहीं है जो कि पूजने के योग्य न हो, अतः हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए आप शुद्ध शालि—धान्यविशेष—से उत्पन्न हुए और इस यज्ञ-वाटिका में बने हुए चावलों का भोजन कीजिए। यह चावल—ओदन—नाना प्रकार के दधि आदि पदार्थों से उपसंस्कृत हैं अथवा नाना प्रकार के व्यंजनों—मसालों—से संस्कृत—संस्कार किए हुए हैं ।

इस गाथा मे भक्ति के अतिरेक का दिग्दर्शन कराया गया है। तथा 'त्वां' के स्थान मे 'ते' का प्रयोग सुप् के व्यत्यय से जानना। अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं,
तं भुंजसू अम्ह अणुग्गहट्ठा ।
बाढं ति पडिच्छइ भत्तपाणं,
मासस्स ऊ पारणए महप्पा ॥३५॥

इदं च मेऽस्ति प्रभूतमन्नं,
तद् भुंक्ष्वास्माकमनुग्रहार्थम्।
बाढमिति प्रतीच्छति भक्तपानं,
मासस्य तु पारणके महात्मा ॥३५॥

पदार्थान्वयः—इमं—यह—प्रत्यक्ष च—पुनः मे—मेरे पभूयं—प्रभूत अन्नं—अन्न अत्थि—है तं—वह भुंजसू—खाओ अम्ह—हमारे अणुग्गहट्ठा—अनुग्रह के लिए बाढं—मुनि ने कहा कि स्वीकार है ति—इस प्रकार कहकर भत्तपाणं—भक्त और पान को पडिच्छइ—ग्रहण करता है ऊ—वितर्क में मासस्स—मास के पारणए—पारने में महप्पा—महात्मा।

मूलार्थ—सोमदेव ने कहा—हे मुने! मेरे यज्ञमंडप में यह प्रचुर अन्न तयार है। आप हमारे पर अनुग्रह करते हुए इसे स्वीकार करो। मुनि ने कहा 'स्वीकार है'—इस प्रकार कहकर एक मास के पारने के निमित्त उस महात्मा ने अन्न और पानी को ग्रहण किया।

टीका—इस गाथा में सोमदेव की विनम्र प्रार्थना पर हरिकेशवल मुनि के भिक्षाग्रहण करने का उल्लेख किया गया है अर्थात् सोमदेव नाम के ब्राह्मण ने हरिकेशवल मुनि की स्तुति करने के बाद जब उससे नम्रतापूर्वक भिक्षाग्रहण करने की प्रार्थना की तब उक्त मुनि ने आहार लेने की अनुमति प्रकट करते हुए वहां से आहार लेकर मास के उपवास का पारण किया। तात्पर्य कि संयमशील मुनि की यह वृत्ति है कि यदि कोई पुरुष अज्ञानतावश प्रथम उसका तिरस्कार करता हुआ पीछे से विनम्र होकर प्रार्थना करे तो फिर उसको मुनि निराश न करे किन्तु वहां से अपने योग्य आहार लेकर उसको सफलमनोरथ बनाने का ही प्रयत्न करे। इसी नियम के अनुसार उक्त मुनि ने भिक्षा को ग्रहण किया यहां पर 'बाढं' यह स्वीकार अर्थ में अव्यय है यथा—बाढं—एवमस्तु इत्यादि।

भिक्षाग्रहण करने के अनन्तर जब उसके द्वारा मुनि ने मास के उपवास का पारण किया तब उसके बाद वहां पर क्या हुआ अब इसी विषय का वर्णन करते हैं—

तहियं गन्धोदयपुप्फवासं,
दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा।
पहयाओ दुन्दुहीओ सुरेहिं,
आगासे अहो दाणं च घुट्टं ॥३६॥

तत्र गंधोदकपुष्पवर्ष,
दीव्या तत्र वसुधारा च वृष्टा।
प्रहता दुन्दुभयः सुरैः,
आकाशे ऽहो दानं च घुष्टं ॥३६॥

पदार्थान्वयः—तहियं–उस समय गंधोदय–गन्धोदक पुप्फवासं–पुष्पों की वृष्टि दिव्वा–प्रधान तहिं–वहां पर य–और वसुहारा–द्रव्य की वुट्ठा–वर्षा हुई पहयाओ–बजाईं दुन्दुहीओ–दुन्दुभिएं सुरेहिं–देवताओं ने आगासे–आकाश में च–पुनः अहोदाणं–अहोदान घुट्टं–ऐसा घोषित किया गया।

मूलार्थ—उस समय गन्धोदक और पुष्पों की वर्षा तथा सुवर्ण की वृष्टि हुई! और देवों द्वारा आकाश में देवदुन्दुभिएं बजाई गईं तथा उक्त दान की महिमा का गान किया गया।

टीका—उक्त मुनि ने जिस समय उस यज्ञवाटिका में मास क्षमण का पारण किया उस समय देवों ने आकाश से सुगन्धित जल और पुष्पों की वर्षा की तथा वसुधारा–सुवर्ण की वृष्टि की तथा देवदुन्दुभिएं बजाई गईं और प्रस्तुत दान की प्रशंसा की गई। योग्यपात्र में विशिष्ट श्रद्धा से अर्पण किया गया पदार्थ कितने उच्चफल के देने वाला होता है तथा तपश्चर्यामय जीवन का आत्मशुद्धि के अतिरिक्त लोक में भी कितना विलक्षण प्रभाव होता है एवं शुद्ध बुद्धि से किया गया सुपात्र दान किस सीमा तक ऐहिक और पारलौकिक श्रेय का साधक होता है इत्यादि बातों का प्रस्तुत गाथा के भावार्थ से विशेष स्पष्टीकरण होता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा के भावार्थ से यह भी सहज ही मे ध्वनित होता है कि

दान करने से लक्ष्मी देवों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती है अतः दान करने से लक्ष्मी क्षीण हो जावेगी ऐसा संकुचित विचार दानशील पुरुष के हृदय में कभी नहीं आना चाहिए। जैसे कूप से जल निकलने पर वह खाली नहीं होता किन्तु उसमें शुद्ध, पवित्र और जल आने लग जाता है यही दृष्टान्त दान के विषय में भी जान लेना चाहिए तात्पर्य कि दान से लक्ष्मी की कमी नहीं होती किन्तु वह प्रतिदिन बढ़ती है।

उक्त मुनि के इस प्रकार माहात्म्य को देखकर अति विस्मय को प्राप्त हुए वे अध्यापक लोग इस प्रकार कहने लगे—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं,
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥३७॥

साक्षात् खलु दृश्यते तपोविशेषः,
न दृश्यते जातिविशेषः कोऽपि।
श्वपाकपुत्रं हरिकेशसाधुं,
यस्येदृशी ऋद्धिर्महानुभागा ॥३७॥

पदार्थान्वयः—खु–निश्चय ही सक्खं–साक्षात् तवो–तप का विसेसो–विशेष दीसई–देखा जाता है–किन्तु जाइविसेस–जाति का विशेष कोई–थोड़ा सा भी नदीसइ–नहीं देखा जाता–देखो सोवागपुत्तं–चांडाल के पुत्र हरिएस–हरिकेश साहुं–साधु को जस्स–जिसकी ईरिसा–इस प्रकार की इड्ढि–ऋद्धि और महाणुभागा–महाभाग्य है।

मूलार्थ–निश्चय ही तप की विशेषता तो यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है और जाति की विशेषता तो थोड़ी सी भी नज़र नहीं आती देखो! इस चण्डाल पुत्र हरिकेश साधु को कि जिसकी इस प्रकार की ऋद्धि और भाग्य है।

टीका—मुनि के तपोबल की इस प्रत्यक्ष महिमा को देखकर आश्चर्य-मग्न हुए वे अध्यापक लोग आपस में इस प्रकार कहने लगे कि वास्तव में तप का ही प्रभाव प्रत्यक्ष है, अर्थात् इसी की विशिष्टता संसार में दृष्टिगोचर होती है और जाति का वैशिष्ट्य तो प्रायः विश्वासगम्य ही है अर्थात् प्रत्यक्षरूप में उसका कोई भी प्रभाव देखने में नहीं आता। यदि वस्तुतः जाति का कोई विशिष्ट महत्त्व होता तो देवतागण ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी के भी अनुचर न बनते परन्तु देखने में इससे सर्वथा विपरीत आता है। देखो यह हरिकेशबल नाम का साधु कितने हीनकुल वा हीनजाति में उत्पन्न हुआ है। परन्तु इसका तपोबल इतना बलवान् है कि उसके प्रभाव से मनुष्य तो क्या देवता भी इसकी सेवा में उपस्थित होना, अपना परमसौभाग्य समझते हैं। इससे प्रतीत होता है कि केवल जाति में कोई गौरव अथवा महिमा की बात नहीं, वह तो आत्मशुद्धि और उसके साधनभूत तपोविशेष में है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को चाहिए कि वे केवल जाति के अभिमान में फंसे न रहकर अपने आत्मा में गुणोत्कर्ष के सम्पादनार्थ अधिक से अधिक प्रयत्न करें यही इस गाथा का संक्षिप्त भावार्थ है।

इसके अनन्तर हरिकेशबल मुनि ने उन अध्यापकों को विनीत और उपशान्त मोह वाले जानकर जो हितकारी उपदेश किया अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

किं माहणा जोइसमारभन्ता,
उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा।
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं,
न तं सुइट्ठं कुसला वयन्ति ॥३८॥

किं ब्राह्मणा ज्योतिः समारभमाणाः,
उदकेन शुद्धिं बाह्यां विमार्गयथ।
यां मार्गयथ बाह्यां विशुद्धिं,
न तत् स्विष्टं कुशला वदन्ति ॥३८॥

पदार्थान्वयः—किं–क्या माहणा–हे ब्राह्मणो ! जोइ–अग्नि का समारभंता–समारम्भ करते हुए–और उदएण–जल से सोहिं–शुद्धि बहिया–बाहिर की विमग्गहा–अन्वेषण करते हो जं–जो मग्गहा–अन्वेषण करते हो बाहिरियं–बाहिर विसोहिं–विशुद्धि का मार्ग न–नहीं तं–वह मार्ग सुइट्ठं–सुयोग्य–सुदृढ़–इस प्रकार कुसला–कुशल पुरुष वुयंति–कहते हैं।

मूलार्थ—हे ब्राह्मणो ! तुम क्यों अग्नि का आरम्भ करते हो तथा पानी से बाहिर की शुद्धि की गवेषणा करते हो क्योंकि जो मार्ग, केवल बाहिर की विशुद्धि का है उसको कुशल पुरुष अच्छा नहीं समझते।

टीका—ब्राह्मणों को उपदेश देते हुए मुनि ने कहा कि तुम लोग इस अग्नि का क्यों आरम्भ कर रहे हो तथा जल के द्वारा केवल बाहिर की शुद्धि की अभिलाषा भी क्यों कर रहे हो ? क्योंकि जो मार्ग केवल बाहिर की शुद्धि का है उसको–कुशल–विचारशील–तत्त्ववेत्ता–लोग अच्छा नहीं समझते। कारण कि इस बाह्यशुद्धि से आन्तरिक शुद्धि की कोई संभावना नहीं होती और आन्तरिक शुद्धि के बिना भावशुद्धि का होना असंभव है इसलिए आत्मविकास की इच्छा रखने वाले महानुभावों को बाह्यशुद्धि को गौणता में रखकर सर्व प्रकार से आन्तरिक शुद्धि को ही प्राप्त करना चाहिए। यहां पर इतना और भी समझ लेना चाहिए कि मुनि, बाह्यशुद्धि का सर्वथा निषेध नहीं करते और ना ही उनका यह उपदेश है, उनके कथन का तात्पर्य तो यह है कि इस बाह्यशुद्धि से अन्तरंग शुद्धि की इच्छा रखनी भूल है, इसलिए जो पुरुष केवल बाह्यशुद्धि से आत्मशुद्धि का होना मानते या समझते हैं वे भ्रान्त है। उनका विचार तो ऐसा है जैसे किसी ज्वर वाले पुरुष का स्नान करके ज्वर को उतारने का विचार हो अर्थात् जैसे केवल स्नान कर लेने से ज्वर का उतरना दुस्तर है–और विपरीत इसके अधिक होने की ही संभावना है इसी प्रकार बाह्यशुद्धि से आन्तरिक निर्मलता-प्राप्ति की आशा करना भी केवल मनोरथ मात्र ही प्रतीत होता है।

यहां गाथा में आया हुआ 'किं' अधिक्षेपार्थक है। अब इसी विषय का उपपत्तिपूर्वक वर्णन करते हैं—

कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं,
सायं च पायं उदगं फुसन्ता।
पाणाइ भूयाइ विहेडयन्ता,
भुज्जो वि मन्दा पकरेह पावं ॥३९॥

कुशं च यूपं तृणकाष्ठमग्निं,
सायं च प्रातरुदकं स्पृशन्तः।
प्राणिनो भूतान् विहेठमानाः,
भूयोऽपि मन्दाः प्रकुरुथ पापम् ॥३९॥

पदार्थान्वयः—कुसं-कुशा च-और जूवं-यूप-यज्ञस्तम्भ तण-तृण कट्ठं-काष्ठ अग्गिं-अग्नि को स्पर्श करते हो सायं-सायंकाल च-और पायं-प्रातःकाल उदयं-उदक को फुसंता-स्पर्श करते हुए पाणाइ-प्राणियों का तथा भूयाइ-भूतों का विहेडयंता-विनाश करते हुए भुज्जोवि-फिर भी तुम मंदा-मंदबुद्धि पावं-पाप को पकरेह-करते हो।

मूलार्थ—कुशा, यूप तृण काष्ठ और अग्नि तथा सायं और प्रातःकाल में उदक का स्पर्श करते हुए एवं प्राणियों और भूतों का विनाश करते हुए फिर भी तुम मन्दबुद्धि होकर पापकर्म का उपार्जन करते हो।

टीका—हरिकेशबल मुनि कहते हैं कि तुम लोग शुद्धि के व्याज से पापकर्म का उपार्जन कर रहे हो। जैसे कि यज्ञ के लिए कुशा लाते हो, यूप-यज्ञस्तम्भ-का निर्माण करते हो, हवन के लिए वीरणादि तृण और समिधा इकट्ठी करके उसका अग्नि में होम करते हो, तथा सायं प्रातः उदक का सेवन करते हो अर्थात् शुद्धि के निमित्त जल का स्पर्श करते हो, तात्पर्य कि इस प्रकार की क्रियाओं द्वारा प्राणियों और भूतों का विनाश करते हुए पापकर्म का ही संचय होता है परन्तु तुम लोग इन उक्त क्रियाओं को शुद्धि का कारण मान रहे हो, यही तुम्हारी अज्ञानता का सूचक है। क्योंकि स्नानादि क्रियाएं व्यवहार पक्ष में केवल शरीर

की शुद्धि का ही कारण मानी जाती हैं, आत्मशुद्धि में तो इनका कोई उपयोग नहीं है। यही उक्त गाथा का रहस्य है। अपिच—प्राणाः द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः। जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वाः प्रकीर्तिताः ॥१॥ इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारे यज्ञारम्भ में नाना प्रकार के जीवों का प्रत्यक्ष विनाश हो रहा है। तथा उदकादि से होने वाले मात्र बाह्य शौच से ही आन्तरिक—आध्यात्मिक शौच की अभिलाषा रखना यही तुम्हारी भूल है क्योंकि तुमको यथार्थबोध नहीं है।

मुनि के इस प्रकार के कथन को सुनकर वे ब्राह्मण लोग अपनी २ शंकाओं को निवृत्त करने के लिए उक्त मुनि से यज्ञविषयक इस प्रकार से प्रश्न करने लगे यथा—

कहं चरे भिक्खु वयं जयामो,
पावाइ कम्माइ पुणोल्लयामो।
अक्खाहि णे संजय जक्खपूइया,
कहं सुइट्ठं कुसला वयन्ति ॥४०॥

कथं चरामो भिक्षो वयं यजामः,
पापानि कर्माणि पुनः प्रणुदामः।
आख्याहि नः संयत ! यक्षपूजित !,
कथं स्विष्टं कुशला वदन्ति ॥४०॥

पदार्थान्वयः—भिक्खु—हे भिक्षो वयं—हम कहं—किस प्रकार चरे—आचरण करें जयामो—यज्ञ करें पावाइ—पाप कम्माइ—कर्म पुणोल्लयामो—जिससे दूर हो जावें अक्खाहि—कहो णे—हमको संजय—हे संयत ! जक्खपूइया—हे यक्षपूजित ! कहं—किस प्रकार सुइट्ठं—अतिश्रेष्ठ—यज्ञ कुसला—कुशल पुरुष वयंति—कहते हैं।

मूलार्थ—हे भिक्षो ! हम किस प्रकार का यज्ञ करें, जिसके करने से पापकर्म दूर हो जावें सो हमारे प्रति आप कहें। तथा हे संयत ! हे यक्षपूजित ! कुशल पुरुष किस को स्विष्ट—अतिश्रेष्ठ—कहते हैं।

टीका—इस गाथा में यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए ब्राह्मणों ने मुनि से प्रश्न किया है। वे कहते हैं कि पापकर्मों को दूर करने के लिए किस प्रकार के यज्ञ का आरम्भ करना चाहिए क्योंकि प्रस्तुत यज्ञ को तो आपने हिंसात्मक होने से पाप का कारण बतलाया है इसलिए ऐसा कौनसा यज्ञ है जिससे पापों का नाश हो तथा कुशल पुरुष, जिसको अतिश्रेष्ठ तथा इष्ट फल के देने वाला कहते हैं। ब्राह्मणों के प्रश्न करने का अभिप्राय यह है कि जब तक वस्तु तत्त्व का प्रथम ज्ञान न हो जावे तब तक उसका सम्यक् रीति से अनुष्ठान नहीं हो सकता इसलिए वे मुनि के प्रति कहते हैं कि हम किस प्रकार का आचरण करें अर्थात् कौनसा यज्ञ करें, जिससे पापों का विनाश हो एवं वह कौनसा यज्ञ है कि जिसको उत्तम पुरुषों ने अतिश्रेष्ठ बतलाया है। इस प्रश्न में यज्ञ का स्वरूप और उसके अनुष्ठान की विधि यह दोनों ही बातें समाविष्ट हैं। तथा प्रस्तुत गाथा में 'कहंचरे' यहां पर तिङ् व्यत्यय किया हुआ है अर्थात् 'कहंचरेम' इस उत्तम पुरुष की बहुवचनात्मक क्रिया के स्थान में यह प्रयुक्त हुआ है।

(अब मुनि ने उक्त प्रश्न का इस प्रकार उत्तर दिया) यथा—

छज्जीवकाए असमारभन्ता,
मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माण मायं,
एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता ॥४१॥

षड्जीवकायानसमारभमाणाः,
मृषाऽदत्तं चासेवमानाः।
परिग्रहं स्त्रियो मानं मायां,
एतत्परिज्ञाय चरन्ति दान्ताः ॥४१॥

पदार्थान्वयः—छज्जीवकाए—षट्जीवकाय के जीवों का असमारभन्ता—समारम्भ न करते हुए मोसं—असत्य च—और अदत्तं—चोरी को असेवमाणा—सेवन न करते हुए परिग्गहं—परिग्रह इत्थिओ—स्त्रियें माण—मान मायं—माया एयं—यह सब

परिन्नाय-भली भांति जानकर चरंति-आचरण करते हैं दंता-जिन्होंने इन्द्रियों का दमन किया है।

मूलार्थ—छ काय के जीवों का समारम्भ न करते हुए, असत्य और चोरी का सेवन न करते हुए तथा परिग्रह, स्त्री, मान और माया इन सबका भली भांति त्याग करके इन्द्रियों का दमन करते हुए तुम विचरो अर्थात् इस प्रकार से आचरण करो।

टीका—ब्राह्मणों के प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनि ने उनसे कहा कि तुम लोग छ काय के जीवों की हिंसा न करते हुए, असत्य और चोरी का त्याग करते हुए, परिग्रह और स्त्रियों का त्याग एवं क्रोध, मान, माया आदि कषायों का परित्याग करते हुए, इतना ही नहीं किन्तु ज्ञपरिज्ञा से उक्त बातों के फलाफल का विचार करके फिर प्रत्याख्यान परिज्ञा से जिन्होंने इनका त्याग किया है, वे उक्त गुण वाले जीव यज्ञ करते हैं सो तुम भी उक्त गुणों को धारण करके ऐसे पवित्र यज्ञ का आचरण करो। उक्त गाथा में मुनि ने अपने उत्तर में अहिंसा आदि पांचों महाव्रतों के सेवन और क्रोध आदि चारों कषायों के परित्याग का उपदेश करते हुए सात्त्विक यज्ञ के स्वरूप में उसके अधिकारी का स्वरूप बड़ी सुन्दरता से दर्शाया है। तात्पर्य कि उत्तम पुरुषों ने जिस यज्ञ की प्रशंसा की है अर्थात् जिस प्रकार के यज्ञ को वे अति श्रेष्ठ बतलाते हैं उसके अनुष्ठान का अधिकार इन्हीं पुरुषों को है जिनमें उक्त गुणों का समावेश हो। तथा किसी २ प्रति में 'चरंति' के स्थान पर 'चरेयुः' क्रियापद दिया हुआ है जो कि केवल प्रथम प्रश्न से ही सम्बन्ध रखता है। तात्पर्य कि ब्राह्मणों का प्रथम प्रश्न यही था, 'कहंचरेम' हम कैसे चलें और मुनि ने उत्तर दिया कि इस विधि से चलो। प्रथम प्रश्न का उत्तर देने के अनन्तर अब ब्राह्मणों के शेष प्रश्नों का उत्तर देते हैं, यथा—

सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा,
महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं ॥४२॥

सुसंवृताः पंचभिः संवरैः,
इह जीवितमनवकांक्षतः ।
व्युत्सृष्टकायाः शुचित्यक्तदेहाः,
महाजयं यजन्ते श्रेष्ठयज्ञं ॥४२॥

पदार्थान्वयः—पंचहिं—पांच संवरेहिं—संवरों से सुसंवुडा—जो संवृत हैं इह—इस जन्म में जीवियं—अपने जीवन की अणवकंखमाणा—इच्छा न करते हुए वोसट्ठकाया—काया की ममता जिन्होंने छोड़ी हुई है वे सुइ—पवित्र हैं चत्तदेहा—त्यक्त देह हैं महाजयं—कर्मों को जय करने वाले जन्नसिट्ठं—श्रेष्ठ यज्ञ को जयइ—यजते हैं—करते हैं ।

मूलार्थ—जो पांच संवरों से संवृत्त, इस जन्म में संयमरहित जीवन की इच्छा न रखने वाले और परिषहों को सहन करते हुए जिन्होंने शरीर के ममत्व को त्याग दिया है वे ही पवित्र हैं और वे ही जीव कर्मों के जय करने वाले श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं ।

टीका—मुनि कहते हैं कि जिन पुरुषों ने संवर द्वारा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप आस्रवों का निरोध किया है तथा जो इस जन्म में असंयत्त जीवन व्यतीत करने की इच्छा नहीं रखते, एवं शीतोष्ण आदि परिषहों को सहन करने के लिए जिन्होंने शरीर के ममत्व का त्याग कर दिया है और जो कषायों के त्याग तथा व्रतों के पालन से पवित्र हो रहे हैं तथा देहादि के लिए किसी प्रकार का अभिमान न होने से जो त्यक्त-देह कहलाते हैं वे ही पुरुष कर्म-रूप वैरियों के विनाश करने वाले परम श्रेष्ठ—आध्यात्मिक यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले हैं । तात्पर्य कि इन उक्त गुण वाले सत्पुरुषों की भांति तुम उक्त प्रकार से ही यज्ञ का आरम्भ करो ।

प्रस्तुत गाथा में 'महाजयं' यह क्रिया-विशेषण है और 'जयइ' यहां पर वचन-व्यत्यय किया हुआ है—जैसे 'यजंते' पद होने पर भी 'जयंतो' इसी क्रिया-पद का सद्भाव है ।

(इस प्रकार जिन क्रियाओं द्वारा आरम्भ किया हुआ यज्ञ पापों का नाशक तथा श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा आचरणीय है उसका वर्णन श्रवण करने के अनन्तर अब ब्राह्मण लोग उक्त यज्ञ के उपकरणों के विषय में पूछते हैं यथा—

के ते जोई के व ते जोइठाणे,
का ते सुया किं व ते कारिसंगं।
एहा य ते कयरा सन्ति भिक्खू,
कयरेण होमेण हुणासि जोइं ॥४३॥

किं ते ज्योतिः किं वा ते ज्योतिः स्थानं,
कास्ते स्रुचः किंते करीषांगम्।
एधाश्च ते कतराः शान्तिर्भिक्षो,
कतरेण होमेन जुहोषि ज्योतिः ॥४३॥

पदार्थान्वयः—ते-तुम्हारे जोइ-अग्नि के-कौनसी है केवते-कौनसा तुम्हारे जोइठाणे-अग्नि स्थान-कुंड है काते-कौनसा तुम्हारे सुया-स्रुव है व-और किं-क्या ते-तुम्हारे कारिसंगं-अग्नि को प्रदीप्त करने का साधन है य-फिर ते-तुम्हारे एहा-समिधा कयरा-कौनसी हैं भिक्खू-हे भिक्षो ! संति-शांति पाठ-कौनसा है कयरेण-किस होमेण-होम से-हवन से हुणासि-हवन करते हो और जोइं-ज्योति को-तृप्त करते हो।

मूलार्थ—हे भिक्षो ! तुम्हारे अग्नि कौनसी है ? और कौनसा अग्नि-कुण्ड है, कौनसा स्रुव-स्रोआ है तथा अग्नि प्रज्वलित करने का साधन रूप कारिषंग क्या है एवं तुम्हारे समिधा कौनसी हैं और कौनसा शांतिपाठ है। किस हवन से तुम अग्नि को प्रसन्न करते हो ?

टीका—ब्राह्मणों ने मुनि से पूछा कि आपके मत में अहिंसामय आध्यात्मिक यज्ञ ही वास्तविक यज्ञ है तो बतलाइए कि उस यज्ञ में अग्नि कौनसी है और अग्नि-कुण्ड कौनसा है ? तथा जिससे अग्नि में आहुति दी जाती है वह

स्रुव–स्रोया–कौनसा है ? तथा अग्नि के प्रचंड करने के लिए शमी आदि वा मधु घृतादि सामग्री कौनसी है ? एवं यज्ञ की समिधा–लकड़ियें कौनसी हैं ? और कष्टों को दूर करने के निमित्त शांतिपाठ आपके हां कौनसा है ? और किस हवन से आप अग्नि को प्रसन्न करते हैं। ब्राह्मणों ने उक्त मुनि से यज्ञ के जो उपकरण पूछे हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके आरम्भ किए हुए यज्ञ में जो उपकरण काम में आते हैं उसके अनुसार मुनि के द्वारा प्रदर्शित किए गए अहिंसात्मक यज्ञ में भी उनकी आवश्यकता होगी तब उस यज्ञ में वे कौन और किस प्रकार के हैं यह जानना भी उनके लिए बहुत ज़रूरी है इसलिए उन्होंने उक्त मुनि से यज्ञसम्बन्धी उपकरणों के विषय में प्रश्न किया जो कि परम आवश्यक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत विषय में एक बात और ध्यान देने के योग्य है वह यह कि उस समय वैधयज्ञों में पशुवध की प्रथा नहीं थी या बन्द हो चुकी थी। यदि होती तो विधियज्ञ में प्रवृत्ति रखने वाले ब्राह्मणों के साथ मुनि के यज्ञसम्बन्धी जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उनमें पशुवध का उल्लेख भी किसी न किसी प्रकार से अवश्य आता। परन्तु न तो मुनि ने ही इसकी अपने भाषण में कहीं पर चर्चा की और न ही ब्राह्मणों ने उनके प्रति अन्य उपकरणों के साथ पशु के स्थानापन्न पदार्थ को पूछा अर्थात् 'किंतेपसु' आपके यज्ञ मे हवन के लिए पशु कौनसा है ऐसा न तो ब्राह्मणों ने ही पूछा और न ही याज्ञिक हिंसा का वर्णन करते हुए मुनि ने ही उसका ज़िक्र किया। तात्पर्य कि यदि उस समय यज्ञ मे पशुवध की प्रथा होती तो जैसे प्रस्तुत सूत्र की ३८ वीं और ३९ वीं गाथा में, मुनि ने आरम्भ किए हुए यज्ञ में मात्र अग्नि, जल और वनस्पति के जीवों का वध होने से उनके यज्ञ को हिंसात्मक बतलाया परन्तु ऐसा नहीं कहा कि आप लोग इस यज्ञ में अज–अश्व–आदि पशुओं का वध करते हो इसलिए आपका यह यज्ञ हिंसात्मक है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय पशुवध की प्रवृत्ति नहीं थी और यदि थी भी तो उस समय वह विनष्टप्राय हो चुकी थी। वास्तव में पशुवध की प्रथा के संचालक मांसलोलुपी जीव ही प्रतीत होते हैं उन्हीं के इस कुत्सित आचार से पवित्र यज्ञ शब्द भी लांछित हो रहा है अन्यथा 'यज' धातु से निष्पन्न होने वाला यज्ञ शब्द तो–देव-पूजा, दान और संगतिकरण आदि अर्थों मे ही व्यवहृत है, अतः विचारशील पुरुषों को सदा निरवद्य यज्ञों का ही अनुष्ठान

करना चाहिए जैसा कि ऊपर बतलाया गया और आगे बतलाया जावेगा ।

अब ब्राह्मणों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उक्त मुनि अनुक्रम से उत्तर देते हैं यथा—

तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥४४॥

तपो ज्योतिर्जीवो ज्योतिः स्थानं,
योगाः स्रुचः शरीरं करीषांगम् ।
कर्मैधाः संयमयोगाः शान्तिः,
होमेन जुहोम्यृषीणां प्रशस्तेन ॥४४॥

पदार्थान्वयः—तवोजोई—तप रूप अग्नि है जीवो—जीव जोइठाणं—अग्नि का स्थान है जोगा—मन वचन और कायरूप योग सुया—स्रोआ है सरीरं—शरीर कारिसंगं—करीषांग है कम्म—कर्म एहा—इंधन है संयमजोग—संयम व्यापार संती—शांतिपाठ है होमं—होम से—चारित्र यज्ञ से हुणामि—हवन करता हूं जो इसिणं—ऋषियों को पसत्थं—प्रशस्त है ।

मूलार्थ—तप रूप अग्नि है, जीव अग्नि का स्थान है, तीनों योग स्रुव हैं, शरीर करीषांग है, कर्म एध—इन्धन है और संयम व्यापार शांतिपाठ है, इस प्रकार के होम से—चारित्ररूप यज्ञानुष्ठान से—मैं अग्नि को प्रसन्न करता हूं जिसको ऋषियों ने प्रशस्त माना है, वा जो ऋषियों के लिए प्रशस्त है ।

टीका—मुनि ने अहिंसामय आध्यात्मिक यज्ञ के विषय में किए गए ब्राह्मणों के प्रश्नों का अनुक्रम से जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है—

प्र०—आपके यज्ञ मे अग्नि क्या है ? उ०—तपरूप । प्र०—अग्नि-कुण्ड कौनसा है ? उ०—जीवात्मा । प्र०—अग्नि-कुण्ड में जिसके द्वारा चरु आदि की आहुति दी जाती है वह स्रुव—स्रोआ कौनसा है ? उ०—मन वचन और कायरूप

योग। प्र०—यज्ञ की सामग्री कौनसी है ? उ०—शरीर। प्र०—यज्ञ के लिए समिधा कौनसी हैं ? उ०—शुभाशुभ कर्म। प्र०—शांति पाठ कौनसा है ? उ०—संयमव्यापार प्र०—किस हवन से अग्नि को प्रसन्न करते हो ? उ०—उक्त प्रकार के हवन से अग्नि को प्रसन्न करते हैं जो ऋषियों के लिए प्रशस्त है। इस प्रश्नोत्तरमाला का तात्पर्य इस प्रकार से है—प्रथम तप को ज्योतिः—अग्नि—बतलाया गया है उसका आशय यह है कि तप में कर्ममल को भस्म कर देने की शक्ति है। और वह तप जीव के आश्रित है इसलिए उस तप रूप अग्नि का स्थान जीव है। एवं मन वचन और काय योग को स्रुच्—स्रोआ कहने का तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ कर्मों का आगमन इन्हीं के द्वारा होता है तथा जिस प्रकार मधु घृत आदि चरु के प्रक्षेप से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार शरीर में ही यह तप रूप अग्नि प्रदीप्त होती है अतः शरीर को करीषांग बतलाया है। यहां पर समिधा के स्थानापन्न कर्म हैं अर्थात् जैसे शमी, पलाश आदि की लकड़िएं अग्निकुण्ड में डालने से भस्म हो जाती हैं उसी प्रकार तप रूप अग्नि में कर्म रूप ईंधन भस्म हो जाते हैं। और संयम व्यापार से ही सर्व जीवों को शांति मिलती है अतः प्रस्तुत यज्ञ में वही शांतिपाठ है। इस प्रकार उक्त यज्ञ की सारी ही उपकरण सामग्री का वर्णन कर दिया गया। यहां पर 'होमेन' के स्थान पर जो 'होमं' पाठ दिया है वह विभक्ति के व्यत्यय से जानना। तथा यही हवन ऋषियों के लिए प्रशस्त है इस कथन से प्रतीत होता है कि उक्त प्रकार की हवन विधि, केवल त्यागी ऋषियों के लिए ही प्रतिपादन की गई है और गृहस्थों के लिए तो केवल पशुवध जिनमें हो ऐसे यज्ञों का ही निषेध है किन्तु अन्न धनादि रूप यज्ञों का उनके लिए निषेध नहीं।

इस प्रकार मुनि के उत्तर से यज्ञ के स्वरूप का निश्चय करके अब ब्राह्मण लोग स्नानादि क्रिया के विषय में पूछते हैं, यथा—

के ते हरए के य ते सन्तितित्थे,
कहिं सिणाओ व रयं जहासि।
आइक्ख णे संजय जक्खपूइया,
इच्छामो नाउं भवओ सगासे ॥४५॥

कस्ते ह्रदः किंच ते शान्तितीर्थं,
　　कस्मिन् स्नातो वा रजो जहासि।
आख्याहि नः संयत यक्षपूजित !,
　　इच्छामो ज्ञातुं भवतः सकाशात् ॥४५॥

पदार्थान्वयः—के–कौनसा ते–तुम्हारे हरए–जलाशय है य–और के–कौनसा ते–तुम्हारा संतितित्थे–शांति तीर्थ है कहिं–किस स्थान पर सिणाओ–स्नान करते हुए व–वा रयं–कर्म रज को जहासि–छोड़ते हो णे–हमको संजय–हे संयत ! जक्खपूइया–हे यक्षपूजित ! आइक्ख–सुनाएं भवओ–आपके सगासे–समीप से नाउं–जानने को इच्छामो–चाहते हैं।

मूलार्थ—हे संयत ! हे यक्षपूजित ! आपका जलाशय–सरोवर–कौनसा है ? और कौनसा शान्तिरूप तीर्थ है ? तथा किस स्थान पर स्नान करते हुए कर्म-रूप मल को छोड़ते हो ? हम आप से जानना चाहते हैं आप हमारे प्रति कहें।

टीका—यहां पर ब्राह्मणों ने ऋषि से तीन बातें पूछी हैं, १ जलाशय, २ शांतिरूप तीर्थ और ३ स्नान करने का स्थान। वास्तव में ये तीनों बातें एक ही प्रश्न के अन्तर्गत हैं, अर्थात् जलपूर्ण वह तीर्थस्थान कौनसा है कि जिसमें स्नान करने से आत्मा में लगा हुआ कर्ममल धुल जाता है ? ब्राह्मणों के इस प्रश्न का यह भी आशय है कि प्रथम, मुनि ने उनके प्रति यह कहा था कि तुम लोग दोनों समय पानी का स्पर्श करते हो और इसके द्वारा शुद्धि की गवेषणा करते हो परन्तु कुशल पुरुषों ने इस बाह्यशुद्धि को उचित नहीं बतलाया क्योंकि यह अन्तरंगशुद्धि मे कारणभूत नहीं है। इस पर वे ब्राह्मण लोग उक्त मुनि से प्रश्न करते हैं कि कृपा करके आप ही हमे बतलावें कि आपका स्नान करने का तालाब कौनसा है और किस प्रकार के स्नान से आन्तरिकशुद्धि की प्राप्ति होती है ? तात्पर्य कि जिस प्रकार बाह्य सरोवरादि के जल मे स्नान करने से शरीर का मल दूर होकर उसकी शुद्धि होती है उसी प्रकार आन्तरिकशुद्धि के लिए किस प्रकार के जल का उपयोग करना चाहिए ? जिससे कि कर्म रूप मल दूर हो जाता है इत्यादि।

इन उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए मुनि ने जो कुछ कहा अब उसी का वर्णन करते हैं—

धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥४६॥

धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्तितीर्थं,
अनाविल आत्मप्रसन्नलेश्ये ।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः,
सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥४६॥

पदार्थान्वयः—धम्मे-धर्म हरए-ह्रद-तालाब है बंभे-ब्रह्मचर्य संतितित्थे-शान्तितीर्थ है अणाविले-कलुष भाव से रहित अत्तपसन्नलेसे-आत्मा प्रसन्न लेश्या है जहिं-जिसमें सिणाओ-स्नान किया हुआ विमलो-मल से रहित और विसुद्धो-विशुद्ध हो जाता है सुसीइभूओ-अत्यन्त शीतल होकर दोसं-कर्म दोष को पजहामि-भली भांति छोड़ता हूं ।

मूलार्थ—धर्मरूप तड़ाग है ब्रह्मचर्य शांतितीर्थ है और कलुष भावरहित आत्मा प्रसन्न लेश्या है, जिसमें स्नान किया हुआ आत्मा निर्मल और विशुद्ध हो जाता है । इस प्रकार अत्यन्त शीतल होकर दोषों को छोड़ता हूं ।

टीका—इस गाथा में ब्राह्मणों के प्रश्नों का उत्तर मुनि ने दृष्टान्त और दार्ष्टान्त भाव से दिया है, जैसेकि—बाह्य स्नान के लिए एक जलाशय होता है उसी प्रकार आन्तरिक स्नान के लिए अहिंसा धर्म रूप जलाशय है जोकि कर्म रूप मल को दूर करने में समर्थ है । तथा जिस प्रकार तड़ाग में सोपानादिक होते हैं उसी प्रकार अहिंसाधर्म रूप तड़ाग के ब्रह्मचर्यादि रूप तीर्थ-सोपान हैं यह तीर्थ कर्मरूप मल को जड़ से दूर करने में तथा मिथ्यात्वादि कालुष्यरहित होने से आत्मा की प्रसन्न लेश्या के सम्पादन में समर्थ है । अतः सिद्ध हुआ कि ब्रह्मचर्य और शांति ये दोनों धर्मरूप तड़ाग के सुदृढ़ तीर्थ-सोपान

हैं। सो इस प्रकार के धर्मरूप जलाशय में स्नान किया हुआ आत्मा निर्मल—कर्म मल से रहित होकर निष्कलंक हो जाता है। तथा जिस प्रकार कषायरूप ताप से रहित होकर अत्यन्त शीतलता को प्राप्त होता हुआ मैं दोषों को त्याग रहा हूं उसी प्रकार तुमको भी कर्मरूप मल से रहित होने का प्रयत्न करना चाहिए।

अपि च ४५ वीं और ४६ वीं गाथा में आए हुए प्रश्नोत्तरों की तालिका इस प्रकार समझनी चाहिए—

प्र०—स्नान के लिए जलाशय कौनसा है ? उ०—अहिंसारूप धर्म। प्र०—उस जलाशय का तीर्थ—सोपान कौन है ? उ०—ब्रह्मचर्य और शांति। प्र०—किसमें स्नान करने से कर्मरज दूर होता है ? उ०—उक्त तीर्थ में स्नान करने से कर्ममल से रहित हुआ यह आत्मा प्रसन्न लेश्या वाला होता है। प्र०—क्या इस जलाशय में स्नान करने से आत्मा निर्मल—शुद्ध हो जाता है ? उ०—हां, इसी जलाशय में स्नान करने से आत्मा कर्ममल से रहित होकर विशुद्ध हो जाता है। प्र०—आप किस जलाशय में स्नान करके परमशांति को प्राप्त होते हुए कर्ममल को छोड़ते हैं ? उ०—मैं उक्त धर्म रूप जलाशय मे स्नान करके अत्यन्त शांति को प्राप्त होता हुआ कर्मरज को दूर करता हूं। प्र०—हम किस जलाशय में स्नान करें ? उ०—तुम भी इसी जलाशय में स्नान करके कर्ममल से रहित होने का प्रयत्न करो।

अब उक्त स्नान का महत्त्व वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं—

एयं सिणाणं कुसलेहिं दिट्ठं,
महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा,
महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते ॥४७॥

त्ति बेमि।

इति हरिएसिज्जं अज्झयणं समत्तं ॥१२॥

एतत्स्नानं कुशलैर्दृष्टं,
महास्नानमृषीणां प्रशस्तम् ।
यस्मिन्स्नाता विमला विशुद्धाः,
महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ॥४७॥

इति ब्रवीमि ।

इति हरिकेशीयमध्ययनं समाप्तं ॥१२॥

पदार्थान्वयः—एयं-यह पूर्वोक्त सिणाणं-स्नान कुसलेहि-कुशल पुरुषों ने दिट्ठं-देखा है और यही महासिणाणं-महास्नान है जो इसिणं-ऋषियों के लिए पसत्थं-प्रशस्त है जहिं-जिस स्नान से सिणाया-स्नान किए हुए विमला-मलरहित और विसुद्धा-विशुद्ध होकर महारिसी-महर्षि लोग उत्तमं-उत्तम ठाणं-स्थान को पत्ते-प्राप्त होगए त्ति-इस प्रकार बेमि-मैं कहता हूं । यह हरिकेशीय अध्ययन समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—यह पूर्वोक्त स्नान कुशल पुरुषों द्वारा भली प्रकार से देखा गया है और यही महास्नान ऋषियों के लिए प्रशस्त है, जिसमें स्नान किए हुए महर्षि लोग उत्तम स्थान को प्राप्त होगए हैं । इस प्रकार मैं कहता हूं ।

टीका—मुनि कहते हैं कि यह पूर्वोक्त स्नान कर्मरज को दूर करने में समर्थ और कुशल-तीर्थकरों के द्वारा दृष्ट है और यही महास्नान है तथा ऋषियों के लिए प्रशस्त कहा है, तात्पर्य कि जिस स्नान को ब्राह्मणों ने उत्तम समझा है वह स्नान, कर्ममल को दूर करने में समर्थ नहीं किन्तु प्रस्तुत अध्यात्म स्नान ही उत्तम और महास्नान है । अतएव इसी स्नान के द्वारा महर्षि लोग उत्तम स्थान-मोक्ष को प्राप्त हुए हैं । यहां पर उत्तम स्थान से 'मोक्ष' ही अभिमत है । तथा 'जहिं' में विभक्तिव्यत्यय है अर्थात् 'येन' के स्थान पर 'जहिं' यह सप्तम्यन्त्व का प्रयोग किया है । प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए सर्वार्थसिद्धि टीका के कर्त्ता लिखते हैं कि—'एवं च प्रशान्तेषु द्विजेषु यक्षेण प्रगुणीकृतेषु छात्रेषु धर्मदेशनया तान् प्रबोध्य मुनिः पृथिव्यां विहृतवान्' अर्थात् ब्राह्मणों को शान्त करके और यक्ष के

द्वारा व्यथित हुए उन छात्रों को धर्मदेशना द्वारा प्रतिबोध देकर मुनि पृथिवी पर विचरने लगे। तात्पर्य कि ब्राह्मणों की नम्रता से उस यक्ष ने उन कुमारों को छोड़ दिया और वे स्वस्थ हो गए। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले आ चुका है, उसी के अनुसार जान लेना।

द्वादशाध्ययन समाप्त।

अह चित्तसम्भूइज्जं तेरहमं अज्झयणं

अथ चित्तसंभूतीयं त्रयोदशमध्ययनम्

इस द्वादशवें अध्ययन में श्रुत और तप का माहात्म्य वर्णन किया गया है। सो श्रुत और तप उसी समय तक शुद्ध रह सकते हैं जब तक कि निदान न किया जावे क्योंकि शास्त्रकारों ने निदान का फल श्रेष्ठ नहीं बतलाया किन्तु अशुभ बतलाया है। इस विषय में चित्त और सम्भूत का उदाहरण अधिक स्पष्ट है जिससे कि निदानपूर्वक तप करने तथा निदान को त्याग कर तप करने का फलाफल प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित किया गया है। अब इस तेरहवें अध्ययन में इन्हीं के विषय का उल्लेख करते हैं। चित्त और सम्भूति का सम्पूर्ण आख्यान इस प्रकार से है—

साकेतपुर नाम के नगर में चन्द्रावतंसक राजा के पुत्र, मुनिचन्द्र ने सागरचन्द्र नाम के किसी साधु के पास दीक्षा अंगीकार की। फिर वह अनुक्रम से विहार करते २ किसी वन में मार्ग भूल जाने से वहां ही इधर उधर भ्रमण करने लगे। कुछ समय बाद क्षुधा और पिपासा से व्याकुल हुए वे मुनिचन्द्र साधु एक गोकुल—गोशाला—में आए तब वहां पर रहने वाले चार गोपालों ने उनका स्वागत किया और बड़ी श्रद्धा से उनको दुग्ध पीने को दिया। दुग्ध पान करने के बाद उक्त मुनि ने उनको धर्म का उपदेश सुनाया। मुनि के शान्त और वैराग्यमय उपदेश को सुनकर उन चारों ने उक्त मुनि से दीक्षाग्रहण करली। परन्तु उन चार में से दो ने तो शुद्ध और निर्मल संयम का पालन किया तथा शेष दो ने संयम का तो पालन किया किन्तु घृणा के साथ पालन किया। वे चारों आयु कर्म को पूर्ण करके

प्रथम स्वर्ग में देवता रूप से उत्पन्न हुए। फिर उनमें से जिन दो ने घृणापूर्वक संयम का पालन किया था वे दोनों देवलोक से च्यवकर शंखपुर नगर में शांडिल विप्र की यशोमती नाम की दासी के वहां पुत्ररूप में उत्पन्न हुए। वहां से फिर वे दोनों भाई सर्प के दंश से मृत्यु को प्राप्त होकर कालिंजर नाम के पर्वत में मृग रूप से उत्पन्न हुए। वहां पर भी वह किसी व्याध के द्वारा मारे जाकर गंगानदी के किनारे पर हंसरूप से उत्पन्न हुए। कुछ समय के बाद अपने आयुकर्म को समाप्त करके वे दोनों वाराणसी नगरी में भूदत्त नामक चांडाल के घर में उत्पन्न हुए। तब माता पिता ने उन दोनों में से एक का नाम चित्त और दूसरे का नाम संभूति रक्खा। उस समय वाराणसी में शंख नाम का राजा राज्य करता था। उसका नामुची नामक एक राजमंत्री था। उस मंत्री ने एक समय पर उस राजा की रानी के साथ विषय सेवन किया। राजा को भी उसके इस कृत्य का पता लग गया। राजा ने सुनकर जानकर और देखकर जब भली भांति निश्चय कर लिया तब उसने भूदत्त नामक चांडाल को बुलाकर कहा कि तुम इस मंत्री को लेजाकर किसी गुप्त स्थान में इसका वध करदो। तब भूदत्त चांडाल उस नामुची को साथ लेकर अपने घर मे आया। घर में आने पर उसने नामुची से कहा कि यदि तुम मेरे इन पुत्रों को विद्या पढ़ादो तो मैं तुमको नहीं मारूंगा। उक्त मंत्री ने इस बात को स्वीकार कर लिया और तदनुसार दोनों चांडाल पुत्रों को विद्याध्ययन कराना आरम्भ कर दिया। परन्तु यहां पर भी वह दुष्ट बुद्धि वाला नामुची अपने कुत्सित आचार से नहीं टला अर्थात् वह उस भूदत्त की स्त्री के साथ ही विषय सेवन करने लग गया। जब भूदत्त को उसके इस दुष्टकर्म का पता लगा तब उसने उसके वध कर देने का पूर्ण निश्चय कर लिया, परन्तु उन दोनों भाइयों ने अपना विद्या-गुरु जानकर उसे भगा दिया। इसके अनन्तर वह हस्तिनागपुर नगर में आकर वहां के सनत्कुमार चक्रवर्ती का प्रधान बन गया। इधर वे दोनों भाई गायनकला में अतिनिपुण हो गए और नगर में गायन करना आरम्भ कर दिया। नगर-निवासी इनके गायन पर बहुत मुग्ध हो गए। वे जहां पर भी गायन करते थे लोग अपने काम धंधे को छोड़कर वहां पर ही आ जाते थे। इस प्रकार उनके गायन से लोगों के प्रतिदिन के काम धंधे मे अधिक विघ्न उपस्थित होते देखकर नगर के कतिपय प्रधान पुरुषों ने वहां के राजा से उनके विरुद्ध विज्ञप्ति की।

राजा ने भी उनकी विज्ञप्ति पर ध्यान देते हुए उन दोनों चांडाल पुत्रों को नगर से बाहिर चले जाने का आदेश किया। राज्य से इस प्रकार के तिरस्कार को प्राप्त करके उन दोनों भाइयों ने अपमानित होकर नगर से बाहिर रहने की अपेक्षा आत्महत्या कर लेने को अधिक श्रेष्ठ समझा। वे दोनों एक दिन पर्वत पर से गिर कर मर जाने का विचार कर ही रहे थे कि उस समय वहां पर उनको एक महात्मा के दर्शन हुए और उनके उपदेश से वे दोनों भाई उनके पास दीक्षित हो गए अर्थात् साधु बन गए। दीक्षाग्रहण करने के बाद उन दोनों ने बड़ा घोर तप किया। फिर विहार करते हुए वे किसी समय पर हस्तिनागपुर में पधारे। वहां पर नामुची ने उनको पहचान लिया और अपने दोष को छिपाने के लिए उनको नगर से बाहिर निकलवा दिया। नामुची के इस नीच व्यवहार को देखकर उन्होंने नगर के बाहर बड़ा उग्र तप करना आरम्भ कर दिया। उस उग्र तप के प्रभाव से उनको तेजोलेश्या की प्राप्ति हो गई। तब संभूति को विना कारण नगर से बाहिर निकाले जाने पर क्रोध उत्पन्न हो गया जिससे उसने नगर पर तेजोलेश्या छोड़नी आरम्भ करदी। पहले उसके मुख से अति प्रचंड धूम निकलना आरम्भ हुआ। यह देख चित्त नाम के दूसरे मुनि ने उसको बहुत समझाया और उसके मुख पर अपना हाथ रख दिया, उससे अग्नि तो रुक गई परन्तु धूम तो सारे नगर में फैल गया। यह देख सनत्कुमार चक्रवर्त्ती बहुत भयभीत हुआ। और अपनी श्रीदेवी नाम की रानी को साथ लेकर नगर के बाहिर आया और आकर दोनों साधुओं को नमस्कार करके अपने अपराध के लिए क्षमा प्रदान करने की प्रार्थना करने लगा। उस समय उसकी रानी ने भी अपना सिर नीचा करके संभूति मुनि को नमस्कार किया। नमस्कार करते समय रानी के केशों में लगे हुए गोशीर्ष चंदन के तेल का एक बिंदु संभूति मुनि के चरणों पर गिर पड़ा, जिससे संभूति मुनि का क्रोध उपशान्त हो गया तथा वह आंखे खोलकर रानी को देखने लगा और उसके रूप लावण्य को देखकर उस पर मोहित हो गया। तब उस समय संभूति मुनि ने यह निदान बांधा कि यदि मेरे घोर तप और संयम का फल हो तो मैं भी मरकर इस प्रकार का चक्रवर्त्ती बनकर इस प्रकार की रानी के साथ भोगविलास जन्य सुखों का अनुभव करूं। परन्तु उक्त विचार की आलोचना किए विना ही वह काल धर्म को प्राप्त हो गया, और चित्त मुनि विना किसी

प्रकार के निदान किए ही शुद्ध संयम को पालकर मृत्यु को प्राप्त हुए। वे दोनों प्रथम स्वर्ग में जाकर देवता बने वहां पर स्वर्गीय सुखों का अनुभव करके आयु-कर्म को पूर्ण करके उनमें से चित्त मुनि का जीव तो पुरमताल नगर के एक प्रधान सेठ के घर मे पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ और संभूति का जीव, कांपिल्यपुर नगर के ब्रह्मभूति नामक राजा की चूलनी महारानी की कुक्षि से चतुर्दश स्वप्नों के साथ पुत्र रत्न के रूप में उत्पन्न हुआ। माता पिता ने उसका नाम ब्रह्मदत्त रक्खा। किसी समय ब्रह्मभूति राजा को किसी असाध्य रोग ने ग्रस लिया तब उसने अपने चारों प्रधान मित्रों-प्रान्तिक राजाओं को बुलाकर कहा कि मेरी मृत्यु के पश्चात् आप लोगों ने मेरे राज्य की पूरी सावधानी से व्यवस्था करनी और जिस समय ब्रह्मदत्त राज्य के योग्य हो जावे उस समय इसका राज्याभिषेक कर देना। उन लोगों ने राजा के आदेश को नतमस्तक होकर स्वीकार किया, और राजा की मृत्यु हो गई। राजा का और्ध्वदैहिक संस्कार करने के अनन्तर उन चारों महाराजाओं में से प्रथम दीर्घ नाम के राजा को राज्य की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया, परन्तु वह चूलनी रानी से व्यभिचार करने में प्रवृत्त हो गया। और उसके इस अपकृत्य का ब्रह्मदत्त को भी पता लग गया, तब एक दिन ब्रह्मदत्त काक और हंसनी का जोड़ा सामने रखकर दीर्घ राजा को सुनाकर बोला कि—रे नीच काक! यदि तूने इस हंसनी का संग किया तो याद रख, मैं तुझे प्राण दण्ड दिए बिना न छोड़ूंगा। इस बात को दीर्घ राजा समझ गया। तब उसने चूलनी रानी के पास जाकर सारा भेद खोल दिया। और साथ में यह भी कहा कि यह बालक हमको बहुत दुःखदायी होगा अतः मैं तो अपने राज्य में ही जाता हूं। इधर चूलनी रानी विषय मे अन्धी हो रही थी, उसने दीर्घ राजा से कहा कि हे प्रिय! तुम चिन्ता मत करो, मैं इस कुमार को मरवा डालूंगी अतः हे प्राणनाथ! आप मत जाईए क्योंकि मैं तो अपने आपको आपके लिए न्योछावर कर चुकी हूं। इसके अनन्तर उस रानी ने एक लाख का घर तयार कराया और ब्रह्मदत्त का विवाह करके दम्पति को उसी नवीन घर मे शयन करने की आज्ञा दी तथा अग्नि द्वारा उस घर को जला देने की गुप्त मंत्रणा भी कर छोड़ी। परन्तु माता की इस गुप्त मंत्रणा को किसी मंत्री के द्वारा ब्रह्मदत्त ने भी जान लिया। मंत्री और ब्रह्मदत्त के परामर्श के अनन्तर नगर के बाहर से उस लाक्षागृह तक एक गुप्त सुरंग खुदवाई गई और

मंत्री ने ब्रह्मदत्त के पास उसकी सेवा के लिए अपने पुत्र को रख दिया। जब किसी समय ब्रह्मदत्त उस लाक्षागृह में शयन करने के लिए गया तब रानी ने उसे वहां सोया जानकर उस प्रासाद को आग लगवादी, परन्तु उसकी सेवा में रहने वाले मंत्रीपुत्र ने राजकुमार ब्रह्मदत्त को उसी समय सावधान किया और सुरंग के रास्ते से निकल कर अपने सहित उसको उक्त संकट से बचा लिया। इसके अतिरिक्त दीर्घ राजा ने राजकुमार ब्रह्मदत्त को मारने के और भी बहुत से उपाय किए परन्तु सब निष्फल गए।

राजकुमार ब्रह्मदत्त ने कुछ समय के लिए अपने नगर को छोड़कर विदेश में जाने का निश्चय किया, तदनुसार वह विदेश-यात्रा के लिए चल पड़ा। विदेश में वह अनेक राजकन्याओं से पाणिग्रहण करके तथा अनेक राजाओं की सेना को साथ लेकर वापिस कांपिल्यपुर की ओर चल दिया। नगर में आते ही उसने दीर्घ राजा को मारकर अपना राज्य संभाल लिया। फिर अनुक्रम से चतुर्दश रत्नों की उत्पत्ति हुई, जिनके प्रभाव से छः खंड पृथिवी पर उसने विजय प्राप्त की और चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया। किसी समय ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती को नाटक देखते हुए देवलोक के नाटक का स्मरण हो आया, उससे उसको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया तब उसने अपने प्रिय भ्राता चित्त को पांच भव तक तो अपने साथ ही देखा परन्तु छठे भव में वह उसको अपने साथ न देख सका। तब अपने भाई को मिलने के लिए और उसकी खोज के लिए उसने 'गोपदासो मृगो हंसः मतंगश्चामरो यथा' यह पद बनाकर लोगों को सिखला दिया और साथ में यह भी कहा कि जो कोई पुरुष इस श्लोक का उत्तरार्द्ध बनाकर लावेगा उसको आधा राज्य दे दिया जावेगा। तब उस प्रदेश के कवियों ने उत्तरार्द्ध बनाने के लिए अनेक प्रयत्न किए परन्तु कोई भी सफल-मनोरथ न हो सका। उस समय चित्त मुनि दीक्षा ले चुके थे और उनको अवधिज्ञान की प्राप्ति भी हो चुकी थी। अवधिज्ञान के द्वारा अपने भाई को चक्रवर्त्ती बना देख उसको मिलने की इच्छा से उग्रविहार करते हुए कांपिल्यपुर नगर के बाहिर एक उद्यान में वे आ विराजे। उस समय उस उद्यान में एक कृषक कूप से पानी निकालकर खेत को दे रहा था परन्तु जब वह पानी छोड़ता था तब वही आधा श्लोक बोलता था। तब उद्यान में विराजे हुए मुनि ने उसे बुलाकर कहा कि तू इस श्लोक का आगे का आधा हिस्सा

क्यों नहीं पढ़ता ? यह सुनकर उसने कहा कि हे भगवन् ! कृपा करके आप ही इसे पूर्ण कर दीजिए ? तब उक्त मुनि ने—'एषां षष्ठयोः जातिरन्यान्यभावयुक्तयोः' इस प्रकार उक्त श्लोक को पूर्ण कर दिया। श्लोक की पूर्ति होने पर वह कृषक ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती के पास पहुंचा और पूरा श्लोक उसने सुनाया। श्लोक के उत्तरार्द्ध को सुनकर वह बड़े आश्चर्य को प्राप्त हुआ और विचार करने लगा कि क्या मेरा भाई यह कृषिकार बना है। इस प्रकार का विचार करते ही वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। यह देख लोग उस कृषक को पीटने लगे, तब उसने कहा कि आप लोग मुझे क्यों मारते हैं मेरा तो इसमें कोई भी अपराध नहीं है। इस नगर के बाहिर उद्यान में एक बड़े सौम्यमूर्ति महात्मा आए हुए हैं उन्होंने इस श्लोक की पूर्ति की है अर्थात् इस श्लोक के उत्तरार्द्ध की रचना करने वाले वे महात्मा हैं मैंने इसकी पूर्ति उन्हीं से कराई है। इतनी बात के सुनते ही चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त सावधान हो गए और अति प्रसन्नता से उस कृषक को मनमाना पारितोषिक देकर चतुरंगिणी सेना को साथ लेकर अपने भ्राता के दर्शनार्थ नगर से बाहिर निकले। अतिहर्ष के साथ उक्त उद्यान में पहुंच कर अपने पूर्वजन्म के भाई के दर्शन करके असीम हर्ष प्राप्त किया। इस प्रकार दोनों भ्राताओं के समागम से उनके अन्तरात्मा को जो आनन्द प्राप्त हुआ वह अकथनीय था। इसके अनन्तर प्रेमपूर्वक दोनों भाई उपस्थित जनता के मध्य में विराजते हुए अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को आपस मे कहने लगे अर्थात् पारस्परिक सुख दुःख की वार्ता करने लगे जिसका प्रस्तुत सूत्र के इस तेरहवें अध्ययन में वर्णन किया है, यथा—

जाईपराजिओ खलु, कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि ।
चुलणीए बम्भदत्तो, उववन्नो पउमगुम्माओ ॥१॥

जातिपराजितः खलु, अकार्षीत् निदानं तु हस्तिनापुरे ।
चुलन्यां ब्रह्मदत्तः, उपपन्नः पद्मगुल्मात् ॥१॥

पदार्थान्वयः—खलु—निश्चयार्थक जाईपराजिओ—जाति से पराजित हुआ २ तु—वितर्क में हत्थिणपुरम्मि—हस्तिनापुर नगर में नियाणं—निदान कासि—करता हुआ चुलणीए—चूलनी की कुक्षि में बंभदत्तो—ब्रह्मदत्त नामा चक्रवर्त्ती

पउमगुम्माओ-पद्मगुल्म विमान से च्यवकर उववन्नो-उत्पन्न हुआ।

मूलार्थ—जाति से पराजित हुआ २ हस्तिनापुर नगर में निदान करता हुआ चूलनी रानी की कुक्षि में पद्मगुल्म विमान से च्यवकर ब्रह्मदत्त नामा चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ।

टीका—चांडाल की जाति मे अत्यन्त तिरस्कार होने से हस्तिनापुर में आकर चक्रवर्ती होने का जिसने निदान बांधा, फिर वहां से मरकर देवलोक मे गया और वहां से च्यवकर अर्थात् नलिनी-गुल्मविमान से च्यवकर चूलनी रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ अर्थात् ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न हुआ। यद्यपि पिछले भव में यह दोनों भाई चांडाल जाति में साथ ही उत्पन्न हुए थे परन्तु निदान तो संभूति ने ही बांधा था चित्त ने नहीं इसलिए सम्भूति ने ही चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया।

अब उत्पत्ति स्थान का वर्णन करते हैं—

कम्पिल्ले सम्भूओ,
चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि।
सेट्ठिकुलम्मि विसाले,
धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥२॥

कांपील्ये संभूतः,
चित्तः पुनर्जातः पुरिमताले।
श्रेष्ठिकुले विशाले,
धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजितः ॥२॥

पदार्थान्वयः—कंपिल्ले-कांपिल्य नगर मे संभूओ-संभूत का जीव उत्पन्न हुआ पुण-फिर चित्तो-चित्त का जीव पुरिमतालम्मि-पुरिमताल नगर में जाओ-उत्पन्न हुआ सेट्ठिकुलम्मि-श्रेष्ठि कुल में विसाले-विशाल में धम्मं-धर्म को सोऊण-सुनकर पव्वइओ-दीक्षित हो गया।

मूलार्थ—संभूत का जीव कांपिल्य नगर में उत्पन्न हुआ और पुरिमताल नगर में-विशाल श्रेष्ठिकुल में चित्त का जन्म हुआ। चित्त, धर्म को श्रवण करके दीक्षित हो गए।

टीका—पंचनद–पंजाबदेश के सुप्रसिद्ध कांपिल्य नगर में संभूत का जीव महारानी चूलनी के गर्भ से उत्पन्न होकर ब्रह्मदत्त नाम का बारहवां चक्रवर्ती हुआ और चित्त का जीव पुरिमताल नगर के सुप्रसिद्ध विशाल श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न हुआ परन्तु इनमें से चित्त के जीव ने किसी महात्मा से धर्म का श्रवण करके संसार का परित्याग करते हुए दीक्षा अंगीकार करली। कारण कि धर्म के श्रवण करने से ही उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है अतः श्रुत ज्ञान को ही प्रायः सर्वत्र प्रधानता दी गई है।

इसके अनन्तर क्या हुआ अब इसी के विषय में कहते हैं—

कम्पिल्लम्मि य नयरे,
समागया दो वि चित्तसम्भूया।
सुहदुक्खफलविवागं,
कहेन्ति ते एक्कमेक्कस्स ॥३॥

कांपील्ये च नगरे,
समागतौ द्वावपि चित्तसंभूतौ।
सुखदुःखफलविपाकं,
कथयतस्तावेकैकस्य ॥३॥

पदार्थान्वयः—कंपिल्लम्मि–कांपिल्य नयरे–नगर में य–पुनः समागया–इकट्ठे हो गए दोवि–दोनों ही चित्तसंभूया–चित्त और संभूत सुह–सुख दुक्ख–दुःख फल–कर्म फल के विवागं–विपाक को ते–वे दोनों एक्कमेक्कस्स–परस्पर से कहेंति–कहने लगे।

मूलार्थ—कांपिल्य नगर में चित्त और संभूत दोनों भाई इकट्ठे हो गए और सुख दुःख रूप कर्मफल के विपाक को वे दोनों आपस में–एक दूसरे से कहने लगे।

टीका—प्रव्रजित होने के बाद चित्त का जीव और ब्रह्मदत्त नाम के चक्रवर्ती होने के बाद संभूत का जीव अर्थात् पूर्व जन्म के दोनों भाई कांपिल्यपुर के उद्यान में एकत्रित होकर पूर्व के जन्मों में अनुभव किए गए सुख दुःख और उनके विपाक के सम्बन्ध में वार्तालाप करने लगे।

अब इसी विषय का उल्लेख करते हैं—

चक्कवट्टी महिड्ढीओ, बम्भदत्तो महायसो।
भायरं बहुमाणेणं, इमं वयणमब्बवी ॥४॥

चक्रवर्ती महर्द्धिकः, ब्रह्मदत्तो महायशाः।
भ्रातरं बहुमानेन, इदं वचनमब्रवीत् ॥४॥

पदार्थान्वयः—चक्कवट्टी—चक्रवर्ती महिड्ढीओ—महाऋद्धि वाला बंभदत्तो—ब्रह्मदत्त महायसो—महान् यश वाला भायरं—भाई को बहुमाणेणं—बड़े सम्मान से इमं—इस प्रकार वयणं—वचन अब्बवी—कहने लगा।

सूलार्थ—महान् समृद्धि और महान् यश वाला ब्रह्मदत्त नाम वाला चक्रवर्ती अपने भाई को बड़े सत्कार से इस प्रकार कहने लगा।

टीका—सज्जन पुरुषों के वार्तालाप में सभ्यता को कितना अधिक स्थान मिलता है यह इस गाथा से भलीं भांति व्यक्त होता है। यद्यपि चित्त का जीव इस समय संयम धारण किए हुए साधुवृत्ति में स्थित है तथापि पूर्व जन्म के भ्रातृभाव को लेकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती उनसे वार्तालाप करने में प्रवृत्त हुए हैं।

ब्रह्मदत्त ने जो कुछ कहा अब उसी का वर्णन करते हैं—

आसिमो भायरा दोवि, अन्नमन्नवसाणुगा।
अन्नमन्नमणूरत्ता, अन्नमन्नहिएसिणो ॥५॥

आस्व भ्रातरौ द्वावपि, अन्योऽन्यवशानुगौ।
अन्योऽन्यमनुरक्तौ, अन्योऽन्यं हितैषिणौ ॥५॥

पदार्थान्वयः—मो—हम भायरा—भाई दोवि—दोनों ही आसि—थे

अन्नमन्न-परस्पर वसाणुगा-वशवर्त्ती अन्नमन्नं-परस्पर अणूरत्ता-प्रीति वाले अन्नमन्न-परस्पर हिएसिणो-हितैषी थे ।

मूलार्थ—हम दोनों भाई परस्पर वशवर्त्ती, परस्पर प्रीति वाले और परस्पर हितैषी थे ।

टीका—ब्रह्मदत्त ने कहा कि हे चित्त ! पिछले जन्म में हम दोनों भाई थे । वह भी कैसे कि एक दूसरे के वश में रहने वाले, एक दूसरे से प्रीति रखने वाले और एक दूसरे के हितचिन्तक थे । तात्पर्य कि हम दोनों मे किसी प्रकार के भी वैमनस्य को स्थान नहीं था । प्रस्तुत गाथा मे 'मो' यह 'वयं' के स्थान में आदेश रूप है क्योंकि प्राकृत में द्विवचन नहीं होता ।

अब पूर्व जन्मों में साथ रहने का वर्णन करते हैं—

दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे ।
हंसा मयंगतीराए, सोवागा कासिभूमिए ॥६॥

दासौ दशार्णेषु आस्व, मृगौ कालिंजरे नगे ।
हंसौ मृतगंगातीरे, श्वपाकौ काशीभूम्याम् ॥६॥

पदार्थान्वयः—दसण्णे-दशार्ण देश में दासा-दासपने आसी-हुए कालिंजरेनगे-कालिंजर पर्वत पर मिया-मृग रूप में मयंगतीराए-मृतगंगा के तीर पर हंसा-हंस रूप से कासीभूमिए-काशी की भूमि में सोवागा-श्वपाक-चांडाल रूप से उत्पन्न हुए ।

मूलार्थ—हम-दोनों दशार्ण देश में दास रूप से, कालिंजर पर्वत पर मृग रूप से, मृतगंगा के तीर पर हंस रूप से और काशी की भूमि में चांडाल रूप से उत्पन्न हुए ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में आया हुआ 'आसी' यह क्रियापद 'आस्व' इस द्विवचनान्त क्रिया के स्थान में उपयुक्त हुआ है और इसका चारों पदों के साथ सम्बन्ध है । और मृतगंगा का अर्थ सर्वार्थसिद्धि टीका में इस प्रकार किया है—गंगाविंशतिपाथोधिं, वर्षे वर्षे पराध्वना । वाहस्तत्र चिरात्त्यक्तो, मृतगंगेति कथ्यते ।

अब पांचवे और छठे भव का वर्णन करते हैं यथा—

देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया ।
इमा णो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा ॥७॥

देवौ च देवलोके, आस्वाऽऽवां महर्द्धिकौ ।
इयमावयोः षष्ठिका जातिः, अन्योऽन्येन या विना ॥७॥

पदार्थान्वयः—देवा–देवते य–पुनः देवलोगम्मि–देवलोक में आसि–हुए अम्हे–हम दोनों महिड्ढिया–महाऋद्धि वाले इमा–यह णो–हम दोनों की छट्ठियाजाई–षष्ठिका जाति अन्नमन्नेण–परस्पर के स्नेह से जा–जो विणा–रहित हुई।

मूलार्थ—हम दोनों देवलोक में देवते उत्पन्न हुए जो कि महान् समृद्धि वाले थे परन्तु यह छठी जाति परस्पर के स्नेह से रहित क्यों हुई ?

टीका—ब्रह्मदत्त कहते हैं कि देवलोक में भी हम दोनों समानऋद्धि रखने वाले देव हुए और वहां पर भी हमारा परस्पर स्नेह–प्रेम बराबर बना रहा, परन्तु यह छठी जाति–छठा भव परस्पर स्नेहरहित–पृथक् २ स्थान में क्यों हुआ ? तात्पर्य कि ऐसा होने का कारण क्या है क्योंकि पांच जन्म तक तो हमारा एक ही प्रकार का जन्म और एक ही प्रकार का सम्बन्ध चला आया और इस छठे भव में उसका वियोग क्यों हुआ । इसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए परन्तु वह क्या है इसका मुझे ज्ञान नहीं । यह प्रस्तुत गाथा का भावार्थ है ।

अब उक्त शंका का समाधान करते हुए मुनि कहते हैं—

कम्मा नियाणपगडा, तुमे राय ! विचिन्तिया ।
तेसिं फलविवागेण, विप्पओगमुवागया ॥८॥

कर्माणि निदानप्रकृतानि, त्वया राजन् विचिंतितानि ।
तेषां फलविपाकेन, विप्रयोगमुपागतौ ॥८॥

पदार्थान्वयः—कम्मा–कर्म नियाण–निदान रूप पगड़ा–किए तुमे–तूने राय–राजन् ! विचिंतिया–चिन्तन किए तेसिं–उन्हों के फलविवागेण–फल विपाक से हम विप्पओगं–विप्रयोग को उवागया–प्राप्त हुए ।

मूलार्थ—हे राजन् ! तुमने जो कर्म किए वे निदान को लेकर किए और निदानपूर्वक ही उनका विशेष रूप से चिन्तन किया। अतः उनके फलविपाक से ही हमारा यह परस्पर वियोग हुआ।

टीका—मुनि ने उत्तर में प्रतिपादन किया कि हे राजन्। तूने ज्ञानावरणादि कर्म, निदान रूप किए हैं। क्योंकि जिसके द्वारा तप आदि क्रियाएं खंडित हों उसे निदान कहते हैं 'नितरां दीयंते खंड्यन्ते तपःप्रभृतीन्यनेनेति निदानम्'।

तात्पर्य कि तुमने भोगादि की आशा से निदानपूर्वक कर्म किया और उसके लिए आर्तध्यानादि का विशेष रूप से चिन्तन किया, अतः उन्हीं कर्मों के फलविपाक से तेरा और मेरा इस छठे भव में वियोग हो गया। यद्यपि मैंने तुमको रोका भी था परन्तु तुमने नहीं माना इसी का यह वियोग रूप विलक्षण फल है।

अब चक्रवर्त्ती फिर पूछता है—

सच्चसोयप्पगडा , कम्मा मए पुरा कडा।
ते अज्ज परिभुंजामो, किं नु चित्ते वि से तहा ॥९॥

सत्यशौचप्रकटानि , कर्माणि मया पुराकृतानि।
तान्यद्य परिभुञ्जे, किन्नु चित्तोऽपि तानि तथा ॥९॥

पदार्थान्वयः—सच्च–सत्य सोय–शौच पगडा–प्रकर्षता से कम्मा–कर्म मए–मैंने पुराकडा–पूर्व जन्म में किए ते–उन कर्मों के फल को अज्ज–आज परिभुंजामो–सर्व प्रकार से भोगता हूं किं–क्या नु–वितर्क में चित्तेवि–हे चित्त ! तू भी से–उन कर्मों के फल को तहा–उसी प्रकार भोगता है।

मूलार्थ—मैंने सत्य शौच रूप जो कर्म पूर्व जन्म में किए थे, उनका फल मैं आज सर्व प्रकार से भोग रहा हूं, हे चित्त ! क्या तुम भी उसी प्रकार से भोगते हो ?

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, चित्त मुनि से कहते हैं कि मैं पूर्व जन्म में अर्जित किए हुए सत्य शौचादि शुभ कर्मों का जो फल है उसको चक्रवर्ती के रूप में आज प्रत्यक्ष रूप से भोग रहा हूं। क्या आप अपने पूर्वार्जित पुण्य कर्मों का फल नहीं भोग रहे हैं ?

ब्रह्मदत्त के प्रश्न का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मैंने पूर्व जन्म में तप संयम रूप शुभ कर्मों का अनुष्ठान किया था उसी प्रकार आपने भी तप संयम आदि पुण्य कर्मों का भली भांति सञ्चय किया था, तो जिस प्रकार आज मैं उनका फल भोग रहा हूं वैसे आप क्यों नहीं भोगते ? क्योंकि आप इस समय भिक्षु के रूप में दिखाई देते हो और मैं चक्रवर्ती हूं तात्पर्य कि मेरी और आपकी लौकिक सुख समृद्धि में बहुत अन्तर है। इसके अतिरिक्त चित्त मुनि ने आपस के वियोग का कारण जो निदान कर्म कहा अर्थात् निदान पूर्वक किया हुआ कर्म दोषपूर्ण होता है—इस प्रकार का जो कथन है वह ठीक प्रतीत नहीं होता इसी आशय से ब्रह्मदत्त कहते हैं कि हे चित्त ! यदि आपने कोई निदान नहीं किया तो आपने मेरे से विशेषता क्या प्राप्त की ? अथवा तुम अपने पुराकृत कर्मों का फल अपनी इच्छा से ही नहीं भोगते वा उनका फल ही जाता रहा, अर्थात् वे फल से शून्य हो गए। यह भी उक्त गाथा के चतुर्थ पाद का भाव है।

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के इस कथन को सुनकर अब मुनि उसका उत्तर देते हैं—

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं,
कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि ।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहिं,
आया ममं पुण्णफलोववेए ॥१०॥

सर्वं सुचीर्णं सफलं नराणां,
कृतेभ्यः कर्मभ्यो न मोक्षोऽस्ति ।
अर्थैः कामैश्चोत्तमैः,
आत्मा मम पुण्यफलोपपेतः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—सव्वं—सब सुचिण्णं—अच्छा किया हुआ कर्म सफलं—सफल नराणं—नरों का कडाण—किए हुए कम्माण—कर्मों के विना भोगे मोक्खो—मोक्ष न अत्थि—नहीं है अत्थेहि—धन से य—और उत्तमेहिं—उत्तम कामेहि—काम भोगों से ममं—मेरा आया—आत्मा पुण्ण—पुण्य रूप फलोववेए—फल से उपपेत था।

मूलार्थ—मनुष्यों का सब अच्छा किया हुआ कर्म सफल होता है, और किए हुए कर्मों के बिना भोगे मोक्ष नहीं होता; तथा धन से और उत्तम काम-भोगों से मेरा आत्मा भी, हे राजन्! पुण्यरूप फल से युक्त था ।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! सब अच्छा कर्म, किया हुआ मनुष्यों के लिए फलदायक होता है, क्योंकि जो कर्म किए गए हैं उनके भोगे बिना मोक्ष-छुटकारा किसी जीव का भी नहीं होता । अपि च धन और कामभोगों से मेरा आत्मा भी पुण्यरूप फल से युक्त है अतः जैसे तुम अपने आपको पुण्यरूप फल से युक्त मानते हो वैसे ही मुझे भी मानो ।

अब मुनि, अपने विषय में इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

जाणासि संभूय महाणुभागं,
महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं ।
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं,
इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया ॥११॥

जानासि संभूत ? महानुभागं,
महर्द्धिकं पुण्यफलोपपेतम् ।
चित्रमपि जानीहि तथैव राजन्,
ऋद्धिर्द्युतिस्तस्यापि च प्रभूता ॥११॥

पदार्थान्वयः—संभूय-हे संभूत ! जाणासि-तू जानता है कि मैं महाणुभागं-महाभाग्यवान् हूं महिड्ढियं-महाऋद्धि वाला हूं और पुण्णफलोववेयं-पुण्य फल से युक्त हूं रायं-हे राजन्! तहेव-उसी प्रकार चित्तंपि-चित्त को भी जाणाहि-जान य-और इड्ढि-ऋद्धि जुई-द्युति तस्सवि-चित्र की भी प्पभूया-प्रभूत थी ।

मूलार्थ—हे संभूत ! जैसे तू जानता है कि मैं महा भाग्यवान् हूं और महासमृद्धि वाला हूं तथा पुण्यरूप फल से युक्त हूं, हे राजन्! इसी प्रकार चित्त को भी जान, उसके भी ऋद्धि और द्युति प्रभूत थी—अति विशेष थी ।

टीका—चित्त मुनि कहते हैं कि हे संभूत ! जैसे तुम अपने आपको विशेष भाग्यशाली और ऋद्धि वाला समझते हो उसी प्रकार चित्त को भी जानो क्योंकि उसके—अर्थात् मेरे घर में भी ऋद्धि और द्युति प्रभूत थी । तात्पर्य कि तेरे समान सर्व प्रकार की बाह्य समृद्धि से मेरा आत्मा भी युक्त था अर्थात् यह सब मुझे भी प्राप्त थी ।

मुनि के इस कथन को सुनकर चक्रवर्त्ती ने कहा कि यदि तुम इस प्रकार के समृद्धिशाली थे तो फिर दीक्षित क्यों हुए । अर्थात् भिक्षु क्यों बने ? अब मुनि इसका उत्तर देते हैं—

महत्थरूवा वयणप्पभूया,
गाहाणुगीया नरसंघमज्झे ।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया,
इह जयन्ते समणोमि जाओ ॥१२॥

महार्थरूपा वचनाऽल्पभूता,
गाथानुगीता नरसंघमध्ये ।
यां(श्रुत्वा)भिक्षवः शीलगुणोपपेताः,
इह यतन्ते श्रमणोस्मि जातः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—महत्थरूवा—महान् अर्थ वाली वयणप्पभूया—अल्प अक्षरों वाली गाहा—गाथा अणुगीया—अनुकूल गाई हुई नरसंघमज्झे—नरों के संघ में जं—जो भिक्खुणो—भिक्षु सीलगुणोववेया—शील गुण से युक्त हैं इह—इस जिन-शासन में जयन्ते—यत्न वाले होते हैं उसी गाथा को सुनकर समणोमि—मैं भी साधु जाओ—बन गया ।

मूलार्थ—जन समुदाय के मध्य में गान की गई अल्पाक्षर और महान् अर्थ युक्त जिस गाथा को सुनकर इस जिन-शासन में शीलगुणयुक्त भिक्षु लोग यत्नशील होते हैं उसी गाथा को सुनकर मैं भी श्रमण—साधु बन गया हूं ।

टीका—चित्त मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! यद्यपि आपकी और मेरी लौकिक समृद्धि समान थी तथापि मैंने मनुष्यों के समुदाय में एक मुनिराज के मुख से ऐसी गाथा को श्रवण किया कि जिसके अक्षर तो बहुत थोड़े थे परन्तु अर्थ रूप से उसमें अनन्त द्रव्य और पर्यायों के ज्ञान का समावेश था, और वह सूत्ररूप गाथा तीर्थंकर एवं गणधरों के द्वारा पहले गायन की जा चुकी है तथा जो 'अनुगीता' के नाम से प्रसिद्ध थी और जो संयमशील भिक्षु शीलगुणयुक्त होकर इस जिन-शासन में प्रयत्नशील हैं उनका उक्त गाथा में भली प्रकार वर्णन किया हुआ था, उसी गाथा को सुनकर मैंने भी संसार के इन तुच्छ पौद्गलिक सुखों का त्याग करके संन्यासव्रत ग्रहण कर लिया ! तात्पर्य कि मैंने किसी दुःख से व्याप्त होकर दीक्षा अंगीकार नहीं की किन्तु इन लौकिक सुखों की अपेक्षा विशेष अधिक और अविनाशी मोक्ष सुख की अभिलाषा से इनका त्याग किया है ।

इस कथन से चित्तमुनि ने सूत्ररूप गाथा की उपपत्ति तथा अपनी ज्ञान-गर्भित वैराग्यमयी दीक्षा का भली भांति निदर्शन करा दिया है ।

यह सुनकर चक्रवर्त्ति अपनी समृद्धि का वर्णन करता हुआ उक्त मुनि से कहता है कि—

उच्चोअए महु कक्के य बम्भे,
　　पवेइया आवसहा य रम्मा ।
इमं गिहं चित्त धणप्पभूयं,
　　पसाहि पंचालगुणोववेयं ॥१३॥
उच्चोदयो मधुः कर्कश्च ब्रह्मा,
　　प्रवेदिता आवसथाश्च रम्याः ।
इदं गृहं चित्र प्रभूतधनं,
　　प्रशाधि पंचालगुणोपपेतम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—उच्चोअए-उच्चोदय १ महु-मधु २ कक्के-कर्क ३ य-और मध्य ४ बंभे-ब्रह्मा पवेइया-कहे गए हैं आवसहा-आवास, प्रासाद य-और रम्मा-

रमणीय हैं इमं-यह गिहं-घर चित्त-हे चित्त! धणप्पभूयं-धन से प्रभूत है पंचाल-पंचालदेश के गुणोववेयं-गुणों से युक्त है। इसलिए हे मुने! पसाहि-तू इसे भोग वा पाल।

मूलार्थ—१ उच्चोदय २ मधु ३ कर्क ४ मध्य और ५ ब्रह्म यह पांच प्रासाद कहे गए हैं और हे चित्त! यह घर, प्रभूत धन से युक्त है और पांचाल देश के गुणों से युक्त है इसलिए तू इसको भोग।

टीका—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त, चित्तमुनि से कहते हैं कि हे मुने! सूत्रधार के द्वारा भली प्रकार से निर्माण किए उच्चोदयादि पांचों ही प्रकार के प्रासाद मेरे यहां विद्यमान हैं। इतना ही नहीं किन्तु जहां पर भी मैं जाता हूं वहां पर ही देव-शक्ति के द्वारा ये तयार हो जाते हैं और ये बड़े ही रमणीय हैं। तथा यह घर विचित्र प्रकार के धन से भरपूर है और पांचाल देश का जो विशिष्ट से विशिष्ट पदार्थ है वह सभी इसमें विद्यमान है अतः आप प्रसन्नतापूर्वक इसे ग्रहण करें और इसका उपभोग करें।

यहां पर पांचाल देश को प्रधानता देने का अभिप्राय यह है कि इस देश में छः ऋतुओं की पूर्ण रूप से प्रवृत्ति देखने में आती है और छओं ऋतुओं के फल भी भली प्रकार से उपलब्ध होते हैं तथा रूप में भी आयुपर्यन्त प्रायः परिवर्तन नहीं होता और वैसे भी यह देश समृद्धिपूर्ण है अतः इसको प्राधान्य दिया जाता है। इसके अतिरिक्त 'प्रभूत' शब्द का यहां पर परनिपात होना प्राकृत के नियम के अनुसार समझना, तथा चित्र शब्द यहां पर मुनि का वाचक अथवा नानाविध धन का वाचक है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं,
नारीजणाइं परिवारयन्तो।
भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू,
मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं ॥१४॥

नृत्यैर्गीतैश्च वादित्रैः,
नारीजनान् परिवारयन्।
भुंक्ष्व भोगानिमान् भिक्षो,
मह्यं रोचते प्रव्रज्या खलु दुःखम् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—नट्टेहि—नाटकों से गीएहि—गीतों से य—और वाइएहिं—वादित्रों से नारीजणाइं—नारी जनों के परिवारयंतो—परिवार से परिवरे हुए इमाइ—इन प्रत्यक्ष भोगाइ—भोगों को भिक्खू—हे भिक्षो! भुंजाहि—तुम भोगो ? मम—मुझे रोयई—रुचता है हु—निश्चय ही पव्वज्जा—प्रव्रज्या दुःखं—दुःख रूप है।

मूलार्थ—हे भिक्षो! नाटकों से गीतों से और वादित्रों से तथा नारी-जनों के परिवार से परिवरे हुए इन भोगों को तुम भोगो। क्योंकि मुझे निश्चय ही प्रव्रज्या दुःखरूप प्रतीत होती है।

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती कहते हैं कि हे मुने! विविध प्रकार के नाट्य और सुरताल पूर्ण गीत तथा नानाप्रकार के वाद्यों एवं स्त्रीजनों के परिवार से घिरे हुए इन भोगों को आप भोगें। यही मुझे ठीक रुचता है और यह आपका दीक्षित होना अर्थात् प्रव्रज्या ग्रहण करना मुझे अत्यन्त दुःखरूप प्रतीत होता है। अतः इसको मैं उचित नहीं समझता। यद्यपि गज, अश्व आदि अनेक वस्तुएं राज्य मे प्रधान होती हैं तथापि सबसे अधिक लौकिक सुख का साधन यही है जिसका कि ऊपर वर्णन किया गया है उसमे भी वैषयिक सुख का अधिक साधन स्त्री को माना है इसी लिए उसको मुख्य स्थान दिया गया है। इस प्रकार विषयजन्य लौकिक सुखों के उपभोग के लिए स्नेहपूर्वक आमंत्रित करने पर उक्त मुनि ने जो प्रवृत्ति अंगीकार की अब उसी का सूत्रकार दिग्दर्शन कराते हैं—

तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं,
नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं।
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही,
चित्तो इमं वयणमुदाहरित्था ॥१५॥

तं पूर्वस्नेहेन कृतानुरागं,
नराधिपं कामगुणेषु गृद्धम् ।
धर्माश्रितस्तस्य हितानुप्रेक्षी,
चित्त इदं वचनमुदाहृतवान् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—तं-उसको पुव्वनेहेण-पूर्व स्नेह से कयाणुरागं-किया है अनुराग जिसने नराहिवं-नराधिप को कामगुणेसु-काम गुणों में जो गिद्धं-गृद्ध है धम्मस्सिओ-धर्म में स्थित तस्स-उसके हियाणुपेही-हित की चाहना करने वाला चित्तो-चित्त मुनि इमं-यह वयणं-वचन उदाहरित्था-कहने लगा।

मूलार्थ—पूर्व स्नेह से अनुरक्त, और काम गुणों में आसक्त उस ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को देखकर, धर्म में स्थित और उसका सदा हित चाहने वाला चित्त मुनि उसके प्रति यह वक्ष्यमाण वचन कहने लगा।

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के पूर्वभव-जन्य स्नेह को जानकर तथा उसकी विषय भोगों में बढ़ी हुई लालसा को देखकर धर्म में आरूढ़ हुआ वह चित्त मुनि उसके—ब्रह्मदत्त के हित चिन्तन से उसके प्रति निम्नलिखित वचन कहने लगा। यहां पर प्रस्तुत गाथा में जिस भाव को व्यक्त किया है उसका सारांश इतना ही है कि यद्यपि ब्रह्मदत्त विषयों में अति मूर्च्छित हो रहा है और इसी लिए वीतराग के धर्म में दीक्षित होने को वह दुःखरूप समझ रहा है फिर भी पूर्व भव के स्नेह से और हित बुद्धि से वह धर्मात्मा मुनि उसके प्रति निम्नलिखित उपदेश करने में प्रवृत्त हुआ। इसमें मुनि की परहित कांक्षा और दृढ़तर धर्मनिष्ठा का जो चित्र सूत्रकार ने खींचा है वह वर्त्तमान समय के मुनिजनों के लिए अधिक मननीय है।

अब उक्त मुनि के वचनों का ही उल्लेख किया जाता है—

सव्वं विलवियं गीयं,
सव्वं नट्टं विडम्बियं।
सव्वे आभरणा भारा,
सव्वे कामा दुहावहा ॥१६॥

सर्वं विलपितं गीतं,
सर्वं नृत्यं विडम्बितम् ।
सर्वाण्याभरणानि भाराः,
सर्वे कामा दुःखावहाः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—सव्वं-सर्व विलवियं-विलापरूप गीयं-गीत हैं सव्वं-सर्व नट्ट-नाटक विडम्बियं-विडम्बना रूप हैं सव्वे-सर्व आभरणा-आभूषण भारा-भाररूप हैं सव्वे-सर्व कामा-कामभोग दुहावहा-दुःखों के देने वाले हैं ।

मूलार्थ—सर्व गीत विलापरूप हैं, सर्व नाटक विडम्बनारूप हैं, सर्व प्रकार के भूषण भाररूप हैं और सर्व कामभोग दुःख के देनेवाले हैं ।

टीका—चित्त मुनि ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती से कहते हैं कि हे राजन् ! वास्तव में यह गीत—जिसको तुम आनन्द के देने वाला समझ रहे हो—मेरे को तो केवल विलापरूप ही प्रतीत होता है । कल्पना करो कि किसी युवति स्त्री के, अत्यन्त प्रेम करने तथा भरणपोषण करनेवाले पति का देहान्त हो जावे, और अभी तक उसके शव का दाह संस्कार भी न किया गया हो, उस समय पतिवियोग से अत्यन्त दुःखी हुई उस स्त्री को यदि कोई गीत सुनावे तो क्या वह गीत उसके आमोद का कारण होगा अथवा विलाप का ? तथा जैसे कोई बालक उन्मत्त दशा में गाता है तो जैसे उसका गान निरर्थक होता है उसी भांति आपके ये गीत भी प्रयोजनशून्य और सर्वथा निरर्थक हैं । उसी प्रकार आपके ये नाटक भी विडम्बनारूप ही हैं । जैसे किसी पुरुष में यक्ष आदि व्यन्तर के आवेश से शरीर का विकृतिपूर्ण संचालन होता है, अथवा जैसे कोई मद्यप मद्य के नशे से कुचेष्टा करने लग जाता है उसी प्रकार की यह नाटकीय चेष्टाएं हैं । एवं आभूषण आदि पदार्थ भी एक प्रकार का शरीर पर निरर्थक सा बोझ ही है । जैसे कोई स्त्री मुलम्मे को स्वर्ण समझ उसके आभूषणों को पहरती हुई मुलम्मा प्रतीत होने से उनको निरर्थक और भारभूत समझ कर फैंक देती है उसी प्रकार के ये स्वर्णादि भूषण हैं जो कि उतार कर परे फैंक देने के योग्य हैं । अब रही कामभोग आदि की बात, सो तो ताल विषय के समान हैं । जैसे देखने में सुन्दर और खाने में स्वादु

हैं परन्तु मारने में ज़रा जितना भी विलम्ब नहीं करते उसी प्रकार ये विषयभोग भोक्ता का समूल विनाश किए विना नहीं छोड़ते। अतः ये सब से अधिक भयंकर हैं। इनको सुख का हेतु समझना मृत्यु को जीवन समझने के समान महा अज्ञानता है। अतः इन उक्त पदार्थों के विषय में मेरी तनिक भी रुचि नहीं है। इसलिए इनके उपभोग के वास्ते मेरे से प्रार्थना करना सर्वथा अनुपयुक्त है।

अब विषयजन्य सुख की लघुता को दिखलाते हुए वे मुनि फिर कहते हैं—

बालाभिरामेसु दुहावहेसु,
न तं सुहं कामगुणेसु रायं !
विरत्तकामाण तवोधणाणं,
जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं ॥१७॥

बालाभिरामेषु दुःखावहेषु,
न तत्सुखं कामगुणेषु राजन् !
विरक्तकामानां तपोधनानां,
यद्भिक्षूणां शीलगुणेषु रतानाम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—रायं-हे राजन् ! बालाभिरामेसु-बाल जीवों को प्रिय लगने वाले दुहावहेसु-दुःखों के देने वाले कामगुणेसु-कामगुणों में न तं सुहं-वह सुख नहीं विरत्तकामाण-कामभोगों से विरक्त तवोधणाणं-तपोधनों को शीलगुणे-शीलगुणों में रयाणं-रत भिक्खुणं-भिक्षुओं को जं-जो सुख है।

मूलार्थ—हे राजन् ! बाल जीवों को प्रिय लगने वाले, दुःखों के देने वाले कामभोगों में वह सुख नहीं, जो काम भोगों से विरक्त रहने वाले शीलगुण में अनुरक्त तपोधन-तपस्वी भिक्षुओं-साधुओं को होता है।

टीका—मुनि कहते हैं—हे राजन् ! विषय से विरक्त और शीलगुण में अनुरक्त रहने वाले साधु पुरुषों को जिस अलौकिक सुख की प्राप्ति होती है वह अलौकिक सुख इन बालप्रिय और परिणाम में दुःख देने वाले कामभोगों में

कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता। ये कामभोगादि विषय आरम्भ मे ही किञ्चित् सुख देने वाले हैं वे भी उन बाल—अज्ञानी जीवों को जो कि परमार्थ से सदा अनभिज्ञ हैं। तात्पर्य कि जो जीव विवेक से रहित हैं उन्हीं को ये कामभोगादि विषय प्रिय लगते हैं और वास्तव में तो ये समस्त दुःखों के मूल हैं। इनमें सुख का लेश भी नहीं। अतएव संयमशील तपस्वी पुरुषों को आत्मरमणता मे जो अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्द के एक कण का सहस्रांश भी इन कामभोगों मे उपलब्ध नहीं होता! यह प्रत्यक्ष है कि विषयी पुरुषों को विषय वासना से किसी समय भी शांति नहीं मिलती, विपरीत इसके वे प्रतिक्षण अशान्त और सन्तप्त रहते हैं। इसलिए तपस्वी और संयमी पुरुषों के आध्यात्मिक आनन्द के साथ इस विषयजन्य अतिक्षुद्र सुख की किसी अंश मे भी तुलना नहीं हो सकती। प्रस्तुत गाथा में त्यागशील और मननशील साधु पुरुषों और विषयजन्य सुख की लालसा रखने वाले संसारी पुरुषों के सुख मे जो अन्तर है उसका दिग्दर्शन कराया है। इस विश्व में हर एक प्राणी सुख की अभिलाषा रखता है और उसके लिए न्यूनाधिक रूप मे यत्न भी करता है, परन्तु जो विवेकविकल जीव होते हैं वे अपनी विषय वासना की पूर्ति को ही वास्तविक सुख समझकर उसी मे प्रवृत्त होते हुए अपने जीवन को विनष्ट कर देते हैं। परन्तु जो विचारशील पुरुष हैं वे इस विषयजन्य सुख को अति तुच्छ और दुःखमूलक समझते हुए इसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते। इसके अतिरिक्त विषयजन्य सुख और आध्यात्मिक सुख की तुलना मे इससे अधिक और प्रत्यक्ष उदाहरण क्या हो सकता है कि विषयी पुरुषों की शारीरिक और मानसिक स्थिति जितनी अधिक दुर्बल और मलिन होती है उससे कई गुणा अधिक बलवान् और उज्ज्वल शारीरिक और मानसिक स्थिति ब्रह्मचारी और धर्मनिष्ठ पुरुषों की होती है। जिनको इस पर भी सन्देह हो वे एक पामर विषयी पुरुष के साथ एक धर्मात्मा ब्रह्मचारी पुरुष को खड़ा करके अपने सन्देह को दूर कर लेवें। इससे दोनों में रहने वाला अन्तर स्पष्ट नज़र आ जावेगा।

इस प्रकार विषयजन्य सुख की अवहेलना करते हुए उक्त मुनिराज, अब और ज्ञातव्य विषय का उपदेश उस राजा के प्रति करते हुए कहते हैं—

नरिंद ! जाई अहमा नराणं,
सोवागजाई दुहओ गयाणं।
जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा,
वसीअ सोवागनिवेसणेसु ॥१८॥

नरेन्द्र ! जातिरधमा नराणां,
श्वपाकजातिर्द्वयोः गतयोः।
यस्यामावां सर्वजनस्य द्वेष्यौ,
अवसाव श्वपाकनिवेशनेषु ॥१८॥

पदार्थान्वयः—नरिंद-हे नरेन्द्र ! जाई-जाति अहमा-अधम नराणं-नरों में सोवागजाई-श्वपाक चांडाल जाति मे दुहओ-दोनों गयाणं-गये जहिं-जहां पर वयं-हम दोनों सव्व-सर्व जणस्स-जन को वेस्सा-द्वेष के कारण हुए वसीअ-बसे सोवागनिवेसणेसु-चांडाल के घर मे।

मूलार्थ—हे नरेन्द्र ! नरों में अधम ऐसी चांडाल जाति में हम दोनों गए, जिस जाति में जाने से हम दोनों सब जनों के द्वेष के कारण बने और उसी जाति में बसे।

टीका—चित्त मुनि कहते हैं कि हे नरेन्द्र ! नरों मे अधम जो चांडाल जाति है हम दोनों पिछले जन्म में उसी जाति मे उत्पन्न हुए। तथा वह जाति सब के लिए द्वेष-निन्दा का कारण थी। परन्तु हम दोनों ने उसी जाति मे जन्म धारण करके चांडाल के घर मे निवास किया। अतः जाति का अभिमान तो व्यर्थ है। क्योंकि यह प्राणी जिस प्रकार के कर्म करता है उसी के अनुसार वह शुभाशुभ फल को भोगता है। परन्तु हीन जाति में उत्पन्न होकर भी मनुष्य यदि शुभ कर्म करे तो वह निन्दनीय नहीं होता।

अब इसी विषय मे कहते हैं। यथा—

तीसे य जाईइ उ पावियाए,
वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु।
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा,
इहं तु कम्माइ पुरे कडाइं ॥१९॥

तस्यां च जातौ तु पापिकायाम्,
उषितौ स्वः श्वपाकनिवेशनेषु।
सर्वस्य लोकस्य जुगुप्सनीयौ,
अस्मिँस्तु कर्माणि पुराकृतानि ॥१९॥

पदार्थान्वयः—तीसे–उस जाईइ–जाति में य–पुनः उ–वितर्क में पावियाए–पापरूप में वुच्छा–वसे मु–हम दोनों सोवागनिवेसणेसु–चांडाल के घर में सव्वस्स–सब लोगस्स–लोक में दुगंछणिज्जा–निन्दनीय थे तु–फिर इहं–इस जन्म में-जो उत्तम जाति मिली है वह सब पुरेकडाइं–पूर्व जन्म में किए हुए कम्माइ–कर्मों का फल है।

मूलार्थ—उस अधम जाति में हम दोनों चांडाल के घर में रहे थे वह जाति सर्व लोक में निन्दनीय थी, परन्तु इस जन्म में हम जो फल भोग रहे हैं वह सब पूर्व जन्म में किए हुए शुभ कर्मों का ही फल है।

टीका—मुनि कहते हैं, हे राजन्! हम दोनों उस चांडाल जाति में वसे जो कि अधम थी और पापप्रधान क्रियाओं की अधिक प्रवृत्ति होने से जिसको पाप-रूप और निन्दनीय कहा जाता था। परन्तु इस समय हम दोनों को जो उत्तम जाति और विशिष्ट भोग सामग्री का लाभ हो रहा है वह सब उसी हीन जाति में उत्पन्न होने के बाद किए हुए शुभ कर्मों का फल है। तात्पर्य कि इस समय पर तू जिस संयम को दुःखरूप समझ रहा है, यह वर्तमान समय का विशिष्ट ऐश्वर्य उसी तप संयम का फल है। इससे सिद्ध हुआ कि शुभ कर्म किसी भी अवस्था में करे, उसका अच्छा ही फल होता है। प्रस्तुत गाथा में 'मु' यह 'आवां' के अर्थ में ग्रहण किया गया है।

इतना कहने के अनन्तर अब कर्तव्य कार्य के विषय में कहते हैं—

सो दाणिसिं राय महाणुभागो,
महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ ।
चइत्तु भोगाइ असासयाइं,
आदाणहेउं अभिणिक्खमाहि ॥२०॥

स इदानीं राजन् महानुभागः,
महर्द्धिकः पुण्यफलोपपेतः ।
त्यक्त्वा भोगानशाश्वतान्,
आदानहेतोरभिनिष्क्राम ॥२०॥

पदार्थान्वयः—सो-वह संभूत का जीव दाणिसिं-इस समय राय-राजा महाणुभागो-महा भाग्यवान् है महिड्ढिओ-महान् ऋद्धि वाला है पुण्णफलोववेओ-पुण्यरूप फल से युक्त है अतः चइत्तु-छोड़कर असासयाइं-अशाश्वत भोगाइ-भोगों को आदाण-चरित्र के हेउ-हेतु अभिणिक्खमाहि-घर से निकल।

मूलार्थ—पिछले जन्म में जो संभूत का जीव था वही इस समय भाग्यवान् महती समृद्धि और पुण्य फल से युक्त हुआ २ महाराजा है। अतः हे राजन्! इन विनाशी कामभोगों को छोड़कर संयम ग्रहण करने के लिए तू घर से बाहर निकल।

टीका—चित्त मुनि, चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे राजन्! तू पिछले जन्म में संभूत-अनगार का जीव है जो कि इस समय महासमृद्धिशाली, महाभाग्यवान् और महान् पुण्यफल का उपभोग करनेवाला एक सम्राट् के रूप में उपलब्ध हो रहा है। यह सब कुछ धर्म का ही फल है। अतः इन विनश्वर तथा आपातरमणीय कामभोगों को छोड़कर चारित्र धर्म की आराधना के लिए घर से बाहर निकल। क्योंकि गृहावास में सर्वविरति धर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता। तथा जब कि इस समय तुमको अपने पिछले पाँच जन्मों

का ज्ञान है और उनमें उपस्थित हुई हुई परिस्थितियों का भी तुमको परिचय है तब तो धर्म और कर्म के शुभाशुभ फल का भी तुमको अवश्य ज्ञान होगा। अतः तुमको अब प्रमाद करना उचित नहीं ! यदि किसी जीव के हृदय में ज्ञानांकुर की उत्पत्ति न हुई हो तो उसका धर्म में दृढ़ होना कठिन सा है, परन्तु जिसका हृदय ज्ञानज्योति से आलोकित हो रहा हो उसके लिए प्रमाद का आचरण कैसे संभव हो सकता है। तात्पर्य कि तुमको तो पिछले पांच जन्मों का ज्ञान है अतः आप जैसे ज्ञानवान् को अब दीक्षा के लिए विलम्ब नहीं करना चाहिए।

धर्म का आचरण न करनेवालों के लिए क्या हानि है, अब शास्त्रकार इसी विषय का वर्णन करते हैं—

इह जीविए राय असासयम्मि,
धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए,
धम्मं अकाऊण परंमि लोए ॥२१॥

इह जीविते राजन्नशाश्वते,
धनितं तु पुण्यान्यकुर्वाणः।
स शोचति मृत्युमुखोपनीतः,
धर्ममकृत्वा परस्मिँल्लोके ॥२१॥

पदार्थान्वयः—राय–राजन् ! इह–इस असासयम्मि–अशाश्वत जीविए–जीवितव्य में धणियं–जो अत्यन्त अस्थिर हैं पुण्णाइं–पुण्य तु–ही अकुव्वमाणो–न करता हुआ से–वह जीव मच्चु–मृत्यु के मुहोवणीए–मुख में प्राप्त होने के समय सोयई–सोचता है धम्मं–धर्म के अकाऊण–बिना किए परंमि लोए–परलोक में।

मूलार्थ—हे राजन् ! इस अशाश्वत जीवन में पुण्य के न करनेवाला जीव मृत्यु के मुख में पहुंचा हुआ सोच करता है तथा धर्म के न करनेवाला परलोक में फिर सोच करता है।

टीका—महर्षि कहते हैं कि हे राजन् ! इस अशाश्वत जीवन में पुण्य के न करने वाला जीव मृत्यु के निकट पहुंचा हुआ बड़ा शोच करता है कि अहो ! मैंने कोई पुण्योपार्जन नहीं किया और मृत्यु के पश्चात परलोक में पहुंच कर अभीष्ट सुख की प्राप्ति न करके पुनः परम दुःखी होता है कि अहो, मैंने कोई सत्कर्म किया होता तो इस जन्म में सुखी होता । परन्तु इस पछतावे से फिर क्या बन सकता है । अतः तुम प्रमाद मत करो, कारण कि यह जीवन अत्यन्त अस्थिर है। यहां पर 'घणियं' यह अव्यय अत्यन्त अस्थिर अर्थ में आया है और 'तु' एव अर्थ में है।

यदि कोई कहे कि मृत्यु के समय स्वजनादि रक्षक बन जावेंगे । अब इसी शंका का समाधान करते हैं—

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति ॥२२॥

यथेह सिंहो वा मृगं गृहीत्वा,
मृत्युर्नरं नयति खल्वन्तकाले ।
न तस्य माता वा पिता च भ्राता,
काले तस्यांशधरा भवन्ति ॥२२॥

पदार्थान्वयः—जहा–जैसे इह–इस लोक में सीहो–सिंह व–वा मियं–मृग को गहाय–पकड़कर मृत्यु के मुख में पहुंचाता है उसी प्रकार मच्चू–मृत्यु नरं–मनुष्य को हु–निश्चय ही अंतकाले–अंत समय में नेइ–परलोक मे पहुंचा देता है तस्स–उस समय-उसके माया–माता व–वा पिया–पिता व–वा भाया–भ्राता कालम्मि–उस काल मे तम्मं–वा-अथवा अंसहरा–अंश के धरने वाले न भवंति–नहीं होते ।

मूलार्थ—जैसे इस लोक में सिंह मृग को पकड़ कर मृत्यु के मुख में पहुंचा देता है उसी प्रकार, निश्चय ही मृत्यु अंत समय में इस जीव को परलोक में पहुंचा देती है। परन्तु उस समय उसके माता, पिता और भ्राता-काल के समय आयुरूप अंश के धरनेवाले नहीं होते।

टीका—इस काव्य में अशरण भावना का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे इस लोक मे सिंह अथवा व्याघ्र आदि मृगादि जीवों को पकड़ कर मृत्यु के मुख में पहुंचा देते हैं ठीक उसी प्रकार यह मृत्यु इस जीव को निश्चय ही अन्तकाल में परलोक में पहुंचा देता है परन्तु उस समय उसके माता, पिता वा भ्राता आदि कोई भी आयुरूप अंश के धरने वाले नहीं होते। क्योंकि जैसे किसी पुरुष पर राजा का कोप होने से उसके सम्बन्धी लोग धन आदि देकर उसकी राजा से रक्षा कर लेते हैं, परन्तु इसी प्रकार मृत्यु के समय मृत्यु होने वाले को उसके स्वजनादि अपने जीवन मे से कुछ आयु का अंश देकर उसको बचा नहीं सकते ('अंशं जीवितभागं धारयन्ति मृत्युना नीयमानं रक्षन्तीत्यंशधराः स्वजीवितांशदानतः' टीका)।

यदि कोई कहे कि आयु का अंश तो नहीं दिया जा सकता परन्तु उसके दुःख के वास्ते उपक्रम तो किया जा सकता है, अब सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं—

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥२३॥

न तस्य दुःखं विभजन्ते ज्ञातयः,
न मित्रवर्गा न सुता न बान्धवाः।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखं,
कर्तारमेवानुयाति कर्म ॥२३॥

पदार्थान्वयः—तस्स–उसके दुक्खं–दुःख का नाइओ–ज्ञातिजन न विभयंति–विभाग नहीं कर सकते न मित्तवग्गा–न ही मित्रवर्ग कर सकता है न सुया–न पुत्र कर सकते हैं न बंधवा–न भाई कर सकते हैं एको–अकेला सयं–स्वयमेव पच्चणुहोइ–प्रत्यनुभव करता है कत्तारमेव–कर्ता के ही कम्मं–कर्म अणुजाइ–पीछे जाता है।

मूलार्थ—उसके दुःख का ज्ञातिजन विभाग नहीं कर सकते तथा न मित्रवर्ग, न पुत्र और न ही भ्राता आदि कर सकते हैं किन्तु वह अकेला स्वयमेव उस दुःख का अनुभव करता है क्योंकि कर्ता के पीछे ही कर्म जाता है।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! मृत्यु के समय उस प्राणी के शारीरिक वा मानसिक दुःखों का विभाग उसके ज्ञातिजनों में से कोई भी नहीं कर सकता किन्तु जिसने कर्म किए हैं वह जीव अकेला ही अपने किए हुए कर्म के फल स्वरूप दुःख का स्वयमेव अनुभव करता है। क्योंकि कर्म कर्ता के ही पीछे जाता है। जैसे हज़ारों गौओं में से बछड़ा अपनी माता को ढूंढ लेता है, अथवा जैसे पुरुष की छाया पुरुष के पीछे ही जाती है उसी प्रकार कर्म भी कर्ता के पीछे ही जाता है। अतः सम्बन्धिजनों ने आयु के अंश को तो क्या देना था वे तो उपस्थित हुए दुःख को भी नहीं बांट सकते। यहां पर 'ज्ञाति' शब्द दूर के सम्बन्धियों का और 'बन्धु' शब्द निकट के सम्बन्धियों का वाचक है।

इस प्रकार अशरण भावना का वर्णन करने के अनन्तर अब एकत्वभावना का वर्णन करते हैं। यथा—

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुंदर पावगं वा॥२४॥

त्यक्त्वा द्विपदं च चतुष्पदं च,
क्षेत्रं गृहं धनं धान्यं च सर्वम्।
स्वकर्मद्वितीयोऽवशः प्रयाति,
परभवं सुन्दरं पापकं वा ॥२४॥

पदार्थान्वयः—दुपयं-द्विपद को च-और चउप्पयं-चतुष्पद को खेत्तं-क्षेत्र को च-तथा गिहं-गृह को च-और धणं-धन को धन्नं-धान्य को सव्वं-अन्य सर्व वस्तु को चिच्चा-छोड़कर सकम्मबीओ-कर्म सहित दूसरा अवसो-परवशता से पयाइ-प्राप्त करता है परभवं-परभव को सुन्दर-स्वर्गादि स्थान वा-अथवा पावगं-नरकादि स्थान को।

मूलार्थ—यह जीव द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, घर, धन और धान्य तथा अन्य सर्व वस्तु को छोड़कर एक आप दूसरे कर्म को लेकर परवशता से-कर्मानुसार परलोक में स्वर्ग अथवा नरक स्थान को प्राप्त करता है।

टीका—मुनि कहते हैं कि मृत्यु के समय यह आत्मा-जीव अपनी प्यारी भार्या आदि, प्यारे अश्वादि, क्षेत्र तथा सुन्दर बाग बगीचे आदि तथा गृह और धन-धान्यादि सभी पदार्थों को छोड़कर अकेला ही—एकमात्र कर्म को साथ लेकर परलोक को प्रयाण कर जाता है। वहां पर अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग अथवा नरक स्थान को प्राप्त करता है। सारांश यह है कि जिन पदार्थों पर इस जीव का अत्यन्त प्रेम था मृत्यु के समय उन सब को छोड़कर परवश होकर परलोक में अपने कर्म के अनुसार उत्तम वा अधम गति को प्राप्त कर लेता है। यहां पर 'सुन्दर' शब्द में अनुस्वार का लोप प्राकृत के नियम से हुआ है।

मृत्यु होने के पश्चात् उसके शरीर की क्या गति होती है, अब इसी विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

तं एक्कगं तुच्छसरीरगं से,
चिईगयं दहिय उ पावगेण।
भज्जा य पुत्तोवि य नायओ वा,
दायारमण्णं अणुसंकमन्ति ॥२५॥

तदेककं तुच्छशरीरकं तस्य,
चितिगतं दग्ध्वा तु पावकेन।
भार्या च पुत्रोऽपि च ज्ञातयो वा,
दातारमन्यमनुसंक्रामन्ति ॥२५॥

पदार्थान्वयः—तं एक्कगं–वह अकेला जीवरहित तुच्छ–साररहित सरीरगं–शरीर से–उसका चिईगयं–चितागत पावगेण–अग्नि के द्वारा दहिय–जलाया जाता है उ–वितर्क अर्थ में भज्जा–भार्या य–और पुत्तोवि–पुत्र भी य–तथा नायओ–ज्ञातिवर्ग अण्णं–अन्य दायारं–दातार के अणुसंकमंति–पीछे चलने लगते हैं।

मूलार्थ—जीवरहित इस तुच्छ शरीर को चिता में रखकर अग्नि के द्वारा जलाया जाता है। फिर उसकी भार्या, पुत्र तथा अन्य सम्बन्धिजन अन्य दातार के पीछे चल पड़ते हैं।

टीका—जब यह जीव शरीर को छोड़कर परलोक को प्रयाण कर जाता है तब इस शरीर को तुच्छ–निस्सार जानकर चिता में रखकर अग्नि के द्वारा उसे भस्म कर दिया जाता है। फिर उसकी भार्या, पुत्र तथा और सम्बन्धी पुरुष वहां से पराङ्मुख होकर उसके स्थान पर किसी दूसरे पुरुष को नियुक्त करके उसको अपना रक्षक समझते हुए उसके अनुसार-उसकी आज्ञा में चलने लग जाते हैं। तात्पर्य कि उस दिन के बाद फिर उस मृतक का कोई स्मरण तक भी नहीं करता।

प्रस्तुत गाथा के द्वारा संसार की अनित्यता, स्वार्थपरायणता और इस शरीर की अन्तिम दशा का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। अग्नि द्वारा

शव का दाह करना आर्यावर्त्त की अति प्राचीन प्रथा है, जिसका कि उल्लेख इस गाथा में किया है। मृतक के बाद जो रुदन और विलाप आदि किया जाता है, इसमें स्वार्थपरायणता के अतिरिक्त अन्य कुछ भाव नहीं है।

अब मुनि उक्त सम्राट् को फिर उपदेश करते हैं—

उवणिज्जई जीवियमप्पमायं,
वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं !
पंचालराया ! वयणं सुणाहि,
मा कासि कम्माइ महालयाइं ॥२६॥

उपनीयते जीवितमप्रमादं,
वर्णं जरा हरति नरस्य राजन् !
पंचालराज ! वचनं शृणु,
मा कार्षीः कर्माणि महालयानि ॥२६॥

पदार्थान्वयः—उवणिज्जई–काल के समीप हुआ जाता है जीवियं–जीवन अप्पमायं–प्रमादरहित होकर रायं–राजन् ! नरस्स–नर के वण्णं–वर्ण को जरा–जरा—बुढ़ापा हरइ–हरण करती है पंचालराया–हे पंचाल देश के राजा ! वयणं–मेरे वचन को सुणाहि–सुन ! महालयाइं–महाहिंसक कम्माइं–कर्म मा कासि–तू मत कर।

मूलार्थ—हे राजन् ! यह जीवन प्रमादरहित होकर मृत्यु के समीप चला जा रहा है और मनुष्य के वर्ण को जरा हरण कर रही है। हे पंचाल देश के राजा ! मेरे वचन को सुन और तू महाहिंसक कर्म मत कर।

टीका—मुनि कहते हैं कि राजन् ! आवीचि मरण के द्वारा समय २ पर यह जीव प्रमादरहित होकर मृत्यु के समीप जा रहा है और इसके वर्ण को जरा हर रही है। अतः मेरे वचन को सुनकर तू घोर हिंसा–पंचेन्द्रिय जीवों का वध मत कर।

इस सारे कथन का अभिप्राय यह है, जितना समय व्यतीत हो चुका उतनी ही इस जीव की मृत्यु निकट आ गई। काल का चक्र निरन्तर चल रहा है और आयु प्रतिक्षण क्षय होती जा रही है। इसी लिए शरीर में जरा के आगमन से दुर्बलता और क्षीणता का समावेश होता चला जा रहा है। जब ऐसा है तब तुम मेरे वचन को सुनकर उस पर आस्था रखते हुए पञ्चेन्द्रिय जीवों का वधरूप जो महाहिंसक कर्म है उससे उपराम क्यों नहीं होते। उचित तो यही है कि मेरे उपदेश को श्रवण करके तुम को इस नरकप्रद हिंसक कर्म से अवश्य निवृत्त हो जाना चाहिए।

मुनि के इस उपदेश को सुनकर सम्राट् इस प्रकार कहने लगे—

अहं पि जाणामि जहेह साहू,
जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।
भोगा इमे संगकरा हवंति,
जे दुज्जया अज्जो अम्हारिसेहिं ॥२७॥

अहमपि जानामि यथेह साधो,
यन्मम त्वं साधयसि वाक्यमेतत्।
भोगा इमे संगकरा भवन्ति,
ये दुर्जया आर्य ! अस्मादृशैः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—अहंपि-मैं भी जाणामि-जानता हूं जहा-जैसे इह-संसार में साहु-हे साधो ! जं-जो मे-मुझे तुमं-आपने साहसि-कहा है वकं-वाक्य एयं-यह-परन्तु भोगा-भोग इमे-यह प्रत्यक्ष संगकरा-कर्मों का बन्ध करने वाले हवंति-होते हैं जे-जो दुज्जया-दुर्जय हैं अज्जो-हे आर्य ! अम्हारिसेहिं-हमारे जैसों को।

मूलार्थ—हे साधो ! जैसे आपने इस संसार का स्वरूप वर्णन किया है मैं भी उसी प्रकार जानता हूं परन्तु हे आर्य ! कर्मों का बन्ध करने वाला जो इन काम भोगों का संग है, हमारे जैसे कामी पुरुषों को छोड़ना दुष्कर है।

टीका—चक्रवर्ती चित्त मुनि से कहते हैं कि हे साधो! जिस प्रकार आपने मेरे प्रति इस संसार की परिस्थिति का वर्णन किया है मुझे भी उसका ज्ञान है परन्तु मेरे जैसे विषयासक्त पुरुषों के लिए इन काम भोगों का त्याग करना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि ये कामभोग कर्मबन्ध के असाधारण कारण हैं तथापि मेरे लिए ये दुर्जेय हैं। अतः मैं विवश हूं जो कि इन विषय भोगों की असारता, दुष्टता और मोहकता को जानता हुआ भी इनका परित्याग करने मे समर्थ नहीं हूं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

हत्थिणपुरम्मि चित्ता! दट्ठूण नरवइं महिड्ढियं।
कामभोगेसु गिद्धेणं नियाणमसुहं कडं ॥२८॥

हस्तिनापुरे चित्त! दृष्ट्वा नरपतिं महर्द्धिकम्।
कामभोगेषु गृद्धेन निदानमशुभं कृतम् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—हत्थिणापुरंम्मि–हस्तिनापुर में चित्ता–हे चित्त! नरवइं–नरपति-सनत्कुमार चक्रवर्ती महिड्ढियं–महाऋद्धि वाले को दट्ठूण–देखकर कामभोगेसु–काम भोगों में गिद्धेण–आसक्ति रखने वाले मैंने नियाणं–निदान असुहं–अशुभ कडं–किया।

मूलार्थ—हे चित्त! हस्तिनापुर में महासमृद्धि वाले नरपति सनत्कुमार चक्रवर्ती को देखकर काम भोगों में आसक्त होने के कारण मैंने अशुभ निदान किया।

टीका—अपनी भूल को स्वीकार करते हुए चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने कहा कि मैंने हस्तिनापुर में सनत्कुमार चक्रवर्ती की विलक्षण समृद्धि को देखा और उससे आकर्षित होकर उसकी प्राप्ति के लिए कठिन से कठिन तपश्चर्या करने लगा। इस प्रकार अन्तःकरण में बढ़ी हुई कामभोगविषयिणी वासना से वासित होकर मैंने जो निदान किया उसी का यह दुष्ट परिणाम है कि अब मेरे लिए इन विषय भोगों का त्याग अत्यन्त कठिन हो रहा है।

इस विषय में इतना और समझ लेना चाहिए कि जो पुरुष सत्य और सरल प्रकृति के होते हैं वे वस्तुतत्त्व को समझ कर उस विषय में अपनी जो त्रुटि हो उसको स्पष्ट कह देते हैं। यही दशा चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त की है। उसने चित्त मुनि से धर्मोपदेश सुनकर उसकी यथार्थता और उसके यथावत् पालन करने में अपनी असमर्थता स्पष्ट शब्दों में वर्णन करने के अनन्तर उसके कारणभूत अशुभ निदान के लिए पश्चात्ताप के रूप में अपनी त्रुटि को भी स्पष्ट रूप में स्वीकार किया। सारांश यह कि सम्यक्त्व की ओर आने वाले जीवों के ये ही चिह्न होते हैं।

क्या निदान कर्म का प्रतिरोध नहीं हो सकता? अब इसी विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

तस्स मे अपडिकंतस्स, इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं, कामभोगेसु मुच्छिओ ॥२९॥

तस्मान्ममाप्रतिक्रान्तस्य , इदमेतादृशं फलम्।
जानानोऽपि यद् धर्मं, कामभोगेषु मूर्च्छितः ॥२९॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उस निदान कर्म से मे—मुझे अपडिकंतस्स—अप्रतिक्रान्त को इमं—यह प्रत्यक्ष एयारिसं—ऐसा फलं—फल हुआ जं—जो जाणमाणोवि—जानता हुआ भी धम्मं—धर्म को-फिर भी कामभोगेसु—काम भोगों में मुच्छिओ—मूर्च्छित हूं।

मूलार्थ—उस निदान से निवृत्त न होने का यह प्रत्यक्ष फल हुआ कि धर्म को जानता हुआ भी मैं काम भोगों में मूर्च्छित—आसक्त हूं।

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने कहा कि हे मुने! जब मैंने काम भोगों से आकर्षित होकर निदानपूर्वक कर्म करने का प्रयत्न किया था उस समय आपने मुझे हटाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु मैं इस अशुभ निदान से नहीं हटा! उसका फल यह हुआ कि मैं श्रुत और चारित्र धर्म को जानता हुआ भी काम भोगों में अत्यन्त आसक्त हो रहा हूं। अतः सिद्ध हुआ कि अशुभ कर्म का फल

शुभ कभी नहीं हो सकता। यद्यपि निदान कर्म भी कई प्रकार के होते हैं तथापि जिन भावों से प्रेरित होकर वे किए जाते हैं उन्हीं के अनुसार उनका फल होता है।

अब इसी विषय को दृष्टान्त के द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

नागो जहा पंकजलावसन्नो,
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा,
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥३०॥

नागो यथा पंकजलावसन्नः,
दृष्ट्वा स्थलं नाभिसमेति तीरम्।
एवं वयं कामगुणेषु गृद्धाः,
नो भिक्षोर्मार्गमनुव्रजामः ॥३०॥

पदार्थान्वयः—**नागो**–नाग–हस्ती **जहा**–जैसे **पंक**–कर्दम वाले **जलावसन्नो**–जल में खचित हुआ **दट्ठुं**–देखकर **थलं**–स्थल को **नाभिसमेइ**–नहीं प्राप्त होता **तीरं**–तीर को **एवं**–उसी प्रकार **वयं**–हम **कामगुणेसु**–काम भोगों में **गिद्धा**–गृद्ध हुए **भिक्खुणो**–भिक्षु के **मग्गं**–मार्ग को **न अणुव्वयामो**–ग्रहण नहीं कर सकते।

मूलार्थ—जैसे कीचड़ वाले जलाशय में फंसा हुआ हस्ती निर्जल प्रदेश को देखकर भी तीर को प्राप्त नहीं हो सकता उसी प्रकार कामभोगों में अत्यन्त आसक्त हुए हम लोग भी भिक्षु के मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते अर्थात् साध्वाचार का पालन नहीं कर सकते।

टीका—प्रस्तुत गाथा में काम भोगों को दलदल के समान और उनमे आसक्ति रखने वालों को हस्ती के समान वर्णन किया है तथा साधुमार्ग को स्थल के सदृश बतलाया है; अर्थात् जैसे दलदल में फंसा हुआ हस्ती स्थल प्रदेश को देखता हुआ भी उसे सहसा प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता इसी प्रकार विषय भोगों मे अत्यन्त आसक्ति रखने वाले पुरुष साधु धर्म की श्रेष्ठता को जानते हुए भी उसके

ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकते ! तात्पर्य कि दलदल में फँसा हुआ हस्ती वहां से निकलने का प्रयत्न तो बहुत करता है और चाहता है कि कीचड़ में से निकल कर स्थल प्रदेश में चला जावे परन्तु वह निकल नहीं सकता ऐसे ही कामभोगों मे आसक्त पुरुष भी उनसे निकलने की कोशिश करते हैं परन्तु सफलमनोरथ नहीं होते। इसी आशय से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने भी कीचड़ के समान कामभोगों से निकल कर साधु मार्ग के अवलम्बन में या उस मार्ग पर चलने में चित्त मुनि के समक्ष अपने आपको असमर्थ बतलाया है ! यद्यपि यह आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र माना गया है तथापि जिस समय निकाचित-अवश्यभोक्तव्य कर्मों का उदय होता है उस समय यह जीव परवश हो जाता है । इसलिए उसके अन्तःकरण पर साधु पुरुषों के सदुपदेश का भी पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता ।

चक्रवर्ती के इस कथन को सुनकर अब मुनि फिर कहते हैं—

अच्चेइ कालो तरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण णिच्चा ।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥३१॥

अत्येति कालस्त्वरन्ते रात्रयः,
न चापि भोगाः पुरुषाणां नित्याः ।
उपेत्य भोगाः पुरुषं त्यजन्ति,
द्रुमं यथा क्षीणफलमिव पक्षिणः ॥३१॥

पदार्थान्वयः—अच्चेइ कालो—काल का अतिक्रम हो रहा है ! राइओ—रात्रियां तरंति—शीघ्र जा रही हैं नयाति—नहीं है भोगा—भोग पुरिसाण—पुरुषों के णिच्चा—नित्य उविच्च—अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त होकर भोगा—भोग पुरिसं—पुरुष को चयंति—छोड़ जाते हैं जहा—जैसे खीणफलं—क्षीण फल वाले दुमं—द्रुम-वृक्ष को पक्खी—पक्षी व—साहश्य अर्थ में है ।

मूलार्थ—काल का अतिक्रम हो रहा है। रात्रियां शीघ्रता से जा रही हैं। पुरुषों के भोग नित्य नहीं हैं अपितु भोग अपनी इच्छा के अनुसार पुरुष को छोड़ जाते हैं जैसे कि फलरहित वृक्ष को पक्षी छोड़ जाते हैं।

टीका—चित्त मुनि कहते हैं कि हे राजन्! काल का अतिक्रम हो रहा है। रात और दिन बड़े वेग से चले जा रहे हैं। पुरुषों के भोग भी नित्य नहीं और उनकी इच्छानुसार भी नहीं रहते अपितु अपनी इच्छा के अनुसार वे पुरुष को छोड़कर चले जाते हैं जैसे क्षीण फलों वाले वृक्ष को पक्षिगण छोड़कर चले जाते हैं।

इस गाथा में यह बतलाया गया है कि केवल जीवन ही अनित्य नहीं किन्तु काम भोग भी अनित्य हैं। एवं अनित्य होने पर भी वे पुरुष के स्वाधीन नहीं किन्तु अपनी इच्छानुसार वे जब चाहे पुरुष को छोड़कर चले जाते हैं जैसे कि फल से शून्य हो जाने वाले वृक्ष को उसकी इच्छा के विरुद्ध ही पक्षिगण छोड़कर चले जाते हैं। इसलिए इन विनश्वर पदार्थों की मोह ममता को त्याग तुमको अब धर्म कार्यों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होना चाहिए। तथा यह भी स्मरण रहे कि यहां पर फल के समान तो पुण्य है और क्षीणफल—फलशून्य वृक्ष के समान पुरुष है। एवं पक्षिगण के समान कामभोगादि विषय हैं। सो जब इस जीव का पुण्यरूप फल क्षीण हो जाता है तब कामभोग रूप पक्षी जीवरूप वृक्ष को छोड़ जाते हैं। अतः धर्म का आचरण करना ही अधिक श्रेय देने वाला है।

अस्तु, यदि तुम कामभोगादि पदार्थों का त्याग नहीं कर सकते तो तुम को आर्य कर्म तो अवश्य करने चाहियें। सो अब उन कार्यों को ही फल सहित बतलाते हैं। यथा—

जइ तं सि भोगे चइउं असत्तो,
अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं!
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी,
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥३२॥

यदि त्वमसि भोगान् त्यक्तुमशक्तः,
आर्याणि कर्माणि कुरुष्व राजन् !
धर्मे स्थितः सर्वप्रजानुकम्पी,
तस्माद् भविष्यसि देव इतो वैक्रेयी ॥३२॥

पदार्थान्वयः—जइ–यदि तं–तू सि–है भोगे–भोगों के चइउं–छोड़ने को असत्तो–असमर्थ है तो अज्जाइं–आर्य कम्माइं–कर्मों को रायं–हे राजन् ! करेहि–तू कर धम्मे–धर्म में ठिओ–स्थित सव्व–सर्व पयाणुकंपी–प्रजा पर अनुकम्पा करने वाला हो तो–तिस से होहिसि–होवेगा देवो–देवता इओ–यहां से मर कर विउव्वी–वैक्रेय शरीर वाला।

मूलार्थ—हे राजन् ! यदि तू काम भोगों के छोड़ने में असमर्थ है तो आर्य कर्म कर और धर्म में स्थित होकर सर्व प्रजा पर अनुकम्पा करने वाला हो। उससे तू यहां से मर कर वैक्रेय शरीर वाला देवता हो जावेगा।

टीका—चक्रवर्ती के प्रति चित्त मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! यदि काम भोगों के त्याग में असमर्थ है तो तू आर्यजनोचित कर्मों का अनुष्ठान कर। एवं धर्म में आरूढ़ हुआ अपनी समस्त प्रजा पर अनुकम्पा भाव रख। क्योंकि न्यायपूर्वक प्रजावर्ग का पालन करना ही राजा का मुख्य धर्म है। इस प्रकार श्रेष्ठजनानुमोदित कर्मों के अनुष्ठान से तू यहां से मर कर वैक्रेय लब्धि वाला देव होवेगा।

प्रस्तुत गाथा में गृहस्थधर्म, राजधर्म और दोनों धर्मों के फल का भली भांति दिग्दर्शन कराया गया है। क्योंकि राजा का मुख्य धर्म न्याय और शांति से प्रजा का यथावत् पालन-संरक्षण करना है। इसी से वह धर्मज्ञ और संसार में प्रशंसा का पात्र बनता है। गृहस्थ धर्म द्वादशव्रतरूप है। अतः श्रावक धर्म का मुख्य उद्देश्य आर्य कर्मों का अनुष्ठान और न्यायप्रियता है। इसी आशय से मुनि कहते हैं कि राजन् ! यदि तुम सर्वविरति रूप साधु धर्म के अनुष्ठान में असमर्थ हो तो न्यायपूर्वक प्रजा का अनुकम्पा बुद्धि से संरक्षण कर और देश विरति रूप गृहस्थ धर्म में स्थित हो। इसका फल यह होगा कि यहां से मरने के बाद तू वैक्रेय लब्धि युक्त देव बनोगे अर्थात् वैमानिक देवों की श्रेणी में तुम

जन्म लोगे। मांस, मदिरा और प्राणिवध के त्यागपूर्वक शास्त्र विहित जो कर्म सो आपकर्म कहलाते हैं।

इतना कहने पर भी जब मुनि के उपदेश को राजा ने ग्रहण न किया तब वे कहने लगे कि—

न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी,
गिद्धोसि आरम्भपरिग्गहेसु।
मोहं कओ एत्तिउ विप्पलावो,
गच्छामि रायं आमन्तिओ सि ॥३३॥

न तव भोगान् त्यक्तुं बुद्धिः,
गृद्धोऽसि आरंभपरिग्रहेषु।
मोघं कृत एतावान् विप्रलापः,
गच्छामि राजन्नामंत्रितोऽसि ॥३३॥

पदार्थान्वयः—न तुज्झ–नहीं तेरे में भोगे–भोगों के चइऊण–त्यागने की बुद्धी–बुद्धि गिद्धोसि– तू गृद्ध है आरंभपरिग्गहेसु–आरम्भ और परिग्रह में मोहं कओ–निष्फल किया एत्तिउ–इतना विप्पलावो–विप्रलाप रायं–राजन् गच्छामि–मैं जाता हूं आमंतिओ सि–तुम्हें कह कर–पूछ कर।

मूलार्थ—हे राजन्! तेरे में भोगों के त्यागने की बुद्धि नहीं है। तू आरम्भ और परिग्रह में अत्यन्त आसक्त हो रहा है। इतना विप्रलाप–वचन निष्फल ही किया। अतः तुम्हें कह कर मैं जाता हूं।

टीका—जब चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने चित्तमुनि के किसी भी उपदेश को स्वीकृत नहीं किया तब मुनि ने कहा कि हे राजन्! तेरे में भोगों को त्यागने की बुद्धि नहीं है और न आर्य कर्मों के अनुष्ठान की भावना है। न्यायपूर्वक प्रजा का शासन करना भी तूने स्वीकार नहीं किया क्योंकि तू आरंभ और परिग्रह में मूर्च्छित हो रहा है। अतः मेरा इतना उपदेश निष्फल ही गया

अर्थात् यह प्रलापमात्र ही ठहरा। अस्तु, अब मैं जाता हूं। यह कहकर मुनि वहां से चल दिए।

यहां पर 'धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं' इस नियम के अनुसार 'आमंत्रितोसि' इसका 'पृष्टोसि' अर्थ करना चाहिए। मुनि के 'मैं जाता हूं' कहने का अभिप्राय यह है कि यदि कोई पुरुष उपदेश को स्वीकार न करे तो उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए किन्तु अपने आप ही उससे उपराम हो जाना चाहिए।

इस प्रकार कहकर चित्तमुनि जब चले गये तब उसके बाद ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने जो कुछ किया और उसका जो फल हुआ, अब उसी का वर्णन करते हैं—

पंचालरायावि य बंभदत्तो,
साहुस्स तस्स वयणं अकाउं।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे,
अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो ॥३४॥

पंचालराजोऽपि च ब्रह्मदत्तः,
साधोस्तस्य वचनमकृत्वा।
अनुत्तरान् भुक्त्वा कामभोगान्,
अनुत्तरे स नरके प्रविष्टः ॥३४॥

पदार्थान्वयः—पंचालराया-पंचाल देश का राजा बंभदत्तो-ब्रह्मदत्त तस्स-उस साहुस्स-साधु के वयणं-वचन को अकाउं-स्वीकार न करके अणुत्तरे-प्रधान कामभोए-काम भोगों को भुंजिय-भोग कर अणुत्तरे-प्रधान नरए-नरक में सो-वह चक्रवर्ती पविट्ठो-प्रविष्ट हुआ वि-निश्चय अर्थ में और य-पादपूर्त्यर्थ में है।

मूलार्थ—पंचाल देश का राजा ब्रह्मदत्त उस साधु के वचन को स्वीकार न करके प्रधान काम भोगों का उपभोग करता हुआ प्रधान नरक में गया।

टीका—चित्तमुनि के प्रयाण कर जाने के अनन्तर पंचाल देश के चक्रवर्ती राजा ब्रह्मदत्त ने उक्त मुनि के उपदेश को अंगीकार नहीं किया। अतः वह उत्तम-

प्रधान काम भोगों का सेवन करता हुआ मर कर प्रधान नरक में गया अर्थात् सातवें नरक के अप्रतिष्ठान नामक पांचवें नरक वास में उत्पन्न हुआ।

इस गाथा में निदानपूर्वक किए जाने वाले कर्मों का फल तथा काम भोगों में अत्यन्त आसक्ति रखने का जो परिणाम होता है उसका चित्र बहुत ही सुन्दरता से खींचा गया है जिससे कि विचारशील पुरुष इन विषय भोगों का त्याग करके धर्माचरण में प्रवृत्त होने का प्रयत्न करें।

प्रसङ्गवशात् अब शास्त्रकार चित्त मुनि के विषय में भी कहते हैं—

चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो,
उदग्गचारित्ततवो महेसी ।
अणुत्तरं संजम पालइत्ता,
अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ ॥३५॥

त्ति बेमि ।

इति चित्तसम्भूइज्जं तेरहमं अज्झयणं समत्तं ॥१३॥

चित्तोऽपि कामेभ्यो विरक्तकामः,
उदग्रचारित्रतपा महर्षिः ।
अनुत्तरं संयमं पालयित्वा,
अनुत्तरां सिद्धिगतिं गतः ॥३५॥

इति ब्रवीमि ।

इति चित्तसंभूतीयं त्रयोदशमध्ययनं समाप्तम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—चित्तो वि—चित्त भी कामेहि—काम भोगों से विरत्तकामो—विरक्तकाम होकर उदग्ग—प्रधान चारित्त—चारित्र और तवो—तप वाला महेसी—महर्षि अणुत्तरं—प्रधान संजम—संयम को पालइत्ता—पालकर अणुत्तरं—प्रधान सिद्धिगइं—मोक्ष गति को गओ—प्राप्त हुआ। त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—महर्षि चित्त मुनि भी काम भोगों से विरक्त होकर चारित्र और तप प्रधान संयम का आराधन करता हुआ सर्वप्रधान मोक्ष गति को प्राप्त हुआ।

टीका—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के विषय मे तो ऊपर सब कुछ कह दिया गया अर्थात् काम भोगों में बढ़ी हुई अधिक आसक्ति के कारण वह सातवें नरक मे गया! और महर्षि चित्त मुनि काम भोगों से सर्वथा विरक्त होकर तप और चारित्र की प्रधानता वाले संयम का आराधन करता हुआ सर्वश्रेष्ठ मोक्ष गति को प्राप्त हुआ। इस कथन से कामभोगों के कटु परिणाम को और धर्माचरण के शुभ परिणाम को बतलाते हुए शास्त्रकारों ने मुमुक्षु पुरुषों के लिए धर्म का ही आचरण सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। अतः वही सब को उपादेय है। इसके अतिरिक्त "त्ति बेमि" का अर्थ प्रथम कई बार बतलाया जा चुका है। उसी के अनुसार यहां भी समझ लेना चाहिए।

त्रयोदशाध्ययन समाप्त।

प्रशस्तिः

तत्रेयं पद्यद्वयेन वागवतारणा

प्रपञ्चसञ्चारिणि पञ्चमेऽत्र, काले कराले कलयन्ति लोकाः
स्वत्वेषु वित्तेषु सुतेषु भिक्षां, सर्वे न शिक्षां न शुचिं न दीक्षाम् ॥ १ ॥

स्पृहणीयगुणा अगण्यपुण्यास्तरुणत्वेऽपि दधुस्तपस्वितां ये ।
रमणीयहृदां विदां तदेषां, स्मरणं सद्वृजिनैकवर्जनं हि ॥ २ ॥

आस्ते पञ्चनदः शुभो जनपदो दूरीकृतान्तर्गदः
प्रेमार्द्रैकगदागदः प्रकृतितः प्रोत्तुङ्गचित्तम्मदः ।
अत्राऽवातरदक्षिषड्वसुधरासंख्यामिते(१८६२) वत्सरे ।
निस्तन्द्रोऽमरचन्द्रजिन्नरवरश्चञ्चत्प्रपञ्चात्परः ॥ ३ ॥

वस्वङ्कवस्विन्दुमिते(१८९८) शुभेऽब्दे, नामाभिधेयं विदधत्सदर्थम् ।
नरेषु चन्द्रोऽमरचन्द्रतां स, मुनीन्द्रतां चारुतरां बभार ॥ ४ ॥

आचारागमतीर्थरक्षणपरा तच्चातुरी सा तुरी
वेमाऽसौ यशसां चयं मृदुतरं श्वेतं व्यधादम्बरम् ।
तेने तेन विशेषवर्णरुचिकृद्देशोऽप्यशेषो निजः
पञ्चापः प्रहतप्रपञ्चनिचयः श्वेताम्बरः संवरः ॥ ५ ॥

कालक्षोणिनिधीन्दुसम्मिततमे(१९१३) वर्षे विहारक्रमाद्
इन्द्रप्रस्थपुरे सुमारवसतां पूज्याः कनीरामकाः ।
अस्मै पूज्यपदं तदैव ददिरे श्राद्धे समिद्धोद्धवे
पूज्यं पूज्यमथो विधाय दधिरे शब्दाश्रयं द्विविधम् ॥ ६ ॥

वसुकालनिधीन्दुमिते(१९३८)विषमे, नृपविक्रमहायनकेऽयमगात्।
सुरसद्म-यतोऽमरचन्द्रमुने,—रुचिता रुचिरोच्चतरैत्र गतिः ॥ ७ ॥

मोतीराममुनिस्ततोऽभवदसावष्टादशाशीतिके
वर्षे लब्धजनिः खभूमिनिधिभूसंख्येऽब्दके(१९१०)सद्व्रती।
अङ्क्यङ्कधरामितेऽ(१९३९)भवदयं पूज्योऽतियोग्यः सतां
सिद्धीशास्य निधीन्दुसम्मिततमे(१९५८) वर्षे दिवं चाऽप्यगात् ॥ ८ ॥

गणोऽपि वव्रृधेतमां गणपतेरपेक्षापरो
रसाम्बरनिधीन्दुसंमिततमेऽब्दके(१९०६)सोऽप्यभूत् ।
त्रिकालनिधिभूमितेऽ(१९३३)धितहितां स दीक्षां गुरोः
द्विसिद्धिनिधिभूमिते(१९८८) सुरपुरीमयासीदसौ ॥ ९ ॥

तच्छिष्यो गणनीर्गणेयगुणिनां शश्वत्सतामग्रणीः
स श्रीमान् स्थविरोऽजनीन्दुनयनाङ्केन्दूपमे(१९२१) वत्सरे।
दीक्षां वेद सरस्वदङ्कधरणीतुल्येऽ(१९४४)ग्रहीदाग्रहात्
सच्छिष्यो जयरामदासजिदसावद्यापि विद्योतते ॥ १० ॥

तच्छिष्यः प्रथितप्रबोधमधुरः सद्वृत्तिसद्वर्तको
भेजे जन्म पयोधिनेत्रनिधिभूसंख्येब्दके(१९२४)सत्कुले।
मुन्यंब्ध्यङ्कधरामितेऽ(१९४७)तिमतिमान् दीक्षां दधारादरात्
शालिग्राममुनिः सदाजयजनिर्जीव्याच्चिरं सन्मणिः ॥ ११ ॥

आगमोद्धारसंस्कारसारलालसमानसः।
मेधासिन्धून् दीनबन्धून् आत्मारामो नमत्यमून् ॥ १२ ॥

पदानुक्रमणिका

उत्तराध्ययनसूत्रम्

शब्दार्थ-कोषः

अंगविज्जं=अंगविद्या का ३२१
अंतकाले=अंत समय में ५६०
अंतिए=गुरु के समीप में २३६
अंतलिक्खे=आकाश में ५०४
अंतिए=समीप १५, २७६
अन्तेउरं=अन्तःपुर ३४८
अंतेउरवर=रानियों के साथ ३३८
अंतरेण=विना प्रयोजन से न बोले ३६
अंबगं=आम्रफल को २७६
अइगओ=जन्म मरण को प्राप्त हुआ ३६६
अइगओ=गया हुआ ३६७
अइगओ=बार बार प्राप्त हुआ ३६६
अइच्छिया=अतिक्रमण कर जाते हैं २८६
अइवेलं=समय का अतिक्रमण १०३
अइवेलं=स्वाध्याय के समय का अतिक्रमण करके ८५
अइलोलुए=अतिलोलुप ४४०
अउला=महती १२०
अकडं=नहीं किये हुए को १६
अकम्मचिट्ठे=क्रियारहित है, चेष्टा जिनकी ५०६
अकरेन्ता=क्रिया न करते हुए २५०
अकलेवर=शरीररहित ४३१
अकाउं=स्वीकार न करके ५७४
अकाऊण=विना किये ५५६
अकारिणो=चोरी न करने वाले ३६१
अकाममरणं=अकाम मरण १६६
अकामा=कामरहित भी ३८०
अकामं=अकाम १६७
अकालं=असमय को ४३
अकिंचणं=अकिंचन ६४
अकुए=अस्पंदमान ५२
अकुऊहले=कुतूहल से रहित ४४४
अकुक्कुओ=कुचेष्टाओं से रहित १०१
अकुव्वमाणो=न करता हुआ ५५६
अकोसेज्जा=आक्रोश करे १०५
अकोसपरीसहे=आक्रोशपरिषह ७६
अकोसा=आक्रोशते हैं ५३
अकोहणे=क्रोध से रहित ४४०
अक्खायं=प्रतिपादन किया है ७२
अक्खाए=कहा है ३३०
अक्खाहि=कहो ५२१

अभिणिक्खमाहि=घर से निकल ५५८
अभिजाए=विनयवान् १६६
अभिजाइगो=संयम का निर्वाह करने वाला ४४७
अभितुर=शीघ्रता कर ४२६
अभित्थुणन्तो=स्तुति करता हुआ ३०७, ३८२
अभिधारए=सहन करे २०२
अभिप्पेए=प्राप्त होने पर २३६
अभिभूय=जीत करके ७२, ७३, ६६
अभिणिक्खमन्तम्मि=घर से निकलने पर ३४०
अभिहणे=जीतता है ८६
अभिवंदिएणं=वंदनीय ४६६
अभिवायणं=अभिवादन १२४
अभू=हुए १३८
अमइं=कुमतिपूर्वक वा अमृत के समान जानकर १७२
अमाई=कपट से रहित ४४४
अमाणुसासोजोणीसु=मनुष्य योनि को छोड़कर शेष योनियों में १४६
अमुहरी=असम्बद्धभाषी न होवे १५
अय=अज—बकरे के २७१
अयं=लोहे को ५०५
अयाणंता=न जानते हुए ३१४
अमक्खाया=कहे गये हैं १६६
अयव्व=बकरे की तरह २७३
अयाणएहिं=अज्ञानियों ने ५१०
अरइं=अरति को ६५
अरइपरीसहे=अरति का परिषह ७६
अरई=चित्त का उद्वेग ४२०
अरहा=अरिहंत २६१
अरिहई=योग्य होता है ४४८
अलं=समर्थ २४५, ३७७
अलद्धे=न मिलने पर ११३
अलाभो=अलाभपरिषह ११४
अलाभपरीसहे=अलाभ का परिषह ७६
अलियं=झूठ २४
अलोलुए=लोलुपता से रहित १२५
अवलं=निर्बल १८०
अव्ववी=कहने लगा ३४१, ३४३, ४७८
अवमन्नह=अपमान करते हो ५०५
अवले=निर्बल ४२८
अवसेसं=अवशेष ४८४
अवसोहिय=दूर करके ४२६
अवसो=परवशता से ५६३
अवरज्झई=नाश हो जाता है २६४
अवहेडिय=नीचे गिरा हुआ है ५०६
अवउज्झिऊण=छोड़कर ३८२
अवउज्झिय=त्यागकर ४२४
अवसा=कर्म के वश होकर २७५
अवहुस्सुए=अवहुश्रुत है ४३६
अवि=अथवा विद्यासहित होता है परन्तु जो ४३६
अवि=सम्भव है कि ११४
अवि=(सम्भावना में) ४४२
अविज्जा=विद्या से रहित २३६
अविणीए=विनयरहित १०
अविणीए=विनयरहित है, वही ४३६
अविणीए=अविनीत ४४१
अब्भुट्ठियं=उठे हुए ३४१
अब्भुदए=अद्भुत ३७८
अवियत्ते=अप्रीति कर ४४३
अब्भुट्ठाणं=सम्मुख उठना १२४
अंसहरा=अंश के धरने वाले ५६०
असइं=अनेक वार ३६१
असइं=वार वार १६७
असंसत्तो=असंसक्त १००
असंसयं=संस्काररहित १७१

उभओ=दोनों प्रकार से ४५२
उम्मग्गा=उन गतियों से निकलना २८६
उल्लवई=विना विचारे वोलता है ४३६
उवक्खडं=संस्कार किया हुआ ४८६
उवगरणं=उपकरण के धरने वाला ५७७
उवणिज्जई=काल के समीप हुआ जाता है ५६५
उवजोइया=अग्नि के समीप बैठने वाले ब्राह्मण हैं ४६६
उवट्ठिओ=उपस्थित हुआ ४७६
उवमा=उपमा है २८२
उववन्नो=उत्पन्न हुआ ५३६
उवसग्गा=उपसर्गों को १०२
उवस्सयं=उपाश्रय १०४
उवसन्ते=उपशांत ६५
उवहसंति=उपहास करते हैं ५७७
उवहाणं=उपधान तप १३२
उवहाणवं=उपधान तप वाला ४४८
उवक्खरं=घर का उपकरणविशेष २४५
उवचिट्ठेज्जा=बैठे ४२
उवचिट्ठे=ठहरे ३१
उवदिट्ठं=कहा है ६२
उववन्नो=उत्पन्न हुआ ३३६
उववेया=गुणों से युक्त २२
उववज्जंति=उत्पन्न होते हैं ३२३
उवट्टित्ता=निकल करके ३२४
उवरए=निवृत्त होवे २४६
उववायए=उत्पादन करे ६१
उववज्जए=उत्पन्न होता है २६६
उववज्जई=उत्पन्न होते हैं १६५
उववज्जई=उत्पन्न होता है २६७
उववाइयं=उत्पन्न होने के २१४
उवसंतमोहणिज्जो=उपशांत हो गया है मोहनीय कर्म जिसका ३३६
उवायं=उपाययुक्त ३६
उवागया=प्राप्त हुए ५४४
उइज्जंति=उदय होंगे १२६
उट्ठित्ता=उठ करके १०२
उत्तिट्ठन्ते=उदय होता हुआ ४५६
उविच्च=अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त होकर ५७०
उसिणं=गरमी के ८७
उसिणपरीसहे=उष्ण का परिषह ७६
उज्जुयभूयस्स=सरल की होती है १५८
उडुवई=नक्षत्रों का स्वामी ४६०
उरुं=गोड़ा २६
उरुणा=गोडे से २६
उस्सूलग=कोट की खाई और ३५३
उच्चेव=ऊँचे से ४७
उवेह=ग्रहण करो ५०७
उवेहे=उदासीन भाव से रहे ६०
उवेंति=उत्पन्न होते हैं १७२
उवेंति=प्राप्त होते हैं १६३, २८८
उवेइ=प्राप्त होता है १८४
उवेमो=ग्रहण करते हैं ५१३
उवेहेज्जा=धारण करे किंतु १०७
उक्कोसं=उत्कृष्टता से ३६६, ४०५
उक्कोसेण=उत्कृष्टता से १६७
उच्चोअए=उच्चोदय ५४६
ऊसिया=ऊँची करके ४३१
ऊणे=न्यून २८०
एक्कमेक्कस्स=परस्पर ५४१
एगं=एक ३६४
एगंतं=एकान्त—मोक्ष में ३३६
एगंतं=एकान्त ३५१
एगपक्खं=एक पक्ष जो ब्राह्मण है, उन्हीं के वास्ते है ४८६
एगस्स=एक जीव की इच्छा पूर्ण करने में ३७७

गईपडिग्घाओ=गति का विनाश हो जाता है ३८१
गहीए=पकड़ा हुआ १७४
गंतुं=जाने की ३५६
गए=गया हुआ २८६
गए=प्राप्त हो गये ४३३
गच्छे=जाता है २८८
गवेसए=गवेषणा कर ४२४
गवेसए=गवेषणा करे २५६
गओ=प्राप्त हुआ ३३८, ४७५
गंधोदय=गंधोदक ५१६
गामकंटका=ग्रामकंटक १०७
गामगए=ग्राम में गया हुआ ४३२
गायं=शरीर को ८८
गायविराहणा=शरीर की विराधना ११८
गारत्था=गृहस्थ लोग २२३
गारत्थेहिं=गृहस्थों से २२३
गाढा=अति कठिन है ३६५
गामाणुगामं=ग्राम अनुग्राम में ६४
गाहा=गाथा ५४८
गारिसु=गृहस्थों की नहीं होती है २२२
गामे=ग्राम में ६६, २५६
गिद्धं=गृद्ध है ५५२
गिहं=घर ५४६
गिहत्थे=गृहस्थ २३२
गिहत्थेहिं=गृहस्थों से १००
गिद्ध्वा=गृद्ध्व ३२३
गिद्धा=गृद्ध हुए ५६६
गिराणं=वेदरूप वाणी के ४६१
गिलाणो=रोगी होकर २११
गिहाणि=घर ३५८
गिरिं=पर्वत को ५०५
गिरि=पर्वत है और ४६४
गिहि=गृहस्थ होते हुए २८८
गिहिवासे=गृहस्थवास में २२८
गिज्झेज्जा=मूर्च्छित होवे ३२७
गिद्ध्वे=मूर्च्छित २००
गिद्ध्वे=मूर्च्छित हैं २१०
गिद्धेण=आसक्ति रखने वाले मैंने ५६७
गिहेसु=सामान्य घरों में ३४२
गिद्धोसि=तू गृद्ध है ५७३
गीएहिं=गीतों से ५५१
गीयं=गीत हैं ५५३
गुत्तस्स=गुप्त के लिए ४६४
गुत्तिहिं=गुप्तियों से ४६४
गुणुत्तरधरो=प्रधान गुणों का धारक ४७३
गुरुकुले=गुरुकुल में ४४८
गुरुं=गुरु के पास ३१
गुरुणं=गुरुओं के ७, १०
गुरुणंतिए=गुरुओं के समीप ३०
गुणे=गुणों को १६३
गुणोववेयं=गुणों से युक्त है, इसलिए हे मुने! ५४६
गेहिं=गृद्धिभाव २४३
गोत्तासु=गोत्रों में १४५
गोपुर=नगर के मुख्य द्वार ३५३
गोयम=हे गौतम! ३६१
गोयमे=गौतम मुनि! ४३३
गोयरग्गपविट्ठस्स=भिक्षाचरी में प्रवेश किये हुए का १११
घयसित्त=घृत से सेचन की हुई १५८
घरं=घर ३५६
घाणबले=घ्राणबल ४१६
घासं=आहार की ११३
घासं=ग्रास की ३१६
घिंसु=ग्रीष्म ऋतु के ८७
घुट्ठं=घोषित किया गया ५१६
घेत्तूण=ले करके २८२

घेत्तूण=पकड़कर ४६६
घोरपरक्कमो=घोर पराक्रम करने वाला है ५०६
घोरपरक्कमो=घोर पराक्रम वाला है ५०२
घोरव्वओ=घोर व्रतों वाला ५०२
घोरव्वओ=घोर व्रतों के पालन करने वाला ५०६
घोररूवा=भयानक रूप वाले ५०४
घोरा=भयंकर १८०
घोरासमं=घोराश्रम=गृहस्थाश्रम को ३७१
च=अन्य धान्य ३७७
च=तथा ३७, ५१२
च=और मिथ्यात्वादिक ३६६
च=(पादपूरणार्थ मे) ३२१
च=(निश्चयार्थक है) ३२६
च=अर्थात् सब अंगों से ३१८
च=आगवत् ३२०
च=पादपूर्ति में है १८६
च=और १७, २८, ३४, ३५, २८५
च=पादपूर्त्यर्थक है २४५
च=पुनः २५, ४३
च=स्व (पादपूर्ति में है) ३६६
च=वा २६१
च=उ-वे दोनों पादपूर्त्यर्थ में हैं ३३०
चक्कंकुसलक्खणे=चक्र और अंकुश के चिह्न (चिन्ह) वाले ३८७
चक्कवट्टी=चक्रवर्ती ५४२, ५५७
चंडं=क्रोधी २२
चंडाल=चंडाल १४७
चंडालियं=क्रोध के वश होकर झूठ १८
चंडालियंकट्टु=क्रोध के वशीभूत होकर असत्य बोल दे तो उसे १६
चइत्तु=छोड़कर ५५८
चइत्तु=त्याग करके ६८

चइउं=छोड़ने को ५७२
चइऊण=त्यागने की ५७३
चइऊण=छोड़कर २६६, ३८८
चइऊण=च्यव करके ३३६
चइऊणं=छोड़ करके ३२
चइत्ताणं=त्याग कर १२, ३७१
चइत्ताणं=छोड़ करके २४५
चइत्ताणं=त्याग करके १२
चउरंगं=चारों अंगों को १६६
चउरिंदियकायं=चतुरिन्द्रिय काय में ४०३
चउद्दसहिं=चतुर्दश ४४१
चउप्पयं=चतुष्पाद को ५६३
चक्खुबले=चक्षुओं का बल ४१५
चक्खुदिट्ठा=चक्षुदृष्ट २००
चक्खुफासये=चक्षुःस्पर्श में ४६
चत्त=छोड़ा है ३५०
चत्तदेहा=त्यक्तदेह हैं ५२४
चत्तारि=चार १३५, १४३
चयंति=छोड़ जाते हैं ५७०
चयासि=त्यागते हो ३७८
चरंति=विचरते हैं ४६१
चरंतं=संयम मार्ग में चलता हुआ तथा १८६
चरंतं=ग्रामानुग्राम फिरता हुआ ८५
चवं=मृत्यु (ऐसे) १६१
चवल=चंचल ३८७
चरियापरीसहे=चर्या का परिषह ७६
चरे=आचरण करें ५२१
चरे=आचरण करे ३७७
चरे=संयम मार्ग मे चले ४३२
चरे=विचरे ८३, ६६, २५६
चरे=विचर, विचरे १८०
चरे=संयममार्ग में विचरे ८१, ६५
चरे=विचरण करे १००
चरे=आसेवन—ग्रहण करे ४४

जेणामि=जिसने मुझे ४६६
जे केइ=जो कोई ३६३
जेसिं=जिन्हों के ४६०
जेसिं=जिस करके ३४६
जेसिं=जिन जीवों की २८६
जेहिं=जिनसे ४३७
जेहिं=जिन्होंने ३१५
जो जो=सुरेन्द्रादि ३२५
जो=जो १३१
जो=जो साधु ११४
जोइं=और ज्योति को तृप्त करते हो ५२५
जोइ=अग्नि ५२५
जोइ=अग्नि का ५१६
जोइठाणं=अग्नि का स्थान है ५२७
जोइठाणे=अग्निस्थान है, कुंड है ५२५
जोग=योग और २६३
जोगवं=योगवान् ४४८
जोगा=मन, वचन और कायरूप योग ५२७
जोणिं=योनि को २८८
जोणिं=योनि में २८७
जोणीसु=योनियों में १४८
जोहे=सुभट है ४५६
झाइज्ज=ध्यान कर १८
झाया=इच्छा की ४६६
ठविज्ज=स्थापन करे १३
ठवेज्जा=स्थापन करे ३१६, ३२६
ठवेतु=स्थापन करके ३३७
ठाणं=स्थान हैं ३८६
ठाणं=स्थान १६६
ठावइत्ता=स्थापन करके ३६३
ठाणा=स्थान २१३
ठाणाणि=स्थानों को २३२
ठाणे=स्थान १६६
ठाणेहिं=स्थानों से ४३७
ठिय=ठहरे ५०४
ठिच्चा=स्थिति करके १६३
ठिई=स्थिति है २८०
ठिओ=स्थित ५७२
ठिओसि=खड़ा है ४८१
डहेज्जा=दग्ध करने में समर्थ है ५०७
ण=वाक्यालंकार में है ८५, १०७, १४५, २४६, २६६
णच्चा=जानकर ३२६
णिच्चा=नित्य ५७०
णिज्जिओ=जीत लिया है ३८३
णु= (वितर्क अर्थ में है) २६१, ३४२
ण्हुसा=पुत्रवधू २४२
णे=हमको २२६
णो=हम दोनों को ५४४
तं=उसको ३८, ३६, ५६, ६४, ११४, ५५२
तं=तू ५७२
तं=उस मुनि को ४७२
तं=वह ३०७, ५१५
तं=वह मार्ग ५१६
तं=मित्रादि को ४४२
तं=उस पिपासा ८४
तं=उस अन्य भिक्षु को ४६
तं=उस भाव को ६१
तं=वह अनुशासन ४१
तक्करे=चोरों को ३६०
तण=तृण ५२०
तणितज्जिया=तृणा से पीड़ित हुए १२०
तत्थ=जहां मुनि था, वहां ४६७
तत्थ=वहां, उसी स्थान पर ३५६
तत्थ=उस धर्म में ३२६
तत्थ=वहां २६६
तत्थ=उसमें ३१६
तत्थ=वहां, उन दोनों स्थानों में १६६

पक्खी=पक्षी ५७०
पक्खीपत्तं=पक्षी के पंखों की तरह पात्र को २५८
पगड़ा=किये ५४४
पगड़ा=प्रकर्षता से ५४५
पगब्भई=बोलता है २०४
पगाढ़ा=अत्यन्त २१३
पच्चणुहोइ=प्रत्यनुभव करता है ५६२
पच्चमाणस्स=दुःख पाता हुआ २४५
पच्चवायए=जिसमें विघ्न हैं ३६४
पच्चुपन्न=वर्तमान में २७३
पच्छा=पश्चात् १२६, १८२
पच्छा=परलोक में ३८६
पच्छाणुतावए=पश्चात्ताप करने वाला होता है ४२८
पच्छायइत्ता=प्रच्छन्न करके ४८२
पजहामि=भली भांति छोड़ता हूँ ५३०
पजुञ्जई=प्रयोग किया जाता है ३६१
पजलिए=प्रज्वलित है ४६४
पज्जुवट्ठिओ=प्राप्त हो गया ३८८
पडिकूल=प्रतिकूल ४६३
पडिक्कमे=आजावे ४३
पडिगाहेज्ज=ग्रहण करे ४७
पडिच्छइ=ग्रहण करता है ५१५
पडिच्छन्नम्मि=चारों ओर से ढांपे हुए ४६
पडिणीए=प्रतिकूलवर्ती, शत्रु १०
पडिणीयं=प्रतिकूलता २८
पडिथद्धा=अहंकार युक्त ४७८
पडिपुण्णे=प्रतिपूर्ण ४६०, ४६४
पडिपुण्णं=धन धान्यादि से भरा हुआ ३२५, ३७७
पडिमं=साधुकी प्रतिमा को १३२
पडिरूवेण=साधु के वेष से ४४
पडिलभे=प्राप्त करे १४
पडिवज्जओ=ग्रहण करके १३२
पडिवज्जिया=ग्रहण करके १६६, २१७, २६७
पडिवज्जंति=प्राप्त करते हैं १५२
पडिबुद्धजीवी=जागता हुआ जीवन व्यतीत करनेवाला १८०
पडिसंचिक्खे=विचार करता है ११४
पडिसंलीणे=इन्द्रियों को वश में करने वाला ४४७
पडिस्सुणे=स्वीकार करे ३२, ३८
पडिसेवंति=सेवन करते हैं १२४
पढ़मं=प्रथम १६६
पण्डिए=विद्वान् १८०
पण्णवओ=प्रज्ञावान् की २८०
पण्णो=बुद्धिमान् ३६
पएहं=प्रश्न को १६५
पत्तपुप्फफलोवेए=पत्र पुष्प और फलों से युक्त ३४५
पत्तंमि=प्राप्त होने पर २६७
पत्तिएण=प्रत्ययकारी वचनों से ५८
पत्थिवा=राजा ३६३, ३७६
पत्तीइ=पत्नी ५०३
पत्ते=प्राप्त हुआ २१७, ५३२
पत्थेमाणा=प्रार्थना करते हुए ३८०
पत्थेसि=प्रार्थना करते हो ३७१, ३७८
पन्नत्तो=प्रतिपादन किया है ३१५
पन्नरसहिं=पंचदश ४४४
पन्नं=प्रज्ञा ११५
पन्नवं=प्रज्ञा वाला १२५
पन्नापरीसहे=बुद्धि का परिषह ७६
पपित्तस्स=जो उत्पन्न हुआ ४८३
पभाससे=बोलता है ४६३
पभीओ=डरता हुआ २११

परियागयं=प्रव्रज्या के ग्रहण करने वाले को २२४
परियावेणं=परिताप से ८७
परिवज्जए=छोड़ देवे २०
परिव्वए=परिभ्रमण करे, संयम मार्ग में चले १००, २५४, २५८
परिव्वयंतो=फिरता हुआ ७२, ७३
परिवाडीए=पंक्ति में ४४
परिवायंतो=परिवार से परिवरे हुए ५५१
परिवूडे=समर्थ २६६, २७०
परिसुक्कमुह=सूखा हुआ मुख ८४
परिसोसियं=परिशोषित ४७७
परिसंकमाणो=शंकाशील बना हुआ १८२
परिहरिय=धारण करके ४७६
परिहरे=त्याग दे, दूर करे ३५
परीसहा=परिषह-कष्ट ७२
परीसहाणं=परिषहों का ७८
परीसहे=परिषहों को ६६
परीसहं=परिषह को ८४, ६४
परे=दूसरा कोई १०५
परेलोए=परलोक १३३
परेसु=गृहस्थों के घरों में ११३
परेहिं=औरों के द्वारा २७
परं=अन्य को ८६, १०१, ४६६
परंदमे=पर को दमन करने वाला २७०
परंमिलोए=परलोक में ५५६
पलोभित्ता=प्रलोभन देकर फिर ३२७
पल्हत्थियं=पर्यस्तिका-जंघोपरिवस्त्र-वेष्टन रूप पाल ३०
पवन्धं=क्रोध का प्रबन्ध ४४१
पवड्ढई=बढ़ता है ३२६
पवरा=प्रधान ४६२
पवरे=प्रधान है ४४५, ४५१
पवभट्ठा=भ्रंष्ट होकर ३२३
पव्वइओ=दीक्षित हो गया ५४०
पव्वइओसि=तू प्रव्रजित हो गया है। ४२३
पव्वज्जा=प्रव्रज्या ५५१
पव्वज्जाठाणं=दीक्षा स्थान ३४१
पव्वया=पर्वत ३७६
पव्वयंतम्मि=दीक्षा लेने के समय ३४०
पव्वाओ=पर्व से फिर वह २२८
पवित्तस्स=जो उत्पन्न हुआ ४८३
पविट्ठो=प्रविष्ट हुआ ५७४
पविभत्ति=जो विभाग ७८
पवियक्खणा=विचक्षण ३८६
पवेइया=बतलाये हैं, प्रतिपादन किये हैं ७२, ७३, ७५, ७८, ५४८
पवेइयं=प्रतिपादन किया है २१६
पवेसंति=प्रवेश करते हैं २८७
पसत्थं=प्रशस्त है ५२७
पसन्ना=प्रसन्न होकर ६४
पसवो=पशु १६५, २४४
पस्स=देखकर, देख २५४, २६७
पसायइ=प्रसन्न करता है ५१०
पसायए=प्रसन्न करते हैं २२
पसायए=प्रसन्न करे और ५८
पसायपेहि=प्रसादप्रेक्षी ३१
पसारिए=पसार करके ३०
पसारिया=पसारी हुई ५०६
पसाहि=तू इसे भोग वा पाल ५४६
पसीयंति=प्रसन्न होते हैं ६४
पसुभिः=पशुओं के ३७७
पहं=भावमार्ग में ४२६
पहयाओ=बजाई ५१६
पहाणाए=क्षय से १५१
पहाय=फिर उसी धन को छोड़कर १७२

बालस्स=अज्ञानी का २६७
बाला=अज्ञानी २५२, ३१४, ४७८
बालाणं=मूर्खों का १०५, १६७
बालाभिरामेसु=बालजीवों को प्रिय लगने वाले ५५४
बाले=मूर्ख २०४
बाले=अज्ञानी २६८, २६६, ३११
बालेहिं=बालकों ने ५१०
बालो=बालक-अज्ञानी ३७३
बालं=मूर्ख को ५२
बालं=बाल २८७
बासा=वर्ष २८०
बाहिरियं=बाहिर ५१६
बीयाइ=बीजों को ४८७
बुक्कसं=मूंग-उड़द आदि का आहार ३२०
बुद्धा=तत्त्ववेत्ता पुरुष ४१
बुद्धेहायरियं=तत्ववेत्ता आचार्यों द्वारा आचरण किया गया जो ५६
बुद्धोवघाई=बुद्धों का घात करने वाला ५७
बूहइत्ता=वृद्धि करके १८२
बेमि=मैं कहता हूं ६८, १६६, २६६
बोहि=धर्म की प्राप्ति ३२४
बोहिं=बोधि को १६७
भक्खए=आहार करे, भक्षण करे ४४, २५७
भगवया=भगवान् ने ७२
भग्गम्मि=टूट जाने पर २१५
भग्गे=टूटने पर २१७
भज्जा=भार्य्या, स्त्री २४२, ५६४
भणंता=बोलते हुए २५०
भत्तकाले=भोजन काल में ५०६
भत्तट्ठा=भक्त के लिये ४६
भत्तपाणं=भक्त और पान को ५१५
भद्दा=भद्रा ४६८
भद्दाइ=भद्रा के ५०३
भद्दं=भद्र, कल्याण, सुख है ५२, ३५१
भन्ते=हे भगवन्! ३८६, ५१०
भयई=सेवन करता है ४४५
भया=भर दिया १४५
भयं=भय होता है ३८१
भयवं=भगवान्,बुद्धिमान्२६१,३३७,३४८,३६७
भवओ=आपके ५२६
भवगहणे=भव (जन्म) करता है ४०५
भवयाणं=आपके ४८४
भवसंसारे=जन्ममरण रूप संसार में ४०६
भवाहि=होवो ३७१
भविस्सई=होंगे १३८
भविस्ससि=होगा २४४
भवे=होवे, होता है १६७, २८३, २६५, ३७६
भवे=जन्म ३६५
भवाओ=संसार से ३५७
भाय=भ्राता के समान ५४
भायरा=भाई ५४२
भायरं=भाई को ५४२
भाया=भ्राता २४२
भारण्डपक्खीव=भारण्ड पक्षी की तरह १८०
भारधरा=भार उठाने वाले हो ४६१
भारवाहए=भारवाहक, भार उठाने वाला ४२८
भारा=भाररूप हैं ५५३
भारियं=भार्या को ४२३
भासइ=बोलता है ३०६, ४४२, ४४६
भासा=भाषा १०७
भासाए=भाषा ४७५
भासादोसं=भाषा के दोष को ३५
भासियं=भाषण को ४३३
भासी=भाषण करने वाले तू ४६३
भासेज्जा=भाषण करे १६

महाणुभागो=महा भाग्यवान् है ५५८
महाणुभागं=महाभाग्यवान् हूं ५४७
महाणुभावो=महाप्रभावशाली ५०२
महापन्ने=महाप्राज्ञ १६६
महायसो=महान् यश वाला ५४२
महापहं=राजमार्ग को ५१५
महापहे=राजमार्ग मे ३७
महाभाग=हे महाभाग ५१४
महामुणिस्स=महा मुनि की ४८२
महामुणी=महामुनि ८६
महारंभपरिग्गहे=महान् आरम्भ और परिग्रह वाला २७०
महारिसी=महर्षि लोग ५३२
महालयं=बड़े विस्तार वाले ४२६
महालयाइं=महाहिंसक ५६५
महापन्ने=महा बुद्धिमान् १६५
महावीरेणं=महावीर ७२
महासियाणं=यही महास्नान है ५३२
महासुका=महा शुक्र की १६१
महिड्ढिए=महा ऋद्धि वाला ६८, २२६
महिड्ढिया=महाऋद्धि वाले ५४४
महिड्ढियं=महा ऋद्धि वाला हूं ५४७, ५६७
महिड्ढीओ=महा ऋद्धि वाला ५७२
महु=मधु ५४६
महुराहिं=मधुर ३८२
महेसी=महर्षि १८८, ५०६, ५७५
महोदरे=महान् उदर वाला २६६
महोहंसि=महा प्रवाह वाले से १६५
मा=मत १८, २०, २७, ४२८, ५०२
मा आविए=मत पी ४२३
माइल्ले=मायावी-छल कपट करने वाला २०७
माई=छल करने वाला २६६

मा कासि=तू मत कर ५६५
माणं=मान १६१, ३६६
माण=मान ५२२
माणुसं=मनुष्य की २८८
माणुसत्तं=मनुष्यत्व १४३, २८३, २८५
माणुसत्तणं=मनुष्य जन्म के ४०७
माणुसत्तम्मि=मनुष्य के भव में १५६
माणुसम्मि=मनुष्य ३३६
माणुसिं=मनुष्य की २८७
माणुस्सं=मनुष्य का १५२
माणुस्सए=मनुष्य के १६७
माणुस्सगा=मनुष्य के २७६
माणुसंजोणिं=मनुष्य योनि को १६३
माणेणं=मान से ३८१
माणो=मान ४६०
मा निद्दहेज्जा=मत भस्म कर देवे ५०२
मापमायए=प्रमाद मत कर १७१, ३६१
मायं=माया, कपट १६१, ३६६, ४२२
मायं=मात्रा को जान कर २५७
मायं=माया को ३५
मायन्ने=प्रमाण के जानने वाला ८१
माया=माता २४२, ५६०
माया=माया से ३८१
माया=छल कपट ३८३
मारणंतिया=मरण के समीप १६६
मासस्स=मास के ५१५
मासे मासे=प्रतिमास ३७०, ३७३
माहणरूवं=ब्राह्मण रूप को ३८२
माहणरूवेणं=ब्राह्मण के वेष मे आकर ३४१
माहणा=हे ब्राह्मणो ! ५१६
माहणा=ब्राह्मण ४८६, ४६०
माहणे=ब्राह्मणादि को ३६८
माहणो=ब्राह्मण ५१०

वा=अथवा २४, २८, ३०, ३२, ३६, ३८, ४७, ६८, ८७, ६६, २३२, ३२०
वा=समुच्चय २३२
वा=परस्पर अपेक्षा अर्थ में है, जो १२१, २२६, २०२
वाइएहिं=वादित्रों से ५५१
वाइयाणं=वादियों की है १८६
वाउकायं=वायुकाय में ३६६
वाऊ=वायु ३४८
वाएण=वायु से ३४५
वागरिज्ज=कहे ३४
वागरे=बोले २४
वाढं=मुनि ने कहा कि स्वीकार है ५१५
वाणिओ=वणिक्, व्यापारी २८२
वाया=भ्राता ५६०
वाया=वचन से, वचन २८, २५०
वायाए=वाणी से ६१
वालग्गपोइयाओय=और वलभीघर बनवाओ ३५८
वावीसं=बाईस ७२
वास=वर्ष १६२
वाससए=सौ वर्ष की २८०
वासाइं=वर्षों तक १८४
वासुदेवे=वासुदेव ४५६
वाहणं=वाहन ३७४
वाहए=वाहक ५२
वाहिंतो=बुलाया हुआ ३१
वाहु=भुजाएँ ५०६
वि=निश्चय अर्थ में ५७४
वि=पाद पूरण में १३३
वि=अपि—मंडपादि में ६६
वि=कभी भी ८८
वि=और भी, अविनयसूचक आसन आदि से ३०
वि=सम्भावना के अर्थ में २६३
वि=इसी प्रकार १३८
वि=भी १४६, २२८, ३६५
विइयं=दूसरी बार ४२४
विइयाणि=जान लिये हैं ४८६
विउक्कम्म=छोड़ करके २१७
विउलं=विस्तार वाले, विपुल ६४, २२४
विउलस्स=विस्तीर्ण ४६५
विउला=बहुत २८६
विउले=विपुल, बहुत से २६६, ३६८
विउव्विऊण=उत्तर वैक्रिय रूप ३८२
विउव्विणो=वैक्रेय करने वाले १६२
विउव्वी=वैक्रेय शरीर वाला ५७२
विंसु=ग्रीष्म के १२१
विकराले=भयंकर ४७६
विगयभया=भयरहित ४१
विगयमोहो=विगत मोह है ३०६
विगयसंगामो=संग्राम रहित होकर ३७५
विगलिंदियया=विकलेन्द्रियपन ४०८
विगिंच=दूर कर १५६, २५७
विग्गहं=शरीर २५२
विचिंतए=चिंतन करे १०८
विचिंतिया=चिंतन किये ५४४
विजहित्तु=छोड़कर ३०८
विजाणाहि=तू जान जो १७१
विज्जा=विद्या से ४६०
विज्जा=जानकार—विद्वान् ३७७
विज्जाणुसासणं=विद्या का सीखना रक्षक होगा—जो २५२
विज्जोवचेया=और विद्या से युक्त हैं ४८६

वोसट्ठकाया=काया की ममता जिन्होंने छोड़ी हुई है ५२४
शरणं=शरणभूत ६२
शीलगुणे=शीलगुणों में ५५४
स=वह शिष्य, वह ६६, ६८, ४६६
सइं=एक वार १६७
सई=सदा २८६
सउत्तमंगो=मस्तक जिनका ५०६
संवरेहिं=संवरों से ५२४
संवसे=रहते हैं ३६६
संवुडे=दोनों ओर दीवारों से संवृत स्थान मे ४६
संवुडे=संवृत, आश्रय से रहित ६६
संवुडे=आस्रव रहित—संवरयुक्त होकर १५६
संवुडे=संवर वाला २२६
संवुद्धा=तत्त्ववेत्ता ३८६
संसयं=संशययुक्त ३५६
संसरइ=परिभ्रमण करता है ४०६
संसारे=संसार मे १४५
संसारं=संसार को १७६
संसारं=संसार मे ३२४
संसारंमि=संसार में २३६, २४५, २५४, ३०७
सकम्मवीओ=कर्मसहित दूसरा ५६३
सकम्मुणा=अपने किये हुए कर्म्म से १७४, २४२
सकामं=सकाम १६७
सकाममरणं=सकाम मरण १८५
सकाममरणं=सकाम मृत्यु से २३७
सक्कार पुरक्कार परिसहे=सत्कार पुरस्कार का परिषह ७६
सक्के=इन्द्र ४५८
सक्केण=इन्द्र के द्वारा ३८८
सक्को=इन्द्र ३४१, ३८७
सक्खं=साक्षात् १३१, ३८८, ५१७
सगासि=सामने ४६३
सगासे=समीप से ५२६
संकप्पेण=संकल्प से ३७८
संकरदूसं=रूड़ी के वस्त्रों को ४७६
संकाभीओ=शंकाओं से भयभीत होकर १०२
संकुला=व्याप्त ३४२
संख-चक्क-गदा-धरे=शंख, चक्र, गदा के धारण करने वाला ४५६
संखम्मि=शंख मे ४४६
संखया=संस्कृत १६३
संखाईयं=संख्यातीत ३६६
संखिज्ज=संख्येय ४०२
संखिज्ज सन्निय=संख्येय संज्ञक ४०३
संगकरा=कर्मों का वन्धन करने वाले
संगामसीसे=संग्राम के मस्तक में
संगामे=संग्राम मे ३६४
संगो=संग ६६
संघाडि=गोदड़ी २२४
सचेले=वस्त्रयुक्त ६२
सचेले आवि=वस्त्रयुक्त भी हो जाता है ६३
सच्च=सत्य ५४५
सच्चं=सत्य को २४१
सच्चरए=सत्यभाषण में रत ४४०
सच्चेणं=सत्य से ३५६
संचयं=संचय को ४२४
संचिक्ख=समाधि मे रहे ११७
संचिणइ=संचित करता है २१०
संचिणिया=एकत्रित करते २७२
संचिणु=संचित कर १५६
संजए=निरन्तर यत्न के साथ

हु=निश्चय ही २८८, ३१५, ५५१
हु=जिससे १७१, ४०८, ५१२
हुज्जा=होती है ११८
हुणासि=हवन करते हो ५२५
हुणामि=हवन करता हूँ ५२७
हेउ=हेतु ५५८
हेउं=हेतु को १५६, २५७, २७६, २६३
हेउकारण=हेतु और कारण से ३४३
होइ=होता है २५, ३६, ६३, १०५, २८६, ४३६
होई=होती है ३२४
होक्खामि=हो जाऊँगा ६२, २०४
होज्ज=होवे—है ३०७
होमं=होम से-चारित्र यज्ञ से ५२७
होमेण=होम से—हवन से ५२५
होहिसि=होंगे, होवेगा ३८६, ५७२